❁ श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला पुष्प २७ ❁

—❁ सर्वज्ञवीतरागाय नमः ❁—

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत

श्री

समयसार

मूल गाथा, संस्कृत छाया, हिन्दी पद्यानुवाद
श्री अमृतचन्द्राचार्य देव विरचित संस्कृत टीका और उसके
गुजराती अनुवादके हिन्दी अनुवाद सहित
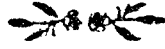
गुजराती टीकाकारः—

श्री हिंमतलाल जेठालाल शाह

बी. एस सी.

हिन्दी अनुवादकः—

श्री पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ

ललितपुर (झांसी)

अर्पण

जिनका इस पामर पर महान् महान् उपकार है, जो समयसार के अनुभव द्वारा अपने निज कल्याण में रत हैं। एवं समयसारके मर्मको स्पष्ट, सरल एवं सुन्दर प्रकारसे प्रकाशित कर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में ले जा रहे हैं। जिनकी दिव्य वाणीके उत्कृष्ट प्रवाह द्वारा समयसार के अभ्यास की रुचि जागृत हुई है उन परम-उपकारी समयसार-मर्मज्ञ अध्यात्ममूर्ति पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर-कमलोंमें यह महान् प्रकाशन अत्यन्त भक्ति पूर्वक सादर समर्पण है।

—नेमीचन्द पाटनी

जिनजीकी वाणी

सीमंधर मुखसे फुलवा खिरें,
जींकी कुन्दकुन्द गूंथे माल रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।
वाणी प्रभु मन लागे भली,
जिसमें सार-समय शिरताज रे,
जिनजीकी वाणी भली रे। .....सीमंधर०
गूंथा पाहुड अरु गूंथा पचास्ति,
गूंथा जो प्रवचनसार रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।
गूंथा नियमसार, गूंथा रयणसार,
गूंथा समयसारका सार रे,
जिनजीकी वाणी भली रे। ..... सीमंधर०
स्याद्वादरूपी सुगंधी भरा जो,
जिनजी का ओंकारनाद रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।
वंदूं जिनेश्वर, वंदूं मैं कुन्दकुन्द,
वंदूं यह ओंकारनाद रे
जिनजीकी वाणी भली रे। ... सीमंधर०
हृदये रहो मेरे भावो रहो,
मेरे ध्यान रहो जिनवाण रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।
जिनेश्वरदेवकी वाणीकी गूंज,
मेरे गुजनी रहो दिन रात रे,
जिनजीकी वाणी भली रे। .. ..सीमंधर०

—* प्रकाशकीय *—

एक लम्बी प्रतीक्षाके पश्चात भी आज यह ग्रन्थाधिराज प्रकाशित होकर मुमुक्षुओंको मिल रहा है इसका मुझे अत्यन्त हर्ष है. साथ ही इसके प्रकाशन में इतने विलम्ब का खेद भी हो रहा है। करीब ७-८ वर्ष पहले जब मैं प्रथमबार सोनगढ़ गया तो वहाँ पूज्य श्रीकानजी स्वामीकी अध्यातम सरिताकी धारा में डुबकी खाते ही हृदयमें ग्रन्थाधिराज श्रीसमयसारको पढ़नेकी तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हुई, उसके लिये कई जगह प्रयास करनेपर भी उसे मैं प्राप्त न कर सका, बहुत समय बाद बम्बईमें एक जगह उस ग्रन्थराजको मैं अप्राप्य होने के कारण ९) में प्राप्त कर सका, जिसपर कि मूल्य कम छपा हुआ था,

खोजमें देर लग गई इस प्रकार आशासे भी वहुत ज्यादा देरी इसके प्रकाशनमें लगगई उसके लिये मुझे वहुत खेद है और पाठकोंसे क्षमा याचना है।

मेरा इस ग्रन्थपर एक विस्तृत प्रस्तावना लिखनेका पूरा २ विचार था और थोड़ी तैयारी भी करली थी लेकिन अभी उसमें देरी लगती देखकर प्रस्तावना के लिये ग्रन्थको रोक रखना उचित नहीं समझकर सिर्फ मूल ग्रन्थको ही प्रकाशित कर देना उचित समझा, प्रस्तावना यथावसर प्रथक् रूपसे प्रकाशित करनेका प्रयास किया जावेगा।

श्री समयसार ग्रन्थराजके विषयमे क्या लिखा जावे यह तो हम सव मुमुक्षुओंका महा भाग्य है जो ऐसा महान् ग्रन्थराज आज हमको प्राप्त होरहा है अतः उन महान् महान् उपकारी श्री कुंदकुंद आचार्य्यका हमारे ऊपर वड़ा भारी उपकार है, श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यका भी परम उपकार है जो उन्होंने गाथामे भरे हुवे मूल भावोंका दोहन करके उनके भावोंकी टीकारूप स्पष्ट प्रकाशित कर दिया है और उनपर कलश काव्यरूप रचना भी की है। उनसे भी महान् उपकार हमारे ऊपर तो पूज्य श्री कानजी स्वामीका है कि जिनने अगर पूज्य अमृतचंद्र आचार्यकी टीका को इतना विस्तृत और स्पष्ट करके नहीं समझाया होता तो इस महान् ग्रन्थाधिराज के मर्मको समझ सकनेका भी महा सौभाग्य हम सवको कैसे प्राप्त होता, अभीसे अनुमानतः २००० वर्ष पूर्व भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा समयसाररूपी मूल सूत्रोंकी रचना हुई उनके अनुमानतः १००० वर्ष उपरान्त ही आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव के द्वारा उन सूत्ररूप गाथाओं पर गाथाओंके गुप्तभावोंको प्रकाश मे ला देनेवाली आत्मख्याति नामकी टीकाकी रचना हुई और आज उस रचना के अनुमानतः १००० वर्ष उपरान्त ही पूज्य श्री कानजी स्वामीके द्वारा उस टीका पर विस्तृत विशद व्याख्या होरही है, यह सव परंपरा इस वातकी द्योतक है कि जैसे २ जीवोंकी वुद्धि न्यून होती जारही है वैसे ही वैसे पात्र जीवोंको यथार्थ तत्त्व समझनेके योग्य स्पष्टता होती चली जारही है, यह वर्तमानके प्रवचन आगामी १००० वर्ष तक पात्र जीवोंकी परंपराको वनाये रखने के लिये निश्चित् पूर्वक कारण होंगे।

इस ग्रन्थराज की रचनाके सम्वन्धमें, ग्रन्थके विषयके वावतमें, गुजराती भाषामे अनुवाद करनेका कारण एवं अनुवादमें कौन कौन ग्रन्थोंका आधार आदि लिया गया आदि२ अनेक विषयोंको भाई श्री हिम्मतलाल भाई ने अपने 'उपोद्घात' मे सुन्दर रीतिसे स्पष्ट किया है वह पाठकों को जरूर पढ़ने योग्य है।

इस समयसारके गुजराती भाषामें अनुवादकर्ता तथा गुजरातीमें हरिगीतिका छंदकी रचना करने वाले तथा हिन्दी हरिगीतिका छंद जो इस प्रकाशनमें दिये गये है उनका संपूर्णतया संशोधन करने वाले भाई श्री हिंमतलाल भाई B. Sc. हैं उनकी प्रशंसा

जितनी भी की जावे कम है, उनके विषयमें श्री भाई रामजीभाई माणकचंदजी दोसी प्रमुख श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्टके निम्न शब्दोंमें प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें प्रशंसा की है:—

"भाई श्री हिम्मतलाल भाई अध्यात्मरसिक, शांत, विवेकी, गम्भीर, और वैराग्यशाली सज्जन हैं, इसके अलावा उच्च शिक्षा प्राप्त और संस्कृत मे प्रवीण हैं। इसके पहले ग्रन्थाधिराज श्री समयसार का गुजराती अनुवाद भी उन्होंने ही किया है और अब नियमसार का अनुवाद भी वे ही करने वाले हैं। इस प्रकार कुन्दकुन्द भगवान के समयसार, प्रवचनसार और नियमसार जैसे सर्वोत्कृष्ट परमागम शास्त्रों के अनुवाद करने का परम सौभाग्य उनको मिला है, इसलिये वे यथार्थ रूपसे धन्यवादके पात्र हैं।"

समयसारके गुजराती टीका परसे हिन्दी अनुवाद करनेका कार्य भी कठिन परिश्रम साध्य; उसको पूरा करने वाले श्री पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवाद के पात्र हैं।

इस अनुवादके तैयार हो जाने पर इसको अक्षरशः मिलान करके जाँचनेका कार्य और भी कठिन था उसमे अपना अमूल्य समय देने वाले श्रीयुत् माननीय भाई श्री रामजीभाई माणकचांदजी दोसी, श्रीयुत् भाई श्री खीमचंद भाई, श्री ब्रह्मचारी चंदूभाई, श्री ब्र० अमृतलाल भाई, श्री ब्र० गुलाबचन्द भाई को बहुत २ धन्यवाद है।

इसकी गाथाओंपर हिंदी छंद रचना करनेका मुझे अवसर मिला यह मेरा सौभाग्य है, इस रचनाके समय गाथाके भाव पूर्णरीत्या छंदमे आजावें इसही बातका मुख्य उद्देश्य रखा गया है,छंदरचनाकी दृष्टि गौण रखी गई अतः इस संबंधकी कमीके लिए पाठक क्षमाकरें।

इस ग्रन्थराजका प्रूफरीडिंग, शुद्धिपत्र, विषयसूची आदि तैयार करने का कार्य बहुत भक्ति एवं सावधानी से पं० महेन्द्रकुमारजी काव्यतीर्थ मदनगंज (किशनगढ़) ने किया है अतः उन्हें भी धन्यवाद है।

अनेक सावधानी रखने पर भी ग्रन्थमे अनेक स्थानों पर भूल रह गई हैं उसको शुद्धिपत्रसे शुद्ध करके पाठकगण पढें एवं कमी के लिये क्षमा करें।

सबके अन्त मे परमपूज्य परम उपकारी अध्यात्ममूर्ति श्री कानजी स्वामीके प्रति अत्यंत२ भक्ति पूर्वक नमस्कार है कि जिनकी यथार्थ तत्त्व प्ररूपणासे अनन्तकालमें नहीं प्राप्त किया ऐसे यथार्थ मोक्षमार्ग को समझने का अवसर प्राप्त हुआ है तथा इस ओरकी रुचि प्रगटी है। अब आंतरिक हृदयसे यह भावना है कि आपका उपदेशित मार्ग मेरे अन्तरमे जयवन्त रहे तथा उस पर अप्रतिहत भावसे चलनेका बल मेरेमें प्राप्त हो।

नेमीचन्द पाटनी

प्रधान मन्त्री

श्री म० ही० पाटनी दि० जैन पार० ट्रस्ट मारोठ (मारवाड़)

वसन्त पञ्चमी
वीर नि० सं० २४७६

卐 ॐ 卐

—:: श्री वीतरागगुरवे नमः ::—
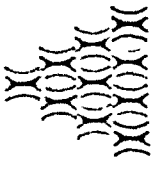
उपोद्‌घात
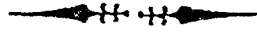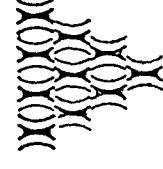
भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य्य देव प्रणीत यह "समयप्राभृत" अथवा 'समयसार' नामका शास्त्र 'द्वितीय श्रुतस्कंध' में का सर्वोत्कृष्ट आगम है।

द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह पहले अपन पट्टावलिओंके आधारसे संक्षेपमें देख लेवें।

आज से २४६६ वर्ष पहले इस भरत क्षेत्रकी पुण्य भूमि मे मोक्षमार्गका प्रकाश करनेके लिये जगत्पूज्य परम भट्टारक भगवान् श्री महावीर स्वामी अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थोंका स्वरूप प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाणके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें से अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी हुवे। वहाँ तक तो द्वादशांग शास्त्रके प्रतापसे व्यवहार निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा। तत्पश्चात् काल दोषसे क्रमक्रमसे अंगों के ज्ञान की व्युच्छित्ति होती गई। इस प्रकार अपार ज्ञान-सिंधुका बहु भाग विच्छेद हो जाने के पश्चात श्री दूसरे भद्रबाहु स्वामी आचार्य्य की परिपाटीमें दो महा समर्थ मुनि हुए, एक का नाम श्रीधरसेन आचार्य्य तथा दूसरों का नाम श्रीगुणधर आचार्य्य था। उनसे मिले हुए ज्ञान के द्वारा उनकी परम्परामे होने वाले आचार्यों ने शास्त्रों की रचनाएं की और श्री वीर भगवान् के उपदेशका प्रवाह प्रवाहित रखा।

श्रीधरसेन आचार्य्य को अग्रायणी पूर्वका पांचवाँ वस्तु अधिकार उसके महा कर्म प्रकृति नाम चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उस ज्ञानामृतमें से अनुक्रमसे उनके पीछेके आचार्यों द्वारा षट्खंडागम, धवल, महाधवल, जयधवल, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्रों की रचना हुई। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति है। उसमे जीव और कर्मके संयोगसे हुए आत्माकी संसार-पर्यायका—गुणस्थान, मार्गणा आदि का—संक्षिप्त वर्णन है, पर्यायार्थिकनय को प्रधान करके कथन है। इस नयको अशुद्ध

द्रव्यार्थिक भी कहते हैं और अध्यात्म भाषा से अशुद्ध निश्चयनय अथवा व्यवहार कहते हैं।

श्री गुणधर आचार्य्यको ज्ञान प्रवाह पूर्वकी दसवीं वस्तुके तृतीय प्राभृतका ज्ञान था। उस ज्ञानमें से उसके पीछेके आचार्यों ने अनुक्रमसे सिद्धान्त रचे। इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् महावीर से प्रवाहित होता हुवा ज्ञान आचार्य्योंकी परम्परासे भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य्य देवको प्राप्त हुवा। उन्होंने पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्र रचे, इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति हुई। इसमे ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे कथन है। आत्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य्य देव विक्रम सवत्के प्रारम्भमे हो गये है। दिगम्बर जैन परम्परामे भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देवका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

प्रत्येक दिगम्बर जैन इस श्लोक को, शास्त्राध्ययन प्रारम्भ करते समय मंगलाचरण रूप बोलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ भगवान् श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान् श्री गौतम स्वामी के अनन्तर····· ही भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य्यका स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधुगण स्वयंको कुन्दकुन्दाचार्य्यकी परम्पराका कहलाने मे गौरव मानते हैं, भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य्यदेवके शास्त्र साक्षात् गणधर देवके वचनों जैसे ही प्रमाण भूत माने जाते है। उनके अनन्तर हुवे ग्रन्थकार आचार्य्य स्वयंके किसी कथनको सिद्ध करनेके लिये कुन्दकुन्दाचार्य्य देवके शास्त्रोंका प्रमाण देते हैं जिससे वह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है, उनके पीछेके रचे हुवे ग्रन्थोंमे उनके शास्त्रोंमे से अनेकानेक अवतरण लिये हुवे है। यथार्थतः भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने स्वयंके परमागमों मे तीर्थंकर देवोंके द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तोंको (झालवी) साध रखा है और मोक्ष मार्गको टिका रखा है। वि० सं० ९९० में हुए श्री देवसेनाचार्य्यवर अपने दर्शनसार नाम के ग्रन्थमे कहते है कि--

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥ (दर्शनसार)

" विदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त किये हुवे दिव्य ज्ञानके द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्य्य देव ने) बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?" दूसरा एक उल्लेख देखिये, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्य देवको कलिकाल सर्वज्ञ कहा गया है, " पद्मनंदी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एला-

चार्य्य, गृद्धपिन्छाचार्य, इन पाँचों नामोंसे विराजित, चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करनेकी जिनको ऋद्धि थी. जिन्होंने पूर्व विदेहमे जाकर श्री सीमंधर भगवानका वंदन किया था और जिनके पाससे मिले हुवे श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने भारतवर्षके भव्य जीवों को प्रतिबोध किया है ऐसे जो श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके पदके आभरणरूप कलिकाल सर्वज्ञ (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव) उनके द्वारा रचित इस षट् प्राभृत ग्रन्थमे सूरीश्वर श्री श्रुतसागर द्वारा रचित मोक्ष प्राभृतकी टीका समाप्त हुई।" इस प्रकार षट् प्राभृतकी श्री श्रुतसागर सूरिकृत टीकाके अंतमे लिखा हुवा है। भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देवकी महत्ता बताने वाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्यमें मिलते हैं। * शिलालेख भी अनेक हैं। इस प्रकार यह निर्णीत है कि सनातन जैन (दिगम्बर) संप्रदायमें कलि-काल सर्वज्ञ भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान अजोड़ है।

भगवान् कुंदकुंदाचार्यके रचे हुवे अनेक शास्त्र है, उसमे से थोड़े अभी विद्यमान् हैं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ देवके मुखसे प्रवाहित श्रुतामृतकी सरितामे से जो अमृत भाजन भर लिये गये वे वर्तमान मे भी अनेक आत्मार्थिओंको आत्म जीवन अर्पण करते है, उनके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, और समयसार नामके तीन उत्तमोत्तम शास्त्र 'नाटकत्रय'

---

* वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः। कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः॥
यश्चारु-चारण-कराम्बुज चञ्चरीक-श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥
(चन्द्रगिरि पर्वतका शिलालेख)

अर्थ कुन्द पुष्पकी प्रभाको धारण करने वाली जिनकी कीर्तिके द्वारा दिशाऐं विभूषित हुई हैं, जो चारणो के-चारण ऋद्धिधारी महामुनियो के सुन्दर हस्त कमलोके भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र मे श्रुतकी प्रतिष्ठा की है वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं ?

अथवा 'प्राभृतत्रय' कहलाते हैं, इन तीन परमागमों में हजारों शास्त्रोंका सार आ जाता है। इन तीन परमागमोंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यके पश्चात् लिखे हुये अनेक ग्रन्थोंके बीज निहित हैं ऐसा सूक्ष्म दृष्टिसे अभ्यास करने पर मालुम होता है। पंचास्तिकाय में छह द्रव्योंका और नौतत्वोंका स्वरूप संक्षेपमें कहा है। प्रवचनसारको ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इस प्रकार तीन अधिकारोंमें विभाजित किया है। समयसार मे नवतत्वोंका शुद्धनयकी दृष्टिसे कथन है।

श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है। आचार्य भगवान्ने इस जगतके जीवों पर परम करुणा करके इस शास्त्रकी रचना की है, उसमे मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा कहा गया है, अनंतकालसे परिभ्रमण करते हुवे जीवको जो कुछ समझना बाकी रह गया है वो इस परमागममे समझाया गया है, परम कृपालु आचार्य भगवान् इस शास्त्रको प्रारंभ करते ही स्वयं ही कहते हैं:—काम भोग बंधनकी कथा सबने सुनी है, परिचय किया है, अनुभव किया है लेकिन पर से भिन्न एकत्वकी प्राप्ति ही केवल दुर्लभ है, उस एकत्वकी–पर से भिन्न आत्माकी—बात मैं इस शास्त्र मे समस्त निज वैभव से (आगम, युक्ति, परंपरा और अनुभव से) कहूँगा, इस प्रतिज्ञाके अनुसार आचार्य देव इस शास्त्रमे आत्माका एकत्व – पर द्रव्यसे और पर भावोंसे भिन्नता—समझाते हैं, वे कहते हैं कि 'जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त देखते हैं वे समग्र जिन शासनको देखते हैं', और भी वे कहते है कि 'ऐसा नहीं देखने वाले अज्ञानीके सर्व भाव अज्ञानमय है', इस प्रकार जहांतक जीवको स्वयंकी शुद्धताका अनुभव नहीं होता वहांतक वो मोक्षमार्गी नहीं है; भले ही वो व्रत, समिति, गुप्ति, आदि व्यवहारचारित्र पालता हो और सर्व आगम भी पढ़ चुका हो, जिसको शुद्ध आत्माका अनुभव वर्तता है वह ही सम्यग्दृष्टि है, रागादिके उदय में सम्यक्त्वी जीव कभी एकाकार रूप परिणमता नहीं है परन्तु ऐसा अनुभवता है कि 'यह पुद्गलकर्मरूप रागका विपाकरूप उदय है; ये मेरे भाव नहीं है, मै तो एक ज्ञायकभाव हूँ,' यहां प्रश्न होगा कि रागादिभाव होते रहने पर भी आत्मा शुद्ध कैसे हो सकता है? उत्तर मे स्फटिकमणिका दृष्टान्त दिया गया है, जैसे स्फटिकमणि लाल कपड़के संयोग से लाल दिखाई देती है—होती है तो भी स्फटिक मणिके स्वभाव की दृष्टि से देखने पर स्फटिक मणि ने निर्मलपना छोड़ा नहीं है, उसी प्रकार आत्मा रागादि कर्मोदयके संयोग से रागी दिखाई देता है—होता है तो भी शुद्धनयकी दृष्टि से उसने शुद्धता छोड़ी नहीं है। पर्याय दृष्टि से अशुद्धता वर्तते हुवे भी द्रव्य दृष्टि से शुद्धताका अनुभव हो सकता है, वह अनुभव चतुर्थ गुणस्थान में होता है, इस से वाचक के समझ मे आवेगा कि सम्यग्दर्शन कितना दुष्कर है, सम्यग्दृष्टिका

परिणमन ही पलट गया होता है, वह चाहे जो कार्य करते हुवे भी शुद्धआत्माको ही अनुभवता है, जैसे लोलुपी मनुष्य नमक और शाकके स्वादका भेद नहीं कर सकता; उसी प्रकार अज्ञानी ज्ञानका और रागका भेद नहीं कर सकता; जैसे अलुब्ध मनुष्य शाक से नमकका भिन्न स्वाद ले सकता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि राग से ज्ञानको भिन्न ही अनुभवता है, अब यह प्रश्न होता है कि ऐसा सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? अर्थात् राग और आत्माकी भिन्नता किस प्रकार अनुभवपूर्वक समझ मे आवे? आचार्य भगवान् उत्तर देते है कि—प्रज्ञारूपी छैनी से छेदते वे दोनों भिन्न हो जाते है, अर्थात् ज्ञान से ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप की पहचान से ही—, अनादिकाल से राग-द्वेषके साथ एकाकार रूप परिणमता आत्मा भिन्नपने परिणमने लगती है, इससे अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिये प्रत्येक जीवका वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी पहिचान करनेका प्रयत्न सदा कर्तव्य है।

इस शास्त्रका मुख्य उद्देश्य यथार्थ आत्मस्वरूपकी पहिचान कराना है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये इस शास्त्रमें आचार्य भगवानने अनेक विषयोंका निरूपण किया है। जीव और पुद्गलके निमित्त नैमित्तिकपना होनेपर भी दोनोंका अत्यन्त स्वतंत्र परिणमन, ज्ञानीको राग - द्वेषका अकर्ता अभोक्तापना, अज्ञानी को रागद्वेषका कर्ताभोक्तापना, सांख्यदर्शनकी एकान्तिकता गुणस्थान आरोहणमें भावका और द्रव्यका निमित्त नैमित्तिकपना, विकाररूप परिणमन करनमें अज्ञानीका स्वयंका ही दोष, मिथ्यात्वादिका जड़पना उसी प्रकार चेतनापना, पुण्य और पाप दोनोंका बंधस्वरूपपना, मोक्षमार्गमें चरणानुयोगका स्थान इत्यादि अनेक विषय इस शास्त्रमें प्ररूपण किये हैं। भव्यजीवोंको यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाने का इन सबका उद्देश्य है। इस शास्त्रकी महत्ता देखकर अन्तर उल्लास आजानेसे श्रीमद् जयसेन आचार्य कहते हैं कि 'जयवंतवर्तो वे पद्मनंदी आचार्य अर्थात् कुन्दकुन्द आचार्य कि जिन्होंने महातत्त्वसे भरे हुवे प्राभृतरूपी पर्वतको बुद्धिरूपी सिरपर उठाकर भव्यजीवोंको समर्पित किया है'। यथार्थतया इससमयमें यह शास्त्र मुमुक्षु भव्यजीवोंका परम आधार है। ऐसे दुःषमकालमें भी ऐसा अद्भुत अनन्य-शरणभूत शास्त्र-तीर्थंकरदेवके मुखमेंसे निकला हुवा अमृत-विद्यमान है यह अपना सबका महा सद्भाग्य है। निश्चय-व्यवहारकी संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्गकी ऐसी सकलनाबद्ध प्ररूपणा दूसरे कोई भी ग्रन्थमें नहीं है। परमपूज्य श्रीकानजीस्वामीके शब्दोंमें कहा जावे तो—'यह समयसार शास्त्र आगमोंका भी आगम है, लाखों शास्त्रोंका सार इसमें है, जैनशासनका यह स्थम्भ है; साधककी यह कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। चौदहपूर्वका रहस्य इसमें समाया हुवा है। इसकी हरएक गाथा छट्टे सातवें गुणस्थानमें झूलते हुवे महामुनिके आत्म-अनुभवमेंसे

निकली हुई है। इस शास्त्रके कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्रमें सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमन्धर भगवानके समवसरणमें गये थे और वहाँ वे एक सप्ताह रहे थे यह बात यथातथ्य है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाण सिद्ध है, इसमें लेशमात्र भी शंकाके लिये स्थान नहीं है। उन परम उपकारी आचार्य भगवान द्वारा रचित इस समयसारमें तीर्थंकरदेवकी निरक्षरी ॐकारध्वनिमेंसे निकला हुवा ही उपदेश है'।

इस शास्त्रमे भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी प्राकृत गाथाओंपर आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीका लिखनेवाले (विक्रमकी दसवीं शताब्दीके लगभग होनेवाले) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं। जिसप्रकार इस शास्त्रके मूलकर्ता अलौकिक पुरुष हैं उसीप्रकार उसके टीकाकार भी महासमर्थ आचार्य है। आत्मख्याति जैसी टीका अभीतक भी दूसरे कोई जैन ग्रन्थकी नहीं लिखी गई है। उन्होंने पंचास्तिकाय तथा प्रवचनसार की भी टीका लिखी है और तत्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी रचना भी की है। उनकी एक इस आत्मख्याति टीका ही पढ़नेवालेको उनकी अध्यात्म रसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूपको न्यायसे सिद्ध करनेकी उनकी असाधारण शक्ति और उत्तम काव्यशक्तिका पूरा ज्ञान हो जावेगा। अति संक्षेपमें गंभीर रहस्योंको भरदेनेकी अनोखी शक्ति विद्वानोंको आश्चर्य चकित करती है। उनकी यह देवी टीका श्रुतकेवलीके वचनोंके समान है। जिसप्रकार मूलशास्त्रकर्ताने समस्त निजवैभवसे इसशास्त्रकी रचना की है उसीप्रकार टीकाकारने भी अत्यन्त होशपूर्वक सर्वनिजवैभवसे यह टीका रची है ऐसा इस टीकाके पढ़नेवालोंको स्वभावतः ही निश्चय हुये विना नहीं रह सकता, शासनमान्य भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस कलिकालमें जगद्गुरु तीर्थंकरदेवके जैसा काम किया है और श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेवने, मानो कि वे कुन्दकुन्द भगवान्के हृदयमें बैठ गये हों उसप्रकारसे उनके गम्भीर आशयोंको यथार्थतया व्यक्त करके, उनके गणधरके समान कार्य किया है। इस टीकामें आनेवाले काव्य (कलश) अध्यात्मरससे और आत्मानुभवकी मस्तीसे भरपूर हैं। श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव जैसे समर्थ आचार्योंपर भी उन कलशोंने गहरी छाप डाली है और आज भी वे तत्वज्ञानसे और अध्यात्मरससे भरे हुये मधुर कलश, अध्यात्मरसिकोंके हृदयके तारको झनझना देते हैं। अध्यात्म कविरूपमें श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेवका जैनसाहित्यमें अद्वितीय स्थान है।

समयसारमें भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवने प्राकृतमें ४१५ गाथाओंकी रचना की है। उसपर श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेवने आत्मख्याति नामकी और श्रीजयसेनाचार्यदेवने तात्पर्य वृत्ति नामकी संस्कृत टीका लिखी है। श्री पंडित जयचन्द्रजीने मूलगाथाओंका और आत्मख्यातिका हिन्दीमें भाषांतर किया और उसमें स्वयंने थोड़ा भावार्थ भी लिखा है।

यह पुस्तक 'समयप्राभृत' के नामसे विक्रम सं० १९६४ मे प्रकाशित हुई, उसके बाद उस पुस्तकको पंडित मनोहरलालजीने प्रचलित हिंदीमे परिवर्तित किया और श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्रग्रन्थमाला द्वारा 'समयसार' के नामसे वि० सं० १९७५ में प्रकाशित हुवा, उस हिन्दी ग्रन्थके आधारसे, उसीप्रकार संस्कृत टीकाके शब्दों तथा आशयसे चिपटे रहकर यह गुजराती अनुवाद तैयार किया गया है।

यह अनुवाद करनेका महाभाग मुझे प्राप्त हुवा यह मुझे अत्यन्त हर्षका कारण है। परमपूज्य श्री कानजी स्वामीकी छत्रछायामे इस गहन शास्त्रका अनुवाद हुवा है। अनुवाद करनेकी समस्त शक्ति मुझे पूज्यपाद श्रीगुरुदेवके पाससे ही मिली है। मेरी मार्फत अनुवाद हुवा इससे 'यह अनुवाद मैने किया है' ऐसा व्यवहारसे भले ही कहा जावे, परन्तु मुझे मेरी अल्पज्ञताका पूरा ज्ञान होनेसे और अनुवादकी सर्व शक्तिका मूल पूज्य श्रीगुरुदेव ही होनेसे मैं तो वरावर समझता हूँ कि श्रीगुरुदेवकी अमृतवाणीका तीव्र वेग ही– उनके द्वारा मिला हुवा अनमोल उपदेश ही यथाकाल इस अनुवादरूपमे परिणमा है। जिनके वलपर ही इस अतिगहन शास्त्रके अनुवाद करनेका मैंने साहस किया था और जिनकी कृपासे ही यह निर्विघ्न पूरा हुवा है उन परम उपकारी गुरुदेव के चरणारविंदमे अति भक्तिभावसे वन्दन करता हूँ।

इस अनुवादमें अनेक भाइयोंकी मदद है। भाई श्री अमृतलाल झाटकिया की इसमे सबसे ज्यादा मदद है। उन्होंने सम्पूर्ण अनुवादका अति परिश्रम करके वहुत ही सूक्ष्मतासे और उत्साहसे संशोधन किया है, वहुत सी अति–उपयोगी सूचनाएं उन्होंने बताई, संस्कृत टीकाकी हस्त लिखित प्रतियोंका मिलान कर पाठान्तरोंको ढूंढ कर दिया, शंका-स्थलोंका समाधान पण्डित जनोंसे मँगाकर दिया–आदि अनेक प्रकारसे उन्होंने जो सर्वतोमुखी सहायता करी है उसके लिये मै उनका अत्यन्त आभारी हूँ। अपने विशाल शास्त्र ज्ञानसे, इस अनुवादमे पड़ने वाली छोटी मोटी दिक्कतोंको दूर कर देने वाले माननीय श्री वकील रामजीभाई माणकचन्द दोशीका मै हृदय पूर्वक आभार मानता हूँ। भाषांतर करने समय जब २ कोई अर्थ वरावर नहीं वैठा तब २ मैने पूज्य प० गणेशप्रसादजी वर्णी और प० रामप्रसादजी शास्त्रीको पत्र द्वारा (भा० अमृतलालजी द्वारा) अर्थ पुछ्वाने पर उन्होंने मेरेको हर समय विना संकोचके प्रश्नोंके उत्तर दिये इसके लिये म उनका अन्त. करण पूर्वक आभार मानता हूँ। इसके अनंतर भी जिन २ भाईयोंकी इस अनुवादमे सहायता है उन सवका भी मै आभारी हूँ।

यह अनुवाद भव्य जीवों को जिनदेव द्वारा प्ररूपित आत्म शांतिका यथार्थ मार्ग बतावे, यह मेरी अंतरंग भावना है. श्री अमृतचंद्राचार्यदेवके शब्दों में 'यह शास्त्र

आनन्दमय विज्ञानघन आत्माको प्रत्यक्ष दिखाने वाला अद्वितीय जगत्चक्षु है। जो कोई उसके परम गंभीर और सूक्ष्मभावोंको हृदयङ्गत करेगा उसको वह जगत्चक्षु-आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन करावेगा, जबतक वे भाव यथार्थ प्रकार से हृदयङ्गत नहीं होवे तबतक रात दिन वह ही मंथन, वह ही पुरुषार्थ कर्तव्य है, श्री जयसेनाचार्य देवके शब्दोंमे समयसारके अभ्यास आदिका फल कहकर यह उपोद्‌घात पूर्ण करता हूँ:—'स्वरूप रसिक पुरुषों द्वारा वर्णित इस प्राभृतका जो कोई आदरसे अभ्यास करेगा, श्रवण करेगा, पठन करेगा, प्रसिद्धि करेगा, वह पुरुष अविनाशी स्वरूपमय, अनेक प्रकारकी विचित्रता वाले, केवल एक ज्ञानात्मकभावको प्राप्त करके अग्रपदकी मुक्ति ललना मे लीन होगा।'

दीपोत्सव वि॰ सं॰ १९९९ — हिमतलाल जेठालाल शाह

श्री पं० जयचन्दजी द्वारा लिखी गई

प्रस्तावना

"श्रीवर्द्धमानस्वामी अन्तिम तीर्थंकर देव सर्वज्ञ वीतराग परमभट्टारकके निर्वाण जानेके बाद पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें अन्तके श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामी हुए। वहाँतक तो द्वादशांगशास्त्रके प्ररूपणसे व्यवहार निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ् प्रवर्तता ही रहा, पीछे कालदोषसे अंगोंके ज्ञानकी व्युच्छित्ति होती गई। कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुए उनमें श्वेतपट हुए। उन्होंने शिथिलाचार पोषनेको जुदे सूत्र बनाये। उनमें शिथिलाचार पोषनेकी अनेक कथायें लिख अपना सम्प्रदाय दृढ किया, वह अबतक प्रसिद्ध है। और जो जिनसूत्रकी आज्ञामें रहे, उनका आचार भी यथावत् रहा, प्ररूपणा भी यथावत् रही वे दिगम्बर कहलाये। उनके सम्प्रदायमें श्रीवर्द्धमानको निर्वाण (मोक्ष) पधारनेपर छहसौ तिरासी वर्ष बाद दूसरे भद्रबाहुस्वामी आचार्य हुए। उनकी परिपाटीमें कितने एक वर्ष बाद मुनि हुए, उन्होंने सिद्धान्तोंकी प्रवृत्ति की। उसे लिखते हैं—

एक तो धरसेन नामा मुनि हुए, उनको आग्रायणी पूर्वके पाँचवें वस्तु अधिकारके महाकर्मप्रकृति नामा चौथे प्राभृतका ज्ञान था। यह प्राभृत भूतबली और पुष्पदंत नामके दो मुनियोंको पढ़ाया। पश्चात् उन दोनों मुनियोंने आगामी कालदोषसे बुद्धिकी मंदता जान उस प्राभृतके अनुसार षट्खण्डसूत्र रच पुस्तकरूप लिखाकर उनकी प्रवृत्ति की। उसके बाद जो मुनि हुए उन्होंने उन्हीं सूत्रोंको पढकर उनकी टीका विस्ताररूप कर धवल, महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्त रचे। उनको पढकर श्रीनेमिचन्द्र आदि आचार्योंने गोम्मटसार, लब्धिसार क्षपणासार आदि शास्त्रोंकी प्रवृत्ति की। यह तो प्रथम सिद्धान्तकी उत्पत्ति है। उनमें तो जीव और कर्मके संयोगसे हुआ जो आत्माका संसार पर्याय उसका विस्तार गुणस्थान मार्गणारूप संक्षेपकर वर्णन है। यह तो पर्यायार्थिक नयको प्रधानकर कथन है। इसी नयको अशुद्धद्रव्यार्थिक भी कहते हैं तथा अध्यात्मभाषाकर अशुद्धनिश्चय व व्यवहार कहते हैं।

इनमें गुणधर नामा मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवादपूर्वके दशम वस्तुके तीसरे प्राभृतका ज्ञान था। उस प्राभृतको नागहस्ती नामा मुनिने पढा। उन दोनों मुनियोंसे यतिनायक नामा मुनिने उस प्राभृतको पढ उसकी चूर्णिका रूप छह हजार सूत्रोंका शास्त्र रचा। उसकी टीका समुद्धरण नामा मुनिने बारह हजार प्रमाण रची। इसतरह आचार्योंकी परम्परासे कुन्दकुन्दमुनि उन सिद्धान्तोंके ज्ञाता हुये। ऐसे इस द्वितीय सिद्धांतकी उत्पत्ति है। इसमें

ज्ञानको प्रधानकर शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे कथन है। अध्यात्मभापाकर आत्माका ही अधिकार है। इसको शुद्धनिश्चय तथा परमार्थ कहते है। इसमे पर्यायार्थिकनयको गौणकर व्यवहार कह असत्यार्थ कहा है। सो जबतक पर्याय बुद्धि रहे तबतक इस जीवके संसार है। और जब शुद्धनयका उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि हो, अपने आत्माको अनादि अनंत एक सब परद्रव्य परभावोंके निमित्तसे हुए अपने भावोंसे भिन्न जाने, अपने शुद्धस्वरूपका अनुभवकर शुद्धोपयोगमें लीन हो तब कर्मका अभाव करके निर्वाणको पाता है। इसप्रकार इस द्वितीय शुद्धनयके उपदेशके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र प्रवर्ते हैं। उनमें यह समयप्राभृत (सार) नामा शास्त्र है, वह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत प्राकृतभाषामय गाथाबद्ध है। उसकी आत्मख्यातिनामा संस्कृतटीका अमृतचन्द्र आचार्यने की है, सो काल दोषसे जीवोंकी बुद्धि मन्द होती जाती है उसके निमित्तसे प्राकृत संस्कृतके अभ्यास करनेवाले विरले रह गये है। और गुरुओंकी परम्पराका उपदेश भी विरला होगया, इसलिये मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रन्थोंका अभ्यासकर इस ग्रन्थकी देशभापामय वचनिका करनेका प्रारम्भ किया है। जो भव्यजीव वाँचेंगे पढ़ेंगे सुनेंगे उसका तात्पर्य धारेंगे उनके मिथ्यात्वका अभाव हो जायगा, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होगी ऐसा अभिप्राय है। कुछ पण्डिताईका तथा मानलोभ आदिका अभिप्राय नहीं है। इसमें कहीं बुद्धिकी मंदतासे तथा प्रमादसे हीनाधिक अर्थ लिखूं तो बुद्धिके धारक जनो! मूलग्रन्थ देख शुद्ध कर बांचना, हास्य नहीं करना, क्योंकि सत्पुरुषोंका स्वभाव गुणग्रहण करनेका ही है। यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है॥

यहाँ कोई कहे कि "इस समयसारग्रन्थकी तुम वचनिका करते हो, यह अध्यात्म ग्रन्थ है इसमे शुद्धनयका कथन है, अशुद्धनय व्यवहारनय है उसको गौणकर असत्यार्थ कहा है। वहाँपर व्यवहार चारित्रको और उसके फल पुण्यबन्धको अत्यन्त निपेध किया है। मुनिव्रत भी पाले उसके भी मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा कहा है। सो ऐसे ग्रन्थ तो प्राकृत संस्कृत ही चाहिये। इनकी वचनिका होनेपर सभी प्राणी वाँचेंगे। तब व्यवहार चारित्रको निष्प्रयोजन जानेंगे, अरुचि आनेसे अंगीकार नहीं करेंगे तथा पहले कुछ अङ्गीकार किया है उससे भी भ्रष्ट होके स्वच्छंद हुए प्रमादी हो जायेंगे। श्रद्धानका विपर्यय होगा यह बड़ा दोप आयेगा। यह ग्रन्थ तो–जो पहले मुनि हुए हों, दृढ चारित्र पालते हों, शुद्ध आत्मस्वरूपके सन्मुख न हों और व्यवहारमात्रसे ही सिद्धि होनेका आशय हो उनको शुद्धात्माके सन्मुख करनेके लिये है, उन्हींके सुननेका है। इसलिये देशभापामय वचनिका करना ठीक नहीं है?" उसका उत्तर कहते है—यह बात तो सच है कि इसमे शुद्धनयका ही कथन है, परन्तु जहाँ जहाँ अशुद्धनयरूप व्यवहारनयका गौणतासे कथन है वहाँ आचार्य ऐसा भी कहते आये हैं कि पहिली अवस्थामें यह व्यवहारनय हस्तावलम्बरूप है अर्थात् ऊपर चढ़नेको पैड़ीरूप है

इसलिये कथंचित कार्यकारी है। इसको गौण करनेसे ऐसा मत जानना कि आचार्य व्यवहार को सर्वथा ही छुडाते हैं, आचार्य तो ऊपर चढ़नेके लिये नीचली पैड़ी छुड़ाते हैं। जब अपने स्वरूपकी प्राप्ति होजायगी तब तो शुद्ध अशुद्ध दोनो ही नयोका आलम्बन छूट जायगा। नयका आलम्बन तो साधक अवस्था मे है। ऐसे ग्रन्थमें जहाँ जहाँ कथन है उसको यथार्थ समझनेसे श्रद्धान का विपर्यय नहीं होगा। जो यथार्थ समझेंगे उनके व्यवहार चारित्रसे अरुचि नहीं होगी। और जिनकी होनहार (भवितव्य) ही खोटी है वे तो शुद्धनय सुने अथवा अशुद्धनय सुने विपरीत ही समझेंगे। उनको तो सबही उपदेश निष्फल है।

यहां तीन प्रयोजन मनमे विचारके प्रारंभ किया है। प्रथम तो अज्ञमति वेदांती तथा सांख्यमती आत्माको सर्वथा एकातपक्षसे शुद्ध नित्य अभेदरूप एक ऐसे विशेषणोकर कहते है, और ऐसा कहते है कि जैनी कर्मवादी हैं इनके आत्माकी कथनी नहीं है। आत्मज्ञानके विना वृथा कर्मका क्लेश करते है आत्माको विना जाने मोक्ष नहीं हो सकती। जो कर्ममे ही लीन है उनके संसारका दुःख कैसे मिट सकता है ?। तथा ईश्वरवादी नैयायिक कहते हैं कि ईश्वर सदा शुद्ध है नित्य है सब कार्योंके प्रति एक निमित्त कारण है उसके विना जाने व उसको भक्तिभावसे विना ध्याये संसारी जीवकी मोक्ष नहीं, ईश्वरका शुद्ध ध्यानकर उसीसे लय लगाये तभी मोक्ष हो सकती है, जैनी ईश्वरको तो मानते ही नहीं है जीवको ही मानते है सो जीव तो अज्ञानी है असमर्थ है आप ही अहंकारसे ग्रस्त है सो अहंकारको छोडके ईश्वरका ध्यावना जैनियोके नहीं है इसलिये इनके मोक्ष ही नहीं इत्यादिक कहते हैं। सो लौकिकजन उनके मतके है उनमे यह प्रसिद्धि कर रक्खी है। वे जिनमतकी स्याद्वादकथनीको तो समझे ही नहीं है परंतु प्रसिद्ध व्यवहार देख निषेध करते है। उनका निषेध (खंडन) शुद्धनयकी कथनीके प्रकट हुए विना नहीं हो सकता। यदि यह कथनी प्रकट न हो तो भोले जीव अन्यमतियोका कथन सुने तब भ्रम उत्पन्न हो जाय, श्रद्धानसे चिगजांय इसलिये यह कथन प्रकटकिया है इसके प्रकटहोनेसे श्रद्धानसे नहीं चिगसकते। एकतो यह प्रयोजन है।

दूसरा यह है—कि इस ग्रन्थकी वचनिका पहले भी हुई है उसके अनुसार बनारसीदास कविवरने कलशोंके कवित्त भाषामें बनाये हैं वे स्वमत परमतमे प्रसिद्ध हुए हैं परन्तु उनमें सामान्य अर्थ ही लोक समझते हैं विशेष समझे विना किसीके पक्षपात भी हो जाता है। तथा उन कवित्तोंको अन्यमती पढ़कर अपने मतके अर्थमे मिला लेते हैं। सो विशेष अर्थ समझे बिन यथार्थ होता नहीं भ्रम मिटता नहीं। इसलिये इस वचनिकामे कहीं कहीं नयविभागका अर्थ स्पष्ट (खुलासा) किया गया है इससे भ्रम न रहे ॥ तथा तीसरा प्रयोजन यह है कि कालदोषसे बुद्धिकी मन्दतासे प्राकृत संस्कृतके पढ़नेवाले तो विरले हैं उनमें भी स्वपरमतका विभाग (भेद) समझ यथार्थ तत्त्वके अर्थको समझनेवाले थोड़े हैं। और जैनग्रन्थोकी गुरु आम्नाय कम रह गई है स्याद्वादके मर्मकी बात कहनेवाले गुरुओंकी व्युच्छित्ति

(हीनता) दीखती है। इस कारण शुद्धनयका मर्म स्याद्वादविद्याको समझकर समझे तभी यथार्थ तत्त्वज्ञान होसकता है। अतएव इस ग्रन्थकी वचनिका विशेष अर्थरूप हो तो सभी वाँचैं पढै तथा पहली वचनिकाके सामान्य अर्थमें कुछ भ्रम हुआ हो वह मिट जाय इस शास्त्रका यथार्थ ज्ञान हो जाय तो अर्थमें विपर्यय नहीं हो सकेगा। ऐसें तीन प्रयोजन मनमें धारणकर वचनिकाका प्रारम्भ किया गया है।

एक प्रयोजन यह भी है कि जैनमतमें मोक्षमार्गके वर्णनमें पहले सम्यग्दर्शन मुख्य (प्रधान) कहा गया है सो व्यवहार नयकर तो सम्यग्दर्शन भेदरूप अन्यग्रन्थोंमें अनेक प्रकार कहा है वह प्रसिद्ध ही है। परन्तु इस ग्रन्थमे शुद्धनयका विषय जो शुद्धआत्मा उसीके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार नियमसे कहा गया है। सो लोकमें यह कथन बहुधा प्रसिद्ध नहीं है इसलिये व्यवहारको लोक समझते है। पहले लोकोंके अशुभ व्यवहार था उसको निषेधकर व्यवहारनय शुभमे प्रवर्तावी है सो लोक अशुभकी पक्षको छोड़ शुभमें प्रवर्तते है। कदाचित् शुभका ही पक्ष पकड़ इसीका एकांत किया जाय तो पहले अशुभकी पक्ष का एकांत था अब शुभका एकांत हुआ, इसीको मोक्षमार्ग माना तब मिथ्यात्व ही दृढ़ हुआ। इसलिये शुभकी पक्ष छुड़ानेको शुद्धनयके आलंबनका उपदेश है। इसीको निश्चयनय कह सत्यार्थ कहा है, अशुद्धनयको व्यवहार कह असत्यार्थ कहा है। क्योंकि व्यवहार शुभाशुभरूप है बन्धका कारण है, इसमें तो प्राणी अनादिकालसे ही प्रवर्त रहा है शुद्धनयरूप कभी हुआ नहीं, इसलिये इसका उपदेश सुन इसमे लीन होके व्यवहारका आलंबन छोड़े तब बन्धका अभाव करसकता है। तथा स्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद शुद्ध अशुद्ध दोनोही नयोका आलंबन नहीं रहता। नयका आलंबन तो साधक अवस्थ में ही प्रयोजनवान है। सो इस ग्रन्थमें ऐसा वर्णन है। इसलिये इसको खुलासाकर स्पष्ट अर्थ वचनिकारूप लिखा जाय तो सर्वथा एकांत की पक्ष मिट जाय, स्याद्वादका मर्म यथार्थ समझे, यथार्थ श्रद्धान होवे तब मिथ्यात्वका नाश हो, यह भी वचनिका बनानेका प्रयोजन है। तथा ऐसा भी जानना कि स्वरूपकी प्राप्ति दो प्रकारसे होती है, प्रथम तो यथार्थ ज्ञान होकर श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होना सो यह तो अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थानवाले के भी होता है वहां बाह्य व्यवहार तो अविरतरूप ही है वहां व्यवहार का आलंबन है ही, और अंतरंग सब नयोके पक्षपातरहित अनेकांत तत्त्वार्थकी श्रद्धा होती है। जब संयम धार प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि होय जबतक साक्षात् शुद्धोपयोगकी प्राप्ति न होय श्रेणी न चढ़े तबतक तो शुभरूप व्यवहारका भी बाह्य आलंबन रहता है। तथा दूसरा साक्षात् शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्रका होना है वह अनुभवमे शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति है इसमें व्यवहारका भी आलंबन नहीं है और शुद्ध-नयका भी आलंबन नहीं. क्योंकि आप साक्षात् शुद्धोपयोगरूप हुआ तब नयका आलंबन कैसा ? । नयका आलंबन तो जबतक राग अंश था तबतक ही था। इस तरह अपने स्वरूप की प्राप्तिके होनेबाद पहले तो श्रद्धामे नयपक्ष मिट जाता है पीछे साक्षात् वीतराग होय तब चारित्र का पक्षपात मिटता है। ऐसा नहीं है कि, साक्षात् वीतराग तो हुआ नहीं और शुभ व्यवहारको छोड़ स्वच्छन्द प्रमादी हो प्रवर्ते। ऐसा हो तो नयविभागमें समझा ही नहीं उलटा मिथ्यात्व ही दृढ़ किया। इस प्रकार मन्द बुद्धियों के भी यथार्थ ज्ञान होने का प्रयोजन जान इस ग्रन्थकी भाषावचनिकाका प्रारम्भ किया गया है ऐसा जानना ॥”

अनुवादक की ओर से !

मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि मुझे इस युगके महान् आध्यात्मिक संत श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य का सुयोग प्राप्त हुआ, और उनके प्रवचनों को सुनने एवं उन्हें राष्ट्रभाषा-हिन्दीमें अनूदित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन अनूदित ग्रन्थोंमें से 'समयसार प्रवचनादि' पहले प्रकाशित हो चुके हैं। पूज्य कानजी स्वामीके सान्निध्यमें रहकर अनेक विद्वानोंने कई आध्यात्मिक ग्रंथोंकी रचना की है, अनुवाद किये हैं और सम्पादन किया है। उन विद्वानोंमें श्री हिम्मतलाल शाह तथा श्री रामजीभाई दोषी आदि प्रमुख हैं।

उपरोक्त विद्वानों के द्वारा गुजराती भाषामें अनूदित, सम्पादित एवं लिखित अनेक ग्रंथोंका हिन्दी भाषानुवाद करनेका मुझे सुयोग मिला है, जिनमे प्रवचनसार, मोक्ष-शास्त्र और यह समयसार ग्रन्थ भी है। अध्यात्मप्रेमी भाई श्री कुं० नेमीचन्दजी पाटनी की प्रेरणा इस सुकार्यमें विशेष साधक सिद्ध हुई है। प्रत्येक गाथा का गुजराती से हिन्दी पद्यानुवाद उन्होंने किया है। मैंने गुजराती अन्वयार्थ, टीका और भावार्थ का भाषानुवाद किया है। यद्यपि अनुवादमें सम्पूर्ण सावधानी रखी गई है, तथापि यदि कोई दोष रह गये हों तो विशेषज्ञ मुझे क्षमा करें।

जैनेन्द्र प्रेस
ललितपुर

परमेष्ठीदास जैन
सम्पादक "वीर"

श्री समयसार की विषयानुक्रमणिका

२ कर्ताकर्माधिकार

३ पुण्य-पाप अधिकार

४ आस्रव अधिकार

५ संवर अधिकार

६ निर्जरा अधिकार

७ बन्ध अधिकार

८ मोक्ष अधिकार

९ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

शास्त्र का अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्यको तथा उसके भावोंको एवं कारण-कार्यादिको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, अतः इसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है, तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो, जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण ?

उत्तर - जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ इसी प्रकार है" ऐसा समझना चाहिये, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लेकर कथन किया गया है, उसे "ऐसा नहीं है किंतु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है" ऐसा जानना चाहिये, और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यान (कथन-विवेचन) को समान सत्यार्थ जानकर "इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है" इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से तो दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा नहीं है।

प्रश्न - यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमें उसका उपदेश क्यों दिया है ? एक मात्र निश्चयनयका ही निरूपण करना चाहिये था।

उत्तर—ऐसा ही तर्क इस श्री समयसारमें भी करते हुए यह उत्तर दिया है कि- जैसे किसी अनार्यम्लेच्छको म्लेच्छ भाषाके बिना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहार का उपदेश है। और फिर इसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—इस प्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिए व्यवहारके द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

— श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक

श्री समयसारजी की स्तुति

❀ हरिगीत ❀

संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणीं प्रभु वीर तें संजीवनीं ।
शोपाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनीं समयप्राभृत तणें भाजन भरा ॥

❀ अनुष्टुप् ❀

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र साथिया अमृने पूर्या,
ग्रंथाधिराज तारामां भावो ब्रह्माडनां भर्या ।

❀ शिखरिणी ❀

अहो ! वाणी तारी प्रशमरस भावे नितरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी ।
अनादिनी मूर्छा विष तणीं त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरुप भणी दोड़े परिणती ॥

❀ शार्दूलविक्रीड़ित ❀

तूं छै निश्चयग्रंथ, भङ्ग सघला व्यवहारना भेदवा,
तूं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा ।
साथी साधकनो, तूं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतनां हृदयनो, तूं पंथ मुक्ती तणो ॥

❀ वसंततिलका ❀

सुणये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाणये तने हृदय ज्ञानि तणां जणाय ।
तूं रूचतां जगतणीं रुचि आलसे सौ,
तूं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे ॥

❀ अनुष्टुप् ❀

वनावूं पत्र कुन्दननां, रत्नोनां अक्षरो लखी,
तथापि कुन्दसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी ॥

—॥ श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः ॥—

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥ १ ॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥

॥ श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीसमयसारनामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥ १ ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥ २ ॥
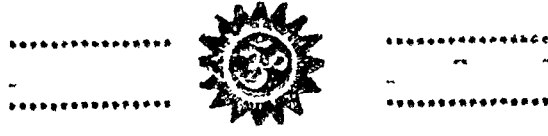
नमः समयसाराय

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचितः

श्री

समयसारः

जीव अजीव अधिकार

卐 श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृता आत्मख्यातिः 卐

मङ्गलाचरणम्

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥ १ ॥

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत मूल गाथाओं और श्रीमद् अमृतचन्द्र सूरि कृत आत्मख्याति नामक टीकाकी

हिन्दी भाषा वचनिका

मङ्गलाचरण

श्री परमातमको प्रणमि, सारद सुगुरु मनाय ।
समयसार शासन करूं देश वचनमय भाय ॥ १ ॥

अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकांतमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥ अनुष्टुप्

शब्दब्रह्मपरब्रह्मकैं वाचकवाच्यनियोग ।
मंगलरूप प्रसिद्ध है, नमो धर्म धन भोग ॥ २ ॥
नय नय लहइ सार शुभवार, पय पय दहइ मार दुखकार ।
लय लय गहइ पार भवधार, जय जय समयसार अविकार ॥ ३ ॥
शब्द अर्थ अरु ज्ञान समय त्रय आगम गाये
मत सिद्धांतरुकालभेदत्रय नाम बताये ।
इनहि आदि शुभ अर्थसमयवचके सुनिये बहु
अर्थ समयमे जीव नाम है सार सुनहु सहु ।
ताते जु सार विन कर्ममल शुद्ध जीव शुध नय कहै ।
इस ग्रन्थ माहि कथनी सबै समयसार बुधजन गहै ॥ ४ ॥
नामादिक छह ग्रन्थमुख, तामे मंगलसार ।
विघन हरन नास्तिक हरन, शिष्टाचार उचार ॥ ५ ॥
समयसार जिनराज है, स्याद्वाद जिन वैन
मुद्रा जिन निरग्रन्थता, नमूं करै सब चैन ॥ ६ ॥ (पं० जयचन्दजी छाबड़ा)

प्रथम, संस्कृत टीकाकार श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलके लिये इष्टदेवको नमस्कार करते हैं.—

❀ मालिनी ❀

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।

वाले मीमांसक आदिका निराकरण होगया । इसप्रकारके विशेषणों (गुणों) से शुद्ध आत्मा को ही इष्टदेव सिद्ध करके (उसे) नमस्कार किया है ।

भावार्थः—यहाँ मंगलके लिये शुद्ध आत्माको नमस्कार किया है, यदि कोई यह प्रश्न करे कि किसी इष्ट देवका नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? तो उसका समाधान इस प्रकार है:—वास्तवमें इष्टदेवका सामान्य स्वरूप सर्व कर्म रहित, सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा ही है, इसलिये इस अध्यात्म ग्रंथमे 'समयसार' कहनेसे इसमें इष्टदेवका समावेश होगया। तथा एक ही नाम लेनेमें अन्य मतवादी मत पक्षका विवाद करते हैं, उन सबका निराकरण समयसारके विशेषणोंसे किया है । और अन्य वादीजन अपने इष्टदेवका नाम लेते हैं, उसमें इष्ट शब्दका अर्थ घटित नहीं होता, उसमें अनेक बाधाएं आती हैं । और स्याद्वादी जैनोंको तो सर्वज्ञ वीतरागी शुद्ध आत्मा ही इष्ट है; फिर चाहे भले ही इष्टदेवको परमात्मा कहो परमज्योति कहो, परमेश्वर, परब्रह्म, शिव, निरंजन, निष्कलंक, अक्षय, अव्यय, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अनुपम, अच्छेद्य, अभेद्य, परमपुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानंद, सर्वज्ञ वीतराग, अर्हत्, जिन, आप्त, भगवान, समयसार--इत्यादि हजारों नामोंसे कहो; वे सब नाम कंथचित् सत्यार्थ है । सर्वथा एकान्तवादियोंको भिन्न नामोंमें विरोध है, स्याद्वादीको कोई विरोध नहीं है । इसलिये अर्थको यथार्थ समझना चाहिये ।

प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतन रूप ।
सब ज्ञाता लखिकें नमौं समयसार सब भूप ॥ (पं० जयचन्दजी छाबड़ा)

अब सरस्वतीको नमस्कार करते हैं :—

अर्थः—जिसमें अनेक अंत (धर्म) है ऐसे जो ज्ञान तथा वचन उसमयी मूर्ति सदा ही प्रकाशरूप हो । जो अनन्त धर्मो वाला है और परद्रव्योसे तथा पर द्रव्योके गुण-पर्यायों से भिन्न एवं परद्रव्यके निमित्तसे होने वाले अपने विकारोसे कथंचित् भिन्न एकाकार है, ऐसे आत्माके तत्त्वको अर्थात् असाधारण-सजातीय विजातीय द्रव्योंसे विलक्षण-निजस्वरूपको वह मूर्ति अवलोकन करती है ।

भावार्थः—यहाँ सरस्वतीकी मूर्तिको आशीर्वचनरूपसे नमस्कार किया है । लौकिक में जो सरस्वतीकी मूर्ति प्रसिद्ध है वह यथार्थ नहीं है, इसलिये यहाँ उसका यथार्थ वर्णन किया है । सम्यकज्ञान ही सरस्वतीकी सत्यार्थ मूर्ति है । उसमे भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

है, जिसमें समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होते हैं। वह अनन्त धर्म सहित आत्म तत्वको प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये वह सरस्वतीकी मूर्ति है, और उसीके अनुसार जो श्रुतज्ञान है वह आत्मतत्वको परोक्ष देखता है इसलिये वह भी सरस्वतीकी मूर्ति है। और द्रव्यश्रुत वचनरूप है, वह भी उसकी मूर्ति है, क्योंकि वह वचनोंके द्वारा अनेक धर्म वाले आत्माको बतलाती है। इसप्रकार समस्त पदार्थों के तत्वको बतानेवाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वतीकी मूर्ति है; इसीलिये सरस्वतीके वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि बहुतसे नाम कहे जाते हैं। यह सरस्वतीकी मूर्ति अनन्तधर्मोंको 'स्यात्पद' से एक धर्मीमें अविरोध रूपसे साधती है, इसलिये सत्यार्थ है। कितने ही अन्यवादीजन सरस्वतीकी मूर्तिको अन्यथा (प्रकारान्तरसे) स्थापित करते हैं, किन्तु वह पदार्थको सत्यार्थ कहने वाली नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्माको अनन्तधर्मवाला कहा है, सो उसमें वे अनन्तधर्म कौन कौनसे हैं? उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि-वस्तुमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व इत्यादि (धर्म) तो गुण हैं; और उन गुणोंका तीनों कालमें समय-समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है, जो कि अनन्त हैं। और वस्तुमें एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्य रूप धर्म तो वचनगोचर है, किन्तु अन्यविशेषरूप अनन्त धर्म भी हैं जो कि वचनके विषय नहीं हैं, किन्तु वे ज्ञानगम्य है। आत्मा भी वस्तु है, इसलिये उसमें भी अपने अनन्तधर्म हैं।

आत्माके अनन्तधर्मोंमें चेतनत्व असाधारण धर्म है वह अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है। सजातीय जीव द्रव्य अनंत हैं, उनमें भी यद्यपि चेतनत्व है तथापि सबका चेतनत्व निज-स्वरूपमें भिन्न भिन्न कहा है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशभेद होनेसे वह किसीका किसीमें नहीं मिलता। वह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मोंमें व्यापक है, इसलिये उसे आत्माका तत्व कहा है, उसे यह सरस्वतीकी मूर्ति देखती है, और दिखाती है। इसप्रकार इसके द्वारा सर्व प्राणियोंका कल्याण होता है, इसलिये 'सदा प्रकाशरूप रहो' इसप्रकार उसके प्रति आशीर्वाद रूप वचन कहा है।

अब टीकाकार इस ग्रन्थका व्याख्यान करनेका फल चाहते हुये प्रतिज्ञा करते हैं:—

अर्थ—श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि—इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रंथ) की व्याख्या (टीका) से ही मेरी अनुभूतिकी अर्थात् अनुभवनरूप परिणतिकी परमविशुद्धि

अथ सूत्रावतारः—

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुड, मिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान् ।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम् ॥ १ ॥

अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलंबमानामनादिभावांतरपर-

---

(समस्त रागादि विभावपरिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता) हो । यह मेरी परिणति, परपरिणति का कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके अनुभाव (उदयरूप विपाक) से जो अनुभाव्य (रागादि परिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरंतर कल्माषित अर्थात् मैली है । और मैं द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ ।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे तो मै शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, किंतु मेरी परिणति मोहकर्मके उदयका निमित्त पाकरके मैली है—रागादि स्वरूप होरही है । इसलिये शुद्ध आत्माकी कथनीरूप इस समयसार ग्रंथकी टीका करनेका फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादि रहित होकर शुद्ध हो, मेरे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो । मैं दूसरा कुछ भी ख्याति, लाभ, पूजादिक नहीं चाहता, इसप्रकार आचार्य ने टीका करनेकी प्रतिज्ञागर्भित उसके फलकी प्रार्थना की है ।

अब मूल गाथा-सूत्रकार श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्रन्थके प्रारंभमे मंगल पूर्वक प्रतिज्ञा करते है :—

गाथा १

अन्वयार्थः—[**ध्रुवां**] ध्रुव, [**अचलां**] अचल और [**अनौपम्यां**] अनुपम—इन तीन विशेषणोसे युक्त [**गतिं**] गतिको [**प्राप्तान्**] प्राप्त हुये [**सर्व-सिद्धान्**] सर्व सिद्धोको [**वंदित्वा**] नमस्कार करके [**अहो**] अहो ! [**श्रुत-केवलिभणितं**] श्रुत केवलियोंके द्वारा कथित [**इदं**] यह [**समयप्राभृतं**] समयसार नामक प्राभृत [**वक्ष्यामि**] कहूँगा ।

टीका—यहाँ (संस्कृत टीका में) 'अथ' शब्द मंगलके अर्थको सूचित करता है ।

यह पद्यानुवाद हरिगीतिका छन्दमें है—

ध्रुव अचल अरु अनुपमगति, पाये हुए सब सिद्धको,
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृतको अहो ॥ १ ॥

परिवृत्तिविश्रांतिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमा-
नौपम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः
प्रतिच्छंदस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधन-
श्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वय-
मनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्या-

---

ग्रन्थके प्रारंभमें सर्व सिद्धोंको भाव-द्रव्य स्तुतिसे अपने आत्मामें तथा परके आत्मामें स्थापित करके इस समय नामक प्राभृतका भाववचन और द्रव्यवचनसे परिभाषण (व्याख्यान) प्रारम्भ करते हैं—इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। वे सिद्ध भगवान् सिद्धत्वसे साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द (प्रतिध्वनि) के स्थान पर हैं;—जिनके स्वरूपका संसारी भव्य-जीव चिंतवन करके, उनके समान अपने स्वरूपको ध्याकर उन्हींके समान हो जाते हैं और चारों गतियोंसे विलक्षण पंचमगति—मोक्षको प्राप्त करते हैं। वह पंचमगति स्वभावसे उत्पन्न हुई है, इसलिये ध्रुवत्वका अवलम्बन करती है। चारों गतियाँ पर निमित्तसे होती हैं, इसलिये ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं 'ध्रुव' विशेषणसे पंचमगतिमें इस विनाशीकताका विच्छेद हो गया। और वह गति अनादिकालसे परभावोंके निमित्तसे होने वाले परमें भ्रमण, उसकी विश्रांति (अभाव) के वश अचलताको प्राप्त है। इस विशेषणसे, चारों गतियोंमें पर निमित्तसे जो भ्रमण होता है, उसका (पंचमगतिमें) विच्छेद हो गया। और वह जगत्में जो समस्त उपमायोग्य पदार्थ हैं उनसे विलक्षण,—अद्भुत महिमा वाली है, इसलिये उसे किसीकी उपमा नहीं मिल सकती। इस विशेषणसे चारों गतियोंमें जो परस्पर कथंचित् समानता पाई जाती है, उसका (पंचमगति) में निराकरण हो गया। और उस गतिका नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग कहलाते हैं; मोक्षगति इस वर्गमें नहीं है, इसलिये उसे अपवर्ग कहा है। ऐसी पंचमगतिको सिद्ध भगवान प्राप्त हुए हैं। उन्हें अपने तथा परके आत्मामें स्थापित करके, समयका (सर्व पदार्थोंका अथवा जीव पदार्थका) प्रकाशक जो प्राभृत नामक अर्हन्प्रवचनका अवयव है उसका, अनादिकालसे उत्पन्न हुए अपने और परके मोहका नाश करनेके लिये परिभाषण करता हूँ। वह अर्हत्प्रवचनका अवयव अनादिनिधन परमागम शब्दब्रह्मसे प्रकाशित होनेसे, सर्व पदार्थोंके समूहको साक्षात् करने वाले केवली भगवान्-सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत होनेसे, और केवलियोंके निकटवर्ती साक्षात् सुनने वाले तथा स्वयं अनुभव करने वाले श्रुतकेवली—गणधर देवोंके द्वारा कथित होनेसे प्रमाणताको प्राप्त है। यह अन्य वादियोंके आगमकी भाँति छद्मस्थ (अल्प ज्ञानियों) की कल्पना मात्र नहीं है कि जिससे अप्रमाण हो।

भावार्थः—गाथासूत्रमें आचार्यदेवने 'वक्ष्यामि' कहा है, उसका अर्थ टीकाकारने

र्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ॥ १ ॥

तत्र तावत्समय एवाभिधीयतेः—

'वच् परिभाषणे' धातुसे परिभाषण किया है। उसका आशय इसप्रकार सूचित होता है कि—चौदह पूर्वों में से ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्वमें बारह 'वस्तु' अधिकार हैं; उनमें भी एक एकके बीस बीस 'प्राभृत' अधिकार हैं। उनमें से दसवें वस्तुमें समय नामक जो प्राभृत है उसके मूलसूत्रोंके शब्दोंका ज्ञान पहले बड़े आचार्योंको था और उसके अर्थका ज्ञान आचार्यों की परिपाटीके अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवको भी था। उन्होंने समयप्राभृतका परिभाषण किया—परिभाषासूत्र बनाया। सूत्रकी दस जातियाँ कही गई है, उनमें से एक 'परिभाषा' जाति भी है। जो अधिकारको अर्थके द्वारा यथास्थान सूचित करे वह 'परिभाषा' कहलाती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृतका परिभाषण करते है,—अर्थात् वे समयप्राभृतके अर्थ को ही यथास्थान बतानेवाला परिभाषासूत्र रचते हैं।

आचार्यने मंगलके लिये सिद्धोंको नमस्कार किया है। संसारीके लिये शुद्ध आत्मा साध्य है और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा है, इसलिये उन्हें नमस्कार करना उचित है। यहाँ किसी इष्टदेवका नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया? इसकी चर्चा टीकाकारके मंगलाचरण पर की गई है, उसे यहाँ भी समझ लेना चाहिये। सिद्धोंको 'सर्व' विशेषण देकर यह अभिप्राय बताया है कि सिद्ध अनन्त हैं। इससे यह मानने वाले अन्यमतियोंका खण्डन होगया कि 'शुद्ध आत्मा एक ही है'। 'श्रुत केवली' शब्दके अर्थमें श्रुत तो अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम है और केवली शब्दसे सर्वज्ञ तथा परमागमके ज्ञाता—श्रुत केवली कहे गये हैं। उनसे समयप्राभृतकी उत्पत्ति बताई गई है, इस प्रकार ग्रन्थकी प्रमाणता बताई है, और अपनी बुद्धिसे कल्पित कहनेका निषेध किया है। अन्यवादी छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अपनी बुद्धि से पदार्थका स्वरूप चाहे जैसा कहकर विवाद करते हैं, उनका असत्यार्थपन बताया है।

इस ग्रन्थके अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजन तो प्रगट ही हैं। शुद्ध आत्माका स्वरूप अभिधेय (कहने योग्य) है। उसके वाचक इस ग्रन्थमें जो शब्द है उनका और शुद्ध आत्मा का वाच्य वाचकरूप सम्बन्ध है सो सम्बन्ध है। और शुद्धात्माके स्वरूपकी प्राप्तिका होना प्रयोजन है ॥ १ ॥

प्रथम गाथामें समयका प्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की है। इसलिये यह आकांक्षा होती है कि समय क्या है? इसलिये पहले उस समयको ही कहते है :—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ, तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च, तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि ।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥ २ ॥

योयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यै-कयानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिर-

---

गाथा २

अन्वयार्थः—हे भव्य! जो [**जीवः**] जीव [**चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः**] दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थित हो रहा है [**तं**] उसे [**हि**] निश्चयसे (वास्तवमें) [**स्वसमयं**] स्वसमय [**जानीहि**] जानो [**च**] और जो जीव [**पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं**] पुद्गल कर्मके प्रदेशोंमें स्थित है [**तं**] उसे [**परसमयं**] परसमय [**जानीहि**] जानो ।

टीका:—'समय' शब्दका अर्थ इसप्रकार है'—'सम्' उपसर्ग है, जिसका अर्थ 'एक साथ' है, और 'अय गतौ' धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है; इसलिये एक साथ ही जानना और परिणमन करना,-यह दोनो क्रियाये जिसमें हो वह समय है। यह जीव नामक पदार्थ एक ही समयमे परिणमन भी करता है और जानता भी है इसलिये वह समय है। यह जीवपदार्थ सदा ही परिणमन स्वरूप स्वभावमें रहता हुवा होनेसे उत्पाद,-व्यय-ध्रौव्यकी एकतारूप अनुभूति लक्षणयुक्त सत्ता सहित है। (इस विशेषणसे जीवकी सत्ताको न मानने वाले नास्तिक वादियोंका मत खण्डित हो गया; तथा पुरुषको (जीवको) अपरिणामी मानने वाले साख्यवादियोंका मत परिणमनस्वभाव कहनेसे खण्डित हो गया। नैयायिक और वैशेषिक सत्ताको नित्य ही मानते है, और बौद्ध क्षणिक ही मानते हैं; उनका निराकरण, सत्ताको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप कहने से हो गया)

और जीव चैतन्यस्वरूपतासे नित्य उद्योतरूप निर्मल, स्पष्ट, दर्शनज्ञान-ज्योति स्वरूप है; (क्योंकि चैतन्यका परिणमन दर्शनज्ञान स्वरूप है)। (इस विशेषणसे चैतन्यको ज्ञानाकार स्वरूप न माननेवाले सांख्यमत वालोंका निराकरण हो गया) और वह--जीव, अनंत धर्मोंमें रहनेवाला जो एकधर्मीपना है उसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है ऐसा है। (क्योंकि

जीव चरितदर्शनज्ञानस्थित, स्वसमय निश्चय जानना,
स्थित कर्मपुद्गलके प्रदेशों, परसमय जीव जानना ॥ २ ॥

नंतधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्त्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः। अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति। यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपादात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकगतत्वेन

अनन्त धर्मोंकी एकता द्रव्यत्व है)। (इस विशेषणसे, वस्तुको धर्मोंसे रहित मानने वाले बौद्ध मतियोंका निषेध हो गया) और वह क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होनेसे जिसने गुणपर्यायोंको अंगीकार किया है,—ऐसा है। पर्याय क्रमवर्ती होती हैं और गुण सहवर्ती होता है; सहवर्ती को अक्रमवर्ती भी कहते है।) (इस विशेषणसे पुरुषको निर्गुण मानने वाले सांख्यमत वालोंका निरसन हो गया) और वह, अपने और परद्रव्योंके आकारोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य होनेसे जिसने समस्तरूपको झलकाने वाली एकरूपता प्राप्त की है,—ऐसा है, (अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओंके आकार प्रतिबिम्बित होते है, ऐसे एक ज्ञानके आकाररूप है)। (इस विशेषणसे ज्ञान अपनेको ही जानता है परको नहीं,—इसप्रकार एकाकारको ही मानने वालेका, तथा अपनेको नहीं जानता किंतु परको जानता है, इसप्रकार अनेकाकारको ही मानने वालेका विवच्छेद होगया)

और वह, अन्य द्रव्योके जो विशिष्ट गुण—अवगाहन--गति--स्थिति--वर्तनाहेतुत्व और रूपित्व है, उनके अभावके कारण और असाधारण चैतन्यरूपता स्वभावके सद्भावके कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल—इन पाँच द्रव्योसे भिन्न है। (इस विशेषणसे एक ब्रह्मवस्तुको ही मानने वालेका खण्डन होगया) और वह, अनन्त अन्य द्रव्योंके साथ अत्यंत एकक्षेत्रावगाहरूप होने पर भी, अपने स्वरूपसे न छूटनेसे टंकोत्कीर्ण चैतन्य-स्वभावरूप है। (इस विशेषणसे वस्तु--स्वभावका नियम बताया है)

ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है। जब यह जीव, सर्व पदार्थोंके स्वभावको प्रकाशित करनेमें समर्थ-केवलज्ञानको उत्पन्न करनेवाली भेद--ज्ञानज्योतिका उदय होनेसे, सर्व परद्रव्योंसे छूटकर दर्शन--ज्ञान स्वभावमें निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्वके साथ एकत्वरूपमें लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन—ज्ञान--चारित्रमें स्थित होनेसे अपने स्वरूपको एकत्वरूपसे

वर्त्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते। एवं किल समयस्य द्वैविध्यमुद्धावति ॥ २ ॥

अथैतद्बाध्यते:—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुंदरो लोके ।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

एक ही समयमें जानता तथा परिणमता हुआ वह 'स्वसमय' है, इसप्रकार प्रतीत किया जाता है। किन्तु जब वह, अनादि अविद्यारूपी केलके मूलकी गाँठकी भाँति (पुष्ट हुआ) मोह उसके उदयानुसार प्रवृत्तिकी आधीनतासे, दर्शन, ज्ञान, स्वभावमे निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्वमें छूटकर परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न मोह, राग, द्वेषादि भावोंमे एकतारूपसे लीन होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गलकर्मके (कार्माणस्कन्धरूप) प्रदेशोंमे स्थित होनेसे परद्रव्यको अपने साथ एकरूपसे एककालमे जानता और रागादिरूप परिणमित होता हुआ 'पर समय' है, इसप्रकार प्रतीति की जाती है। इसप्रकार जीव नामक पदार्थकी स्वसमय और परसमयरूप द्विविधता प्रगट होती है।

भावार्थः—जीव नामक वस्तुको पदार्थ कहा है। 'जीव' इसप्रकार अक्षरोंका समूह 'पद' है, और उस पदसे जो द्रव्य पर्याय रूप अनेकांतस्वरूपता निश्चित की जाये वह पदार्थ है। यह जीवपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है, दर्शनज्ञानमयी चेतनास्वरूप है, अनंतधर्मस्वरूप द्रव्य है, द्रव्य होनेसे वस्तु है, गुणपर्यायवान है, उसका स्वपरप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है, और वह (जीव पदार्थ) आकाशादिसे भिन्न असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है, तथा अन्य द्रव्योंके साथ एक क्षेत्रमें रहने पर भी अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता। ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है। जब वह अपने स्वभावमें स्थित हो तब स्वसमय है, और परस्वभाव-रागद्वेष मोहरूप होकर रहे तब परसमय है। इसप्रकार जीवके द्विविधता आती है ॥ २ ॥

अब, समयकी द्विविधतामें आचार्य बाधा बतलाते हैं:—

गाथा ३

अन्वयार्थः—[एकत्वनिश्चयगतः] एकत्व निश्चयको प्राप्त जो [समयः]

एकत्वनिश्चय गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोकमें।
उससे बने बंधनकथा, जु विरोधिनी एकत्वमें ॥ ३ ॥

समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुण-पर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेस्ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंतः केऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यांतर्मग्नानंतस्वधर्मचक्रचुंबिनोपि परस्परमचुंबंतोत्यंतप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पररूपेणापरिणमनाद-विनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णंतो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्यमापद्यंते। प्रकारांतरेण सर्व-संकरादिदोषापत्तेः। एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः। कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयत्वो-

---

समय है वह [**लोके**] लोकमें [**सर्वत्र**] सब जगह [**सुन्दरः**] सुंदर है [**तेन**] इसलिये [**एकत्वे**] एकत्वमें [**बन्ध कथा**] दूसरेके साथ बधकी कथा [**विसंवा-दिनी**] विसंवाद—विरोध करने वाली [**भवति**] है।

टीका:—यहाँ 'समय' शब्दसे सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभावसे अपने गुण--पर्यायोंको प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो समय है। इसलिये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल जीवद्रव्य--स्वरूप लोकमें सर्वत्र जो कुछ जितने जितने पदार्थ हैं वे सब निश्चयसे (वास्तवमें) एकत्वनिश्चयको प्राप्त होनेसे ही सुन्दरताको पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकारसे उसमें संकर व्यतिकर आदि सभी दोष आजायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्यमे अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनंत धर्मोंके चक्रको (समूहको) चुम्बन करते है—स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक दूसरेको स्पर्श नहीं करते अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूपसे तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन न करनेसे ❀ अपनी अनन्त व्यक्ति (प्रगटता) नष्ट नहीं होती, इसलिये जो टंकोत्कीर्णकी भाँति (शाश्वत) स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनोंकी हेतुतासे (निमित्तभावसे) वे सदा विश्वका उपकार करते हैं–टिकाये रखते है। इसप्रकार सर्व पदार्थोंका भिन्न २ एकत्व सिद्ध होनेसे जीव नामक समयको बंधकी कथासे विसंवादकी आपत्ति आती है, क्योंकि बंधकथाका मूल पुद्गलकर्म के प्रदेशोंमें स्थित होना जिसका मूल है ऐसी परसमयतासे उत्पन्न होनेवाली परसमय--स्वसमयरूप द्विविधता जीवके आती है, इसलिये समयके एकत्वका होना ही सिद्ध होता है; (और प्रशंसनीय है)

❀ प्रत्येक पदार्थके अनन्त धर्मोंमेंसे एक भी धर्म पररूप परिणमित नहीं होता इसलिये पदार्थकी अनन्त प्रगटता नष्ट नही होती। ऐसा आशय प्रतीत होता है।

न्यादितमेनस्य द्वैविध्यं। अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते ॥ ३ ॥

अथैतदसुलभत्वेन विभाव्यतेः—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

इह किल सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रांतमनंतद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरावर्त्तैः समुपक्रांतभ्रांतेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण

भावार्थ—निश्चयसे सर्व पदार्थ अपने २ स्वभावमें स्थित रहते हुए ही शोभा पाते हैं। परन्तु जीव नामक पदार्थकी अनादिकालसे पुद्गल कर्मके साथ निमित्तरूप बंध-अवस्था है; उससे इस जीवमें विसंवाद खड़ा होता है, इसलिये वह शोभाको प्राप्त नहीं होता। इसलिये वास्तवमें विचार किया जाये तो एकत्व ही सुन्दर है उससे यह जीव शोभाको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अब, उस एकत्वकी असुलभता बताते हैं:—

गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृंभिततृष्णातंकत्वेन व्यक्तांतराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुंधानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतशः श्रुतपूर्वानंतशः परिचितपूर्वानंतशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वेनात्यंतविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा। इदं तु नित्यव्यक्ततयांतःप्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं सत्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वं। अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ॥ ४ ॥

अत एवैतस्य उपदर्श्यते:—

और भावरूप अनन्त परावर्तनके कारण भ्रमणको प्राप्त हुआ है, समस्त विश्वको एकछत्र राज्यसे वश करनेवाला महा मोहरूपी भूत जिसके पास वैलकी भाँति भारवहन कराता है, बलात् प्रगट हुए तृष्णारूपी रोगके दाहसे अंतरंगमें पीड़ा प्रगट हुई है आकुलित हो होकर मृगजल की भाँति विषयग्रामको (इन्द्रिय विषयोंके समूह को) जिसने घेरा डाल रखा है, और वह परस्पर आचार्यत्व भी करता है (अर्थात् दूसरोंसे कहकर उसीप्रकार अंगीकार करवाता है।) इसलिये काम भोगकी कथा तो सबके लिये सुलभ है। किन्तु निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाशसे स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला यह मात्र भिन्नआत्माका एकत्व ही है,—जो कि सदा प्रगटरूपसे अन्तरंगमें प्रकाशमान है, तथापि कषायोंके साथ एक रूप जैसा किया जाता है, इसलिए अत्यन्त तिरोभावको प्राप्त हुआ है (ढक रहा है) वह—अपनेमे अनात्मज्ञता होनेसे (स्वयं आत्माको न जाननेसे) और अन्य आत्माको जाननेवालोंकी संगति-सेवा न करनेसे, न तो पहले कभी सुना है, न परिचयमें आया है, और न कभी अनुभवमें आया है, इसलिये भिन्न आत्माका एकत्व सुलभ नहीं है।

भावार्थ:—इस लोकमें समस्त जीव संसाररूपी चक्रपर चढ़कर पंच परावर्तनरूप भ्रमण करते है। वहाँ उन्हें मोहकर्मोदयरूपी पिशाचके द्वारा जोता जाता है, इसलिये वे विषयोंकी तृष्णारूपी दाहसे पीड़ित होते है, और उस दाहका इलाज (उपाय) इन्द्रियोंके रूपादि विषयोंको जानकर उनकी ओर दौड़ते है; तथा परस्पर भी विषयोका ही उपदेश करते हैं। इसप्रकार काम तथा भोगकी कथा तो अनन्तवार सुनी, परिचयमे प्राप्त की और उसीका अनुभव किया इसलिये वह सुलभ है। किन्तु सर्व परद्रव्योसे भिन्न एक चैतन्य चमत्कारस्वरूप अपने आत्माकी कथाका ज्ञान अपनेको अपनेसे कभी नहीं हुआ, और जिन्हें वह ज्ञान हुआ है उनकी कभी सेवा नहीं की; इसलिये उसकी कथा न तो कभी सुनी न परिचय किया और न अनुभव किया इसलिये उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है ॥ ४ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि जीवोंको उस भिन्न आत्माका एकत्व बतलाते हैं:—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥ ५ ॥
तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययमेकत्वविभक्तमात्मानं

गाथा ५

अन्वयार्थः—[**तं**] उस [**एकत्वविभक्तं**] एकत्व विभक्त आत्माको [**अहं**] मैं [**आत्मनः**] आत्माके [**स्वविभवेन**] निज वैभवसे [**दर्शये**] दिखाता हूँ, [**यदि**] यदि मैं [**दर्शयेयं**] दिखाऊं तो [**प्रमाणं**] प्रमाण (स्वीकार) करना, [**स्खलेयं**] और यदि कहीं चूक जाऊँ तो [**छलं**] छल [**न**] नहीं [**ग्रहीतव्यं**] ग्रहण करना ।

टीका:—आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्माका निज वैभव है, उस सबसे मैं इस एकत्व-विभक्त आत्माको दिखाऊँगा, ऐसा मैंने व्यवसाय (उद्यम, निर्णय) किया है। मेरे आत्माका वह निज वैभव इस लोकमें प्रगट समस्त वस्तुओंका प्रकाशक है, और 'स्यात्' पदकी मुद्रा वाला जो शब्दब्रह्म- अर्हंतका परमागम है, उसकी उपासनासे उसका जन्म हुआ है। ('स्यात' का अर्थ 'कथंचित्' है अर्थात् किसी प्रकारसे- किसी अपेक्षासे कहना। परमागमको शब्दब्रह्म कहनेका कारण यह है कि—अर्हंतके परमागममें सामान्य धर्मोंके—वचनगोचर समस्त धर्मोंके नाम आते हैं और वचनसे अगोचर जो विशेष धर्म हैं उनका अनुमान कराया जाता है इस प्रकार वह सर्व वस्तुओंका प्रकाशक है, इसलिये उसे सर्वव्यापी कहा जाता है, और इसीलिये उसे शब्दब्रह्म कहते हैं।) समस्त विपक्ष--अन्यवादियोंके द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष- के निराकरणमें समर्थ अति निस्तुष निर्बाध युक्तिके अवलंबनसे उस निज वैभवका जन्म हुआ है। और निर्मल विज्ञानघन--आत्मामें अन्तर्निमग्न (अन्तर्लीन) परमगुरु—सर्वज्ञदेव और अपरगुरु—गणधरादिकसे लेकर हमारे गुरुपर्यंत,—उनके

दर्शाउं एकविभक्तको, आत्मातनं निज विभवसे ।
दर्शाउं तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने ॥ ५ ॥

दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि । किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यं। यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम् ॥५॥

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत्;—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

प्रसादरूपसे दिया गया जो शुद्धात्मतत्वका अनुग्रह पूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्योंके अनुसार जो उपदेश है उससे निज वैभवका जन्म हुआ है। निरन्तर झरता हुआ—स्वादमें आता हुआ जो सुन्दर आनन्द है, उसकी मुद्रासे युक्त प्रचुर संवेदन स्वरूप स्वसंवेदनसे निज वैभवका जन्म हुआ है। यों जिस २ प्रकारसे मेरे ज्ञानका वैभव है उस समस्त वैभवसे दिखाता हूँ मै जो यह दिखाऊँ उसे स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण करना और यदि कहीं अक्षर, मात्रा, अलंकार, युक्ति आदि प्रकरणोंमे चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करनेमें सावधान मत होना। शास्त्र समुद्रके बहुतसे प्रकरण हैं, इसलिये यहाँ स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है; इसलिये अर्थकी परीक्षा करनी चाहिये।

भावार्थः—आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका आलम्बन, पर और अपर गुरुका उपदेश और स्वसंवेद—यों चार प्रकारसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते हैं। हे श्रोताओ! उसे अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे प्रमाण करो। यदि कहीं किसी प्रकरणमे भूल जाऊँ तो उतने दोषको ग्रहण मत करना। कहनेका आशय यह है कि यहाँ अपना अनुभव प्रधान है; उससे शुद्ध स्वरूपका निश्चय करो॥ ५ ॥

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है जिसका स्वरूप जानना चाहिये? इसके उत्तर स्वरूप गाथा सूत्र कहते हैं:—

गाथा ६

अन्वयार्थः—[**यः तु**] जो [**ज्ञायकः भावः**] ज्ञायक भाव है वह [**अप्रमत्तः अपि**] अप्रमत्त भी [**न भवति**] नहीं और [**न प्रमत्तः**] प्रमत्त भी नहीं है; [**एवं**] इसप्रकार [**शुद्ध**] उसे शुद्ध [**भणंति**] कहते हैं; [**च**

नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायक भाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है॥६॥

यो हि नाम स्वतःसिद्धत्वेनानादिरनंतोनित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्त्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिल-

---

यः] और जो [ज्ञातः] ज्ञायकरूपसे ज्ञात हुआ [सः तु] वह तो [स एव] वही है, अन्य कोई नहीं।

टीकाः—जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होनेसे (किसीसे उत्पन्न हुआ न होनेसे) अनादि सत्तारूप है, कभी विनाशको प्राप्त न होने से अनन्त है, नित्य उद्योतरूप होनेसे क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसारकी अवस्थामें अनादि बन्धपर्यायकी निरूपणासे (अपेक्षासे) क्षीर नीरकी भाँति कर्म पुद्गलोंके साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षासे देखा जाय तो जिसका मिटना कठिन है, ऐसे कषाय चक्रके उदयकी विचित्रताके वशसे प्रवर्तमान पुण्य-पापको उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभावसे जड़भावरूप नहीं होता) इसलिये वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्य द्रव्योंके भावोंसे भिन्नरूपसे उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है। जैसे दाह्य निष्क (सुवर्णका सिक्का) के आकार होनेसे अग्निको दहन कहते हैं तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती, उसीप्रकार ज्ञेयाकार होनेसे उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्थामें जो ज्ञायकरूपसे ज्ञात हुआ वह स्वरूप प्रकाशनकी (स्वरूपको जानने की) अवस्थामें भी दीपककी भाँति, कर्ता-कर्मका अनन्यत्व (एकता) होनेसे ज्ञायक ही है—स्वयं जाननेवाला है इसलिये स्वयं कर्ता और अपनेको जाना इसलिये स्वयं ही कर्म है। जैसे दीपक घटपटादिको प्रकाशित करनेकी अवस्थामें भी दीपक है, और अपने को—अपनी ज्योतिरूपशिखाको प्रकाशित करने की अवस्थामें भी दीपक ही है (अन्य कुछ नहीं), उसीप्रकार ज्ञायकका समझना चाहिये।

भावार्थः—अशुद्धता परद्रव्यके संयोगसे आती है। उसमें मूलद्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, मात्र परद्रव्यके निमित्तसे अवस्था मलिन हो जाती है। द्रव्य-दृष्टिसे तो द्रव्य जो है वही है, और पर्याय (अवस्था) दृष्टिसे देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञायकत्व मात्र है, और उसकी अवस्था पुद्गलकर्मके निमित्तसे रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायदृष्टिसे देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता

प्येत। न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्कनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वं यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव ॥ ६ ॥

है और द्रव्यदृष्टिसे देखा जाये तो ज्ञायकत्व, ज्ञायकत्व ही है, वह कहीं जड़त्व नहीं हुआ। यहाँ द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके कहा है। जो प्रमत्त–अप्रमत्तके भेद है वे परद्रव्यकी संयोग-जनित पर्याय हैं। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टिमें गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है इस-लिये आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं हैं, इसलिये वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेयको जाननेसे दिया जाता है, क्योंकि ज्ञेयका प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब ज्ञानमें वैसा ही अनुभव होता है। तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञानमें प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायकके ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है।

'यह जो मैं जानने वाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं'—ऐसा अपनेको अपना अभेदरूप अनुभव हुआ तब इस जाननेरूप क्रियाका कर्ता स्वयं ही है, और जिसने जाना वह कर्म भी स्वयं ही है। ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र स्वयं शुद्ध है। यह शुद्धनयका विषय है। अन्य जो परसंयोग जनित भेद हैं वे सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनयके विषय है। अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्यकी दृष्टिमे पर्यायार्थिक ही है इसलिये व्यवहारनय ही है, ऐसा आशय समझना चाहिये।

यहाँ यह भी जानना चाहिये कि जिनमतका कथन स्याद्वादरूप है, इसलिये अशुद्ध-नयको सर्वथा असत्यार्थ न माना जाये; क्योंकि स्याद्वादप्रमाणसे शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तुके धर्म है, और वस्तुधर्म वस्तुका सत्व है; अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्यके संयोगसे होती है। अशुद्धनयको यहाँ हेय कहा है, क्योंकि अशुद्धनयका विषय संसार है और संसारमे आत्मा क्लेश भोगता है; जब स्वयं परद्रव्यसे भिन्न होता है तब संसार छूटता है और क्लेश दूर होता है। इसप्रकार दुःख मिटानेके लिये शुद्धनयका उपदेश प्रधान है। अशुद्धनयको असत्यार्थ कहनेसे यह न समझना चाहिये कि आकाशके फूलकी भाँति वह वस्तु धर्म सर्वथा ही नहीं है, ऐसा सर्वथा एकांत समझनेसे मिथ्यात्व होता है; इस-लिये स्याद्वादकी शरण लेकर शुद्धनयका आलम्बन लेना चाहिये। स्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद शुद्धनयका भी आलंबन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है वह है—यह प्रमाण दृष्टि है। इसका फल वीतरागता है। इसप्रकार निश्चय करना योग्य है।

यहाँ (ज्ञायक भाव) प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है ऐसा कहा है। वह गुणस्थानोंकी परि-पाटीमें छट्ठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवेसे लेकर अप्रमत्त कहलाता है। किन्तु यह सब गुणस्थान अशुद्धनयकी कथनीमे है, शुद्धनयसे तो आत्मा ज्ञायक ही है॥ ६ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनाशुद्धत्वमिति चेत्‌—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चारित्रं दर्शनं ज्ञानम्‌ ।
नापि ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥७॥

आस्तां तावद्‌बंधप्रत्ययात्‌ ज्ञायकस्याशुद्धत्वं दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न विद्यंते । यतो ह्यनंतधर्मण्येकस्मिन्‌ धर्मिण्यनिष्णातस्यांतेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्मधर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो

अब, प्रश्न यह होता है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्रको आत्माका धर्म कहा गया है, किन्तु यह तो तीन भेद हुए; और इन भेदरूप भावोंसे आत्माको अशुद्धता आती है? इसके उत्तर स्वरूप गाथा सूत्र कहते है.—

गाथा ७

अन्वयार्थः—[**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके [**चरित्रं दर्शनं ज्ञानं**] चारित्र, दर्शन ज्ञान यह तीन भाव [**व्यवहारेण**] व्यवहारसे [**उपदिश्यते**] कहे जाते हैं, निश्चयसे [**ज्ञानं अपि न**] ज्ञान भी नहीं है [**चारित्रं न**] चारित्र भी नहीं है, और [**दर्शनं न**] दर्शन भी नही है, ज्ञानी तो एक [**ज्ञायकः शुद्धः**] शुद्ध ज्ञायक ही है।

टीका—इस ज्ञायक आत्माको बंधपर्यायके निमित्तसे अशुद्धता तो दूर रहो, किन्तु उसके दर्शन ज्ञान चारित्र भी विद्यमान नहीं हैं; क्योंकि अनन्त धर्मों वाले एक धर्मीमें जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्योंको, धर्मीको बतलाने वाले कितने ही धर्मोंके द्वारा, उपदेश करते हुए आचार्योंका यद्यपि धर्म और धर्मीका स्वभावसे अभेद है तथापि नामसे भेद करके—व्यवहार मात्रसे ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। किन्तु परमार्थसे देखा जाये तो अनन्त पर्यायोंको एक द्रव्य पी जाता है, इसलिये एकरूप, किंचित् एकमेक मिले हुए आस्वादरूप, अभेद, एकस्वभाव वस्तुका अनुभव करनेवाले पण्डित पुरुषके न तो दर्शन है न ज्ञान है न चारित्र ही है; किन्तु वह तो एकमात्र शुद्ध ज्ञायक ही है।

चारित्र दर्शन ज्ञान भी, व्यवहार कहता ज्ञानि के।
चारित्र नहिं दर्शन नहीं, नहिं ज्ञान ज्ञायक शुद्ध है ॥७॥

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोध-बहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव तदेतद्भाषासंबंधैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुदाय स्वस्ति-पदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमया-श्रुझलझलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव। तथा किल लोकोप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानि-मेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोध-

---

[**अनार्यभाषां विना तु**] अनार्य भाषाके विना [**ग्राहयितुं**] किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेके लिये [**नापि शक्यः**] कोई समर्थ नहीं है तथा उसीप्रकार [**व्यवहारेण विना**] व्यवहारके विना [**परमार्थोपदेशनं**] परमार्थका उपदेश देना [**अशक्यं**] अशक्य है।

टीकाः—जैसे किसी म्लेच्छसे यदि कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' ऐसा शब्द कहे तो वह म्लेच्छ उस शब्दके वाच्य वाचक सम्बन्ध को न जाननेसे कुछ भी न समझकर उस ब्राह्मणकी ओर मेंढेकी भाँति आँखे फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, किन्तु जब ब्राह्मणकी और म्लेच्छकी भाषाका—दोनोका अर्थ जानने वाला कोई दूसरा पुरुष या वही ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा बोलकर उसे समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ यह है कि "तेरा अविनाशी कल्याण हो," तब तत्काल ही उत्पन्न होने वाले अत्यन्त आनन्दमय अश्रुओसे जिसके नेत्र भर जाते हैं ऐसा वह म्लेच्छ इस 'स्वस्ति' शब्दके अर्थ को समझ जाता है; इसीप्रकार व्यवहारीजन भी 'आत्मा' शब्दके ,कहने पर 'आत्मा' शब्दके अर्थका ज्ञान न होनेसे कुछ भी न समझकर मेंढे की भाँति आंखे फाड़कर टकटकी लगाकर देखते रहते है, किन्तु जब व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यक्ज्ञान रूपी महारथको चलाने वाले सारथी की भाँति अन्य कोई आचार्य अथवा 'आत्मा' शब्दको कहने वाला स्वयं ही व्यवहार मार्गमे रहता हुआ आत्मा शब्दका यह अर्थ बतलाता है कि—"दर्शन, ज्ञान, चारित्रको जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है", तब तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनन्दसे जिसके हृदयमें सुन्दर और मनोहर-बोधतरंगे (ज्ञानतरगें) उछलने लगती हैं ऐसा वह व्यवहारी जन उस "आत्मा" शब्दके अर्थको अच्छी तरह समझ लेता है। इसप्रकार जगत तो म्लेच्छके स्थान पर होनेसे, और व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषाके स्थान पर होनेसे परमार्थका प्रतिपादक (कहने वाला) है इसलिये, व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है; किन्तु ब्राह्मणको म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिये—इस वचनसे वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है।

महारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदतः सुंदरबंधुरबोधतरंगस्तत्प्रतिपद्यत एव। एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः ॥८॥

कथं व्यवहारस्य प्रतिपादकत्वमिति चेत्;—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा॥ ९ ॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा॥ १० ॥जुम्मं।

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम्।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः॥ ९ ॥
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात्॥१०॥ युग्मम्।

भावार्थः—लोग शुद्धनयको नहीं जानते, क्योंकि शुद्धनयका विषय अभेद एकरूप वस्तु है, किन्तु वे अशुद्धनयको ही जानते हैं क्योंकि उसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है; इसलिये वे व्यवहारके द्वारा ही परमार्थको समझ सकते हैं। अतः व्यवहारनय को परमार्थका कहने वाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि यहाँ व्यवहारका आलम्बन कराते है, प्रत्युत व्यवहारका आलम्बन छुड़ाकर परमार्थमें पहुँचाते हैं,—यह समझना चाहिये। ८।

अब, प्रश्न यह होता है कि व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक कैसे है? इसके उत्तर स्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ९-१०

अन्वयार्थः—[**यः**] जो जीव [**हि**] निश्चय से (वास्तवमें) [**श्रुतेन**] श्रुतज्ञानके द्वारा [**तु इमं**] इस अनुभव गोचर [**केवलं शुद्धं**] केवल एक शुद्ध

इस आत्मको श्रुतसे नियत, जो शुद्ध केवल जानते।
ऋषिगण प्रकाशक लोकके, श्रुतकेवली उसको कहें॥९॥
श्रुतज्ञान सब जानें जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहे।
सब ज्ञान सो आत्मा हि है, श्रुतकेवली उससे बने॥१०॥

यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः। तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा ? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपंचतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः। ततो गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायात्यतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात्। एवं सति यः आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति स तु परमार्थ एव। एवं ज्ञानज्ञानिनोर्भेदेन व्यपदिश्यता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते न किंचिदप्यतिरिक्तं। अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं

[आत्मानं] आत्मा को [अभिगच्छति] सम्मुख होकर जानता है, [तं] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोक को प्रगट जानने वाले [ऋषयः] ऋषीश्वर [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [भणंति] कहते है, [यः] जो जीव [सर्वं] सर्व [श्रुतज्ञानं] श्रुतज्ञान को [जानाति] जानता है [तं] उसे [जिनाः] जिनदेव [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [आहुः] कहते हैं, [यस्मात्] क्योकि [ज्ञानं सर्वं] ज्ञान सब [आत्मा] आत्मा ही है [तस्मात्] इसलिये [श्रुतकेवली] वह श्रुतकेवली है।

टीकाः—प्रथम, "जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते है वे श्रुत केवली हैं" यह तो परमार्थ है; और "जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते है वे श्रुतकेवली हैं", यह व्यवहार है। यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं:--उपरोक्त सर्वज्ञान आत्मा है, या अनात्मा ? यदि अनात्मा का पक्ष लिया जाये तो वह ठीक नहीं है. क्योंकि जो समस्त जड़रूप अनात्मा—आकाशादिक पाँच द्रव्य है, उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य बनता ही नहीं (क्योकि उनमे ज्ञान सिद्ध नहीं है); इसलिये अन्य पक्ष का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है यह पक्ष सिद्ध हुआ। इसलिये श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है। ऐसा होने से 'जो आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है' ऐसा ही घटित होता है; और वह तो परमार्थ ही है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानीके भेदसे कहने वाला जो व्यवहार है उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है, उससे भिन्न कुछ नहीं कहा जाता। और "जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं," इस प्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होने से, "जो सर्वश्रुतज्ञानको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं" ऐसा व्यवहार परमार्थ के प्रतिपादकत्वसे अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है।

भावार्थ—जो भावश्रुतज्ञानसे अभेदरूप ज्ञायक मात्र शुद्ध आत्मा को जानता है वह

जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति ॥९।१०॥

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत् ;—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः ।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥११॥

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति । तथाहि । यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकार्थ-

---

श्रुत केवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय कथन) है। और जो सर्व शास्त्रज्ञान को जानता है। उसने भी ज्ञान को जानने से आत्मा को ही जाना है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञान-ज्ञानीके भेदको कहने वाला जो व्यवहार उसने भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा। और परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचन गोचर भी नहीं है, इसलिये व्यवहारनय ही आत्मा को प्रगट रूपसे कहता है, ऐसा जानना चाहिये। ९-१०।

अब, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—पहले यह कहा था कि व्यवहार को अंगीकार नहीं करना चाहिये, किन्तु यदि वह परमार्थ को कहने वाला है तो ऐसे व्यवहार को क्यों अंगीकार न किया जाये? इसके उत्तर रूपमें गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ११

अन्वयार्थः—[**व्यवहारः**] व्यवहारनय [**अभूतार्थः**] अभूतार्थ है [**तु**] और [**शुद्धनयः**] शुद्धनय [**भूतार्थः**] भूतार्थ है, ऐसा [**दर्शितः**] ऋषीश्वरोंने बताया है; [**जीवः**] जो जीव [**भूतार्थ**] भूतार्थका [**आश्रितः**] आश्रय लेता है वह जीव [**खलु**] निश्चयसे (वास्तवमें) [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**भवति**] है।

टीका:—व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अर्थको अभूत, अर्थको प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होनेसे विद्यमान, सत्य, भूत, अर्थको प्रगट करता है यह बात दृष्टान्तसे बतलाते हैं:—जैसे प्रबल कीचड़के

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आतमा, सद्दृष्टि निश्चय होय है ॥११॥

भावस्य पयसोनुभवितारः पुरुषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वंतो बहवोनर्थमेव तदनुभवंति । केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकार्थभावत्वादर्थमेव तमनुभवंति । तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वंतो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति । भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति । तदत्र ये भूतार्थमाश्रयंति त एव

मिलनेसे जिसका सहज एक निर्मल भाव तिरोभूत (आच्छादित) होगया है, ऐसे जलका अनुभव करने वाले पुरुष—जल और कीचड़का विवेक न करने वाले (दोनोंके भेदको न समझने वाले) -बहुतसे तो उस जलको मलिन ही अनुभवते है, किन्तु कितने ही अपने हाथसे डाले हुवे कतकफल[1]के पड़ने मात्रसे उत्पन्न जलकादवके विवेकतासे अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मल भावपनेसे उस जलको निर्मल ही अनुभव करते हैं, इसीप्रकार प्रबल कर्मोंके मिलनेसे जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्माका अनुभव करनेवाले पुरुष-आत्मा और कर्मका विवेक (भेद) न करनेवाले, व्यवहारसे विमोहित हृदयवाले तो उसे (आत्माको) जिसमें भावोंकी विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं, किन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनयको देखने वाले) अपनी बुद्धिसे डाले हुवे शुद्धनयके अनुसार बोध होने मात्रसे उत्पन्न आत्म-कर्मके विवेकतासे, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायक स्वभावत्वके कारण उसे (आत्माको) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसा अनुभव करते हैं। यहाँ, शुद्धनय कतकफलके स्थानपर है इसलिये जो शुद्धनयका आश्रय लेते है वे ही सम्यक् अवलोकन करनेसे सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे (जो अशुद्धनयका सर्वथा आश्रय लेते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मोंसे भिन्न आत्माके देखने वालोंको व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

भावार्थ —यहा व्यवहार नयको अभूतार्थ, और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनयको अभूतार्थ कहने का आशय यह है कि शुद्ध नयका विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टिमें भेद दिखाई नहीं देता; इसलिये उसकी दृष्टिमें भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहना चाहिये। ऐसा न समझना चाहिये कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है। यदि ऐसा माना जाये तो जैसे वेदान्त मत वाले भेदरूप अनित्यको देखकर अवस्तु माया स्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक

---

[1] कतकफल=निर्मली; (एक औषधि जिसमें कीचड़ नीचे बैठ जाता है)

सम्यक् पश्यंतः सम्यग्दृष्टयो भवंति न पुनरन्ये कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्यातः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः ॥११॥

अथ च केषांचित्कदाचित्सोपि प्रयोजनवान् । यतः—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१२॥

एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्मको वस्तु कहते है वैसा सिद्ध हो और उससे सर्वथा एकान्त शुद्धनयके पक्षरूप मिथ्यादृष्टिका ही प्रसंग आये, इसलिये यहां ऐसा समझना चाहिये कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, वह प्रयोजनवश नयको मुख्य—गौण करके कहती है। प्राणियो को भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादिकालसे ही है, और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते है। और जिनवाणीमे व्यवहारका उपदेश शुद्धनयका हस्तावलंबन सहायक जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनयका पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है,—वह कहीं कहीं पाया जाता है। इसलिये उपकारी श्रीगुरुने शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानतासे दिया है, कि—"शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेनेसे सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जबतक जीव व्यवहारसे मग्न है तबतक आत्माका ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता"। ऐसा आशय समझना चाहिये ॥ ११ ॥

अब, "यह व्यवहारनय भी किसी किसीको किसी काल प्रयोजनवान है, सर्वथा निषेध करने योग्य नही है, इसलिये उसका उपदेश है" यह कहते हैं:—

गाथा १२

अन्वयार्थः—[परमभावदर्शिभिः] जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्णज्ञान-चारित्रवान हो गये उन्हे तो [शुद्धादेशः] शुद्ध (आत्मा) का उपदेश (आज्ञा) करनेवाला [शुद्धः] शुद्धनय [ज्ञातव्यः] जानने योग्य है; [पुनः] और [ये तु] जो जीव [अपरमे भावे] अपरम भावमें—अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान

देखै परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है।
ठहरा जु अपरमभावमें, व्यवहारसे उपदिष्ट है ॥१२॥

ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमं भावमनुभवंति तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्। ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवंति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च। "जइ जिणमयं पवज्जह

चारित्रके पूर्णभावको नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्थामें ही—[स्थिताः] स्थित हैं वे [व्यवहारदेशिताः] व्यवहारद्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

टीकाः—जो पुरुष अन्तिम पाकसे उतरे हुए शुद्ध स्वर्णके समान (वस्तुके) उत्कृष्ट भावका अनुभव करते हैं, उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकोंकी परम्परासे पच्यमान (पकाये जाते हुये) अशुद्ध स्वर्णके समान जो अनुत्कृष्ट-मध्यमभाव हैं उनका अनुभव नहीं होता; इसलिये शुद्धद्रव्य को कहनेवाला होनेसे जिसने अचलित-अखण्ड एकस्वभावरूप एक भाव प्रगट किया है ऐसा शुद्धनय ही, सबसे ऊपरकी एक प्रतिवर्णिका (स्वर्ण वर्ण) समान होनेसे, जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है। परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों) की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्णके समान जो (वस्तु का) अनुत्कृष्ट-मध्यम भावका अनुभव करते हैं उन्हें अंतिम तावसे उतरे हुए शुद्ध स्वर्णके समान उत्कृष्ट भावका अनुभव नहीं होता; इसलिये अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला होनेसे जिसने भिन्न भिन्न एक एक भाव स्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमालाके समान होनेसे, जानने मे आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है। क्योंकि तीर्थ और तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्थिति है। (जिससे तिरा जाये वह तीर्थ है, ऐसा व्यवहार धर्म है। और पार होना व्यवहार धर्मका फल है, अथवा अपने स्वरूपको प्राप्त करना तीर्थफल है) अन्यत्र भी कहा है कि—

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो! यदि तुम जिनमतका प्रवर्तीना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—दोनों नयों को मत छोड़ो। क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ-व्यवहार मार्गका नाश हो जायगा और निश्चयनयके बिना तत्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

ता मा ववहारणिच्छए मुयह । एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥"

भावार्थ—लोकमें सोनेके सोलह वान (ताव) प्रसिद्ध है। पन्द्रहवें वान तक उसमें चूरी आदि परसंयोग की कालिमा रहती है, इसलिये तबतक वह अशुद्ध कहलाता है; और ताव देते देते जब अन्तिमतावसे उतरता है तब वह सोलहवान या सौटंची शुद्ध सोना कहलाता है। जिन्हें सोलहवानवाले सोनेका ज्ञान, श्रद्धान तथा प्राप्ति हुई है उन्हें पन्द्रह-वान तकका सोना कोई प्रयोजनवान नहीं होता, और जिन्हें सोलह-वानवाले शुद्ध सोनेकी प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें तब तक पन्द्रह-वान तक का सोना भी प्रयोजनवान है। इसीप्रकार यह जीव नामक पदार्थ है, जो कि पुद्गलके संयोगसे अशुद्ध अनेकरूप हो रहा है। उसका, समस्त परद्रव्योंसे भिन्न, एक ज्ञायकत्व मात्रका–ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति–यह तीनों जिसे हो गये हैं, उसे पुद्गलसंयोगजनित अनेकरूपता को कहनेवाला अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान (किसी मतलब का) नहीं है; किन्तु जहाँ तक शुद्ध भाव की प्राप्ति नहीं हुई वहाँ तक जितना अशुद्धनयका कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान है। जहाँ तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यक्‌दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन वचनोंको सुनना, धारण करना तथा जिन वचनोंको कहनेवाले श्री जिन गुरु की भक्ति, जिनबिम्बके दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्गमें प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है। और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है, किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य परद्रव्य का आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत-महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति और पंच परमेष्ठीका ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करनेवालों की संगति एवं विशेष जानने के लिये शास्त्रोंका अभ्यास करना, इत्यादि व्यवहारमार्गमें स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरों को प्रवर्तन कराना- ऐसे व्यवहार नयका उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान है। *व्यवहारनय को कंथचित् असत्यार्थ कहा गया है; किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहारको ही छोड़ देगा, और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिये उल्टा अशुभोपयोगमें ही आकर, भ्रष्ट होकर चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादिगति तथा परम्परासे निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा। इसलिये शुद्धनय का विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान है,—ऐसा स्याद्वाद मतमें श्री गुरुओंका उपदेश है।

---

* व्यवहारनयके उपदेश से ऐसा नहीं समझना चाहिये कि आत्मा परद्रव्य की क्रिया कर सकता है, लेकिन ऐसा समझना कि व्यवहारोपदिष्ट शुभभावों को आत्मा व्यवहार से कर सकता है। और उस उपदेश से ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि शुभभाव करने से आत्मा शुद्धता को प्राप्त करता है, परंतु ऐसा समझना कि साधकदशामें भूमिका अनुसार शुभभाव आये बिना नहीं रहते।

❀ मालिनी ❀

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

इसी अर्थका कलशरूप काव्य टीकाकार कहते हैं:—

अर्थ —निश्चय और व्यवहार–इन दो नयोंके विषयके भेदसे परस्पर विरोध है; उस विरोधका नाश करनेवाला 'स्यात्'-पदसे चिह्नित जो जिनभगवानका वचन (वाणी) है उसमें जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं) वे अपने आप ही (अन्य कारणके विना) मिथ्यात्व कर्मके उदयका वमन करके इस अतिशयरूप परम ज्योति प्रकाशमान शुद्ध-आत्माको तत्काल ही देखते हैं। वह समयसाररूप शुद्ध-आत्मा नवीन उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु पहले कर्मोंसे आच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्तिरूप हो गया है। और वह सर्वथा एकान्तरूप कुनयके पक्षसे खण्डित नहीं होता—निर्बाध है।

भावार्थ—जिनवचन (जिनवाणी) स्याद्वादरूप है। जहाँ दो नयोंके विषयका विरोध है, जैसे कि—जो सत्रूप होता है वह असत्रूप नहीं होता, जो एक होता है वह अनेक नहीं होता जो नित्य होता है, वह अनित्य नहीं होता जो भेदरूप होता है वह अभेदरूप नहीं होता जो शुद्ध होता है वह अशुद्ध नहीं होता, इत्यादि नयोंके विषयोंमें विरोध है—वहाँ जिनवचन कथंचित् विवक्षासे सत्-असत्रूप, एक-अनेकरूप; नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप जिसप्रकार विद्यमान वस्तु है उसीप्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, असत् कल्पना नहीं करता। जिनवचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक–दोनों नयोंमें, प्रयोजनवश शुद्ध द्रव्यार्थिकनयको मुख्य करके उसे निश्चय कहते हैं और अशुद्ध द्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिक नयको गौण करके व्यवहार कहते हैं। —ऐसे जिनवचनमें जो पुरुष रमण करते हैं वे इस शुद्ध आत्माको यथार्थ प्राप्त कर लेते हैं, अन्य–सर्वथा एकान्तवादी सांख्यादिक उसे प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि वस्तु सर्वथा एकान्तपक्षका विषय नहीं है तथापि वे एक ही धर्मको ग्रहण करके वस्तुकी असत्य कल्पना करते हैं—जो असत्यार्थ है, बाधा सहित मिथ्या दृष्टि है।

❀ मालिनी ❀

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥ ५ ॥

❀ शार्दूलविक्रीड़ित ❀

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक् ।

टीकाकार इसकी सूचनारूप तीन श्लोक कहते है, उनमे से प्रथम श्लोकमे यह कहते है कि व्यवहारनयको कथंचित् प्रयोजनवान कहा तथापि वह कुछ वस्तुभूत नही है:—

अर्थ:—जो व्यवहारनय है वह यद्यपि इस पहली पदवीमें (जब तक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक) जिन्होने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषोंको अरे रे ! हस्तावलम्ब तुल्य कहा है, तथापि जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावोंसे रहित (शुद्धनयके विषयभूत) परम 'अर्थ' को अंतरंगमें अवलोकन करते है उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभावको प्राप्त होते है उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है ।

भावार्थ:—शुद्धस्वरूपका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होनेके बाद अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनकारी नहीं है ।

अब निश्चय सम्यक्त्वका स्वरूप कहते है.—

अर्थ:—इस आत्माको अन्य द्रव्योंसे पृथक् देखना (श्रद्धान करना) ही नियमसे सम्यक्दर्शन है, यह आत्मा अपने गुण-पर्यायोंसे व्याप्त रहनेवाला है, और शुद्धनयसे एकत्व मे निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानघन है । एवं जितना सम्यक्दर्शन है उतना ही आत्मा है, इसलिये आचार्य प्रार्थना करते है कि "इस नवतत्त्वकी परिपाटीको छोड़कर यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो ?"

भावार्थ:—सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुण, पर्याय भेदोंमे व्यापनेवाला यह आत्मा शुद्धनय से एकत्वमे निश्चित किया गया है--शुद्धनय से ज्ञायक मात्र एक आकार दिखलाया गया है; उसे सर्व अन्य द्रव्यों और अन्य द्रव्यों के भावों से अलग देखना, श्रद्धान करना सो नियम से सम्यक्दर्शन है । व्यवहारनय आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यक्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है,

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥

❀ अनुष्टुप् ❀

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

नियम नहीं रहता। शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर व्यभिचार नहीं रहता इसलिये नियमरूप है, शुद्धनयका विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है—सर्व लोकालोकको जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। ऐसे आत्मा का श्रद्धानरूप सम्यक्दर्शन है। वह कहीं पृथक् पदार्थ नहीं है, आत्माका ही परिणाम है, इसलिये आत्मा ही है। अतः जो सम्यक्दर्शन है सो आत्मा है अन्य नहीं।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि जो नय है सो श्रुतप्रमाण का अंश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुवा। श्रुतप्रमाण परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञके आगमके वचन से जाना है, इसलिये यह शुद्धनय सर्व द्रव्योसे भिन्न आत्मा की सर्व पर्यायों मे व्याप्त, पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप--सर्व लोकालोकको जाननेवाले, असाधारण चैतन्य धर्मको परोक्ष दिखाता है। यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगम को प्रमाण करके शुद्धनय से दिखाये गये पूर्ण आत्माका श्रद्धान करे सो वह श्रद्धान निश्चय सम्यक्दर्शन है। जब तक केवल व्यवहारनयके विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्वोंका ही श्रद्धान रहता है तब तक निश्चय सम्यक्दर्शन नहीं होता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि इन नवतत्वोंकी संतति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनयका विषयभूत एक आत्मा ही हमे प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयोंका पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है, कि--आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभवमें आये तो इतनी श्रद्धा सम्यक्दर्शन है या नहीं? उसका समाधान यह है:—नास्तिकोंको छोड़कर सभी मतवाले आत्माको चैतन्य मात्र मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यक्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जायेगा, इसलिये सर्वज्ञकी वाणीमे जैसा सम्पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा है वैसा श्रद्धान होनेसे ही निश्चय सम्यक्त्व होता है, ऐसा समझना चाहिये।

अब, टीकाकार—आचार्य निम्न लिखित श्लोक मे यह कहते हैं कि—'तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन, सर्व द्रव्यों से भिन्न आत्मज्योति प्रगट हो जाती है':—

अर्थः—तत्पश्चात शुद्धनयके आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है वह प्रगट होती है कि जो नवतत्वों में प्राप्त होने पर भी अपने एकत्वको नहीं छोड़ती।

भूयत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥१३॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एवामीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रव-संवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्ध-नयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात्तत्र वि-कार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापं । आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं

भावार्थः—नवतत्वों में प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है; यदि उसका भिन्न स्वरूप विचार किया जाये तो वह अपनी चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योति को नहीं छोड़ता ॥ १२ ॥

इसप्रकार ही शुद्धनय से जानना सो सम्यक्त्व है, यह सूत्रकार इस गाथामें कहते हैं:-

गाथा १३

अन्वयार्थः—[**भूतार्थेन अभिगता**] भूतार्थनयसे ज्ञात [**जीवाजीवौ**] जीव, अजीव [**च**] और [**पुण्यपापं**] पुण्य, पाप [**च**] तथा [**आस्रवसंवर-निर्जराः**] आस्रव, सवर, निर्जरा [**बंधः**] बन्ध [**च**] और [**मोक्षः**] मोक्ष [**सम्यक्त्वम्**] यह नवतत्व सम्यक्त्व है ।

टीकाः—यह जीवादि नवतत्व भूतार्थनयसे जाने हुवे सम्यग्दर्शन ही है (यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थ की (व्यवहार धर्मकी) प्रवृत्तिके लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नयसे कहा जाता है ऐसे नवतत्व--जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष हैं--उनमे एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनयसे एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूपसे स्थापित आत्मा की अनुभूति--जिसका लक्षण आत्मख्याति है--वह प्राप्त होती है (शुद्धनयसे नवतत्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है) वहाँ, विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला--दोनों पुण्य है तथा दोनों पाप हैं; आस्रव होने

भूतार्थसे जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा ।
आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना ॥१३॥

संवरः निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा वंध्यवंधकोभयं वंधः मोच्यमोचकोभयं मोक्षः। स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः। तदुभयं च जीवाजीवाविति। बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथचैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। तथांतर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो जीवस्य विकारहेतुरजीवः। केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्ष-लक्षणाः, केवलाजीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति। नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानताया-

---

योग्य और आस्रव करनेवाला दोनो आस्रव है, संवररूप होने योग्य (संवार्य) और संवर करनेवाला (संवारक)—दोनो सवर है, निर्जरा होनेके योग्य और निर्जरा करनेवाला--दोनो निर्जरा हैं, वंधने के योग्य और वन्धन करनेवाला--दोनो वंध है, और मोक्ष होने योग्य तथा मोक्ष करनेवाला—दोनो मोक्ष हैं; क्योंकि एक के ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वंध, मोक्षकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। वे दोनो जीव और अजीव हैं, (अर्थात् उन दो मे से एक जीव है और दूसरा अजीव।)

बाह्य (स्थूल) दृष्टिसे देखा जाये तो—जीव-पुद्गलकी अनादि बंध पर्यायके समीप जाकर एकरूपमे अनुभव करने पर यह नवतत्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ है, और एक जीव द्रव्यके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; (वे जीवके एकाकार स्वरूपमें नहीं हैं) इसलिये इन नव तत्वोमे भूतार्थनयसे एक जीव ही प्रकाशमान है। इसी-प्रकार अन्तर्दृष्टिमे देखा जाये तो-ज्ञायकभाव जीव है और जीवके विकारका हेतु अजीव है; और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वंध तथा मोक्ष जिनके लक्षण हैं, ऐसे केवल जीवके विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष विकारहेतु केवल अजीव है। ऐसे यह नवतत्व, जीव द्रव्यके स्वभावको छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण है ऐसे एक द्रव्यकी पर्यायोंके रूपमें अनुभव करने पर भूतार्थ हैं और सर्व कालमे अस्खलित एक शुद्ध द्रव्यके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं–असत्यार्थ हैं। इसलिये इन नवतत्वोमे भूतार्थनयसे एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार यह, एकत्वरूपसे प्रकाशित होता हुआ शुद्धनयरूपसे अनुभव किया जाता है। और जो यह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्माकी पहिचान) ही है, और जो आत्मख्याति है सो सम्यक्दर्शन ही है। इसप्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है—बाधा रहित है।

भावार्थ—इन नवतत्वोंमें, शुद्धनयसे देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य-चमत्कार

मभूतार्थानि । ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते । एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव । यात्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेवेति समस्तमेव निरवद्यं ।

❀ मालिनी ❀

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

मात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न नवतत्व कुछ भी दिखाई नहीं देते। जबतक इसप्रकार जीव तत्वकी जानकारी जीवको नहीं है तबतक वह व्यवहारदृष्टि है, भिन्न भिन्न नवतत्वोंको मानता है। जीव-पुद्गलकी बंधपर्यायरूप दृष्टिसे यह पदार्थ भिन्न भिन्न दिखाई देते है; किन्तु जब शुद्धनयसे जीव-पुद्गलका निज स्वरूप भिन्न भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य पापादि साततत्व कुछ भी वस्तु नहीं है; वे निमित्त नैमित्तिक भावसे हुए थे इसलिये जब वह निमित्त-नैमित्तिक भाव मिट गया तब जीव पुद्गल भिन्न भिन्न होनेसे अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तु तो द्रव्य है, और द्रव्यका निज भाव द्रव्यके साथ ही रहता है तथा निमित्त नैमित्तिक भावका अभाव ही होता है, इसलिये शुद्धनयसे जीवको जाननेसे ही सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है। जब तक भिन्न भिन्न नव पदार्थोंको जाने और शुद्धनयसे आत्माको न जाने तब तक पर्यायबुद्धि है।

यहाँ इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते है :—

अर्थः—इसप्रकार नवतत्त्वोंमें बहुत समयसे छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनयसे बाहर निकालकर प्रगट की गई है, जैसे वर्णोंके समूहमें छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं। इसलिये अब हे भव्य जीवो! इसे सदा अन्य द्रव्योंसे तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावोंसे भिन्न, एकरूप देखो। यह (ज्योति), पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्यायमें एक रूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

भावार्थः—यह आत्मा सर्व अवस्थाओंमें विविध रूपसे दिखाई देता था, उसे शुद्धनय ने एक चैतन्य--चमत्कार–मात्र दिखाया है; इसलिये अब उसे सदा एकाकार ही अनुभव करो, पर्यायबुद्धिका एकांत मत रखो ऐसा श्रीगुरुओंका उपदेश है।

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः। प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्त्तमानं परोक्षं केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं च तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थमथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र

टीका'—अब, जैसे नवतत्त्वोमे एक जीवको ही जानना भूतार्थ कहा है, उसी प्रकार एकरूपसे प्रकाशमान आत्माके अधिगमके उपाय जो प्रमाण नय, निक्षेप हैं वे भी निश्चयसे अभूतार्थ हैं, उनमे भी यह आत्मा एक ही भूतार्थ है (क्योंकि ज्ञेय और वचनके भेदोंसे प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं) उनमेसे पहले, प्रमाण दो प्रकारके हैं–परोक्ष और प्रत्यक्ष। [1]उपात्त और [2]अनुपात्त पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष है और केवल आत्मासे ही प्रतिनिश्चितरूपसे प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है। (प्रमाण ज्ञान है; वह ज्ञान पाँच प्रकारका है–मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवल। उनमेसे मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, अवधि और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है इसलिये यह दो प्रकारके प्रमाण हैं।) वे दोनो प्रमाता प्रमाण, प्रमेयके भेदका अनुभव करनेपर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं, और जिसमे सर्वभेद गौण हो गये हैं, ऐसे एक जीवके स्वभावका अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

नय दो प्रकारके हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहां द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तुमें द्रव्यका मुख्यतासे अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिकनय है और पर्यायका मुख्यतासे अनुभव कराये सो पर्यायार्थिकनय है। यह दोनो नय द्रव्य और पर्यायका, पर्यायसे (भेदसे, क्रमसे) अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ है; और द्रव्य तथा पर्याय दोनोंसे अनालिंगित (आलिंगन नहीं किया हुवा) शुद्ध वस्तु मात्र जीवके (चैतन्यमात्र) स्वभावका अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

निक्षेपके चार भेद हैं, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। वस्तुमे जो गुण न हो उस गुणके नामसे (व्यवहारके लिये) वस्तुकी संज्ञा करना सो नाम निक्षेप है। 'यह, वह है' इसप्रकार अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुका प्रतिनिधित्व स्थापित करना (प्रतिमारूप स्थापन करना) सो स्थापना निक्षेप है। वर्तमानमे अन्य अर्थात अतीत अथवा अनागत पर्यायसे वस्तुको

---

१ उपात्त=प्राप्त, (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त परपदार्थ हैं) २ अनुपात्त=अप्राप्त; (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त परपदार्थ हैं)

द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः, तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थं। अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यं, वर्त्तमानतत्पर्यायो भावस्तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थं। अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते।

❀ मालिनी ❀

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।

वर्तमानमें कहना सो द्रव्यनिक्षेप है। वर्तमान पर्यायसे वस्तुको वर्तमानमें कहना सो भावनिक्षेप है। इन चारों निक्षेपोंका अपने अपने लक्षणभेदसे (विलक्षणरूपसे-भिन्नभिन्नरूपसे) अनुभव किये जानेपर वे भूतार्थ है, सत्यार्थ है और भिन्न लक्षणसे रहित एक अपने चैतन्य लक्षणरूप जीव स्वभावका अनुभव करनेपर वे चारों ही अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ है। इसप्रकार इन प्रमाण, नय, निक्षेपोंमें भूतार्थरूपसे एक जीव ही प्रकाशमान है।

भावार्थः—इन प्रमाण, नय, निक्षेपोंका विस्तारसे कथन तद्विषयक ग्रंथोंसे जानना चाहिये। उनसे द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तुकी सिद्धि होती है। वे साधक अवस्थामें तो सत्यार्थ ही हैं—क्योंकि वे ज्ञानके ही विशेष हैं। उनके विना वस्तुको चाहे जैसे साधा जाये तो विपर्यय हो जाता है। अवस्थानुसार व्यवहारके अभाव की तीन रीतियां हैं—प्रथम अवस्थामें प्रमाणादि से यथार्थ वस्तुको जानकर ज्ञान श्रद्धानकी सिद्धि करना। ज्ञान-श्रद्धानके सिद्ध होनेपर श्रद्धानके लिये प्रमाणादिकी कोई आवश्यक्ता नहीं है। किन्तु अब यह दूसरी अवस्थामें प्रमाणादिके आलम्बनसे विशेष ज्ञान होता है, और राग-द्वेष-मोह कर्मका सर्वथा अभावरूप यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है; उससे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होनेके पश्चात् प्रमाणादिका आलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई आलंबन नहीं है। इसप्रकार सिद्ध अवस्थामें प्रमाण, नय, निक्षेपका अभाव ही है।

इस अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—आचार्य शुद्धनयका अनुभव करके कहते हैं कि—इन समस्त भेदोंको गौण करनेवाला जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्य-चमत्कारमात्र तेजःपुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

❀ उपजाति ❀

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।

होनेपर नयोकी लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है, और निक्षेपोका समूह कहाँ चला जाता है सो हम नहीं जानते,-इससे अधिक क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थ—भेदको अत्यन्त गौण करके कहा है कि—प्रमाण, नयादि भेदकी तो बात ही क्या; शुद्ध अनुभवके होनेपर द्वैत ही भासित नहीं होता एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि—अन्तमे परमार्थरूप तो अद्वैतका ही अनुभव हुआ, यही हमारा मत है; इसमे आपने विशेष क्या कहा? उत्तर—तुम्हारे मतमे सर्वथा अद्वैत माना जाता है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तुका अभाव ही हो जाये, और ऐसा अभाव प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मतमे नयविपक्षा है जो कि बाह्य वस्तुका लोप नहीं करती। जब शुद्ध अनुभवसे विकल्प मिट जाता है तब आत्मा परमानंदको प्राप्त होता है, इसलिये अनुभव करानेके लिये यह कहा है कि—"शुद्ध अनुभवमे द्वैत भासित नहीं होता।" यदि बाह्य वस्तुका लोप किया जाये तो आत्माका भी लोप हो जायेगा और शून्यवाद का प्रसंग आयेगा। इसलिये जैसा तुम कहते हो उसप्रकारसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वरूपकी यथार्थ श्रद्धाके विना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है वह भी मिथ्यारूप है, शून्यका प्रसंग होनेसे तुम्हारा अनुभव भी आकाश-कुसुमके अनुभवके समान है।

आगे शुद्धनयका उदय होता है उसकी सूचनारूप यह श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:—शुद्धनय आत्म स्वभावको प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्म-स्वभावको परद्रव्य, परद्रव्यके भाव तथा परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने विभाव—ऐसे परभावोंसे भिन्न प्रगट करता है। और वह, आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूपसे पूर्ण है—समस्त लोकालोकका ज्ञाता है—ऐसा प्रगट करता है; (क्योंकि ज्ञानमे भेद कर्म संयोगसे है, शुद्धनयमे कर्म गौण है।) और वह, आत्मस्वभावको आदि अंतसे रहित प्रगट करता है (अर्थात् किसी आदिसे लेकर जो किसीसे उत्पन्न नहीं किया गया, और कभी भी किसीसे जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिक भावको प्रगट करता है।) और वह,

विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥१०॥

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम् ।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥ १४ ॥

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः सात्वनुभूतिरात्मैवेत्यात्मैक एव प्रद्योतते । कथं यथोदितस्यात्मनोनु-भूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्तथाहि—यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिल-

---

आत्मस्वभावको एक–सर्वभेदभावोंसे (द्वैतभावोंसे) रहित एकाकार-प्रगट करता है, और जिसमें समस्त संकल्प विकल्पके समूह विलीन हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है (द्रव्य-कर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्योंमें अपनी कल्पना करना सो संकल्प है, और ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद ज्ञात होना सो विकल्प है ।) ऐसा शुद्धनयप्रकाशरूप होता है ॥ १३ ॥

उस शुद्धनयको गाथासूत्रसे कहते हैं:—

गाथा १४

अन्वयार्थः—[**यः**] जो नय [**आत्मानं**] आत्माको [**अबद्धस्पृष्टं**] बन्धरहित और परके स्पर्शसे रहित [**अनन्यकं**] अन्यत्व रहित [**नियतं**] चला-चलता रहित [**अविशेषं**] विशेष रहित [**असंयुक्तं**] अन्यके संयोगसे रहित,—ऐसे पाँच भावरूपसे [**पश्यति**] देखता है [**तं**] उसे हे शिष्य ! तू [**शुद्धनयं**] शुद्धनय [**विजानीहि**] जान ।

टीका:—निश्चयसे अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त-ऐसे आत्माकी अनुभूति शुद्धनय है, और वह अनुभूति आत्मा ही है, इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है । (शुद्धनय, आत्माकी अनुभूति या आत्मा सब एक ही हैं, अलग नहीं ।) यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है वैसे आत्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है ?

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्मको ।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जानजो ॥१४॥

निमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। तथात्मनोनादि-बद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गला-स्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। यथा च मृत्तिकायाः करककरीर-कर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमान-तायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम-

---

उसका समाधान यह है:—बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ है इसलिये यह अनुभूति हो सकती है। इस बातको दृष्टान्तसे प्रगट करते है—जैसे कमलिनी--पत्र जलमे डूबा हुआ हो तो उसका जलसे स्पर्शित होनेरूप अवस्थासे अनुभव करनेपर जलसे स्पर्शित होना भूतार्थ है--सत्यार्थ है,-तथापि जलसे किंचित् मात्र भी न स्पर्शित होने योग्य कमलिनी--पत्रके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर जलसे स्पर्शित होना अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार अनादि कालसे बंधे हुवे आत्माका, पुद्गल कर्मोंसे बंधने-स्पर्शित होनेरूप अवस्थासे अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि पुदूगलसे किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है,—असत्यार्थ है।

तथा जैसे मिट्टीका, ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि पर्यायोसे अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्याय भेदोसे किंचित् मात्र भी भेदरूप न होने वाले ऐसे) एक मिट्टीके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है;इसीप्रकार आत्माका,नारक आदि पर्यायोसे अनुभव करनेपर (पर्यायोंके अन्य–अन्यरूपसे) अन्यत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्याय भेदोंसे किंचित मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

जैसे समुद्रका वृद्धिहानिरूप अवस्थासे अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि नित्य स्थिर समुद्र स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है, इसीप्रकार आत्माका, वृद्धिहानिरूप पर्याय भेदोंसे अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है--सत्यार्थ है, तथापि नित्य–स्थिर (निश्चल) आत्म स्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है असत्यार्थ है।

जैसे सोनेका चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदोंसे अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय होगये हैं ऐसे सुवर्ण स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर विशेषता अभूतार्थ है–असत्यार्थ है; इसीप्रकार

भूतार्थं। यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूय-

---

आत्माका ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदोंसे अनुभव करनेपर विशेषता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

जैसे जलका, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णताके साथ संयुक्तारूप--तप्ततारूप अवस्थासे अनुभव करनेपर (जलका) उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है तथापि एकांत शीतलतारूप जलस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर (उष्णताके साथ) संयुक्तता अभूतार्थ है असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोहके साथ संयुक्ततारूप अवस्थासे अनुभव करनेपर संयुक्तता भूतार्थ है--सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकांतबोधबीजरूप स्वभाव है उसके (चैतन्य भावके) समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।

भावार्थ:—आत्मा पाँच प्रकारसे अनेकरूप दिखाई देता है:—(१) अनादि कालसे कर्म पुद्गलके सम्बन्धसे बँधा हुआ कर्म पुद्गलके स्पर्शवाला दिखाई देता है, (२) कर्मके निमित्तसे होनेवाली नर, नारक आदि पर्यायोंमें भिन्न २ स्वरूपमें दिखाई देता है,—(३) शक्तिके अविभागप्रतिच्छेद (अंश) घटते भी है और बढ़ते भी हैं,—यह वस्तु स्वभाव है, इसलिये वह नित्य--नियत एकरूप दिखाई नहीं देता, (४) वह दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणोंसे विशेषरूप दिखाई देता है, और (५) कर्मके निमित्तसे होने वाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामों कर सहित वह सुख दुःखरूप दिखाई देता है। यह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनयका विषय है। इस दृष्टि (अपेक्षा) से देखा जाये तो यह सब सत्यार्थ है। परन्तु आत्माका एक स्वभाव इस नयसे ग्रहण नहीं होता, और एक स्वभावको जाने बिना यथार्थ आत्माको कैसे जाना जा सकता है? इसलिये दूसरे नयको—उसके प्रतिपक्षी शुद्ध द्रव्यार्थिकनयको ग्रहण करके, एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्माका भाव लेकर, उसे शुद्ध-नयकी दृष्टिसे सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, सर्व पर्यायोंमें एकाकार, हानि वृद्धिसे रहित, विशेषोंसे रहित और नैमित्तिक भावोंसे रहित देखा जाये तो सर्व (पाँच) भावोंसे जो अनेक प्रकारता है वह अभूतार्थ है--असत्यार्थ है।

मानतायामभूतार्थं तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। यथा चापां सप्तार्चिःप्रत्ययोष्णसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमा-

---

यहाँ यह समझना चाहिये कि वस्तुका स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है, वह स्याद्वादसे यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा भी अनन्तधर्मवाला है। उसके कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं और कुछ पुद्गलके संयोगसे होते हैं। जो कर्मके संयोगसे होते है उनसे आत्माकी सांसारिक प्रवृत्ति होती है, और तत्संबन्धी जो सुख दुःखादि होते है उन्हें भोगता है। यह, इस आत्माकी अनादि कालीन अज्ञानसे पर्यायबुद्धि है; उसे अनादि–अनंत एक आत्माका ज्ञान नहीं है। इसे बतानेवाला सर्वज्ञका आगम है। उसमे शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह बताया है कि आत्माका एक असाधारण चैतन्यभाव है जो कि अखण्ड, नित्य और अनादिनिधन है। उसे जाननेसे पर्यायबुद्धिका पक्षपात मिट जाता है। परद्रव्योंसे, उनके भावोंसे और उनके निमित्तसे होने वाले अपने विभावोंसे अपने आत्माको भिन्न जानकर जीव उसका अनुभव करता है, तब परद्रव्यके भावोंस्वरूप परिणमित नहीं होता; इसलिये कर्म--बन्ध नहीं होता और संसारसे निवृत्ति हो जाती है। इसलिये पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनयको गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है और शुद्ध निश्चयनयको सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है। वस्तु स्वरूप की प्राप्ति होनेके बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता। इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुद्धनयको सत्यार्थ कहा है इसलिये अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा माननेसे वेदान्त मतवाले जो कि संसारको सर्वथा अवस्तु मानते हैं, उनका–सर्वथा एकान्तपक्ष आजायेगा और उससे मिथ्यात्व आजायेगा; इसप्रकार यह शुद्धनयका आलम्बन भी वेदान्तियोंकी भाँति मिथ्यादृष्टिपना लायेगा। इसलिये सर्वनयोंकी कथंचित् सत्यार्थताका श्रद्धान करनेसे सम्यक्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वादको समझकर जिनमतका सेवन करना चाहिये; मुख्य–गौण कथनको सुनकर सर्वथा एकान्तपक्ष नहीं पकड़ना चाहिये। इस गाथासूत्रका विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्यने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनयकी दृष्टिमें जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है वह इस दृष्टिसे तो सत्यार्थ ही है, परंतु शुद्धनयकी दृष्टिसे बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है। इस कथनमें टीकाकार आचार्यने स्याद्वाद बताया है ऐसा जानना।

यहाँ यह समझना चाहिये कि यह नय है वह श्रुतज्ञान-प्रमाणका अंश है; श्रुतज्ञान वस्तुको परोक्ष बतलाता है; इसलिये यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है। शुद्ध द्रव्यर्थिकनयका विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावोंसे रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है। वह शक्ति तो

हितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयं बोधबीजस्वभाव-मुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं ।

❀ मालिनी ❀

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावं ॥११॥

आत्मामें परोक्ष है ही; और उसकी व्यक्ति कर्म संयोगसे मतिश्रुतादिज्ञानरूप है, वह कथंचित् अनुभवगोचर होनेसे प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है, और सम्पूर्णज्ञान-केवलज्ञान यद्यपि छद्मस्थके प्रत्यक्ष नहीं है तथापि यह शुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष बतलाता है। जबतक जीव इस नयको नहीं जानता तबतक आत्माके पूर्णरूपका ज्ञान--श्रद्धान नहीं होता। इसलिये श्रीगुरुने इस शुद्धनयको प्रगट करके उपदेश किया है कि बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावोंसे रहित पूर्ण ज्ञान घन स्वभाव आत्माको जानकर श्रद्धान करना चाहिये, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिये ।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि—ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता और बिना देखे श्रद्धान करना असत् श्रद्धान है। उसका उत्तर यह है:—देखे हुए का ही श्रद्धान करना तो नास्तिकमत है। जैनमतमे प्रत्यक्ष और परोक्ष—दोनों प्रमाण माने गये है, उनमेंसे आगम-प्रमाण परोक्ष है; उसका भेद शुद्धनय है। इस शुद्धनयकी दृष्टिसे शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना चाहिये, मात्र व्यवहार-प्रत्यक्षका ही एकान्त नहीं करना चाहिये ।

यहाँ, इस शुद्धनयको मुख्य करके कलशरूप काव्य कहते है:—

अर्थः—जगतके प्राणियो ! इस सम्यक् स्वभावका अनुभव करो कि जहाँ यह बद्धस्पृष्टादिभाव स्पष्टतया उस स्वभावके ऊपर तरते हैं, तथापि वे (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्य स्वभाव तो नित्य है एकरूप है और यह भाव अनित्य हैं अनेकरूप हैं; पर्यायें द्रव्य स्वभावमे प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती है। यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओंमें प्रकाशमान है। ऐसे शुद्ध स्वभावका, मोह रहित होकर जगत अनुभव करे क्योंकि मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता ।

भावार्थः—यहाँ यह उपदेश है कि शुद्धनयके विषयरूप आत्माका अनुभव करो ।

❀ शार्दूलविक्रीड़ित ❀

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

❀ वसन्ततिलका ❀

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥१३॥

अब, इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य पुनः कहते है, जिसमे यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है:—

अर्थः—यदि कोई सुबुद्धि (सम्यक् दृष्टि) जीव भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों कालमे कर्मोंके बन्धको अपने आत्मासे तत्काल-शीघ्र भिन्न करके तथा उस कर्मोदयके निमित्त से होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बलसे (पुरुपार्थसे) रोककर अथवा नाश करके अंतरंगमे अभ्यास करे—देखे तो यह आत्मा अपने अनुभवसे ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर), निश्चल, शाश्वत, नित्य कर्मकलंक—कर्दमसे रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।

भावार्थ—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो सर्व कर्मोसे रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अंतरंगमे स्वयं विराजमान है। यह प्राणी—पर्यायबुद्धि बहिरात्मा उसे बाहर ढूँढता है, यह महा अज्ञान है।

अब 'शुद्धनयके विषयभूत आत्माकी अनुभूति ही ज्ञानकी अनुभूति है' इसप्रकार आगेकी गाथाकी सूचनाके अर्थरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार जो पूर्वकथित शुद्धनय स्वरूप आत्माकी अनुभूति है वही वास्तवमें ज्ञानकी अनुभूति है, यह जानकर तथा आत्मामें आत्माको निश्चल स्थापित करके, 'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है,' इसप्रकार देखना चाहिये।

भावार्थ—पहले सम्यग्दर्शनको प्रधान करके कहा था, अब ज्ञानको मुख्य करके कहते हैं कि शुद्धनयके विषयस्वरूप आत्माकी अनुभूति ही सम्यग्ज्ञान है ॥१४॥

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
***अपदेससन्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥**
यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः किंतु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते। तथाहि—यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्य-

---

अब इस अर्थरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १५

अन्वयार्थः—[**यः**] जो पुरुष [**आत्मानं**] आत्माको [**अबद्धस्पृष्टं**] अबद्धस्पृष्ट [**अनन्यं**] अनन्य [**अविशेषं**] अविशेष (तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त) [**पश्यति**] देखता है वह [**सर्वं जिनशासनं**] सर्व जिनशासनको [**पश्यति**] देखता है,—जो जिनशासन [**अपदेश[1]शांत[2]मध्यं**] बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

टीका:—जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भाव स्वरूप आत्माकी अनुभूति है वह निश्चयसे समस्त जिनशासनकी अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिये ज्ञानकी अनुभूति ही आत्माकी अनुभूति है परन्तु अब वहाँ सामान्यज्ञानके आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञानके तिरोभाव (आच्छादन) से जब ज्ञानमात्रका अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभवमें आता है, तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयोंमें आसक्त हैं उन्हें वह स्वादमें नहीं आता। यह प्रगट दृष्टांतसे बतलाते है। जैसे—अनेक प्रकारके शाकादि भोजनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न सामान्य लवणके तिरोभाव और विशेष लवणके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला जो (सामान्यके तिरोभावरूप और शाकादिके स्वादभेदसे भेदरूप—विशेषरूप) लवण है, उसका स्वाद अज्ञानी, शाक

---

* पाठान्तर. अपदेससुत्तमज्झं। १ अपदेश=द्रव्यश्रुत। २ शांत=ज्ञानरूपी भावश्रुत।

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य जो, अविशेष देखे आत्मको।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो ॥१५॥

विशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां। अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि तथा विचित्रज्ञेयाकारकरंवितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां। अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनाप्यलुब्धबुद्धानां तु यथा सैंधवखिल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन

लोलुप मनुष्योंको आता है, किन्तु अन्यकी सम्बन्ध रहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है उसका स्वाद नहीं आता, और परमार्थसे देखा जाये तो, विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है। इसप्रकार—अनेकप्रकारके ज्ञेयोंके आकारोंके साथ मिश्ररूपतासे उत्पन्न सामान्यके तिरोभाव और विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवोंके स्वादमें आता है, किन्तु अन्य ज्ञेयाकारकी संयोग रहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वादमें नहीं आता, और परमार्थसे विचार किया जाये तो जो ज्ञान विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आता है वही ज्ञान सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आता है। अलुब्ध ज्ञानियोंको तो जैसे सैंधवकी डली अन्य द्रव्यके संयोगका विवच्छेद करके केवल सैंधवका ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक क्षाररसत्वके कारण क्षाररूपसे स्वादमें आती है, उसीप्रकार आत्मा भी परद्रव्यके संयोगका विवच्छेद करके केवल आत्माका ही अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक विज्ञानघनताके कारण ज्ञानरूपसे स्वादमें आता है।

भावार्थ:—यहाँ आत्माकी अनुभूतिको ही ज्ञानकी अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन ज्ञेयोंमें ही—इन्द्रियज्ञानके विषयोंमें ही लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञानके विषयोंसे अनेकाकार हुए ज्ञानको ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं, परन्तु ज्ञेयोंसे भिन्न ज्ञानमात्रका आस्वादन नहीं करते। और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयोंमें आसक्त नहीं हैं वे ज्ञेयोंसे भिन्न एकाकार ज्ञानका ही आस्वाद लेते हैं;—जैसे शाकोंसे भिन्न नमककी डलीका क्षारमात्र स्वाद आता है, उसीप्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है। इसप्रकार गुण-गुणीकी अभेददृष्टिमें आनेवाला सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, अपनी पर्यायोंमें एकरूप निश्चल,

केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते ।

❀ पृथ्वी ❀

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

❀ अनुष्टुप् ❀

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

अपने गुणोंमें एकरूप, परनिमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंसे भिन्न अपने स्वरूपका अनुभव, ज्ञानका अनुभव है; और यह अनुभव भावश्रुत ज्ञानरूप जिनशासनका अनुभव है । शुद्धनयसे इसमें कोई भेद नहीं है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि हमें वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश प्राप्त हो कि जो तेज सदाकाल चैतन्यके परिणमनसे परिपूर्ण है, जैसे नमककी डली एक क्षाररसकी लीलाका आलम्बन करती है, उसीप्रकार जो तेज एक ज्ञानरस स्वरूपका आलम्बन करता है, जो तेज अखण्डित है जो ज्ञेयोंके आकाररूप खण्डित नहीं होता, जो अनाकुल है–जिसमे कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले रागादिसे उत्पन्न आकुलता नहीं है जो अविनाशीरूपसे अंतरंगमें तो चैतन्यभावसे दैदीप्यमान अनुभवमे आता है, और बाहर वचन-कायकी क्रियासे प्रगट दैदीप्यमान होता है—जाननेमे आता है, जो स्वभावसे हुआ है—जिसे किसी ने नहीं रचा और सदा जिसका विलास उदयरूप है—जो एकरूप प्रतिभासमान है ।

भावार्थः—आचार्य देवने प्रार्थना की है कि यह ज्ञानानन्दमय एकाकार स्वरूप ज्योति हमें सदा प्राप्त रहो ।

अब, आगेकी गाथाका सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—यह (पूर्व कथित) ज्ञानस्वरूप आत्मा, स्वरूपकी प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको साध्य साधक भावके भेदसे दो प्रकारसे, एक ही नित्य सेवन करने योग्य है; उसका सेवन करो ।

भावार्थः—आत्मा तो ज्ञानस्वरूप एक ही है परन्तु उसका पूर्णरूप साध्यभाव है

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम् ।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ॥१६॥

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते । तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वंतराभावात् यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्य स्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरं तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न

और अपूर्णरूप साधकभाव है, ऐसे भावभेदसे दो प्रकारसे एकका ही सेवन करना चाहिये ॥ १५ ॥

अब, ज्ञान दर्शन चारित्ररूप साधकभाव है, यह इस गाथामें कहते हैं:—

गाथा १६

अन्वयार्थः—[**साधुना**] साधु पुरुषको [**दर्शनज्ञानचरित्राणि**] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [**नित्यं**] सदा [**सेवितव्यानि**] सेवन करने योग्य हैं, [**पुनः**] और [**तानि त्रीणि अपि**] उन तीनोको [**निश्चयतः**] निश्चयनयसे [**आत्मानं एव**] एक आत्मा ही [**जानीहि**] जानो ।

टीका:—यह आत्मा जिस भावसे साध्य तथा साधन हो उस भावसे ही नित्य सेवन करने योग्य है इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरोंको व्यवहारसे प्रतिपादन करते है कि 'साधु पुरुषको दर्शन ज्ञान चारित्र सदा सेवन करने योग्य है'। किन्तु परमार्थसे देखा जाये तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं, क्योंकि वे अन्य वस्तु नहीं किंतु आत्माकी ही पर्याय हैं । जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुषके ज्ञान, श्रद्धान और आचरण देवदत्तके स्वभावका उल्लंघन न करनेसे (वे) देवदत्त ही हैं,—अन्यवस्तु नहीं, इसीप्रकार आत्मामें भी आत्माके ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्माके स्वभावका उलंघन न करनेसे आत्मा ही हैं—अन्य वस्तु नहीं । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है यह स्वयं अपनेमें ही प्रकाशमान होता है ।

दर्शनसहित निज ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेवीये ।
पर ये तीनों आत्मा हि केवल, जान निश्चयदृष्टिमें ॥१६॥

वस्त्वंतरं तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते स किल ।

❀ अनुष्टुप् ❀

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र—तीनों आत्माकी ही पर्याय हैं कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं, इसलिये साधु पुरुषोंको एक आत्माका ही सेवन करना यह निश्चय है, और व्यवहारसे दूसरोंको भी यही उपदेश करना चाहिये ।

अब, इसी अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:—प्रमाणदृष्टिसे देखा जाये तो यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप ('मेचक') भी है और एक अवस्थारूप ('अमेचक') भी है, क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे तो त्रित्व (तीनपना) है और अपनेसे अपनेको एकत्व है ।

भावार्थ:—प्रमाणदृष्टिमें तीनकालस्वरूप वस्तु द्रव्य पर्यायरूप देखी जाती है, इसलिये आत्माको भी एक ही साथ एक-अनेक स्वरूप देखना चाहिये ।

अब, नयविवक्षा कहते हैं:—

अर्थ:—आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो तीनस्वभावरूपताके कारण अनेकाकाररूप ('मेचक') है, क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावोंमें परिणमन करता है ।

भावार्थ:—शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे आत्मा एक है । जब इस नयको प्रधान करके कहा जाता है तब पर्यायार्थिकनय गौण हो जाता है, इसलिये एकको तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार हुवा, असत्यार्थ भी हुवा । इसप्रकार व्यवहारनयसे आत्माको दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणामोंके कारण 'मेचक' कहा है ।

अब, परमार्थनयसे कहते हैं:—

अर्थ:—शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो प्रगट ज्ञायकत्व ज्योतिमात्रसे आत्मा एकस्वरूप है क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सर्व अन्य द्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तसे होनेवाले विभावोंको दूर करनेरूप उसका स्वभाव है, इसलिये वह अमेचक है-शुद्ध एकाकार है ।

भावार्थ:—भेददृष्टिको गौण करके अभेददृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा एकाकार ही है, वही अमेचक है ।

❀ अनुष्टुप् ❀

आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१६॥

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥१८॥

आत्माको प्रमाण—नयसे मेचक अमेचक कहा है, उस चिन्ताको मिटाकर जैसे साध्यकी सिद्धि हो वैसा करना चाहिये, यह आगेके श्लोकमें कहते हैं:—

अर्थः—यह आत्मा मेचक है-भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है,—अभेदरूप एकाकार है, ऐसी चिंतासे बस हो। साध्य आत्माकी सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावोंसे ही होती है, अन्य प्रकारसे नहीं, (यह नियम है)

भावार्थः—आत्माके शुद्धस्वभावकी साक्षात् प्राप्ति अथवा सर्वथा मोक्ष साध्य है। आत्मा मेचक है या अमेचक, ऐसे विचार ही मात्र करते रहनेसे साध्य सिद्ध नहीं होता; परन्तु दर्शन अर्थात् शुद्धस्वभावका अवलोकन ज्ञान अर्थात् शुद्धस्वभावका प्रत्यक्ष जानना, और चारित्र अर्थात शुद्धस्वभावमें स्थिरतासे ही साध्यकी सिद्धि होती है। यही मोक्षमार्ग है, अन्य नहीं।

व्यवहारीजन पर्यायमें—भेदमें समझते हैं इसलिये यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्रके भेदसे समझाया है ॥ १६ ॥

अब, इसी प्रयोजनको दो गाथाओंमें दृष्टांतपूर्वक कहते हैं:—

गाथा १७–१८

अन्वयार्थः—[यथा नाम] जैसे [कोपि] कोई [अर्थार्थिकः पुरुषः]

ज्यों पुरुष कोई नृपतिको भी, जानकर श्रद्धा करे।
फिर यत्नसे धन अर्थ वो, अनुचरण राजाका करे ॥१७॥
जीवराजको यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीतिसे।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्नसे ॥१८॥

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते ततस्तमेवानुचरति। तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः ततः स एव श्रद्धातव्यः ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां। तत्र यदात्मनोऽनुभूयमानानेकभावसंकरेपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः यदात्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनु-

---

धनका अर्थी पुरुष [राजानं] राजाको [ज्ञात्वा] जानकर [श्रद्दधाति] श्रद्धा करता है, [ततः पुनः] और फिर [तं प्रयत्नेन अनुचरति] उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सुन्दर रीतिसे सेवा करता है, [एवं हि] इसीप्रकार [मोक्षकामेन] मोक्षके इच्छुकको [जीवराजः] जीवरूपी राजाको [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये, [पुनः च] और फिर [तथैव] इसीप्रकार [श्रद्धातव्यः] उसका श्रद्धान करना चाहिये [तु च] और तत्पश्चात् [स एवअनुचरितव्यः] उसीका अनुचरण करना चाहिये अर्थात् अनुभवके द्वारा तन्मय हो जाना चाहिये।

टीका:—निश्चयसे जैसे कोई धनका अर्थी पुरुष बहुत उद्यमसे पहले तो राजाको जाने कि यह राजा है, फिर उसीका श्रद्धान करे कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करनेसे अवश्य धनकी प्राप्ति होगी;' और फिर उसीका अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञामें रहे, उसे प्रसन्न करे; इसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुषको पहले तो आत्माको जानना चाहिये, और फिर उसीका श्रद्धान करना चाहिये कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करनेसे अवश्य कर्मोंसे छूटा जा सकेगा।' और फिर उसीका अनुचरण करना चाहिये अनुभवके द्वारा उसमें लीन होना चाहिये क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप है, उसकी सिद्धि की इसीप्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है। (अर्थात् इसीप्रकारसे साध्यकी सिद्धि होती है, अन्य प्रकारसे नहीं।)

(इसी बातको विशेष समझाते हैं:—) जब आत्माको, अनुभवमें आनेपर अनेक पर्यायरूप भेदभावोंके साथ मिश्रितता होनेपर भी सर्वप्रकारसे भेदज्ञानमें प्रवीणतासे 'जो यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ', ऐसे आत्मज्ञानसे प्राप्त होता हुआ, इस आत्माको जैसा जाना है वैसा ही है, इसप्रकारकी प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसा, श्रद्धान उदित होता है तब समस्त अन्य

भूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृंगश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमेव स्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरण मनुत्प्लवमानं नात्मान साधयीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः ।

❀ मालिनी ❀

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

भावोंका भेद होनेसे निःशंक स्थिर होनेमे समर्थ होनेसे आत्माका आचरण उदय होता हुआ आत्माको साधता है। इसप्रकार साध्य आत्माकी सिद्धिकी उपपत्ति है।

परन्तु जब ऐसा अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा आबालवृद्ध सबके अनुभवमें सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बंधके वश पर (द्रव्यों) के साथ एकत्वके निश्चयसे मूढ--अज्ञानी जनको 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभावसे अज्ञातका श्रद्धान गधेके सींगके समान है इसलिये श्रद्धान भी उदित नहीं होता, तब समस्त अन्यभावोंके भेदसे आत्मामें निःशंक स्थिर होनेकी असमर्थताके कारण आत्माका आचरण उदित न होनेसे आत्माको नहीं साध सकता। इसप्रकार साध्य-आत्माकी सिद्धिकी अन्यथा अनुपपत्ति है।

भावार्थ—साध्य आत्माकी सिद्धि दर्शन ज्ञान चारित्रसे ही है, अन्य प्रकारसे नहीं। क्योंकि--पहले तो आत्माको जाने कि यह जो जानने वाला अनुभवमें आता है सो मैं हूँ। इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है; क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा? तत्पश्चात् समस्त अन्यभावोंसे भेद करके अपनेमें स्थिर हो। इसप्रकार सिद्धि होती है। किन्तु यदि जाने ही नहीं तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता, और ऐसी स्थितिमें स्थिरता कहाँ करेगा? इसलिये यह निश्चय है कि अन्य प्रकारसे सिद्धि नहीं होती।

अब, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि--अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी इस आत्मज्योतिका हम निरंतर अनुभव करते हैं क्योंकि उसके अनुभवके बिना अन्य प्रकारसे साध्य-आत्माकी सिद्धि नहीं होती। वह आत्मज्योति ऐसी है कि जिसने किसी प्रकारसे त्रित्व अंगीकार किया है तथापि जो एकत्वसे च्युत नहीं हुई और जो निर्मलतासे उदयको प्राप्त हो रही है।

यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोयमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्चामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु, नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्ममोहादयोंतरंगा नोकर्मशरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावंतं कालमनुभूतिस्तावंतकालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः। यदा कदाचिद्यथा रूपिणो

द्रव्यकर्म, भावकर्म [**च**] और [**नोकर्मणि**] शरीरादि नोकर्ममें [**अहं**] 'यह मै हूँ' [**च**] और [**अहकं कर्म नोकर्म इति**] 'मुझमे यह कर्म–नो कर्म है' [**एषः खलु बुद्धिः**] ऐसी बुद्धि है [**तावत्**] तब तक [**अप्रतिबुद्धः**] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध [**भवति**] है।

टीकाः—जैसे स्पर्श, रस, गंध वर्ण आदि भावोंमे तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादिके आकार परिणत हुये पुद्गलके स्कन्धोमे 'यह घट है' इसप्रकार, और घड़ेमें 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदिरूप परिणत पुद्गलस्कन्ध हैं', इसप्रकार वस्तुके अभेदसे अनुभूति होती है, इसीप्रकार कर्म--मोह आदि अंतरंग परिणाम तथा नोकर्म- शरीरादि बाह्य वस्तुये–सब पुद्गलके परिणाम हैं और आत्माके तिरस्कार करने वाले हैं,—उनमे 'यह मैं हूँ' और आत्मामे 'यह कर्म–मोह आदि अतरंग तथा नोकर्म शरीरादि बहिरंग, आत्म-तिरस्कारी (आत्माके तिरस्कार करनेवाले) पुद्गल परिणाम है' इसप्रकार वस्तुके अभेदसे जब तक अनुभूति है तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है; और जब कभी जैसे रूपी दर्पणकी स्वच्छता ही स्वपरके आकारका प्रतिभास करने वाली है, और उष्णता तथा ज्वाला अग्निकी है इसीप्रकार अरूपी आत्माकी अपनेको और परको जानने वाली ज्ञातृता ही है, और कर्म तथा नोकर्म पुद्गलके हैं, इसप्रकार स्वतः अथवा परोपदेशसे जिसका मूल भेदविज्ञान है ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा।

भावार्थः—जैसे स्पर्शादिमे पुद्गलका और पुद्गलमे स्पर्शादिका अनुभव होता है अर्थात् दोनों एकरूप अनुभवमें आते हैं, उसीप्रकार जब तक आत्माको कर्म नोकर्ममे आत्माकी और आत्मामे कर्म--नोकर्मकी भ्रान्ति होती है, अर्थात् दोनो एकरूप भासित होते हैं तब तक तो वह अप्रतिबुद्ध है; और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म–नोकर्म पुद्गलके ही हैं तभी वह प्रतिबुद्ध होता है। जैसे दर्पणमें अग्निकी ज्वाला दिखाई देती है, वहाँ यह ज्ञात होता है कि 'ज्वाला तो अग्निमें ही है, वह दर्पणमें प्रविष्ट

दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतःपरतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति ।

❀ मालिनी ❀

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत—

नहीं है, और जो दर्पणमें दिखाई दे रही है वह दर्पणकी स्वच्छता ही है;' इसीप्रकार 'कर्म-नोकर्म अपने आत्मामें प्रविष्ट नहीं हैं, आत्माकी ज्ञान--स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेयका प्रतिबिम्ब दिखाई दे; इसीप्रकार कर्म--नोकर्म ज्ञेय है इसलिये वे प्रतिभासित होते हैं'—ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्माको या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेशसे हो तभी वह प्रतिबुद्ध होता है ।

अब, इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो पुरुष अपनेसे ही अथवा परके उपदेशसे--किसी भी प्रकारसे भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है ऐसी अपने आत्माकी अविचल अनुभूतिको प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पणकी भाँति अपनेमें प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावोंके स्वभावोंसे निरंतर विकार रहित होते हैं,—ज्ञानमें जो ज्ञेयोंके आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादिविकारको प्राप्त नहीं होते । १९ ।

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्धको कैसे पहिचाना जा सकता है ? उसका चिह्न बताइये । उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि ।
होहिदि पुणोममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥
एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्मि अस्ति ममैतत् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥२०॥
आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम् ।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि ॥२१॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः ॥२२॥

गाथा २०-२१-२२

अन्वयार्थः—[**यः**] जो पुरुष [**अन्यत् यत् परद्रव्यं**] अपनेसे अन्य जो परद्रव्य [**सचित्ताचित्तमिश्रं वा**] सचित्त स्त्री पुत्रादिक, अचित्त धन धान्यादिक अथवा मिश्र ग्राम नगरादिक है उन्हें यह समझता है कि [**अहं एतत**] मै यह हूँ, [**एतत् अहम्**] यह द्रव्य मुझ स्वरूप है, [**एतस्य अहम् अस्मि**] मै इसका हूँ, [**एतत् मम अस्ति**] यह मेरा है, [**एतत् मम पूर्वं आसीत्**] यह मेरा पहले था, [**एतस्य अहमपि पूर्वं आसम्**] इसका मै भी पहले था [**एतत् मम पुनः भविष्यति**] यह मेरा भविष्यमें होगा, [**अहमपि एतस्य भविष्यामि**]

मैं ये अवरु ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु ये हैं मेरे ।
जो अन्य हैं पर द्रव्य मिश्र, सचित्त अगर अचित्त वे ॥२०॥
मेरा ही यह था पूर्व मैं, मैं इसीका गतकालमें ।
ये होयगा मेरा अवरु, मैं इसका हूँगा भावि में ॥२१॥
अयथार्थ आत्म विकल्प ऐसा, मूढ़जीव हि आचरे ।
भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ए विकल्प नहीं करे ॥२२॥

यथाग्निरिंधनमस्तींधनमग्निरस्त्यग्नेरिंधनमस्तींधनस्याग्निरस्त्यग्नेरिंधनं पूर्वमासीदिंधनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यतींधनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतींधन एवासद्भूताग्निविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा । नाग्निरिंधनमस्ति नेंधनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तींधनमिंधनमस्ति । नाग्नेरिंधनमस्ति नेंधनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तींधनस्येंधनमस्ति । नाग्नेरिंधनं पूर्वमासीन्नेंधनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिंधनस्येंधनं पूर्वमासीन्नाग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यति नेंधनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतींधनस्येंधनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न

मैं भी इसका भविष्यमें होऊँगा,–[**एतत्तु असद्भूतं**] ऐसा झूठा [**आत्मविकल्पं**] आत्मविकल्प करता है, वह [**संमूढः**] मूढ है, मोही है, अज्ञानी है; [**तु**] और जो पुरुष [**भूतार्थं**] परमार्थ वस्तुस्वरूपको [**जानन्**] जानता हुआ [**तं**] वैसा झूठा विकल्प [**न करोति**] नहीं करता वह [**असंमूढः**] मूढ़ नहीं, ज्ञानी है।

टीका:—(दृष्टान्तसे समझाते है) जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्निको मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करे कि 'जो अग्नि है सो ईंधन है और ईंधन है सो अग्नि है; अग्निका ईंधन है, ईंधनकी अग्नि है; अग्निका ईंधन पहले था ईंधनकी अग्नि पहले थी; अग्निका ईंधन भविष्यमें होगा ईंधनकी अग्नि भविष्यमें होगी;'–ऐसा ईंधनमें ही अग्निका विकल्प करता है वह झूठा है, उससे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) कोई पहिचाना जाता है, इसीप्रकार कोई आत्मा परद्रव्यमें असत्यार्थ आत्म विकल्प करे कि 'मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझ स्वरूप है, यह मेरा परद्रव्य है, इस परद्रव्यका मैं हूँ, मेरा यह पहले था, मैं इसका पहले था, मेरा यह भविष्यमें होगा, मैं इसका भविष्यमें होऊँगा;'—ऐसे झूठे विकल्पोंसे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहिचाना जाता है।

और, "अग्नि है वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है,–अग्नि है वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है, अग्निका ईंधन नहीं ईंधनकी अग्नि नहीं,–अग्निकी अग्नि है, ईंधनका ईंधन है; अग्निका ईंधन पहले नहीं था, ईंधनकी अग्नि पहले नहीं थी, अग्निकी अग्नि पहले थी और ईंधनका ईंधन पहले था, अग्निका ईंधन भविष्यमें नहीं होगा ईंधनकी अग्नि भविष्यमें नहीं होगी,—अग्निकी अग्नि ही भविष्यमें होगी ईंधनका ईंधन ही

ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति न ममैतत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीन्न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात् ।

❀ मालिनी ❀

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिं ॥२२॥

भविष्यमें होगा;"—इसप्रकार जैसे किसीको अग्निमें ही सत्यार्थ अग्निका विकल्प हो सो प्रतिबुद्धका लक्षण है, इसीप्रकार "मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझ स्वरूप नहीं है,—मैं तो मैं ही हूँ, परद्रव्य परद्रव्य ही है; मेरा यह परद्रव्य नहीं, इस परद्रव्यका मैं नहीं,—मेरा ही मैं हूँ, परद्रव्यका परद्रव्य है; इस परद्रव्यका मैं पहले नहीं था, यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था,—मेरा मैं ही पहले था, परद्रव्यका परद्रव्य पहले था; यह परद्रव्य मेरा भविष्यमें नहीं होगा, इसका मैं भविष्यमें नहीं होऊँगा,—मैं अपना ही भविष्यमें होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) भविष्यमें होगा;"—ऐसा जो स्वद्रव्यमें ही सत्यार्थ आत्म विकल्प होता है, वही प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) का लक्षण है, इससे ज्ञानी पहिचाना जाता है ।

भावार्थ—जो परद्रव्यमें आत्माका विकल्प करता है वह तो अज्ञानी है और जो अपने आत्माको ही अपना मानता है वह ज्ञानी है। यह अग्नि-ईंधनके दृष्टांतसे दृढ़ किया है ।

अब, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ—जगत् अर्थात् जगत्के जीवो ! अनादि संसारसे लेकर आज तक अनुभव किये गये मोहको अब तो छोड़ो, और रसिकजनोंको रुचिकर, उदय हुवा जो ज्ञान उसको आस्वादन करो, क्योंकि इस लोकमें आत्मा वास्तवमें किसीप्रकार भी अनात्माके साथ कदापि तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्यके साथ एकतारूप नहीं होता ।

भावार्थ—आत्मा परद्रव्यके साथ किसीप्रकार किसी समय एकताके भावको प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार आचार्यदेवने, अनादिकालसे परद्रव्यके प्रति लगा हुवा जो मोह उसका भेदविज्ञान बताया है, और प्रेरणा की है कि इस एकत्वरूप मोहको अब छोड़ दो और ज्ञानका आस्वादन करो, मोह वृथा है झूठा है, दुःखका कारण है । २०-२२ ।

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सत्तो वत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥२५॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम् ।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥२३॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम् ।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम् ॥२४॥
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम् ॥२५॥

अब अप्रतिबुद्धको समझानेके लिये प्रयत्न करते हैं:—

गाथा २३–२४–२५

अन्वयार्थः—[**अज्ञानमोहितमतिः**] जिसकी मति अज्ञानसे मोहित है [**बहुभावसंयुक्तः**] और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावोंसे युक्त है ऐसा [**जीवः**] जीव [**भणति**] कहता है कि [**इदं**] यह [**बद्धं च अबद्धं तथा**] शरीरादिक बद्ध तथा धनधान्यादिक अबद्ध [**पुद्गलं द्रव्यं**] पुद्गल द्रव्य [**मम**] मेरा है । आचार्य कहते हैं कि [**सर्वज्ञज्ञानदृष्टः**] सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा देखा गया जो

अज्ञान मोहित बुद्धि जो, बहुभाव संयुत जीव है ।
ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा वो कहै ॥२३॥
सर्वज्ञ ज्ञानविषै सदा, उपयोग लक्षण जीव है ।
वो कैसे पुद्गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे ॥२४॥
जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्वको ।
तू तब हि ऐसा कह सके, "है मेरा" पुद्गल द्रव्य को ॥२५॥

युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशाद्विचित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः। अथायमेव प्रतिबोध्यते रे दुरात्मन् [1]आत्मपंसन् जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वं । दूरनिरस्तसमस्तसंदेहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं । तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं

[नित्यं] सदा [**उपयोगलक्षणः**] उपयोग लक्षणवाला [**जीवः**] जीव है [**सः**] वह [**पुद्गलद्रव्यीभूतः**] पुद्गल द्रव्यरूप [**कथं**] कैसे हो सकता है [**यत्**] जिससे कि [**भणसि**] तू कहता है कि [**इदं मम**] यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ? [**यदि**] यदि [**सः**] जीव द्रव्य [**पुद्गलद्रव्यीभूतः**] पुद्गल द्रव्यरूप हो जाय और [**इतरत्**] पुद्गल द्रव्य [**जीवत्वं**] जीवत्वको [**आगतं**] प्राप्त करे [**तत्**] तो [**वक्तुंशक्तः**] तू कह सकता है [**यत्**] कि [**इदं पुद्गलं द्रव्यं**] यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। (किन्तु ऐसा तो नहीं होता।)

टीका—एक ही साथ अनेक प्रकारकी बंधनकी उपाधिकी अति निकटतासे वेगपूर्वक बहते हुये अस्वभाव भावोंके संयोगवश जो (अज्ञानी जीव) अनेकप्रकारके वर्णवाले आश्रय[2] की निकटतासे रंगे हुए स्फटिक पाषाण जैसा है, अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभाव भावत्वसे जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गई है ऐसा है, और महा अज्ञानसे जिसका हृदय स्वयं स्वतः ही विमोहित है—ऐसा अज्ञानी जीव स्वपरका भेद न करके, उन अस्वभावभावोंको ही (जो अपने स्वभाव नहीं हैं ऐसे विभावोंको ही) अपना करता हुआ, पुद्गल द्रव्यको 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव करता है। (जैसे स्फटिक पाषाणमें अनेकप्रकारके वर्णोंकी निकटतासे अनेक वर्णरूपता दिखाई देती है, स्फटिकका निज श्वेत-निर्मलभाव दिखाई नहीं देता, इसीप्रकार अज्ञानीके कर्मकी उपाधिसे आत्माका शुद्धस्वभाव आच्छादित होरहा है—दिखाई नहीं देता, इसलिये पुद्गल द्रव्यको अपना मानता है।) ऐसे अज्ञानीको अब समझाया जा रहा है कि रे दुरात्मन्! आत्मघात करनेवाले! जैसे परम अविवेक पूर्वक खाने वाले हाथी आदि पशु सुन्दर आहारको तृण सहित खा जाते हैं उसीप्रकार खानेके स्वभावको तू छोड़, छोड़। जिसने समस्त संदेह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो

---

१ आत्मघातक। २ आश्रय=जिसमें स्फटिक मणि रखा हुआ हो वह वस्तु,

येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात्। पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्य-मित्यनुभूतिः किल घटेत तत्तु न कथंचनापि स्यात्। तथाहि—यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनु-भूयते न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवत् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधा-दनुभूयते। तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव।

विश्वको (समस्त वस्तुओंको) प्रकाशित करनेके लिये एक अद्वितीय ज्योति है, ऐसे सर्वज्ञ ज्ञानसे स्फुट (प्रगट) किये गये जो नित्य उपयोग स्वभावरूप जीवद्रव्य, वह पुद्गल द्रव्यरूप कैसे होगया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'? क्योंकि यदि किसी भी प्रकारसे जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो तभी 'नमकके पानी' इसप्रकारके अनुभवकी भाँति ऐसी अनुभूति वास्तवमें ठीक हो सकती है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'; किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकारसे नहीं बनता।

दृष्टान्त देकर इसी बातको स्पष्ट करते हैं:—जैसे खारापन जिसका लक्षण है ऐसा नमक पानीरूप होता हुआ दिखाई देता है, और द्रवत्व (प्रवाहीपन) जिसका लक्षण है, ऐसा पानी नमकरूप होता दिखाई देता है, क्योंकि खारेपन और द्रवत्वका एक साथ रहनेमें अविरोध है, अर्थात् उसमें कोई बाधा नहीं आती। इसप्रकार नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य होता हुआ दिखाई नहीं देता, और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षण वाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य होता हुआ देखनेमें नहीं आता क्योंकि प्रकाश और अंधकारकी भाँति उपयोग और अनुपयोगका एक ही साथ रहनेमें विरोध है; जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं हो सकते। इसलिये तू सर्वप्रकारसे प्रसन्न हो, (अपने चित्तको उज्ज्वल करके) साव-धान हो, और स्वद्रव्यको ही 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव कर।

भावार्थः—यह अज्ञानी जीव पुद्गल द्रव्यको अपना मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतन द्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न भिन्न है कभी भी किसी भी प्रकारसे एकरूप नहीं होते, ऐसा सर्वज्ञ भगवानने देखा है। इसलिये हे अज्ञानी! तू परद्रव्यको एकरूप मानना छोड़ दे, व्यर्थकी मान्यतासे बस कर!

❀ मालिनी ❀

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

अथाहाप्रतिबुद्धः—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥२६॥

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—'अयि' यह कोमल सम्बोधनका सूचक अव्यय है। आचार्य देव कोमल सम्बोधनसे कहते हैं कि हे भाई! तू किसीप्रकार महाकष्टसे अथवा मरकर भी तत्त्वोंका कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्यका एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्मानुभव कर कि जिससे अपने आत्माके विलासरूप, सर्व परद्रव्योंसे भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्यके साथ एकत्वके मोहको शीघ्र ही छोड़ देगा।

भावार्थः—यदि यह आत्मा दो घड़ी, पुद्गल द्रव्यसे भिन्न अपने शुद्धस्वरूपका अनुभव करे (उसमें लीन हो) परीषहके आनेपर भी डिगे नहीं तो घातियाकर्म का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्षको प्राप्त हो। आत्मानुभवकी ऐसी महिमा है, तब मिथ्यात्वका नाश करके सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति होना तो सुगम है; इसलिये श्रीगुरुने प्रधानतासे यही उपदेश दिया है। २८--२५।

अब, अप्रतिबुद्ध जीव कहता है, उसकी गाथा कहते हैं:—

गाथा २६

अन्वयार्थः—अप्रतिबुद्ध जीव कहता है कि [**यदि**] यदि [**जीवः**] जीव [**शरीरं न**] शरीर नहीं है तो [**तीर्थकराचार्यसंस्तुतिः**] तीर्थंकरों और

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेशकी ।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीव देहकी ॥ २६ ॥

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा—

❀ शार्दूलविक्रीड़ित ❀

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

इत्यादि तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात्। ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यमिति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः ॥२६॥

नैवं नयविभागानभिज्ञोसि—

आचार्योंकी जो स्तुति की गई है वह **[सर्वापि]** सभी **[मिथ्या भवति]** मिथ्या है; **[तेन तु]** इसलिये हम (समझते हैं कि) **[आत्मा]** जो आत्मा है सो **[देहः चैव]** देह ही **[भवति]** है।

टीका:—जो आत्मा है वही पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है। यदि ऐसा न हो तो तीर्थंकरों और आचार्योंकी जो स्तुति की गई है वह सब मिथ्या सिद्ध होगी। वह स्तुति इसप्रकार है:—

अर्थ:—वे तीर्थंकर और आचार्य वन्दनीय हैं, कैसे है वे? अपने शरीरकी कान्ति से दसों दिशाओंको धोते हैं—निर्मल करते हैं, अपने तेजसे उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिके तेजको ढक देते हैं, अपने रूपसे लोगोंके मनको हर लेते है, दिव्यध्वनिसे (भव्योंके) कानोंमें साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं, और वे एक हजार आठ लक्षणोंके धारक है।

इत्यादि रूपसे तीर्थंकरों—आचार्योंकी जो स्तुति है, वह सब ही मिथ्या सिद्ध होती है इसलिये हमारा तो यही एकान्त निश्चय है कि जो आत्मा है वही शरीर है, पुद्गल द्रव्य है। इसप्रकार अप्रतिबुद्धने कहा। २६।

आचार्य देव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; तू नयविभागको नही जानता। जो नय-विभाग इसप्रकार है, उसे गाथा द्वारा कहते है:—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥ २७ ॥

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्त्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः। निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेत्येवं हि किल नयविभागः। ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नं ॥२७॥

गाथा २७

अन्वयार्थः—[**व्यवहारनयः**] व्यवहारनय तो [**भाषते**] यह कहता है कि [**जीवः च देहः**] जीव और शरीर [**एकः खलु**] एक ही [**भवति**] है [**तु**] किन्तु [**निश्चयस्य**] निश्चयनयके अभिप्रायसे [**जीवः देहः च**] जीव और शरीर [**कदापि**] कभी भी [**एकार्थः**] एक पदार्थ [**न**] नहीं है।

टीका—जैसे इस लोकमें सोने और चाँदीको गलाकर एक कर देनेसे एक पिंडका व्यवहार होता है उसीप्रकार आत्मा और शरीरकी परस्पर एक क्षेत्रमें रहनेकी अवस्था होनेसे एकपनेका व्यवहार होता है। यों व्यवहार मात्रसे ही आत्मा और शरीरका एकपना है, परन्तु निश्चयसे एकपना नहीं है, क्योंकि निश्चयसे देखा जाये तो जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि जिसका स्वभाव है ऐसे सोने और चाँदीमें अत्यन्त भिन्नता होनेसे उनमें एक पदार्थपनेकी असिद्धि है, इसलिये अनेकत्व ही है, इसीप्रकार उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है ऐसे आत्मा और शरीरमें अत्यन्त भिन्नता होनेसे एक पदार्थपनेकी असिद्धि है इसलिये अनेकत्व ही है। ऐसा यह प्रगट नयविभाग है। इसलिये व्यवहारनयसे ही शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन होता है।

भावार्थः—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीरको एक कहता है, और निश्चयनयसे भिन्न है। इसलिये व्यवहारनयसे शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन माना जाता है। २७।

जीव देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहारका।
निश्चयविषैं तो जीव देह, कदापि एक पदार्थ ना ॥ २७ ॥

तथाहि;—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥२८॥

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्त्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरंकार्त्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः। तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थंकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनं। निश्चयनयेन तु शरीर-

---

यही बात इस गाथामें कहते हैं:—

गाथा २८

अन्वयार्थः—[**जीवात् अन्यत्**] जीवसे भिन्न [**इदं पुद्गलमयं देहं**] इस पुद्गलमय देहकी [**स्तुत्वा**] स्तुति करके [**मुनिः**] साधु [**मन्यते-खलु**] ऐसा मानते हैं कि [**मया**] मैंने [**केवली भगवान्**] केवली भगवानकी [**स्तुतः**] स्तुति की, और [**वन्दितः**] वन्दना की।

टीका:—जैसे परमार्थसे सफेदी सोनेका स्वभाव नहीं है, फिर भी चाँदीका जो श्वेत गुण है उसके नामसे सोनेका नाम 'श्वेतस्वर्ण' कहा जाता है; यह व्यवहार मात्रसे ही कहा जाता है; इसीप्रकार परमार्थसे शुक्ल—रक्तता तीर्थंकर-केवली पुरुषका स्वभाव न होने पर भी, शरीरके गुण जो शुक्ल--रक्तता इत्यादि है उसके स्तवनसे तीर्थंकर—केवली पुरुषका 'शुक्ल रक्त तीर्थंकर केवली पुरुष' के रूपमें स्तवन किया जाता है, वह व्यवहारमात्रसे ही किया जाता है। किन्तु निश्चयनयसे शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन नहीं हो सकता।

भावार्थ:—यहाँ कोई प्रश्न करे कि—व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है, तब व्यवहाराश्रित जड़की स्तुतिका क्या फल है? उसका उत्तर यह है—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, उसे निश्चयको प्रधान करके असत्यार्थ कहा है। और छद्मस्थको अपना परका आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, शरीर दिखाई देता है, उसकी शान्तरूप मुद्राको देखकर अपनेको भी शांतभाव होते हैं। ऐसा उपकार समझकर शरीरके आश्रय

जीवसे जुदा पुद्गलमयी, इस देहकी स्तवना करी।
माने मुनी जो केवली, बंदन हुआ स्तवना हुई ॥ २८ ॥

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥ २७ ॥

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्त्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः। निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेत्येवं हि किल नयविभागः। ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नं ॥२७॥

गाथा २७

अन्वयार्थः—[**व्यवहारनयः**] व्यवहारनय तो [**भाषते**] यह कहता है कि [**जीवः च देहः**] जीव और शरीर [**एकः खलु**] एक ही [**भवति**] है [**तु**] किन्तु [**निश्चयस्य**] निश्चयनयके अभिप्रायसे [**जीवः देहः च**] जीव और शरीर [**कदापि**] कभी भी [**एकार्थः**] एक पदार्थ [**न**] नहीं है।

टीका:—जैसे इस लोकमें सोने और चाँदीको गलाकर एक कर देनेसे एक पिंडका व्यवहार होता है उसीप्रकार आत्मा और शरीरकी परस्पर एक क्षेत्रमे रहनेकी अवस्था होनेसे एकपनेका व्यवहार होता है। यों व्यवहार मात्रसे ही आत्मा और शरीरका एकपना है, परन्तु निश्चयसे एकपना नहीं है, क्योंकि निश्चयसे देखा जाये तो जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि जिसका स्वभाव है ऐसे सोने और चाँदीमे अत्यन्त भिन्नता होनेसे उनमे एक पदार्थपनेकी असिद्धि है, इसलिये अनेकत्व ही है, इसीप्रकार उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है ऐसे आत्मा और शरीरमें अत्यन्त भिन्नता होनेसे एक पदार्थपनेकी असिद्धि है इसलिये अनेकत्व ही है। ऐसा यह प्रगट नयविभाग है। इसलिये व्यवहारनयसे ही शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन होता है।

भावार्थ:—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीरको एक कहता है, और निश्चयनयसे भिन्न है। इसलिये व्यवहारनयसे शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन माना जाता है। २७।

जीव देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहारका।
निश्चयविषे तो जीव देह, कदापि एक पदार्थ ना ॥ २७ ॥

तथाहि;—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः ।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥२८॥

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्त्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरंकार्त्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः । तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थंकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनं । निश्चयनयेन तु शरीर-

---

यही बात इस गाथामें कहते हैं:—

गाथा २८

अन्वयार्थः—[**जीवात् अन्यत्**] जीवसे भिन्न [**इदं पुद्गलमयं देहं**] इस पुद्गलमय देहकी [**स्तुत्वा**] स्तुति करके [**मुनिः**] साधु [**मन्यते-खलु**] ऐसा मानते है कि [**मया**] मैने [**केवली भगवान्**] केवली भगवानकी [**स्तुतः**] स्तुति की, और [**वन्दितः**] वन्दना की ।

टीका:—जैसे परमार्थसे सफेदी सोनेका स्वभाव नहीं है, फिर भी चाँदीका जो श्वेत गुण है उसके नामसे सोनेका नाम 'श्वेतस्वर्ण' कहा जाता है; यह व्यवहार मात्रसे ही कहा जाता है; इसीप्रकार परमार्थसे शुक्ल—रक्तता तीर्थंकर-केवली पुरुषका स्वभाव न होने पर भी, शरीरके गुण जो शुक्ल--रक्तता इत्यादि है उसके स्तवनसे तीर्थंकर—केवली पुरुषका 'शुक्ल रक्त तीर्थंकर केवली पुरुष' के रूपमें स्तवन किया जाता है, वह व्यवहारमात्रसे ही किया जाता है । किन्तु निश्चयनयसे शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन नहीं हो सकता ।

भावार्थ:—यहाँ कोई प्रश्न करे कि—व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है, तब व्यवहाराश्रित जड़की स्तुतिका क्या फल है ? उसका उत्तर यह है—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, उसे निश्चयको प्रधान करके असत्यार्थ कहा है । और छद्मस्थको अपना परका आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, शरीर दिखाई देता है, उसकी शान्तरूप मुद्राको देखकर अपनेको भी शांतभाव होते हैं । ऐसा उपकार समझकर शरीरके आश्रय

जीवसे जुदा पुद्गलमयी, इस देहकी स्तवना करी ।
माने मुनी जो केवली, बंदन हुआ स्तवना हुई ॥ २८ ॥

स्तवनेन नात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ॥२८॥

तथाहि;—

णं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥२९॥

यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थकर-केवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं तीर्थकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात् ॥२९॥

से भी स्तुति करता है; तथा शांतमुद्राको देखकर अंतरंगमें वीतराग भावका निश्चय होता है, यह भी उपकार है ॥ २८ ॥

ऊपरकी बातको गाथामें कहते हैं:—

गाथा २९

अन्वयार्थः—[**तत्**] वह स्तवन [**निश्चये**] निश्चयमें [**न युज्यते**] योग्य नहीं है [**हि**] क्योंकि [**शरीरगुणाः**] शरीरके गुण [**केवलिनः**] केवलीके [**न भवंति**] नहीं होते; [**यः**] जो [**केवलिगुणान्**] केवलीके गुणोंकी [**स्तौति**] स्तुति करता है, [**सः**] वह [**तत्त्वं**] परमार्थसे [**केवलिनं**] केवलीकी [**स्तौति**] स्तुति करता है।

टीकाः—जैसे चाँदीका गुण जो सफेदपना उसका सुवर्णमें अभाव है, इसलिये निश्चयसे सफेदीके नामसे सोनेका नाम नहीं बनता, सुवर्णके गुण जो पीलापन आदि हैं उनके नामसे ही सुवर्णका नाम होता है; इसीप्रकार शरीरके गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं उनका तीर्थंकर-केवली पुरुषमें अभाव है, इसलिये निश्चयसे शरीरके शुक्ल-रक्तता आदि गुणोंका स्तवन करनेसे तीर्थंकर-केवली पुरुषका स्तवन नहीं होता है, तीर्थंकर-केवलीपुरुषके गुणोंका स्तवन करनेसे ही तीर्थंकर-केवली पुरुषका स्तवन होता है ॥ २९ ॥

निश्चयविषैं नहिं योग्य ये, नहिं देह गुण केवलि हि के।
जो केवली गुणको स्तवे, परमार्थ केवलि वो स्तवे ॥ २९ ॥

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते इति चेत्—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवंति ॥ ३० ॥

तथाहि—

ॐ आर्या ॐ

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

इति नगरे वर्णितेपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात् । तथैव—

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो शरीरका अधिष्ठाता है इसलिये शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन निश्चयसे क्यों युक्त नहीं है? उसके उत्तररूप दृष्टांत सहित गाथा कहते हैं:—

गाथा ३०

अन्वयार्थः— [**यथा**] जैसे [**नगरे**] नगरका [**वर्णिते अपि**] वर्णन करने पर भी [**राज्ञः वर्णना**] राजाका वर्णन [**न कृता भवति**] नहीं किया जाता, इसीप्रकार [**देहगुणे स्तूयमाने**] शरीरके गुणका स्तवन करनेपर [**केवलिगुणाः**] केवलीके गुणोंका [**स्तुताः न भवंति**] स्तवन नहीं होता ।

टीकाः—उपरोक्त अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह नगर ऐसा है कि जिसने कोटके द्वारा आकाशको ग्रसित कर रखा है (अर्थात् इसका कोट बहुत ऊंचा है), बगीचोंकी पंक्तियोंसे जिसने भूमितलको निगल लिया है (अर्थात् चारों ओर बगीचोंसे पृथ्वी ढक गई है), और कोटके चारों ओरकी खाईके घेरेसे मानों पातालको पी रहा है (अर्थात् खाई बहुत गहरी है)

इसप्रकार नगरका वर्णन करनेपर भी उससे राजाका वर्णन नहीं होता, क्योंकि, यद्यपि राजा उसका अधिष्ठाता है, तथापि वह राजा कोट–बाग–खाई आदिवाला नहीं है ।

---

* ग्राम वर्णन करनसे, भूपाल वर्णन हो न ज्यों ।
त्यों देह गुणके स्तवनसे, नहिं केवली गुण स्तवन हो ॥ ३० ॥

❀ आर्या ❀

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेंद्ररूपं परं जयति ॥२६॥

इति शरीरे स्तूयमानेपि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्यादिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ॥३०॥

अथ निश्चयस्तुतिमाह तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत्—

जो इंदिये जिणत्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

यः इंद्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं खलु जितेंद्रियं ते भणंति ये निश्चिताः साधवः ॥३१॥

इसीप्रकार शरीरका स्तवन करनेपर तीर्थंकरका स्तवन नहीं होता, यह भी श्लोक द्वारा कहते हैं.—

अर्थ.—जिनेन्द्रका रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है, जिसमे सभी अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, जिसमें (जन्मसे ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है) और जो समुद्रकी भाँति क्षोभरहित है—चलाचल नहीं है।

इसप्रकार शरीरका स्तवन करनेपर भी उससे तीर्थंकर--केवलीपुरुषका स्तवन नहीं होता, क्योंकि, यद्यपि तीथकर--केवलीपुरुषके शरीरका अधिष्ठातृत्व है, तथापि सुस्थित सर्वांगता, लावण्य आदि आत्माके गुण नहीं हैं इसलिये तीर्थंकर--केवली पुरुषके उन गुणोंका अभाव है ॥ ३० ॥

अब, (तीर्थंकर--केवलीकी) निश्चय स्तुति कहते हैं। उसमें पहले ज्ञेय—ज्ञायकके संकर दोषका परिहार करके स्तुति करते हैं.—

गाथा ३१

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**इन्द्रियाणि**] इन्द्रियोंको [**जित्वा**] जीतकर [**ज्ञानस्वभावाधिकं**] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक [**आत्मानं**] आत्माको [**जानाति**] जानते हैं [**तं**] उन्हे, [**ये निश्चिताः**

कर इन्द्रिजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आतमको ।
निश्चयविषें स्थित साधुजन, भाषें जितेन्द्रिय उन्हींको ॥ ३१ ॥

यः खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मल-भेदाभ्यासकौशलोपलब्धांतःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टंभबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येंद्रियाणि प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खंडशः आकर्षति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेंद्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबंधप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानि च चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासंगतया भावेंद्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिंद्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन

साधवः] जो निश्चयनयमें स्थित साधु हैं [**ते**] वे [**खलु**] वास्तवमे [**जितेन्द्रियं**] जितेन्द्रिय [**भणंति**] कहते हैं।

टीका:—(जो द्रव्येन्द्रियों भावेद्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको--तीनोंको अपनेसे अलग करके समस्त अन्य द्रव्योंसे भिन्न अपने आत्माका अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितेन्द्रिय हैं।) अनादि अमर्यादरूप वंध पर्यायके वश जिसमें समस्त स्व--परका विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्माके साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीरपरिणामको प्राप्त द्रव्येन्द्रियोंको तो निर्मल भेदाभ्यासकी प्रवीणतासे प्राप्त अंतरंगमें प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्य स्वभावके अवलम्बनके बलसे अपनेसे अलग किया, सो यह द्रव्येन्द्रियोंको जीतना हुआ। भिन्न २ अपने २ विषयोंमें व्यापारभावसे जो विषयोंको खण्ड खण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञानको खंड खंडरूप बतलाती है) ऐसी भावेन्द्रियोंको, प्रतीतिमें आती हुई अखंड एक चैतन्यशक्तिके द्वारा अपनेसे भिन्न जाना सो यह भावेन्द्रियोंका जीतना हुआ। ग्राह्य ग्राहक लक्षणवाले सम्बन्धकी निकटताके कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं ऐसी भावेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये हुवे, इन्द्रियोंके विषयभूत स्पर्शादि पदार्थोंको, अपनी चैतन्य शक्तिकी स्वयमेव अनुभवमें आनेवाली असंगताके द्वारा सर्वथा अपनेसे अलग किया, सो यह इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका जीतना हुआ। इसप्रकार जो द्रव्येन्द्रियो, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोके विषयभूत पदार्थोंको (तीनों को) जीतकर ज्ञेयज्ञायक संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होनेसे एकत्वमें टंकोत्कीर्ण और ज्ञान स्वभावके द्वारा सर्व अन्य द्रव्योंसे परमार्थसे भिन्न ऐसे अपने आत्माका अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितेन्द्रिय जिन है (ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्योंमे नहीं है, इसलिये उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है।) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? विश्वके (समस्त पदार्थोंके) ऊपर तिरता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ),

सर्वेभ्यो द्रव्यांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेंद्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ॥३१॥

अथ भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥ ३२ ॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विंदंति ॥ ३२ ॥

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव [1]तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य [2]व्यावर्त्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावक-

प्रत्यक्ष उद्योतपनेसे सदा अंतरंगमें प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इसप्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

(ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका और ज्ञायकस्वरूप स्वयं आत्माका -दोनोंका अनुभव, विषयोंकी आसक्तिसे एकसा होता था; जब भेदज्ञानसे भिन्नत्व ज्ञात किया तब वह ज्ञेय ज्ञायक--संकरदोष दूर हुआ, ऐसा यहाँ जानना।) ॥ ३१ ॥

अब, भाव्य भावक-संकर दोष दूर करके स्तुति कहते हैं:—

गाथा ३२

अन्वयार्थः—[**यः तु**] जो मुनि [**मोहं**] मोहको [**जित्वा**] जीतकर [**आत्मानं**] अपने आत्माको [**ज्ञानस्वभावाधिकं**] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्य भावोंसे अधिक [**जानाति**] जानता है [**तं साधुं**] उस मुनिको [**परमार्थविज्ञायकाः**] परमार्थके जानने वाले [**जितमोहं**] जितमोह [**विंदंति**] जानते हैं-कहते हैं।

टीका:—मोहकर्म फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रगट उदयरूप होकर भावकपनेंसे प्रगट

१ तदनुवृत्तस्य। २ भेदबलेन।

कर मोहजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आतमा।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन हि जितमोही कहा ॥३२॥

संकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभाविभ्यः सर्वेभ्यो भावांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः। एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्याततत्वाद्व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥ ३२ ॥

अथ भाव्यभावकभावाभावेन:—

होता है तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा—भाव्य उसको भेदज्ञानके बल द्वारा दूरसे ही अलग करनेसे, इसप्रकार बलपूर्वक मोहका तिरस्कार करके, समस्त भाव्य भावक—संकरदोष दूर हो जाने से एकत्वमें टंकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्योंके स्वभावोंसे होने वाले सर्व अन्य भावोंसे परमार्थतः भिन्न, अपने आत्माको जो (मुनि) अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितमोह (जिसने मोहको जीता है) जिन हैं। कैसा है वह ज्ञानस्वभाव? समस्त लोकके ऊपर तिरता हुआ, प्रत्यक्ष उद्योतरूपसे सदा अंतरंगमें प्रकाशमान, अविनाशी, अपनेसे ही सिद्ध और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इसप्रकार भाव्य भावक भावके संकरदोषको दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है।

इस गाथा सूत्रमें एक मोहका ही नाम लिया है; उसमें 'मोह' पदको बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन वचन, काय रखकर ग्यारह सूत्र व्याख्यानरूप करना और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, तथा स्पर्शन—इन पांचके सूत्रोंको इन्द्रिय सूत्रके द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना। इसप्रकार सोलह सूत्रोंको भिन्न भिन्न व्याख्यानरूप करना और इस उपदेशसे अन्य भी विचार लेना।

भावार्थः—भावक मोहके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे अपना आत्मा भाव्यरूप होता है, उसे भेदज्ञानके बलसे भिन्न अनुभव करने वाले जितमोह जिन हैं। यहाँ ऐसा आशय है कि श्रेणी चढ़ते हुए जिसे मोहका उदय अनुभवमें न रहे और जो अपने बलसे उपशमादि करके आत्मानुभव करता है, उसे जितमोह कहा है। यहाँ मोहको जीता है, उसका नाश नहीं हुआ। ३२।

अब, भाव्य भावक भावके अभावसे निश्चय स्तुति बतलाते हैं:—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥३३॥

इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावानतिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णपरमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः । एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनो-

---

गाथा ३३

अन्वयार्थः—[**जितमोहस्य तु साधोः**] जिसने मोहको जीत लिया है ऐसे साधुके [**यदा**] जब [**क्षीणः मोहः**] मोह क्षीण होकर सत्तामें से नष्ट [**भवेत्**] हो [**तदा**] तब [**निश्चयविद्भिः**] निश्चयके जानने वाले [**खलु**] निश्चयसे [**सः**] उस साधुको [**क्षीणमोहः**] 'क्षीणमोह' नामसे [**भण्यते**] कहते हैं ।

टीका—इस निश्चयस्तुतिमें पूर्वोक्त विधानसे आत्मामें से मोहका तिरस्कार करके पूर्वोक्त ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक आत्माका अनुभव करनेसे जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने स्वभावभावकी भावनाका भलीभाँति अवलम्बन करनेसे मोहकी संततिका ऐसा आत्यंतिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो—इसप्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो तब (भावक मोहका क्षय होनेसे आत्माके विभावरूप भाव्यभावका अभाव होता है, और इसप्रकार) भाव्यभावकभावका अभाव होनेसे एकत्व होनेसे टंकोत्कीर्ण परमात्माको प्राप्त हुआ वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है । यह तीसरी निश्चयस्तुति है ।

यहाँ भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पदको बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्श—इन पदोंको रखकर सोलह सूत्रोंका व्याख्यान करना और इसप्रकारके उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ।

जित मोह साधु पुरुषका जब, मोह क्षय हो जाय है ।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे ॥३३॥

वचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।

❀ शार्दूलविक्रीडित ❀

एकत्वं व्यवहारत न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥२७॥

❀ मालिनी ❀

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम्।

भावार्थः—साधु पहले अपने बलसे उपशम भावके द्वारा मोहको जीतकर, फिर जब अपनी महा सामर्थ्यसे मोहको सत्तामें से नष्ट करके ज्ञानस्वरूप परमात्माको प्राप्त होते हैं तब वे क्षीणमोह जिन कहलाते है।

अब यहाँ इस निश्चय-व्यवहाररूप स्तुतिके अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—शरीर और आत्माके व्यवहारनयसे एकत्व है, किन्तु निश्चयनयसे नहीं है, इसलिये शरीरके स्तवनसे आत्मा-पुरुषका स्तवन व्यवहारनयसे हुआ कहलाता है, निश्चयनयसे नहीं; निश्चयसे तो चैतन्यके स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है। उस चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह इत्यादि रूप से कहा वैसा है। अज्ञानी ने तीर्थंकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था उसका इस प्रकार नयविभाग से उत्तर दिया है; जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और शरीर मे निश्चय से एकत्व नहीं है।

अब फिर, इस अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है, इस अर्थ का सूचक काव्य कहते है:—

अर्थः—जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को परिचय रूप किया है ऐसे मुनियों ने जब आत्मा और शरीरके एकत्व को इस प्रकार नयविभाग की युक्ति के द्वारा जड़मूल से उखाड़ फेका है—उसका अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने निजरसके वेग से आकृष्ट हुए प्रगट होने वाले एक स्वरूप होकर किस पुरुष को वह ज्ञान तत्काल ही यथार्थपने को प्राप्त न होगा? अवश्य ही होगा।

भावार्थः—निश्चय-व्यवहारनयके विभाग से आत्मा और पर का अत्यन्त भेद बताया

अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः ॥ ३३ ॥

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मशरीरैकत्वं संस्कारतयात्यंतमप्रतिबुद्धोपि प्रसभोज्जृंभिततत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्धः साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः—

सव्वे भावे जह्मा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं ।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४॥

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम् ॥ ३४ ॥

है; इसे जानकर, ऐसा कौन पुरुष है जिसे भेदज्ञान न हो ? होता ही है क्योंकि जब ज्ञान अपने स्वरस से स्वयं अपने स्वरूप को जानता है, तब अवश्य ही वह ज्ञान अपने आत्माको परसे भिन्न ही बतलाता है। कोई दीर्घ संसारी ही हो तो उसकी यहाँ कोई बात नहीं है।

इस प्रकार, अप्रतिबुद्धने जो यह कहा था कि—"हमारा तो यह निश्चय है कि शरीर ही आत्मा है" उसका निराकरण किया ॥ ३३ ॥

इस प्रकार, यह अज्ञानी जीव अनादि कालीन मोह के संतान से निरूपित आत्मा और शरीर के एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था वह अब तत्वज्ञान स्वरूप ज्योति के प्रगट उदय होने से और नेत्र के विकारी की भाँति (जैसे किसी पुरुष की आँखों में विकार था तब उसे वर्णादिक अन्यथा दीखते थे, और जब नेत्र विकार दूर हो गया तब वे ज्यों के त्यों-यथार्थ दिखाई देने लगे, इसी प्रकार) पटल समान आवरण कर्मों के भलीभाँति उघड़ जानेसे प्रतिबुद्ध हो गया और साक्षात्द्रष्टा आपको अपने से ही जानकर तथा श्रद्धान करके उसी का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ पूछता है कि 'इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है'? उसको आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि:—

गाथा ३४

अन्वयार्थः—[यस्मात्] जिससे [सर्वान् भावान्] "अपने अतिरिक्त

सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावोंका करे।
इससे नियमसे जानना की, ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥३४॥

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपिं भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभावभावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेपि परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ॥ ३४ ॥

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टांत इत्यत आह—

सर्व पदार्थोंको [परान्] पर है" [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [प्रत्याख्याति] प्रत्याख्यान करता है—त्याग करता है, [तस्मात्] उससे [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [ज्ञानं] ज्ञान ही है [नियमात्] ऐसा नियमसे [ज्ञातव्यं] जानना। अपने ज्ञानमें त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नही।

टीका:—यह भगवान ज्ञाता—द्रव्य (आत्मा) है, वह अन्य द्रव्यके स्वभावसे होने वाले अन्य समस्त परभावोंको, उनके अपने स्वभावभावसे व्याप्त न होनेसे, पररूप जानकर त्याग देता है; इसलिये जो पहले जानता है वही बादमें त्याग करता है, अन्य तो कोई त्याग करने वाला नहीं है,—इसप्रकार आत्मामें निश्चय करके प्रत्याख्यानके (त्यागके) समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभावकी उपाधि मात्रसे प्रवर्तमान त्यागके कर्तृत्वका नाम (आत्माके) होने पर भी, परमार्थसे देखा जाये तो परभावके त्याग—कर्तृत्वका नाम अपनेमें नही है, स्वयं तो इस नामसे रहित है, क्योंकि ज्ञानस्वभावसे स्वयं छूटा नहीं है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है—ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ:—आत्माको परभावके त्यागका कर्तृत्व है, वह नाममात्र है। वह स्वयं तो ज्ञानस्वभाव है। परभावको पर जाना, और फिर परभावका ग्रहण न करना सो यही त्याग है। इसप्रकार स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञानके अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है। ३४।

अब, यहाँ यह प्रश्न होता है कि ज्ञाताका प्रत्याख्यान, ज्ञान ही कहा है, तो उसका दृष्टान्त क्या है? उसके उत्तरमें दृष्टान्त दार्ष्टांतरूप गाथा कहते है:—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥ ३५ ॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति ।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी ॥ ३५ ॥

यथा हि [1]कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय [2]शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु[3] प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्त्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात् तथा

गाथा ३५

अन्वयार्थः—[**यथा नाम**] जैसे लोकमें [**कोऽपि पुरुषः**] कोई पुरुष [**परद्रव्यं इदं इति ज्ञात्वा**] परवस्तुको 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जान कर [**त्यजति**] परवस्तुका त्याग करता है [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी पुरुष [**सर्वान्**] समस्त [**परभावान्**] परद्रव्योंके भावोंको [**ज्ञात्वा**] 'यह परभाव हैं' ऐसा जानकर [**विमुंचति**] उनको छोड़ देता है ।

टीकाः—जैसे-कोई पुरुष धोबीके घरसे भ्रमवश दूसरेका वस्त्र लाकर उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी (यह वस्त्र दूसरेका है ऐसे ज्ञानसे रहित) हो रहा है; (किन्तु) जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्रका छोर (पल्ला) पकड़कर खींचता है और उसे नग्न कर कहता है कि—'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदलेमें आगया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे,' तब वारम्बार कहे गये इस वाक्यको सुनता हुआ वह (उस वस्त्रके) सर्व चिह्नोंसे भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरेका ही है', ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुवा, उस (दूसरेके) वस्त्रको शीघ्र ही त्याग देता है; इसीप्रकार ज्ञाता भी भ्रम वश परद्रव्यके भावोंको ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपनेमें एकरूप करके सो रहा है, और अपने आप अज्ञानी हो रहा है; जब श्री गुरु परभावका विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्म-

---

१ कोऽपि इत्यपि ग. पुस्तके पाठः । २ बुध्यमानः । ३ झटिति ।

ये और का है जानकर, परद्रव्यको को नर तजे ।
त्यों और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे ॥३५॥

ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात् ।

❀ मालिनी ❀

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाह—

भावरूप करते हैं और कहते है कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तवमें एक (ज्ञानमात्र) ही है, (अन्य सर्व परद्रव्यके भाव हैं), तब बारम्बार कहे गये इस आगमके वाक्यको सुनता हुआ वह, समस्त (स्व-परके) चिह्नोंसे भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह परभाव ही हैं, (मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ' यह जानकर ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावोंको तत्काल छोड़ देता है।

भावार्थः—जब तक परवस्तुको भूलसे अपनी समझता है, तभीतक ममत्व रहता है; और जब यथार्थ ज्ञान होनेसे परवस्तुको दूसरेकी जानता है तब दूसरेकी वस्तुमें ममत्व कैसे रहेगा ? अर्थात् नहीं रहे यह प्रसिद्ध है।

अब, इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह परभावके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि, पुरानी न हो इसप्रकार अत्यन्त वेगसे जब तक प्रवृत्तिको प्राप्त न हो, उससे पूर्व ही तत्काल सकल अन्य भावोंसे रहित स्वयं ही यह अनुभूति प्रगट हो जाती है।

भावार्थः—यह परभावके त्यागका दृष्टांत कहा; उस पर दृष्टि पड़े उससे पूर्व, समस्त अन्य भावोंसे रहित अपने स्वरूपका अनुभव तो तत्काल हो गया, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तुको परकी जान लेनेके बाद ममत्व नहीं रहता। ३५।

अब, 'इस अनुभूतिसे परभावका भेदज्ञान कैसे हुआ' ? ऐसी आशंका करके, पहले तो जो भावक भाव—मोहकर्मके उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं:—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३६ ॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विंदंति ॥ ३६ ॥

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानटंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोपि न नाम मम मोहोस्ति किंचैतत्स्वयमेव विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः

गाथा ३६

*अन्वयार्थः—**[बुध्यते]** जो यह जाने कि **[मोहः मम कोऽपि नास्ति]** 'मोह मेरा कोई भी (सबवी) नहीं है, **[एकः उपयोगः एव अहम्]** एक उपयोग ही मैं हूँ'– **[तं]** ऐसे जाननेको **[समयस्य]** सिद्धान्तके अथवा स्वपर स्वरूपके **[विज्ञायकाः]** जानने वाले **[मोह निर्ममत्वं]** मोहसे निर्ममत्व **[विंदंति]** जानते हैं,–कहते हैं ।

टीकाः—निश्चयसे, (यह मेरे अनुभवमें) फलदानकी सामर्थ्यसे प्रगट होकर भावक रूप होने वाले पुद्गलद्रव्यसे रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावभावका परमार्थसे परके भाव द्वारा, भाना[1] अशक्य है । और यहाँ स्वयमेव विश्वको (समस्त वस्तुओंको) प्रकाशित करनेमें चतुर और विकासरूप ऐसी, निरंतर शाश्वत् प्रताप सम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्ति मात्र स्वभावभावके द्वारा भगवान आत्मा ही जानता है कि—परमार्थसे मैं एक हूँ इसलिये, यद्यपि समस्त द्रव्योंके परस्पर साधारण अवगाहका (एकक्षेत्रावगाहका) निवारण करना अशक्य होनेसे मेरा आत्मा और जड़,

---

*इस गाथाका दूसरा अर्थ यह भी है कि–'किंचित्मात्र मोह मेरा नहीं है, मैं एक हूँ' ऐसा उपयोग ही (आत्मा ही) जाने, उस उपयोगको (आत्माको) समयके जानने वाले मोहके प्रति निर्मम (ममता रहित) कहते हैं ।

१ भाना=भावरूप करना, बनाना ।

कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं ।
इस ज्ञानको ज्ञायक समयके, मोह निर्ममता कहे ॥३६॥

ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वान्मज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि। सर्वदेवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात्। इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः।

❀ स्वागता ❀

[1]सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

एवमेव मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचन

श्रीखंडकी भाँति एकमेक हो रहे है तथापि श्रीखंडकी भाँति स्पष्ट अनुभवमें आनेवाले स्वादके भेदके कारण मै मोहके प्रति निर्मम ही हूँ; क्योंकि सदा अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्योंका त्यों ही स्थित रहता है। (दही और शक्कर मिलानेसे श्रीखंड बनता है, उसमें दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते हैं तथापि प्रगटरूप खट्टे मीठे स्वादके भेदसे भिन्न भिन्न जाने जाते है; इसीप्रकार द्रव्योंके लक्षण भेदसे जड़-चेतनके भिन्न २ स्वादके कारण ज्ञात होता है कि मोहकर्मके उदयका स्वाद रागादिक है, वह चैतन्यके निजस्वभावके स्वादसे भिन्न ही है) इसप्रकार भावकभाव जो मोहका उदय उससे भेदज्ञान हुवा।

भावार्थः—यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है; उसका उदय कलुष भावरूप है; वह भाव भी मोहकर्मका भाव होनेसे पुद्गलका ही विकार है। यह भावकका भाव जब चैतन्यके उपयोगके अनुभवमें आता है तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है। जब उसका भेद ज्ञान हो कि 'चैतन्यकी शक्तिकी व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोग मात्र है, और यह कलुषता राग, द्वेष, मोहरूप है वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्यकी है;' तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोहके भाव उससे अवश्य भेदभाव होता है, और आत्मा अवश्य अपने चैतन्यके अनुभवरूप स्थित होता है।

अब, इस अर्थका द्योतक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस लोकमें मै स्वतः ही अपने एक आत्मस्वरूपका अनुभव करता हूँ, जो स्वरूप सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्यके परिणमनसे पूर्णभरे हुए भाव वाला है; इसलिये यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं तो शुद्ध चैतन्यके समूहरूप तेजःपुंजका निधि हूँ। (भावभावकके भेदसे ऐसा अनुभव करे)

---

१ असंख्येयेष्वपि प्रदेशेषु स्वरसेन ज्ञानेन निर्भरः संपूर्णो भाव स्वरूपं यस्य।

कायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥ ३६ ॥

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३७ ॥

नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विंदंति ॥३७॥

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृंभितानिवारितप्रसरविश्वघस्मरप्रचंडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोंतस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो

इसीप्रकार गाथामें जो 'मोह' पद है उसे बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन —इन सोलह पदोंके भिन्न २ सोलह गाथासूत्र व्याख्यान करना, और इसी उपदेशसे अन्य भी विचार लेना। ३६।

अथ, ज्ञेयभावके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं:—

गाथा ३७

*अन्वयार्थः—[**बुध्यते**] यह जाने कि [**धर्मादिः**] 'यह धर्म आदि द्रव्य [**मम नास्ति**] मेरे कुछ भी नहीं लगते, [**एकः उपयोगः एव**] एक उपयोग ही [**अहम्**] मैं हूं'—[**तं**] ऐसा जाननेको [**समयस्य विज्ञायकाः**] सिद्धांतके अथवा स्वपरके स्वरूपरूप समयके जाननेवाले [**धर्मनिर्ममत्वं**] धर्मद्रव्यके प्रति निर्ममत्व [**विंदंति**] जानते हैं– कहते हैं।

टीका—अपने निजरससे जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार है, तथा समस्त पदार्थोंको ग्रसित करनेका जिसका स्वभाव है ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्र शक्तिके द्वारा ग्रासीभूत किये जानेसे, मानो अत्यंत अंतर्मग्न हो रहे हों—ज्ञानमें तदाकार हो कर डूब रहे हों, इस-

---

*इस गाथाका अर्थ ऐसा भी होता है:—"धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं एक हूं" ऐसा उपयोग ही जाने, उस उपयोगको समयके जानने वाले धर्म प्रति निर्मम कहते हैं।

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूं।
इम ज्ञानको ज्ञायक समयके धर्म निर्ममता कहे ॥३७॥

बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम संति। किंचैतत्स्वयमेव च नित्य-मेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं कलयन् भगवानात्मैवावबुध्यते। यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंवलनेपि परिस्फुटस्वदमानस्वभाव-भेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोस्मि। सर्वदैवात्मैकत्व-गतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः।

❀ मालिनी ❀

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वसमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

प्रकार आत्मामें प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्यजीव—ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं है; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्वसे परमार्थतः अंतरंग तत्व तो मैं हूँ, और वे परद्रव्य मेरे स्वभावसे भिन्न स्वभाववाले होनेसे परमार्थतः बाह्य तत्व-रूपताको छोड़नेके लिये असमर्थ हैं, (क्योंकि वे अपने स्वभावका अभाव करके ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं होते।) और यहाँ स्वयमेव, (चैतन्यमें) नित्य उपयुक्त और परमार्थसे एक, अनाकुल आत्माका अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि मैं प्रगट निश्चयस एक ही हूँ, इसलिये ज्ञेय—ज्ञायकभावमात्रसे उत्पन्न, परद्रव्योंके साथ परस्पर मिलन होनेपर भी प्रगट स्वादमें आते हुवे स्वभावके भेदके कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवोंके प्रति मैं निर्मम हूँ, क्योकि सदा ही अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों हो स्थित रहता है; (अपने स्वभावको कोई नहीं छोड़ता।) इसप्रकार ज्ञेयभावोंसे भेदज्ञान हुआ।

यहाँ इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार पूर्वोक्तरूपसे भावकभाव और ज्ञेयभावोंसे भेदज्ञान होनेपर जब सर्व अन्यभावोसे भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्माको ही धारण करता हुआ, जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे जिसने परिणति की है ऐसा, अपने आत्मारूपी बाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता।

भावार्थः—सर्व परद्रव्योसे तथा उनसे उत्पन्न हुए भावोंसे जब भेद जाना तब उप-योगके रमणके लिये अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा। इसप्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्रके साथ एकरूप हुआ वह आत्मामें ही रमण करता है, ऐसा जानना॥ ३७॥

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः। समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिकभावै-

---

अब, इसप्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप परिणत आत्माको स्वरूपका संचेतन कैसा होता है यह कहते हुए आचार्य इस कथनको समेटते हैं:—

गाथा ३८

अन्वयार्थः—दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि—[**खलु**] निश्चयसे [**अहं**] मैं [**एकः**] एक हूँ [**शुद्धः**] शुद्ध हूँ [**दर्शनज्ञानमयः**] दर्शनज्ञानमय हूँ, [**सदा अरूपी**] सदा अरूपी हूँ, [**किंचित् अपि अन्यत्**] किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य [**परमाणुमात्रं अपि**] परमाणुमात्र भी [**मम नापि अस्ति**] मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

टीका:—जो, अनादि मोहरूप अज्ञानसे उन्मत्तताके कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरुसे निरंतर समझाये जानेपर जो किसी प्रकारसे समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठीमें रखे हुए सोनेको भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोनेको देखे, इस न्यायसे अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्यके धारक) आत्माको भूल गया था उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके (उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकारसे एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि:—मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभवसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकारके कारण मैं समस्त

मैं एक शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञान दृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे ॥३८॥

श्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः। नरनारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवर-निर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः। चिन्मात्रतया सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः। स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपीति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि। एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्र-स्वरूपसंपदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किंचनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति। यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति स्वरसत एवापुनः प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात्।

क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावोंसे भेदरूप नहीं होता, इसलिये मैं एक हूँ; नरनारक आदि जीवके विशेष; अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष स्वरूप जो व्यावहारिक नवतत्व हैं उनसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप भावके द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिये मैं शुद्ध हूँ; चिन्मात्र होनेसे सामान्य विशेष उपयोगात्मकताका उल्लंघन नहीं करता इसलिये मैं दर्शनज्ञानमय हूँ; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है, ऐसे संवेदनरूप परिणमित होनेपर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ इसलिये परमार्थसे मैं सदा ही अरूपी हूँ। इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूपका अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। इसप्रकार प्रतापवंत वर्तते हुवे ऐसे मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेकप्रकारकी स्वरूप-सम्पदाके द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूपसे मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरससे ही मोहको मूलसे उखाड़कर—पुनः अंकुरित न हो इसप्रकार नाश करके, महान ज्ञान प्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

भावार्थः—आत्मा अनादिकालसे मोहके उदयसे अज्ञानी था, वह श्री गुरुओंके उपदेशसे और स्व-काललब्धिसे ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूपको परमार्थसे जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ। ऐसा जाननेसे मोहका समूल-नाश हो गया, भावक-भाव और ज्ञेयभावसे भेदज्ञान हुआ अपनी स्वरूपसंपदा अनुभवमें आई तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है? नही हो सकता।

अब, ऐसा जो आत्मानुभव हुआ उसकी महिमा कहकर आचार्यदेव प्रेरणारूप काव्य कहते हैं कि—ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मामें समस्त लोक निमग्न हो जाओ:—

❀ वसन्ततिलका ❀

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः ।

अर्थः—यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आड़ी चादरको समूलतया डुबोकर (दूर करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; इसलिये अब समस्त लोक उसके शांतरसमें एक साथ ही अत्यन्त मग्न हो जाओ जो शांतरस समस्त लोकपर्यंत उछल रहा है ।

भावार्थ—जैसे समुद्रके आड़े कुछ आ जाये तो जल दिखाई नहीं देता और जब वह आड़ दूर हो जाती है तब जल प्रगट होता है; वह प्रगट होनेपर लोगोंको प्रेरणा योग्य होता है कि "इस जलमे सभी लोक स्नान करो"; इसीप्रकार यह आत्मा विभ्रमसे आच्छादित था तब उसका स्वरूप दिखाई नहीं देता था; अब विभ्रम दूर हो जानेसे यथास्वरूप (ज्यो का त्यों स्वरूप) प्रगट हो गया; इसलिये 'अब उसके वीतराग विज्ञानरूप शांतरसमे एक ही साथ सर्वलोक मग्न होओ' इसप्रकार आचार्यदेवने प्रेरणा की है । अथवा इसका अर्थ यह भी है कि जब आत्माका अज्ञान दूर होता है तब केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होनेपर समस्त लोकमे रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञानमे झलकते हैं, उसे समस्त लोक देखो ।

इसप्रकार इस समयप्राभृत ग्रथमे प्रथम जीवाजीवाधिकारमे टीकाकारने पूर्व रंगस्थल कहा ।

यहाँ टीकाकारका यह आशय है कि इस ग्रन्थको अलंकारसे नाटकरूपमे वर्णन किया है । नाटकमे पहले रंगभूमि रची जाती है । वहाँ देखनेवाले, नायक तथा सभा होती है और नृत्य (नाट्य नाटक) करनेवाले होते हैं, जो विविध प्रकारके स्वांग रखते है, तथा शृंगारादिक आठरसोंका रूप दिखलाते हैं । वहाँ शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स, और अद्भुत-यह आठरस लौकिक रस हैं; नाटकमे इन्हींका अधिकार है । नवमा शांतरस है जो कि अलौकिक है; नृत्यमें उसका अधिकार नहीं है । इन रसोंके स्थायीभाव, सात्विकभाव, अनुभावीभाव, व्यभिचारीभाव, और उनकी दृष्टि आदिका वर्णन रसग्रंथोंमे है—वहाँसे जान लेना । सामान्यतया रसका यह स्वरूप है कि ज्ञानमे जो ज्ञेय आया उसमें ज्ञान तदाकार हुवा, उसमे पुरुषका भाव लीन हो जाय और अन्य ज्ञेयकी इच्छा नहीं रहे, सो रस है । उन आठ रसोंका रूप नृत्यमे नृत्यकार बतलाते हैं । और उनका वर्णन करते हुए कवीश्वर

आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ॥३२॥

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरंगः समाप्तः ।

जब अन्य रसको अन्य रसके समान कर भी वर्णन करते हैं तब अन्य रसका अन्यरस अंगभूत होनेसे तथा अन्यभाव रसोंका अंग होनेसे, रसवत् आदि अलंकारसे, उसे नृत्यरूपमें वर्णन किया जाता है।

यहाँ पहले रंगभूमिस्थल कहा । वहाँ देखनेवाले तो सम्यक्दृष्टि पुरुष है, और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषोंकी सभा है उनको दिखलाते हैं। नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं और दोनोंका एकपना, कर्ताकर्मपना आदि उनके स्वांग हैं उनमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं,—आठरसरूप होकर परिणमन करते हैं, सो वह नृत्य है। वहाँ सम्यक्दृष्टि दर्शक, जीव–अजीव के भिन्नस्वरूपको जानता है; वह तो इन सब स्वांगोंको कर्मकृत जानकर शांतरसमें ही मग्न है, और मिथ्यादृष्टि, जीव–अजीवके भेद नहीं जानते इसलिये वे इन स्वांगोंको ही यथार्थ जानकर उनमें लीन हो जाते हैं। उन्हें सम्यक्दृष्टि यथार्थस्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शांतरसमें लीन करके सम्यक्दृष्टि बनाता है। उसकी सूचनारूपमें रंगभूमिके अंतमें आचार्यने 'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोककी रचना की है, वह अब जीव अजीवके स्वांगका वर्णन करेंगे इसका सूचक है, ऐसा आशय प्रगट होता है। इसप्रकार यहाँतक रंगभूमिका वर्णन किया है ॥ ३८ ॥

नृत्य कुतूहल तत्वको, मरियवि देखो धाय ।
निजानंद रसमे छको, आन सबै छिटकाय ॥

इसप्रकार जीवाजीवाधिकारमे पूर्वरंग समाप्त हुआ।

❀ शार्दूलविक्रीड़ित ❀

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्मारामममनंतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः —

अब जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य--वे दोनो एक होकर रंगभूमिमे प्रवेश करते हैं, इसके प्रारम्भमे मंगलके आशयसे (काव्य द्वारा) आचार्यदेव ज्ञानकी महिमा करते हैं कि सर्व वस्तुओंको जाननेवाला यह ज्ञान है, वह जीव--अजीवके सर्व स्वाँगोंको भलीभाँति पहिचानता हैं। ऐसा (सभी स्वाँगोंको जानने वाला) सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है,—इस अर्थरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञान है वह मनको आनन्दरूप करता हुआ प्रगट होता है। वह जीव-अजीव के स्वाँगको देखने वाले महापुरुषोंके, जीव-अजीवके भेदको देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टिके द्वारा भिन्नद्रव्यकी प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। अनादि संसारसे जिनका बंधन दृढ़ बँधा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके नाशसे विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है—जैसे फूलकी कली खिलती है, उसीप्रकार विकासरूप है। और उसका रमण करनेका क्रीड़ावन आत्मा ही है, अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञेयोंके आकार आकर झलकते हैं तथापि वह स्वयं अपने स्वरूप मे ही रमता है। उसका प्रकाश अनन्त है; और वह प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदयरूप है। तथा वह धीर है उदात्त (उच्च) है और इसीलिये अनाकुल है—सर्व इच्छाओंसे रहित निराकुल है। (यहां धीर, उदात्त, अनाकुल--यह तीन विशेषण शांतरूप नृत्यके आभूषण जानना।) ऐसा ज्ञान विलास करता है।

भावार्थः—यह ज्ञानकी महिमा कही। जीव अजीव एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं, उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे नृत्यमें कोई स्वाग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूपमें जान ले (पहिचान ले) तो वह स्वागकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूपको जैसाका तैसा ही कर लेता है, उसीप्रकार यहां भी समझना। ऐसा ज्ञान सम्यक्दृष्टि पुरुषोंको होता है, मिथ्यादृष्टि इस भेदको नहीं जानते।

अब, जीव-अजीवका एकरूप वर्णन करते हैं:—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवमज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयंति ॥ ३९ ॥
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवम् ।
मन्यंते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ॥४०॥
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छंति ।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥४१॥
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छंति ।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः ।
ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥४३॥

गाथा ३९-४०-४१-४२-४३

अन्वयार्थः—[**आत्मानं अजानन्तः**] आत्माको न जानते हुए [**परात्मवादिनः**] परको आत्मा कहनेवाले [**केचित् मूढाः तु**] कोई मूढ़, मोही,

---

को मूढ़ आत्म अजान जो, पर आत्मवादी जीव है ।
है कर्म अध्यवसान ही जीव, यों हि वो कथनी करे ॥३९॥
अरु कोई अध्यवसानमें, अनुभाग तीक्ष्ण मंद जो ।
उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य को नोकर्मको ॥४०॥
को अन्य माने आत्मा बस, कर्मके ही उदय को ।
को तीव्र मंद गुणों सहित, कर्मोंहिके अनुभागको ॥४१॥

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विक-मात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति। नैसर्गिकरागद्वेषकल्मा-

---

अज्ञानी तो [**अध्यवसानं**] अध्यवसानको [**तथा च**] और कोई [**कर्म**] कर्मको [**जीवं प्ररूपयंति**] जीव कहते है, [**अपरे**] अन्य कोई [**अध्यवसानेषु**] अध्यवसानोमें [**तीव्रमंदानुभागगं**] तीव्र-मंद अनुभागगतको [**जीवं मन्यंते**] जीव मानते हैं [**तथा**] और [**अपरे**] दूसरे कोई [**नोकर्म अपि च**] नोकर्मको [**जीवः इति**] जीव मानते है। [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणः उदयं**] कर्मके उदयको [**जीवं**] जीव मानते हैं, कोई [**यः**] 'जो [**तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां**] तीव्र, मंदतारूप गुणोंसे भेदको प्राप्त होता है [**सः**] वह [**जीवः भवति**] जीव है'— इसप्रकार [**कर्मानुभागं**] कर्मके अनुभागको [**इच्छंति**] जीव इच्छते हैं। (मानते हैं)। [**केचित्**] कोई [**जीवकर्मोभयं**] जीव और कर्म [**द्वे अपि खलु**] दोनों मिले हुओको ही [**जीवं इच्छंति**] जीव मानते हैं [**तु**] और [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणां संयोगेन**] कर्मके संयोगसे ही [**जीवं इच्छंति**] जीव मानते हैं। [**एवंविधाः**] इसप्रकारके तथा [**बहुविधाः**] अन्य भी अनेक प्रकारके [**दुर्मेधसः**] दुर्बुद्धि--मिथ्यादृष्टि जीव [**परं**] परको [**आत्मानं**] आत्मा [**वदंति**] कहते हैं। [**ते**] उन्हे [**निश्चयवादिभिः**] निश्चयवादियोने (सत्यार्थ वादियोने) [**परमार्थवादिनः**] परमार्थवादी (सत्यार्थवक्ता) [**न निर्दिष्टाः**] नहीं कहा है।

टीकाः—इस जगतमे आत्माका असाधारण लक्षण न जाननेके कारण नपुंसकता से, अत्यन्त विमूढ़ होते हुये, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्माको न जाननेवाले बहुतसे अज्ञानीजन अनेक प्रकारसे परको भी आत्मा कहते हैं, बकते हैं। कोई तो ऐसा कहते हैं कि

को कर्म आत्मा, उभय मिलकर जीवकी आशा धरें।
को कर्मके संयोगसे, अभिलाप आत्माकी करें॥४२॥
दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध, आतमा परको, कहै।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, ये हि निश्चयविद् कहै॥४३॥

पितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव कार्ष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्त्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। मज्जि-

---

स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेषके द्वारा मलिन जो अध्यवसान (मिथ्या अभिप्राययुक्त विभावपरिणाम) वह ही जीव है; क्योंकि जैसे कालेपनसे अन्य अलग कोई कोयला दिखाई नहीं देता उसीप्रकार अध्यवसानसे भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं देता।१। कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनंत जिसका भविष्य का अवयव है ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) जो क्रिया है, उस रूपसे क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्मसे भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता।२। कोई कहते हैं कि तीव्र मंद अनुभवसे भेदरूप होते हुए, दुरंत (जिसका अंत दूर है ऐसा) रागरूप रससे भरे हुवे अध्यवसानोंकी संतति (परिपाटी) ही जीव है, क्योंकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।३। कोई कहता है कि नई और पुरानी अवस्था इत्यादि भावसे प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योंकि इस शरीरसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।४। कोई यह कहते हैं कि समस्त लोकको पुण्यपापरूपसे व्याप्त करता हुआ कर्मका विपाक ही जीव है क्योंकि शुभाशुभ भावसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।५। कोई कहते हैं कि साता-असातारूपसे व्याप्त समस्त तीव्र मन्दत्व गुणोंसे भेदरूप होनेवाला कर्मका अनुभव ही जीव है, क्योंकि सुख-दुःखसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता।६। कोई कहते हैं कि श्रीखंडकी भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म, दोनों ही मिलकर जीव हैं, क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मोंसे भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता।७। कोई कहते हैं कि अर्थक्रियामें (प्रयोजनभूत क्रियामें) समर्थ ऐसा जो कर्मका संयोग वह ही जीव है, क्योंकि जैसे आठ लकड़ियोंके संयोगसे भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता इसीप्रकार कर्मोंके संयोगसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता। (आठ लकड़ियाँ मिलकर पलंग बना तब वह अर्थ क्रियामें समर्थ हुआ; इसीप्रकार यहाँ भी जानना।)।८।

तावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । एवमेवंप्रकारा इतरेपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशंति दुर्मेधसः किंतु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिनः इति निर्दिश्यंते ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

कुतः—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वच्चंति ॥४४॥

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ॥४४॥

इसप्रकार आठ प्रकार तो यह कहे और ऐसे ऐसे अन्य भी अनेक प्रकारके दुर्बुद्धि (विविध प्रकारसे) परको आत्मा कहते हैं, परन्तु परमार्थके ज्ञाता उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते ।

भावार्थः—जीव-अजीव दोनों अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह संयोगरूपसे मिले हुए हैं, और अनादिकालसे ही पुद्गलके संयोगसे जीवकी अनेक विकार सहित अवस्थाएँ हो रही हैं। परमार्थदृष्टिसे देखने पर जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावोंको नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदिको नहीं छोड़ता। परन्तु जो परमार्थको नहीं जानते वे संयोगसे हुवे भावोंको ही जीव कहते है, क्योंकि पुद्गलसे भिन्न परमार्थसे जीवका स्वरूप सर्वज्ञको दिखाई देता है तथा सर्वज्ञकी परम्पराके आगमसे जाना जा सकता है, इसलिये जिनके मतमें सर्वज्ञ नहीं हैं वे अपनी बुद्धिसे अनेक कल्पनाएं करके कहते हैं। उनमेंसे वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतोंके आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं; और अन्य भी अपनी २ बुद्धिसे अनेक कल्पनाएँ करके अनेक प्रकारसे कहते हैं, सो उन्हें कहाँ तक कहा जाये ? । ३९-४३ ।

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं सो कहते हैं:—

गाथा ४४

अन्वयार्थः—[एते] यह पूर्वकथित अध्यवसानआदि [सर्वे भावाः] भाव हैं वे सभी [पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः] पुद्गलद्रव्यके परिणामसे उत्पन्न

पुद्गलदरव परिणामसे, उपजे हुए सब भाव ये ।
सब केवली जिन भाषिया, किस रीत जीव कहो उन्हें ॥४४॥

यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः परमार्थवादिनः एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः। इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकायातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्व-

---

हुए हैं इसप्रकार [**केवलिजिनैः**] केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवने [**भणिताः**] कहा है, [**ते**] उन्हें [**जीवः इति**] जीव ऐसा [**कथं उच्यंते**] कैसे कहा जा सकता है?

टीकाः—यह समस्त अध्यवसानादि भाव विश्वके (समस्त पदार्थोंके) साक्षात् देखनेवाले भगवान वीतरागसर्वज्ञ, अरहंतदेवोंके द्वारा पुद्गलद्रव्यके परिणाममय कहे गये हैं, इसलिये वे चैतन्य स्वभावमय जीवद्रव्य होनेके लिये समर्थ नहीं हैं कि जो जीवद्रव्य चैतन्यभावसे शून्य—ऐसे पुद्गलद्रव्यसे अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिये जो इन अध्यवसानादिको जीव कहते हैं वे वास्तवमें परमार्थवादी नहीं है, क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभवसे उनका पक्ष बाधित है। उसमें, 'वे जीव नहीं हैं' यह सर्वज्ञका वचन है वह तो आगम है, और यह (निम्नोक्त) स्वानुभवगर्भित युक्ति है--स्वयमेव उत्पन्न हुए रागद्वेषके द्वारा मलिन अध्यवसान है वे जीव नहीं है, क्योंकि कालिमासे भिन्न सुवर्णकी भाँति अध्यवसान से भिन्न चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे चैतन्यभावको प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं॥ १॥ अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्यका अवयव है, ऐसी एक संसरणरूप क्रियाके रूपमें क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि कर्मसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते है॥ २॥ तीव्र-मंद अनुभवसे भेदरूप होनेपर, दुरंत रागरससे भरे हुये अध्यवसानोंकी संतति भी जीव नहीं है, क्योंकि उस संततिसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥ ३॥ नई--पुरानी अवस्थादिके भेदसे प्रवर्तमान

भावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामत्कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवो जीवः सुखदुःखादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कार्त्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति। इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुशास्यः।

नोकर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि शरीरसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥ समस्त जगतको पुण्य पापरूपसे व्याप्त करता कर्मविपाक भी जीव नहीं है, क्योंकि शुभाशुभभावसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥ साता-असातारूपसे व्याप्त समस्त तीव्रमन्दतारूप गुणोंके द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्मका अनुभव भी जीव नहीं है, क्योंकि सुख-दुःखसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।६। श्रीखंडकी भाँति उभयात्मकरूपसे मिले हुये आत्मा और कर्म—दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मोंसे भिन्न अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥ ७ ॥ अर्थ क्रियामें समर्थ, कर्मका संयोग भी जीव नहीं है; क्योंकि आठ-लकड़ियोंके संयोगसे (पलंगसे) भिन्न, पलंगपर सोनेवाले पुरुषकी भाँति कर्म संयोगसे भिन्न अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥८॥ (इसीप्रकार अन्य किसी दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो वहाँ भी यही युक्ति जानना।)

भावार्थ—चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावोंसे भिन्न, भेदज्ञानियोंके अनुभवगोचर है; इसलिये अज्ञानी जैसा मानते हैं वैसा नहीं है।

यहाँ, पुद्गलसे भिन्न आत्माकी उपलब्धिके प्रति विरोध करनेवाले (पुद्गलको ही आत्मा जाननेवाले) पुरुषको (उसकी हितरूप आत्मप्राप्तिकी बात कहकर) मिठासपूर्वक (समभावसे) ही इसप्रकार उपदेश करना, यह निम्नलिखित काव्यमें बतलाते हैं:—

❀ मालिनी ❀

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥३४॥४४॥

कथंचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना विंदंति।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥४५॥

अर्थः—हे भव्य ! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे क्या लाभ है ? तू इस कोलाहलसे विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वयं निश्चल लीन होकर देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे अपने हृदय सरोवरमें उस आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं कि जिसका तेज--प्रताप--प्रकाश पुद्गलसे भिन्न है ?

भावार्थः—यदि अपने स्वरूपका अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है; यदि पर वस्तु हो तो उसकी तो प्राप्ति नहीं होती। अपना स्वरूप तो विद्यमान है किन्तु उसे भूल रहा है; यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने निकट ही है। यहाँ छहमासके अभ्यासकी बात कही है, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि इतना ही समय लगेगा। उसकी प्राप्ति तो मुहूर्तमात्रमें ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्यको बहुत कठिन मालूम होता हो तो उसका निषेध किया है। यदि समझनेमें अधिककाल लगा तो छहमाससे अधिक नहीं लगेगा। इसलिये यहाँ यह उपदेश दिया है कि अन्य निष्प्रयोजन कोलाहलका त्याग करके इसमें लग जानेसे शीघ्र ही स्वरूपकी प्राप्ति हो जायेगी ॥ ४४ ॥

अब, शिष्य पूछता है कि—इन अध्यवसानादि भावोंको जीव नहीं कहा, अन्य चैतन्यस्वभावको जीव कहा, तो यह भाव भी कथंचित् चैतन्यके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते है, (वे चैतन्यके अतिरिक्त जड़के तो दिखाई नहीं देते) तथापि उन्हें पुद्गलका स्वभाव क्यों कहा ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ४५

अन्वयार्थः—[अष्टविधम् अपि च] आठों प्रकारका **[कर्म]** कर्म

रे कर्म अष्ट प्रकारका, जिन सर्व पुद्गलमय कहे।
परिपाकमें जिस कर्मका फल, दुःख नाम प्रसिद्ध है ॥ ४५ ॥

अध्यवसानादिभावनिर्वर्त्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्तिः। तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं, तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः। ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः ॥ ४५ ॥

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत्—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥ ४६ ॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥४६॥

[**सर्वं**] सब [**पुद्गलमयं**] पुद्गलमय है, ऐसा [**जिनाः**] जिनेन्द्र भगवान—सर्वज्ञदेव [**विंदंति**] कहते हैं–[**यस्य विपच्यमानस्य**] जिस पक्व होकर उदयमें आनेवाले कर्मका [**फलं**] फल [**तत्**] प्रसिद्ध [**दुःखं**] दुःख है [**इति उच्यते**] ऐसा कहा है।

टीका:—अध्यवसानादि समस्त भावोंको उत्पन्न करनेवावाला आठों प्रकारका ज्ञानावरणादि कर्म है वह सभी पुद्गलमय है। ऐसा सर्वज्ञका वचन है। विपाककी मर्यादाको प्राप्त उस कर्मके फलरूपसे जो कहा जाता है—वह (अर्थात् कर्मफल), अनाकुलता लक्षण-सुखनामक आत्मस्वभावसे विलक्षण है, इसलिये दुःख है। उस दुःखमे ही आकुलता लक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते है; इसलिये, यद्यपि वे चैतन्यके साथ सम्बन्ध होनेका भ्रम उत्पन्न करते हैं, तथापि वे आत्मस्वभाव नहीं है, किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं।

भावार्थ:—जब कर्मोदय आता है तब यह आत्मा दुःखरूप परिणमित होता है, और दुःखरूप भाव है वह अध्यवसान है, इसलिये दुःखरूप भावोंमें चेतनताका भ्रम उत्पन्न होता है। परमार्थसे दुःखरूपभाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है इसलिये जड़ ही है ॥ ४५ ॥

अब, प्रश्न होता है कि—यदि अध्यवसानादि भाव हैं वे पुद्गल स्वभाव हैं तो सर्वज्ञके आगममें उन्हें जीवरूप क्यों कहा गया है? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ४६

अन्वयार्थः—[**एते सर्वे**] यह सब [**अध्यवसानादयः भावाः**]

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेवके उपदेशमें।
ये सर्व अध्यवसान आदिक, भावको जँह जिव कहे ॥ ४६ ॥

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनं । व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः । तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ॥ ४६ ॥

अध्यवसानादि भाव [**जीवाः**] जीव हैं, इसप्रकार [**जिनवरैः**] जिनेन्द्रदेवने [**उपदेशः वर्णितः**] जो उपदेश दिया है सो [**व्यवहारस्य दर्शनं**] व्यवहारनय दिखाया है ।

टीका:—यह सब अध्यवसानादि भाव जीव है, ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेवने कहा है वह, यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि, व्यवहारनयको भी बताया है; क्योंकि जैसे म्लेच्छोंको म्लेच्छ भाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारीजीवोंको परमार्थका कहनेवाला है; इसलिये, अपरमार्थभूत होनेपर भी, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिये वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसंगत ही है। परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो, परमार्थसे (निश्चयनयसे) शरीरसे जीवको भिन्न बताया जानेपर भी, जैसे भस्मको मसल देनेसे हिंसाका अभाव है उसीप्रकार, त्रस स्थावर जीवोंको निःशंकतया मसल देने—कुचल देने (घात करने) में भी हिंसाका अभाव ठहरेगा, और इस कारण बंधका ही अभाव सिद्ध होगा; तथा परमार्थके द्वारा जीव रागद्वेष, मोहसे भिन्न बताया जानेपर भी, 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्मसे बँधता है, उसे छुड़ाना'—इसप्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायेगा और इससे मोक्षका ही अभाव होगा। (इसप्रकार यदि व्यवहारनय न बताया जाय तो बंध मोक्षका ही अभाव ठहरता है।)

भावार्थ—परमार्थनय तो जीवको शरीर तथा राग, द्वेष, मोहसे भिन्न कहता है। यदि इसीका एकांत ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा राग, द्वेष, मोह पुद्गलमय सिद्ध होंगे तो फिर पुद्गलका घात करनेसे हिंसा नहीं होगी तथा राग, द्वेष, मोहसे बंध नहीं होगा, इसप्रकार, परमार्थसे संसार मोक्ष--दोनोंका अभाव कहा है, एकान्तसे यह ही ठहरेगा किन्तु ऐसा एकांतरूप वस्तुका स्वरूप नहीं है; अवस्तुका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है। इसलिये व्यवहारनयका उपदेश न्याय-प्राप्त है। इसप्रकार स्याद्वादसे दोनों नयोंका विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है ॥ ४६ ॥

अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत्—

राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥ ४७ ॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम्।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

अब, शिष्य पूछता है कि यह व्यवहारनय किस दृष्टांतसे प्रवृत्त हुआ है? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ४७–४८

अन्वयार्थः—जैसे कोई राजा सेना सहित निकला वहाँ [**राजा खलु निर्गतः**] 'यह राजा निकला' [**इति एषः**] इसप्रकार जो यह [**बलसमुदयस्य**] सेनाके समुदायको [**आदेशः**] कहा जाता है सो वह [**व्यवहारेण तु उच्यते**] व्यवहारसे कहा जाता है, [**तत्र**] उस सेनामें (वास्तवमें) [**एकः निर्गतः राजा**] राजा तो एक ही निकला है, [**एवम् एव च**] इसीप्रकार [**अध्यवसानाद्यन्यभावानां**] अध्यवसानादि अन्य भावोंको [**जीवः इति**] '(यह) जीव है' इसप्रकार [**सूत्रे**] परमागममें कहा है, सो [**व्यवहारः कृतः**] व्यवहार किया है, [**तत्र निश्चितः**] यदि निश्चयसे विचार किया जाये तो उनमें [**जीवः एकः**] जीव तो एक ही है।

निर्गमन इस नृपका हुवा, निर्देश सैन्य समूहमें।
व्यवहारसे कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है ॥ ४७ ॥
त्यों सर्व अध्यवसान आदिक, अन्य भाव जु जीव है।
शास्त्रन किया व्यवहार, पर वहाँ जीव निश्चय एक है ॥ ४८ ॥

यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः। परमार्थतस्त्वेक एव राजा। तथैष जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः। परमार्थतस्त्वेक एव जीवः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

यद्येवं तर्हि किं लक्षणोसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥४९॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीहि अलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥४९॥

टीका:—जैसे यह कहना कि यह राजा पाँच योजनके विस्तारसे निकल रहा है सो यह व्यवहारीजनोंका सेना समुदायमें राजा कह देनेका व्यवहार है, क्योंकि एक राजाका पाँच योजनमें फैलना अशक्य है। परमार्थसे तो राजा एक ही है, (सेना राजा नहीं है); उसीप्रकार यह जीव समग्र (समस्त) रागग्राममें (रागके स्थानोंमें) व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है, ऐसा कहना वह व्यवहारीजनोंका अध्यवसानादिक भावोंमें जीव कहनेका व्यवहार है, क्योंकि एक जीवका समग्र रागग्राममें व्याप्त होना अशक्य है। परमार्थसे तो जीव एक ही है, (अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं है।) ॥ ४७-४८ ॥

अब शिष्य पूछता है कि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं है तो एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है? उसका लक्षण क्या है? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ४९

अन्वयार्थः—हे भव्य! तू [**जीवं**] जीवको [**अरसं**] रस रहित, [**अरूपं**] रूप रहित, [**अगन्धं**] गन्ध रहित, [**अव्यक्तं**] अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं, ऐसा [**चेतनागुणं**] चेतना जिसका गुण है ऐसा, [**अशब्दं**] शब्द रहित, [**अलिंगग्रहणं**] किसी चिह्नसे ग्रहण न होनेवाला, और [**अनिर्दिष्टसंस्थानं**] जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता, ऐसा [**जानीहि**] जान।

जीव चेतना गुण, शब्द रस रूप गंध व्यक्ति विहीन है।
निर्दिष्ट नहि संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंग से ॥ ४९ ॥

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येंद्रियावष्टंभेनारसनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनारसनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात्, द्रव्येंद्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनारूपणात्सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येंद्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनागंधनात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगंधवेदनापरिणामापन्नत्वेनागंधनात् सकलज्ञेय ज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गंधपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चा-

---

टीका:—जीव निश्चयसे पुद्गलद्रव्यसे भिन्न है इसलिये उसमे रसगुण विद्यमान नहीं है, अतः वह अरस है। १। पुद्गलद्रव्यके गुणोसे भी भिन्न होनेसे स्वयं भी रसगुण नहीं है, इसलिये अरस है। २। परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामित्व भी उसके नहीं है इसलिये वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बनसे भी रस नहीं चखता, अतः अरस है। ३। अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो उसके क्षायोपशमिकभावका भी अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलम्बनसे भी रस नहीं चखता इसलिये अरस है। ४। समस्त विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक रसवेदनापरिणामको पाकर रस नहीं चखता, इसलिये अरस है। ५। (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परंतु) सकल ज्ञेय ज्ञायकके तादात्म्यका (एकरूप होनेका) निषेध होनेसे रसके ज्ञानरूपमें परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता इसलिये अरस है। ६। इसप्रकार छह तरहके रसके निषेधसे वह अरस है।

('अरस' की भाँति अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, और अशब्द इन चारों विशेषणोंको छह-छह हेतु पूर्वक संस्कृत टीकामें आचार्यने समझाया है; उसे 'अरस'की भाँति ही जान लेना।)

गंधः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येंद्रियावष्टंभेनास्पर्शनात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात् भावेंद्रियावलंबनास्पर्शनात्सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात् स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात् पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येंद्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेन शब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः। द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात् नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानंतशरीरवर्तित्वा-

---

(अब 'अनिर्दिष्टसंस्थान' विशेषणको समझाते है):—पुद्गलद्रव्यरचित शरीरके संस्थान (आकार) से जीवको संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता, इसलिये जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है।१। अपने नियत स्वभावसे अनियत संस्थानवाले अनंत शरीरोंमें रहता है, इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है।२। संस्थान नामकर्मका विपाक (फल) पुद्गलोंमें ही कहा जाता है (इसलिये उसके निमित्तसे भी आकार नहीं है) इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है।३। भिन्न २ संस्थानरूपसे परिणमित समस्त वस्तुओंके स्वरूपके साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति सम्बन्धित (तदाकार) है, ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोकके मिलापसे (सन्बन्धसे) रहित निर्मल (ज्ञानमात्र) अनुभूति हो रही है, ऐसा होनेसे स्वयं अत्यन्तरूपसे संस्थान रहित है, इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है।४। इसप्रकार चार हेतुओं से संस्थानका निषेध कहा।

(अब 'अव्यक्त' विशेषणको सिद्ध करते हैं:—) छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है उससे जीव अन्य है, इसलिये अव्यक्त है।१। कषायोंका समूह जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिये अव्यक्त है।२। चित्सामान्यमें चैतन्यकी समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अंतर्मग्न) हैं, इसलिये अव्यक्त है।३। क्षणिक व्यक्ति मात्र नहीं है, इसलिये अव्यक्त है।४। व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूपसे प्रतिभासित होनेपर भी वह केवल व्यक्तताको ही स्पर्श नहीं करता, इसलिये अव्यक्त है।५। स्वयं अपनेसे ही

न्संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात् प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणत-समस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजाय-माननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः । षट्द्रव्यात्मकलोकाद् ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वाच्चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात् क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात् व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेपि व्यक्तास्पर्शत्वात् स्वयमेव हि बहिरंतःस्फुटमनुभूयमानत्वेपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः। रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः। समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवलीकृत्यात्यंतसौहित्यमंथरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांतःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च स खलु भगवानमलालोक इहैकटंकोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः।

बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभवमे आ रहा है तथापि व्यक्तताके प्रति उदासीनरूपसे प्रकाशमान है, इसलिये अव्यक्त है। ६। इसप्रकार छह हेतुओंसे अव्यक्तता सिद्ध की है।

इसप्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तताका अभाव होनेपर भी स्वसंवेदनके बलसे स्वयं सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगोचर मात्रताके अभावके कारण (जीवको) अलिंगग्रहण कहा जाता है।

अपने अनुभवमें आनेवाले चेतनागुणके द्वारा सदा अंतरंगमे प्रकाशमान है इसलिये (जीव) चेतनागुणवाला है। वह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियोंको (जीवको अन्य-प्रकारसे माननेरूप झगड़ोंको) नाश करनेवाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवोंको सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोकको ग्रासीभूत करके मानों अत्यन्त तृप्तिसे उपशान्त हो गया हो इसप्रकार (अर्थात् अत्यंत स्वरूपसौख्यसे तृप्त होनेके कारण स्वरूपमेंसे बाहर निकलने का अनुद्यमी हो इसप्रकार) सर्वकालमें किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह सदा लेश मात्र भी नहीं चलित अन्य द्रव्यसे असाधारणता होनेसे जो (असाधारण) स्वभावभूत है।

ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है। जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह भगवान इस लोकमें एक, टंकोत्कीर्ण, भिन्न, ज्योतिरूप विराजमान है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्माके अनुभवकी प्रेरणा करते हैं:—

❀ मालिनी ❀

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरंतं चारुविश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥ ३५ ॥

❀ अनुष्टुप् ❀

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥ ३६ ॥

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२ ॥

अर्थः—चित्शक्तिसे रहित अन्य समस्त भावोंको मूलसे छोड़कर और प्रगटरूपसे अपने चित्शक्तिमात्र भावका अवगाहन करके, समस्त पदार्थ समूहरूप लोकके ऊपर प्रवर्तमान एकमात्र अविनाशी आत्माका भव्यात्मा आत्मामें ही अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो ।

भावार्थः—यह आत्मा परमार्थसे समस्त अन्य भावोंसे रहित चैतन्यशक्ति मात्र है; उसके अनुभवका अभ्यास करो ऐसा उपदेश है ।

अब, चित्शक्तिसे अन्य जो भाव हैं वे सब पुद्गलद्रव्य संबंधी हैं ऐसी आगेकी गाथाओंकी सूचनारूपसे श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—चैतन्य शक्तिसे व्याप्त जिसका सर्वस्व--सार है ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है; इस चित् शक्तिसे शून्य जो ये भाव हैं वे सभी पुद्गलजन्य है—पुद्गलके ही हैं । ४६ ।

नहिं वर्ण जीवके गंध नहिं, नहिं स्पर्श रस जीवके नहीं ।
नहिं रूप अर संहनन नहिं, संस्थान नहिं तन भी नहीं ॥५०॥
नहिं राग जीवके, द्वेष नहिं, अरु मोह जीवके है नहीं ।
प्रत्यय नहीं नहिं कर्म, अरु नोकर्म भी जीवके नहीं ॥५१॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई॥ ५३॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा॥ ५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥ ५५॥

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननम्॥ ५०॥
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति॥ ५१॥
जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्द्धकानि कानिचित्।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि॥ ५२॥
जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित्॥ ५३॥
नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा॥ ५४॥
नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः॥ ५५॥

ऐसे इन भावोंका व्याख्यान छह गाथाओंमें करते हैं:—

गाथा ५०-५१-५२-५३-५४-५५

अन्वयार्थः—[**जीवस्य**] जीवके [**वर्णः**] वर्ण [**नास्ति**] नहीं,

---

नहीं वर्ग जीवके, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक है नहीं।
अध्यात्मस्थान न जीवके, अनुभाग स्थान भी हैं नहीं॥५२॥
जीवके नहीं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी है नहीं।
नहिं उदयस्थान ही जीवके, अरु स्थान मार्गणाके नहीं॥५३॥
स्थितिबंध स्थान न जीवके संक्लेश स्थान भी हैं नहीं।
जीवके विशुद्धि स्थान, संयमलब्धि स्थान भी हैं नहीं॥५४॥
नहिं जीवस्थान भी जीवके, गुणस्थान भी जीवके नहीं।
ये सब ही पुद्गल द्रव्यके, परिणाम हैं जानो यही॥५५॥

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वा वर्णः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः सुरभिर्दुरभिर्वा गंधः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे

[**नापि गंधः**] गंध भी नही, [**रसः अपि न**] रस भी नही, [**च**] और [**स्पर्शः अपि न**] स्पर्श भी नही, [**रूपं अपि न**] रूप भी नही, [**न शरीरं**] शरीर भी नहीं, [**संस्थानं अपि न**] संस्थान भी नहीं, [**संहननं न**] संहनन भी नहीं; [**जीवस्य**] जीवके [**रागः नास्ति**] राग भी नही, [**द्वेषः अपि न**] द्वेष भी नहीं, [**मोहः**] मोह भी [**नैव विद्यते**] विद्यमान नही, [**प्रत्ययाः नो**] प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं, [**कर्म न**] कर्म भी नहीं, [**च**] और [**नोकर्म अपि**] नोकर्म भी [**तस्य नास्ति**] उसके नही है; [**जीवस्य**] जीवके [**वर्गः नास्ति**] वर्ग नहीं, [**वर्गणा न**] वर्गणा नहीं, [**कानिचित् स्पर्द्धकानि नैव**] कोई स्पर्द्धक भी नहीं, [**अध्यात्मस्थानानि नो**] अध्यात्मस्थान भी नही, [**च**] और [**अनुभागस्थानानि**] अनुभागस्थान भी [**नैव**] नही है; [**जीवस्य**] जीवके [**कानिचित् योगस्थानानि**] कोई योगस्थान भी [**न संति**] नहीं, [**वा**] अथवा [**बंधस्थानानि न**] बंधस्थान भी नही, [**च**] और [**उदयस्थानानि**] उदयस्थान भी [**नैव**] नहीं, [**कानिचित् मार्गणास्थानानि न**] कोई मार्गणास्थान भी नही हैं, [**जीवस्य**] जीवके [**स्थितिबंधस्थानानि नो**] स्थितिबंधस्थान भी नही, [**वा**] अथवा [**संक्लेशस्थानानि न**] संकलेशस्थान भी नही [**विशुद्धिस्थानानि**] विशुद्धिस्थान भी [**नैव**] नहीं, [**वा**] अथवा [**संयमलब्धिस्थानानि**] संयमलब्धिस्थान भी [**नो**] नही हैं; [**च**] और [**जीवस्य**] जीवके [**जीवस्थानानि**] जीवस्थान भी [**नैव**] नही, [**वा**] अथवा [**गुणस्थानानि**] गुणस्थान भी [**न संति**] नही है; [**येन तु**] क्योकि [**एते सर्वे**] यह सब [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गल द्रव्यके [**परिणामाः**] परिणाम है।

टीका:—जो काला, हरा, पीला, लाल, और सफेद वर्ण है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वो पुद्गलद्रव्यका परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। १।

सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरंतत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्द्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। योऽप्रीतिरूपो द्वेषः

जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यका परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है। २। जो कडुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा, और मीठा रस है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि०······। ३। जो चिकना, रूखा, ठंडा, गर्म, भारी, हलका, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि०······। ४। जो स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्र रूप है, वह जीवका नहीं है, क्योंकि० ····। ५। जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस अथवा कार्मण शरीर है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि० ·····। ६। जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुंडक संस्थान है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि० ·····। ७। जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि० ···। ८। जो प्रीतिरूप राग है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि यह पुद्गल परिणाममय है इसलिये अपनी अनुभूतिसे भिन्न है। ९। जो अप्रीतिरूप द्वेष है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि० ·। १०। जो यथार्थ तत्वकी अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि०······। ११। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग जिसके लक्षण हैं ऐसे जो प्रत्यय (आस्रव) वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि०। १२। जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतरायरूप कर्म है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि० ····। १३। जो छहपर्याप्ति योग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु (पुद्गलस्कंध) रूप नोकर्म है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि०·····। १४। जो कर्मके रसकी शक्तियोंका (अविभाग प्रतिच्छेदोंका) समूहरूप वर्ग है वो सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि०······। १५। जो वर्गोंका समूहरूप वर्गणा है वो सर्व ही जीवकी नहीं है क्योंकि०·· ···। १६। जो मंदतीव्ररसवाले कर्मसमूहके विशिष्ट न्यास (जमाव) रूप

स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्द्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीव-

---

(वर्गणाके समूहरूप) स्पर्धक हैं, वो सर्व ही आत्माका नहीं है; क्योंकि० · · । १७ । स्व–परके एकत्वका अध्यास (निश्चय) हो तब (वर्तने पर) विशुद्ध चैतन्यपरिणामसे भिन्नरूप जिनका लक्षण है, ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं वे सर्व ही जीवके नहीं है क्योंकि० ····· । १८ । भिन्न २ प्रकृतियोंके रसके परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे जो अनुभागस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं है, क्योंकि० ·· · । १९ । काय, वचन, और मनोवर्गणाका कंपन जिनका लक्षण है ऐसे जो योगस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि० ··· । २० । भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे जो बंधस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि० ···· । २१ । अपने फलके उत्पन्न करनेमें समर्थ कर्म–अवस्था जिनका लक्षण है, ऐसे जो उदयस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि० ·····। २२ । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है, ऐसे जो मार्गणास्थान वे सर्व ही जीवके नहीं है, क्योंकि० । २३ । भिन्न २ प्रकृतियोंका

स्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसांपरायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशांतकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्था-

---

कालान्तरमें साथ रहना जिनका लक्षण है, ऐसे जो स्थितिबंधस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि० ।२४। कषायोंके विपाककी अतिशयता जिनका लक्षण है, ऐसे जो संक्लेशस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि० ।२५। कषायोंके विपाककी मन्दता जिनका लक्षण है, ऐसे जो विशुद्धिस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि ।२६। चारित्र मोहके विपाककी क्रमशः निवृत्ति जिनका लक्षण है, ऐसे जो संयमलब्धिस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि० ।२७। पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, पन्चेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जो जीवस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि० ।२८। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण—उपशमक तथा क्षपक, अनिवृत्तिकरण-उपशमक तथा क्षपक, सूक्ष्म सांपराय-उपशमक तथा क्षपक, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है, ऐसे जो गुणस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गल—द्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे

नानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ।

❀ मालिनी ❀

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥ ३७ ॥ ५०–५५ ॥

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तत्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत्—

भिन्न हैं । २९ । (इसप्रकार ये समस्त ही पुद्गलद्रव्यके परिणाममयभाव हैं; वे सब, जीवके नहीं हैं । जीव तो परमार्थसे चैतन्यशक्तिमात्र है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो वर्णादिक अथवा रागमोहादिक भाव कहे, वे सब ही इस पुरुष (आत्मा) से भिन्न हैं, इसलिये अन्तर्दृष्टिसे देखनेवालेको यह सब दिखाई नहीं देते, मात्र एक सर्वोपरि तत्व ही दिखाई देता है,—केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है।

भावार्थः—परमार्थनय अभेद ही है, इसलिये इस दृष्टिसे देखने पर भेद नहीं दिखाई देता; इस नयकी दृष्टिमें पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है, इसलिये वे समस्त ही वर्णादिक तथा रागादिकभाव पुरुषसे भिन्न ही हैं ।

ये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भाव हैं, उनका स्वरूप विशेषरूपसे जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे जान लेना । ५०–५५ ।

अब शिष्य पूछता है कि—यदि यह वर्णादिक भाव जीवके नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थोंमें ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीवके हैं'? उसका उत्तर गाथारूपमें कहते हैं:—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६ ॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः ।
गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥ ५६ ॥

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंधपर्यायस्य कुसुंभरक्तस्य कार्पासिकवाससइवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति । निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति । ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानांता भावा जीवस्य संति निश्चयेन तु न संतीति युक्ता प्रज्ञप्तिः ॥ ५६ ॥

गाथा ५६

अन्वयार्थः—[एते] यह [वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः] वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव कहे गये वे [व्यवहारेण तु] व्यवहारनयसे तो [जीवस्य भवंति] जीवके हैं (इसलिये सूत्रमें कहे गये हैं), [तु] किन्तु [निश्चयनयस्य] निश्चयनयके मतमें [केचित् न] उनमें से कोई भी जीवके नहीं हैं ।

टीका:—यहाँ, व्यवहारनय पर्यायाश्रित होनेसे सफेद रुईसे बना हुआ वस्त्र जो कि कुसुम्बी (लाल) रंगसे रँगा हुवा है ऐसे वस्त्रके औपाधिकभाव-(लालरंग) की भाँति, पुद्गलके संयोगवश अनादिकालसे जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीवके औपाधिकभाव (वर्णादिक) का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, (वह व्यवहारनय) दूसरेके भावको दूसरेका कहता है; और निश्चयनय द्रव्याश्रित होनेसे, केवल एक जीवके स्वाभाविकभावका अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरेके भावको किंचित्मात्र भी दूसरेका नहीं कहता, निषेध करता है । इसलिये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भाव हैं वे व्यवहारनयसे जीवके हैं और निश्चयनयसे जीवके नहीं हैं, ऐसा (भगवान का स्याद्वादयुक्त) कथन योग्य है । ५६ ।

वर्णादि गुणस्थानांत भाव जु, जीवके व्यवहारसे ।
पर कोई भी ये भाव नहिं हैं, जीवके निश्चयविषैं ॥ ५६ ॥

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत्—

एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥ ५७ ॥

एतैश्च संबंधो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः ।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥ ५७ ॥

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावान्न निश्चयेन सलिलमस्ति । तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योधिकत्वेन प्रतीयमान-

---

अब, फिर शिष्य पूछता है कि वर्णादिक निश्चयसे जीवके क्यों नहीं हैं ? इसका कारण कहिये । इसका उत्तर गाथारूपसे कहते हैं:—

गाथा ५७

अन्वयार्थः—[**एतैः च संबंधः**] इन वर्णादिक भावोंके साथ जीवका संबंध [**क्षीरोदकं यथैव**] दूध और पानीका एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग सम्बन्ध है, ऐसा [**ज्ञातव्यः**] जानना [**च**] और [**तानि**] वे [**तस्य तु न भवंति**] उस जीवके नहीं हैं [**यस्मात्**] क्योंकि जीव [**उपयोगगुणाधिकः**] उनसे उपयोगगुणसे अधिक है (वह उपयोग गुणके द्वारा भिन्न ज्ञात होता है ।)

टीका:—जैसे-जलमिश्रित दूधका, जलके साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होनेपर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्व–गुणके द्वारा व्याप्त होनेसे दूध जलसे अधिकपनेसे प्रतीत होता है; इसलिये, जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है वैसा जलके साथ दूधका संबंध न होनेसे, निश्चयसे जल दूधका नहीं है; इसीप्रकार वर्णादिक पुद्गलद्रव्यके परिणामोंके साथ मिश्रित इस आत्माका, पुद्गलद्रव्यके साथ परस्पर अवगाहस्वरूप संबंध होनेपर भी, स्वलक्षणभूत उपयोगगुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सर्व द्रव्योंसे अधिकपनेसे (परिपूर्णपनेसे) प्रतीत होता है; इसलिये, जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है वैसा वर्णा-

---

इन भावसे संबंध जीवका, क्षीर जलवत् जानना ।
उपयोग गुणसे अधिक, तिससे भाव कोइ न जीवका ॥ ५७ ॥

त्वात् अग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः संति ॥ ५७ ॥

कथं तर्हि व्यवहारो विरोधक इति चेत्—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥ ५८ ॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥ ५९ ॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥ ६० ॥

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः ।
मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥ ५८ ॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम् ।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारत उक्तः ॥ ५९ ॥
एवं गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयो ये च ।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति ॥ ६० ॥

दिके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसलिये निश्चयसे वर्णादिक पुद्गल परिणाम आत्माके नहीं हैं ॥ ५७ ॥

अब, यहाँ प्रश्न होता है कि इसप्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनयका विरोध आता है; अविरोध कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर दृष्टांत द्वारा तीन गाथाओंमें कहते हैं:—

गाथा ५८-५९-६०

अन्वयार्थः—[**पथि मुष्यमाणं**] जैसे मार्गमे जाते हुए व्यक्तिको लुटता

देखा लुटाते पंथमें को, पंथ ये लुटात है ।
जनगण कहे व्यवहारसे, नहिं पंथ को लुटात है ॥ ५८ ॥
त्यों वर्ण देखा जीवमें, इन कर्म अरु नोकर्मका ।
जिनवर कहे व्यवहारसे, यह वर्ण है इस जीवका ॥ ५९ ॥
त्यों गंध रस रूप स्पर्श तन, संस्थान इत्यादिक सर्वे ।
भूतार्थद्रष्टा पुरुषने, व्यवहारनयसे वर्णये ॥ ६० ॥

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत। तथा जीवे बंधपर्यायेणावस्थितकर्मणो नोकर्मणो वा वर्ण-मुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि न

हुआ [**दृष्ट्वा**] देखकर '[**एषः पंथा**] यह मार्ग [**मुष्यते**] लुटता है," इस प्रकार [**व्यवहारिणः लोकाः**] व्यवहारीजन [**भणंति**] कहते हैं; किन्तु परमार्थसे विचार किया जाये तो [**कश्चित् पंथा**] कोई मार्ग तो [**न च मुष्यते**] नही लुटता, मार्गमें जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है, [**तथा**] इसीप्रकार [**जीवे**] जीवमें [**कर्मणां नोकर्मणां च**] कर्मोंका और नोकर्मोंका [**वर्ण**] वर्ण [**दृष्ट्वा**] देखकर "[**जीवस्य**] जीवका [**एषः वर्णः**] यह वर्ण है", इसप्रकार [**जिनैः**] जिनेन्द्र-देवने [**व्यवहारतः**] व्यवहारसे [**उक्तः**] कहा है। [**एवं**] इसीप्रकार [**गंध-रसस्पर्शरूपाणि**] गध, रस, स्पर्श, रूप [**देहः संस्थानादयः**] देह संस्थान आदि [**ए च सर्वे**] जो सब हैं, [**व्यवहारस्य**] वे सब व्यवहारसे [**निश्चय दृष्टारः**] निश्चयके देखनेवाले [**व्यपदिशंति**] कहते हैं।

टीका:—जैसे व्यवहारीजन, मार्गमे जाते हुए किसी सार्थ (संघ) को लुटता हुआ देखकर, संघकी मार्गमे स्थिति होनेसे उसका उपचार करके, 'यह मार्ग लुटता है' ऐसा कहते है, तथापि निश्चयसे देखा जाये तो जो आकाशके अमुक भागस्वरूप है वह मार्ग तो कुछ नही लुटता; इसीप्रकार भगवान अरहंतदेव, जीवमें बंधपर्यायसे स्थितिको प्राप्त कर्म और नोकर्मका वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्मकी जीवमे स्थिति होनेसे उसका उपचार करके, 'जीवका यह वर्ण है' ऐसा व्यवहारसे प्रगट करते है, तथापि निश्चयसे, सदा ही जिसका अमूर्तस्वभाव है और जो उपयोग गुणके द्वारा अन्य द्रव्योंसे अधिक है ऐसे जीवका कोई भी वर्ण नहीं है। इसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान—यह सब ही (भाव) व्यवहारसे अरहंतभगवान जीवके कहते है, तथापि निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्तस्वभाव है और जो उपयोगगुणके द्वारा अन्यसे अधिक है ऐसे

निश्चयतो नित्यमेवामूर्त्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोस्ति। एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्द्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्त्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न संति तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधो नास्तीति चेत्—

जीवके वे सब नहीं हैं, क्योंकि इन वर्णादिक भावोंके और जीवके तादात्म्य लक्षण संबंधका अभाव है।

भावार्थः—ये वर्णादिसे लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव सिद्धांतमें जीवके कहे हैं वे व्यवहारनयसे कहे हैं; निश्चयनयसे वे जीवके नहीं हैं क्योंकि जीव तो परमार्थसे उपयोगस्वरूप है।

यहाँ ऐसा जानना कि—पहले व्यवहारनयको असत्यार्थ कहा था सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना, क्योंकि-जब एक द्रव्यको भिन्न; पर्यायोंसे अभेदरूप, उसके असाधारण गुणमात्रको प्रधान करके कहा जाता है तब परस्पर द्रव्योंका निमित्त—नैमित्तिक भाव तथा निमित्तसे होनेवाली पर्यायें-वे सब गौण हो जाते हैं, वे एक अभेद द्रव्यकी दृष्टिमें प्रतिभासित नहीं होते, इसलिये वे सब उस द्रव्यमें नहीं हैं, इसप्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि उन भावोंको उस द्रव्यमें कहा जाये तो वह व्यवहारनयसे कहा जा सकता है। ऐसा नयविभाग है।

यहाँ शुद्धनयकी दृष्टिसे कथन है, इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि जो यह समस्त-भाव सिद्धांतमें जीवके कहे गये हैं सो व्यवहारसे कहे गये हैं। यदि निमित्त-नैमित्तिकभावकी दृष्टिमें देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहारका लोप हो जायेगा, और ऐसा होनेसे परमार्थका भी लोप हो जायेगा। इसलिये जिनेन्द्रदेवका उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यक्ज्ञान है, और सर्वथा एकांत वह मिथ्यात्व है ॥ ५८-६० ॥

अब, यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई॥ ६१॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः।
संसारप्रमुक्तानां न संति खलु वर्णादयः केचित्॥ ६१॥

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधः स्यात्। ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधः स्यात्। संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णा-

---

गाथा ६१

अन्वयार्थः—[**वर्णादयः**] जो वर्णादिक हैं वे [**संसारस्थानां**] संसारमें स्थित [**जीवानां**] जीवोंके [**तत्र भवे**] उस संसारमें [**भवन्ति**] होते हैं, [**संसार प्रमुक्तानां**] और संसारसे मुक्त हुए जीवोंके [**खलु**] निश्चयसे [**वर्णादयः केचित्**] वर्णादिक कोई भी (भाव) [**न संति**] नहीं हैं, (इसलिये तादात्म्य संबंध नहीं है।)

टीका:—जो निश्चयसे समस्त ही अवस्थाओंमें यद्-आत्मकपनेसे अर्थात् जिस स्वरूपपनेसे व्याप्त हो और तद्-आत्मकपनेकी अर्थात् उस स्वरूपपनेकी व्याप्तिसे रहित न हो उसका उनके साथ तादात्म्यलक्षण संबंध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओंमें जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्थामें उस भावस्वरूपताको न छोड़े उस वस्तुका उन भावोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है।) इसलिये सभी अवस्थाओंमें जो वर्णादिस्वरूपतासे व्याप्त होता है, और वर्णादिस्वरूपताकी व्याप्तिसे रहित नहीं होता, ऐसे पुद्गलका वर्णादि भावोंके साथ तादात्म्यलक्षण संबंध है; और यद्यपि संसार अवस्थामें कंथचित् वर्णादिस्वरूपतासे व्याप्त होता है, तथा वर्णादिस्वरूपताकी व्याप्तिसे रहित नहीं होता तथापि मोक्ष अवस्थामें जो सर्वथा वर्णादिस्वरूपताकी व्याप्तिसे रहित होता है और वर्णादिस्वरूपतासे व्याप्त नहीं होता ऐसे जीवका वर्णादिभावोंके साथ किसी भी प्रकारसे तादात्म्यलक्षण संबंध नहीं है।

संसारी जीवके वर्ण आदिक, भाव हैं संसार में।
संसारसे परिमुक्तके नहिं, भाव को वर्णादिके॥ ६१॥

द्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधो न कथंचनापि स्यात् ॥ ६१ ॥

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम्—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥ ६२ ॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित् ॥ ६२ ॥

यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्ति-

---

भावार्थः—(द्रव्यकी) सर्व अवस्थाओं विषैं द्रव्यमे जो भाव व्याप्त होते हैं उन भावोंके साथ द्रव्यका तादात्म्य संबंध कहलाता है। (पुद्गलकी) सर्व अवस्थाओं विषै पुद्गलमें वर्णादिभाव व्याप्त है इसलिये वर्णादि भावोंके साथ पुद्गलका तादात्म्य संबंध है। संसारावस्था विषैं, जीवमे वर्णादिभाव किसी प्रकारसे कहे जा सकते हैं किन्तु मोक्ष अवस्था विषैं जीवमे वर्णादिभाव सर्वथा नहीं हैं, इसलिये जीवका वर्णादिभावोंके साथ तादात्म्य संबंध नहीं है, यह बात न्यायप्राप्त है। ६१।

अब, यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय व्यक्त करे कि जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है, तो उसमें यह दोष आता है ऐसा इस गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ६२

अन्वयार्थः—वर्णादिकके साथ जीवका तादात्म्य माननेवालेको कहते है कि, हे मिथ्या अभिप्रायवाले ! [**यदि हि च**] यदि तुम [**इति मन्यसे**] ऐसे मानोगे कि [**एते सर्वे भावाः**] यह वर्णादिक सर्वभाव [**जीवः एव हि**] जीव ही है [**तु ते**] तो तुम्हारे मतमें [**जीवस्य च अजीवस्य**] जीव और अजीवका [**कश्चित्**] कोई [**विशेषः**] भेद [**नास्ति**] नहीं रहता ।

टीकाः—जैसे वर्णादिकभाव, क्रमशः आविर्भाव (प्रगट होना) और तिरोभाव (छिप जाना) को प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियोंके द्वारा (अर्थात् पर्यायोंके द्वारा)

ये भाव सब हैं जीव जो, ऐसा हि तू माने कभी ।
तो जीव और अजीवमें कुछ, भेद तुझ रहता नहीं ॥ ६२ ॥

भिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंतः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति । तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भावितविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति यस्याभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ॥ ६२ ॥

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेप्ययमेव दोषः—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥ ६३ ॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥ ६४ ॥

पुद्गल द्रव्यके साथ ही साथ रहते हुये, पुद्गलका वर्णादिके साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते है, इसीप्रकार वर्णादिकभाव, क्रमशः आविर्भाव और तिरोभावको प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियोंके द्वारा जीवके साथ ही साथ रहते हुये जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं,–ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मतमे, अन्य शेषद्रव्योंसे असाधारण ऐसी वर्णादिस्वरूपता--कि जो पुद्गलद्रव्यका लक्षण है—उसका जीवके द्वारा अंगीकार किया जाता है इसलिये, जीव--पुद्गलके अविशेषका प्रसंग आता है, और ऐसा होनेसे, पुद्गलोंसे भिन्न ऐसा कोई जीव द्रव्य न रहनेसे जीवका अवश्य अभाव होता है ।

भावार्थः—जैसे वर्णादिकभाव पुद्गल द्रव्यके साथ तादात्म्यस्वरूप हैं, उसीप्रकार जीवके साथ भी तादात्म्यस्वरूप हों तो जीव--पुद्गलमे कोई भी भेद न रहे और ऐसा होनेसे जीवका ही अभाव हो जाये यह महादोष आता है । ६२ ।

अब, 'मात्र संसार अवस्थामे ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है' इस अभिप्राय में भी यही दोष आता है सो कहते हैं:—

वर्णादि हैं संसारी जीवके, योंहि मत तुझ होय जो ।
संसारस्थित सब जीवगण पाये तदा रूपित्वको ॥ ६३ ॥
इस रीत पुद्गल वो हि जीव, हे मूढमति सम चिह्नसे ।
अरु मोक्ष प्राप्त हुआ भि पुद्गल, द्रव्य जीव बने अरे ॥ ६४ ॥

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः ।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥ ६३ ॥
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते ।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥ ६४ ॥

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति । रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद् द्रव्यस्य लक्षणमस्ति । ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति ।

गाथा ६३-६४

अन्वयार्थः—[**अथ**] अथवा यदि [**तव**] तुम्हारा मत यह हो कि—[**संसारस्थानां जीवानां**] संसारमे स्थित जीवोंके ही [**वर्णादयः**] वर्णादिक (तादात्म्यस्वरूपसे) [**भवंति**] हैं [**तस्मात्**] तो इस कारणसे [**संसारस्थाः जीवाः**] संसारमे स्थित जीव [**रूपित्वं आपन्नाः**] रूपित्वको प्राप्त हुये, [**एवं**] ऐसा होनेसे [**तथालक्षणेन**] वैसा लक्षण (अर्थात् रूपित्वलक्षण) तो पुद्गल द्रव्यका होनेसे [**मूढमते**] हे मूढबुद्धि ! [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गल द्रव्य ही [**जीवः**] जीव कहलाया [**च**] और (मात्र संसार अवस्थामें ही नहीं किंतु) [**निर्वाणं उपगतः अपि**] निर्वाण प्राप्त होनेपर भी [**पुद्गलः**] पुद्गल ही [**जीवत्वं**] जीवत्वको [**प्राप्तः**] प्राप्त हुआ ।

टीका:—फिर, जिसका यह अभिप्राय है कि—संसार अवस्थामें जीवका वर्णादिभावोंके साथ तादात्म्य संबंध है, उसके मतमे संसार--अवस्थाके समय वह जीव अवश्य रूपित्वको प्राप्त होता है; और रूपित्वतो किसी द्रव्यका शेष द्रव्योंसे असाधारण ऐसा लक्षण है । इसलिये रूपित्व (लक्षण) से लक्षित (लक्ष्यरूप होता हुआ) जो कुछ हो वही जीव है । रूपित्वसे लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है । इसप्रकार पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है । ऐसा होनेपर, मोक्ष-अवस्थामें भी पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव (सिद्ध होता) है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सदा अपने स्वलक्षणसे लक्षित ऐसा द्रव्य सभी अवस्थाओंमें हानि अथवा ह्रासको न प्राप्त होनेसे अनादि-अनंत होता है । ऐसा होनेसे, उसके मतमें भी (संसार अवस्थामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य माननेवालेके मतमें भी), पुद्गलोंसे भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहनेसे, जीवका अवश्य अभाव होता है ।

रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति। एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोपि। तथा च सति मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोपि। तथा च सति तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावात् भवत्येव जीवाभावः ॥ ६३--६४ ॥

एवमेवतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ६५ ॥
एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥ ६६ ॥

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥ ६५ ॥
एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥ ६६ ॥

भावार्थः—यदि ऐसा माना जाय कि संसार-अवस्थामें जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य संबंध है तो जीव मूर्तिक हुआ; और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्यका लक्षण है, इसलिये पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ, उसके अतिरिक्त कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य नहीं रहा। और मोक्ष होनेपर भी उन पुद्गलोंका ही मोक्ष हुआ; इसलिये मोक्षमें भी पुद्गल ही जीव ठहरे, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। इसप्रकार संसार तथा मोक्षमें पुद्गलसे भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहनेसे जीवका ही अभाव होगया। इसलिये मात्र संसार अवस्थामें ही वर्णादिभाव जीवके हैं, ऐसा माननेसे भी जीवका अभाव ही होता है ॥ ६३-६४ ॥

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादिक भाव जीव नहीं हैं, यह अब कहते हैः—

गाथा ६५-६६

अन्वयार्थः—[एकं वा] एकेन्द्रिय, **[द्वे]** द्वीन्द्रिय, **[त्रीणि च]**

जीव एक दो त्रय चार पंचेन्द्रिय बादर सूक्ष्म हैं।
पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु नामकर्मकी प्रकृति है ॥ ६५ ॥
जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे।
उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्यों नहि कहाय वे ॥ ६६ ॥

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत् । तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव न तु जीवः । नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्त्तकार्यानुमेयं च । एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि । ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धांतः ।

त्रीन्द्रिय [**चत्वारि च**] चतुरिन्द्रिय और [**पंचेन्द्रियाणि**] पंचेन्द्रिय [**जीवाः**] जीव तथा [**बादरपर्याप्तेतराः**] बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त-यह [**नामकर्मणः**] नामकर्मकी [**प्रकृतयः**] प्रकृतिया है, [**एताभिः च**] इन [**प्रकृतिभिः**] प्रकृतियो [**पुद्गलमयीभिः ताभिः**] जो कि पुद्गलमयरूपसे प्रसिद्ध हैं, उनके द्वारा [**करणभूताभिः**] करणस्वरूप होकर [**निर्वृत्तानि**] रचित [**जीवस्थानानि**] जो जीवस्थान (जीव समास) है वे [**जीवः**] जीव [**कथं**] कैसे [**भण्यते**] कहे जा सकते है ?

टीका:—निश्चयनयसे कर्म और करणकी अभिन्नता होनेसे, जो जिससे किया जाता है (होता है) वह वही है-यह समझकर (निश्चय करके) जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्णसे किया जाता होनेसे सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं है, इसीप्रकार जीवस्थान बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्मकी प्रकृतियोंसे किये जाते होनेसे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। और नामकर्मकी प्रकृतियोंकी पुद्गलमयता तो आगमसे प्रसिद्ध है तथा अनुमानसे भी जानी जा सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिकभाव हैं वे कर्मप्रकृतियोंके कार्य है इसलिये कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं ऐसा अनुमान हो सकता है।

इसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नोकर्मकी प्रकृतियोंके द्वारा रचित होनेसे पुद्गलसे अभिन्न है, इसलिये मात्र जीवस्थानोंको पुद्गलमय कहनेपर इन सबको भी पुद्गलमय ही कथित समझना चाहिये। इसलिये वर्णादिक जीव नहीं हैं यह निश्चयनयका सिद्धान्त है।

❀ उपजाति ❀

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्
तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥ ३८ ॥
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥ ३९ ॥

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रं;—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ६७ ॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव ।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥ ६७ ॥

यहाँ इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैः—

अर्थः—जिस वस्तुसे जो भाव बने, वह भाव वह वस्तु ही है, किसी भी प्रकार अन्य वस्तु नहीं है; जैसे जगतमें स्वर्णनिर्मित म्यानको लोग स्वर्ण ही देखते हैं, (उसे) किसीप्रकारसे तलवार नहीं देखते ।

भावार्थः—वर्णादि पुद्गल-रचित है इसलिये वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं ।

अब दूसरा कलश कहते हैः—

अर्थः—अहो ज्ञानीजनों ? ये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव हैं उन समस्तको एक पुद्गलकी रचना जानो; इसलिये यह भाव पुद्गल ही हों आत्मा न हों; क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञानका पुंज है, इसलिये वह इन वर्णादिक भावोंसे अन्य ही है । ६५-६६ ।

अब यह कहते है कि इस ज्ञानघन आत्माके अतिरिक्त जो कुछ है उसे जीव कहना सो सब व्यवहारमात्र हैः—

गाथा ६७

अन्वयार्थः—[**ये**] जो [**पर्याप्तापर्याप्ताः**] पर्याप्त, अपर्याप्त [**सूक्ष्माः-**

पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी ।
व्यवहारसे कही जीवसंज्ञा, देहको शास्त्रन महीं ॥ ६७ ॥

यत्किल बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः। यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुंभस्य तदितरकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुंभः स मृण्मयो न घृतमय इति तत्प्रसिद्ध्या कुंभे घृतकुंभव्यवहारः तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः।

❀ अनुष्टुप् ❀

घृतकुंभाभिधानेपि कुंभो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेपि न तन्मयः॥ ४०॥

बादराः च] सूक्ष्म और बादर आदि [**ये चैव**] जितनी [**देहस्य**] देहकी [**जीवसंज्ञाः**] जीवसंज्ञा कही है, वे सब [**सूत्रे**] सूत्रमें [**व्यवहारतः**] व्यवहारसे [**उक्ताः**] कही है।

टीका:—बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त—इन शरीरकी संज्ञाओंको (नामोंको) सूत्रमे जीव संज्ञारूपसे कहा है, वह, परकी प्रसिद्धिके कारण, 'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है,—जो (व्यवहार) अप्रयोजनार्थ है (उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है), इसी बातको स्पष्ट कहते हैं:—

जैसे किसी पुरुषको जन्मसे लेकर मात्र 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़ेको न जानता हो, उसे समझानेके लिये "जो यह 'घी का घड़ा' है सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं" इसप्रकार (समझानेवालेके द्वारा) घड़ेमें घीके घड़ेका व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुषको घीका घड़ा ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है; इसीप्रकार इस अज्ञानी लोकको अनादि संसारसे लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीवको नहीं जानता, उसे समझानेके लिये (शुद्ध जीवका ज्ञान करानेके लिये) "जो यह 'वर्णादिमान जीव' है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं" इसप्रकार (सूत्रमे) जीवमें वर्णादिमानपनेका व्यवहार किया गया है, क्योंकि उस अज्ञानी लोकको 'वर्णादिमान् जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है।

अब, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ—यदि 'घी का घड़ा' ऐसा कहनेपर भी घड़ा है वह घीमय नहीं है, (मिट्टीमय ही है) तो इसीप्रकार 'वर्णादिमान् जीव' ऐसा कहनेपर भी जीव है वह वर्णादिमय नहीं है, (ज्ञानघन ही है।)

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८ ॥

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥ ६८ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीवः । गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैत-

---

भावार्थः—घीसे भरे हुए घड़ेको व्यवहारसे घीका घड़ा कहा जाता है, तथापि निश्चयसे घड़ा घीस्वरूप नहीं है; घी घीस्वरूप है, घड़ा मिट्टी-स्वरूप है; इसीप्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियों इत्यादिके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीवको सूत्रमें व्यवहारसे 'पंचेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, बादरजीव, देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि कहा गया है, तथापि निश्चयसे जीव उस स्वरूप नहीं है; वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि पुद्गलस्वरूप हैं, जीव ज्ञानस्वरूप है ॥ ६७ ॥

अब कहते है कि (जैसे वर्णादिभाव जीव नहीं है यह सिद्ध हुआ उसीप्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादि भाव भी जीव नहीं हैं:—

गाथा ६८

अन्वयार्थः—[**यानि इमानि**] जो यह [**गुणस्थानानि**] गुणस्थान हैं वे [**मोहनकर्मणः उदयात् तु**] मोहकर्मके उदयसे होते है, [**वर्णितानि**] ऐसा (सर्वज्ञके आगममें) वर्णन किया गया है; [**तानि**] वे [**जीवाः**] जीव [**कथं**] कैसे [**भवंति**] हो सकते है [**यानि**] कि जो [**नित्यं**] सदा [**अचेतनानि**] अचेतन [**उक्तानि**] कहे गये है ?

टीका:—ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्मकी प्रकृतिके उदयपूर्वक होते होनेसे, सदा ही अचेतन होनेसे, कारण जैसा ही कार्य होता है ऐसा समझकर (निश्चय-कर), जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते है, इसी न्यायसे वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं।

मोहन करमके उदयसे, गुणस्थान जो ये वर्णये ।
वे क्यों बने आतमा, निरंतर जो अचेतन जिन कहे ॥ ६८ ॥

न्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यं । एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्द्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थान बंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धि-स्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातं । ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धं । तर्हि को जीव इति चेत् ।

❀ अनुष्टुप् ❀

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥

और गुणस्थानोंका सदा ही अचेतनत्व तो आगमसे सिद्ध होता है, तथा चैतन्यस्वभावसे व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपनेसे वे गुणस्थान भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, इसलिये भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है।

इसीप्रकार रागद्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्म पूर्वक होते होनेसे, सदा ही अचेतन होनेसे, पुद्गल ही हैं,—जीव नहीं, ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं है।

भावार्थः—शुद्धद्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमे चैतन्य अभेद है, और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान–दर्शन हैं। पर निमित्तसे होनेवाले चैतन्यके विकार यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं तथापि चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमे व्यापक न होनेसे चैतन्यशून्य हैं—जड़ है। और आगममें भी उन्हें अचेतन कहा है। भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्यसे भिन्नरूप अनुभव करते हैं, इसलिये भी वे अचेतन हैं, चेतन नहीं।

प्रश्नः—यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या हैं? वे पुद्गल हैं या कुछ और?

उत्तरः—वे पुद्गलकर्म पूर्वक होते हैं इसलिये वे निश्चयसे पुद्गल ही हैं। क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।

इसप्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे होनेवाले चैतन्यके विकार भी जीव नहीं, पुद्गल हैं।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव कौन है? उसके उत्तररूप श्लोक कहते हैं.—

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्त्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।

अर्थ:—जो अनादि[1] है, अनन्त[2] है, अचल[3] है, स्वसंवेद्य[4] है और प्रगट[5] है—ऐसा जो यह चैतन्य अत्यन्त चकचकित—प्रकाशित हो रहा है, वह स्वयं ही जीव है।

भावार्थ:—वर्णादिक और रागादिक भाव जीव नहीं हैं, किन्तु जैसा ऊपर कहा वैसा चैतन्यभाव ही जीव है।

अब, काव्य द्वारा यह समझाते है कि चेतनत्व ही जीवका योग्य लक्षण है—

अर्थ:—अजीव दो प्रकारके है—वर्णादि सहित और वर्णादि रहित; इसलिये अमूर्तत्वका आश्रय लेकर भी (अमूर्तत्वको जीवका लक्षण मानकर भी) जीवके यथार्थ-स्वरूपको जगत् नहीं देख सकता;—इसप्रकार परीक्षा करके भेदज्ञानी पुरुषोने अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणोंसे रहित चेतनत्वको जीवका लक्षण कहा है, वह योग्य है। वह चैतन्य-लक्षण प्रगट है, उसने जीवके यथार्थ स्वरूपको प्रगट किया है और वह अचल है--चला-चलता रहित, सदा विद्यमान है। जगत् उसीका अवलम्बन करो! (उससे यथार्थ जीवका ग्रहण होता है।)

भावार्थ:—निश्चयसे वर्णादिभाव (वर्णादिभावोंमें रागादिभाव अन्तर्हित हैं) जीवमे कभी व्याप्त नहीं होते, इसलिये वे निश्चयसे जीवके लक्षण है ही नहीं; उन्हें व्यवहारसे जीव का लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति नामक दोष आता है, क्योकि सिद्ध जीवोमें वे भाव व्यवहारसे भी व्याप्त नहीं होते। इसलिये वर्णादिक भावोंका आश्रय लेनेसे जीवका यथार्थस्व-रूप जाना ही नहीं जाता।

यद्यपि अमूर्तत्व सर्व जीवोमे व्याप्त है, तथापि उसे जीवका लक्षण माननेपर अति-व्याप्ति नामक दोष आता है; कारण कि पांच अजीव द्रव्योंमेंसे एक पुद्गलद्रव्यके अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल,—ये चार द्रव्य अमूर्त होनेसे, अमूतत्व जीवमे व्यापता है वैसे ही चार अजीव द्रव्योंमे भी व्यापता है; इसप्रकार अतिव्याप्ति दोष आता है। इसलिये अमूर्तत्वका आश्रय लेनेसे भी जीवका यथार्थ स्वरूप ग्रहण नहीं होता।

---

१ अर्थात् किसी काल उत्पन्न नही हुआ। २ अर्थात् किसी काल जिसका विनाश नहीं। ३ अर्थात् जो कभी चैतन्यपनेसे अन्यरूप—चलाचल-नही होता। ४ अर्थात् जो स्वयं अपने आपसे ही जाना जाता है। ५ अर्थात् छुपा हुआ नहीं।

इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंव्यताम् ॥४२॥ (शार्दूलविक्रीड़ित)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृंभितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥ ४३ ॥ (बसंततिलका)

नानट्यतां तथापि—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४ ॥ (बसंततिलका)

चैतन्यलक्षण सर्व जीवोमे व्यापता होनेसे अव्याप्ति दोषसे रहित है, और जीवके अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्यमें व्यापता न होनेसे अतिव्याप्ति दोषसे रहित है; और वह प्रगट है, इसलिये उसीका आश्रय ग्रहण करनेसे जीवके यथार्थस्वरूपका ग्रहण हो सकता है।

'जब कि ऐसे लक्षणसे जीव प्रगट है तब भी अज्ञानीजनोंको उसका अज्ञान क्यो रहता है'? इसप्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद प्रगट करते है:—

अर्थ —यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षणके कारण जीवसे अजीव भिन्न है, उसे (अजीवको) अपने आप ही (-स्वतंत्रपने, जीवसे भिन्नपने) विलसित होता हुआ-परिणमित होता हुआ ज्ञानीजन अनुभव करते हैं, तथापि अज्ञानीको अमर्यादरूपसे फैला हुआ यह मोह (स्व-परके एकत्वकी भ्रान्ति) क्यों नाचता है ? यह हमें महा आश्चर्य और खेद है ?

अब पुन मोहका प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि-'यदि मोह नाचता है, तो नाचो ? तथापि ऐसा ही है':—

अर्थ —इस अनादिकालीन महा अविवेकके नाटकमें अथवा नाचमे वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं; (अभेदज्ञानमे पुद्गल ही अनेकप्रकारका दिखाई देता है, जीव अनेकप्रकारका नहीं है), और यह जीव तो रागादि पुद्गल विकारोंसे विलक्षण, शुद्ध-चैतन्य-धातुमय मूर्ति है।

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥ ४५ ॥ (मन्दाक्रांता)

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ ॥ ६८ ॥

भावार्थः—रागादिक चिद्विकारको (चैतन्य विकारोंको) देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं, क्योंकि चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त हो तो चैतन्यके कहलाये। रागादि विकार सर्व अवस्थाओंमे व्याप्त नहीं होते—मोक्षअवस्थामे उनका अभाव है। और उनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है। इसलिये वे चेतन नहीं, जड़ हैं। चैतन्यका अनुभव निराकुल है, वही जीवका स्वभाव है, ऐसा जानना।

अब, भेदज्ञानकी प्रवृत्तिके द्वारा यह ज्ञाता द्रव्य स्वयं प्रगट होता है, इसप्रकार कलशमें महिमा प्रगट करके अधिकार पूर्ण करते हैं:—

अर्थ—इसप्रकार ज्ञानरूपी करवतका जो बारंबार अभ्यास है, उसे नचाकर जहाँ जीव और अजीव दोनो प्रगटरूपसे अलग नहीं हुए, वहाँ तो ज्ञाताद्रव्य, अत्यंत विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्तिसे विश्वको व्याप्त करके, अपने आप ही अतिवेगसे उग्रतया अर्थात् आत्यंतिकरूपसे प्रकाशित हो उठा।

भावार्थः—इस कलशका आशय दो प्रकारका है:—

उपरोक्त ज्ञानका अभ्यास करते २ जहाँ जीव और अजीव दोनो स्पष्ट भिन्न समझमे आये कि तत्काल ही आत्माका निर्विकल्प अनुभव हुआ—सम्यग्दर्शन हुआ। (सम्यग्दृष्टि आत्मा श्रुतज्ञानसे विश्वके समस्त भावोंको संक्षेपसे अथवा विस्तारसे जानता है, और निश्चयसे विश्वको प्रत्यक्ष जाननेका उसका स्वभाव है; इसलिये यह कहा है कि वह विश्वको जानता है।) एक आशय तो इसप्रकार है।

दूसरा आशय इसप्रकारसे है:—जीव-अजीवका अनादिकालीन संयोग केवल अलग होनेसे पूर्व अर्थात् जीवका मोक्ष होनेसे पूर्व, भेदज्ञानके भाते भाते अमुक दशा होनेपर निर्विकल्प धारा जमी—जिसमे केवल आत्माका अनुभव रहा; और वह श्रेणी अत्यंत वेगसे आगे बढते २ केवलज्ञान प्रगट हुआ। और फिर अघातिया कर्मोंका नाश होनेपर जीवद्रव्य अजीवसे केवल भिन्न हुवा। जीव-अजीवके भिन्न होनेकी यह रीति है।

टीका:—इसप्रकार जीव और अजीव अलग अलग होकर (रंगभूमिसे) बाहर निकल गये।

इति श्रीमदमृतचंदसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोंकः ॥ १ ॥
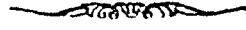
भावार्थः—जीवाजीवाधिकारमें पहले रंगभूमिस्थल कहकर उसके बाद टीकाकार आचार्यने ऐसा कहा था कि नृत्यके अखाड़ेमें जीव-अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते है, और दोनोंने एकत्वका स्वांग रचा है। वहाँ भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषने सम्यग्ज्ञानसे उन जीव अजीव दोनोंकी उनके लक्षणभेदसे परीक्षा करके दोनोको पृथक जाना इसलिये स्वाँग पूरा हुआ, और दोनो अलग २ होकर अखाड़ेसे बाहर निकल गये। इसप्रकार अलंकार पूर्वक वर्णन किया है॥ ६८ ॥

जीव अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं।
सम्यक् भेद विज्ञान भये पुन भिन्न गहै निजभाव सुदावैं॥
श्रीगुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं।
ते जगमाँहि महंत कहाय वसै शिव जाय सुखी नित थावैं॥१॥

इसप्रकार इस समयसार ग्रन्थकी आत्मख्याति नामक टीकाकी पंडित जयचन्द्रजीकृत भाषा वचनिकामें प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ।
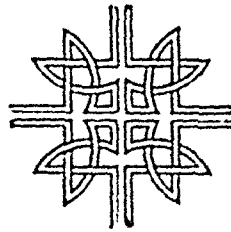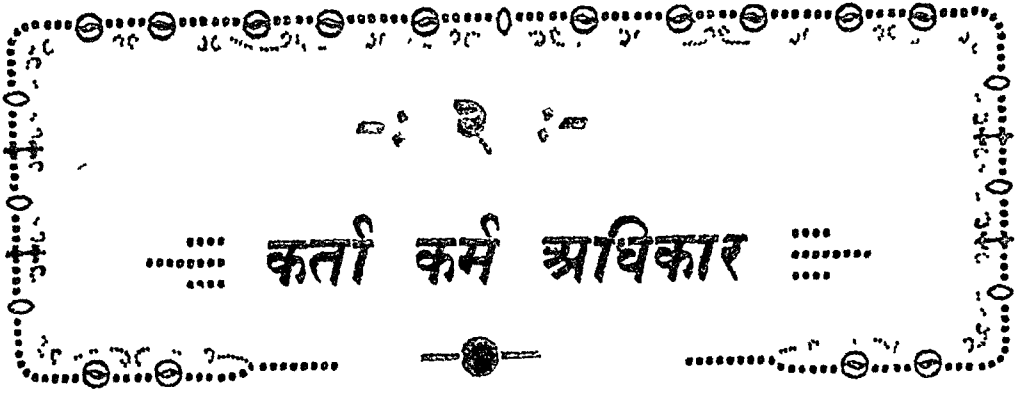
अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशतः।

एकः कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥४६॥ (मन्दाक्रान्ता)

दोहा—कर्ताकर्मविभावकूं, मेटि ज्ञानमय होय।
कर्म नाशि शिवमें बसे, तिन्हें, नमूं मद खोय॥

प्रथम टीकाकार कहते है कि 'अब जीव–अजीव ही एक कर्ताकर्मके वेषमें प्रवेश करते है'। जैसे दो पुरुष परस्पर कोई एक स्वाँग करके नृत्यके अखाड़ेमें प्रवेश करे, उसी-प्रकार जीव–अजीव दोनों एक कर्ता–कर्मका स्वाँग करके प्रवेश करते हैं। इसप्रकार यहाँ टीकाकार ने अलंकार किया है।

अब पहले, उस स्वाँगको ज्ञान यथार्थ जान लेता है, उस ज्ञानकी महिमाका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—'इस लोकमें मै चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूँ, और यह क्रोधादिभाव मेरे कर्म हैं' ऐसी अज्ञानियोंके जो कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति है उसे सब ओरसे शमन करती हुई (मिटाती हुई) ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है, वह ज्ञान–ज्योति परम उदात्त है, अर्थात् किसीके आधीन नहीं है, अत्यन्त धीर है, अर्थात् किसी भी प्रकारसे आकुलतारूप नहीं है और परकी सहायताके बिना भिन्न भिन्न द्रव्योंको प्रकाशित करनेका उसका स्वभाव है, इसलिये वह समस्त लोकालोकको साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है।

भावार्थः—ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा परद्रव्य तथा परभावोंके कर्तृत्वरूप अज्ञानको दूर करके स्वयं प्रगट प्रकाशमान होता है।

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्लंपि ।
अण्णाणी तावदु सो कोहाइसु वट्टदे जीवो ॥ ६९ ॥
कोहाइसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥ ७० ॥

यावन्न वेत्ति विशेषातर त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि ।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥ ६९ ॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः सचयो भवति ।
जीवस्यैव बधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥ ७० ॥

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसंबंधयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशंक-

---

अब जबतक यह जीव आस्रवके और आत्माके विशेषको (अन्तरको) नही जाने तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ, आस्रवोंमे स्वय लीन होता हुआ कर्मोंका बंध करता है; यह गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ६९–७०

अन्वयार्थः—[**जीवः**] जीव [**यावत्**] जबतक [**आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु**] आत्मा और आस्रव–इन दोनोके [**विशेषान्तरं**] अन्तर और भेदको [**न वेत्ति**] नही जानता [**तावत्**] तबतक [**सः**] वह [**अज्ञानी**] अज्ञानी रहता हुआ [**क्रोधादिषु**] क्रोधादिक आस्रवोमें [**वर्तते**] प्रवर्तता है, [**क्रोधादिषु**] क्रोधादिकमें [**वर्तमानस्य तस्य**] प्रवर्तमान उसके [**कर्मणः**] कर्मका [**संचयः**] सचय [**भवति**] होता है। [**खलु**] वास्तवमें [**एवं**] इसप्रकार [**जीवस्य**] जीवके [**बंधः**] कर्मोंका बध [**सर्वदर्शिभिः**] सर्वज्ञ देवोंने [**भणितः**] कहा है।

टीका:—जैसे यह आत्मा, जिनके तादात्म्य–सिद्ध संबंध है, ऐसे आत्मा और ज्ञानमें

रे आतम आश्रवका जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं ।
क्रोधादिमें स्थिति होय है, अज्ञानि ऐसे जीवकी ॥ ६९ ॥
जीव वर्तता क्रोधादिमें, तब करम संचय होय है ।
सर्वज्ञने निश्चय कहा, यों बंध होता जीवके ॥ ७० ॥

मात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्त्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति तथा संयोगसिद्धसंबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशंकमात्मतया क्रोधादौ वर्त्तते। तत्र वर्त्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति। तदत्र योयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्त्ता। यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रिय-

---

विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होनेसे उनके भेदको (पृथक्त्व को) न देखता हुआ निःशंकतया ज्ञानमें आत्मपनेसे प्रवर्तता है, और वहाँ (ज्ञानमें आत्मपनेसे प्रवर्तता हुआ वह, ज्ञानक्रियाका स्वभावभूत होनेसे निषेध नहीं किया गया है, इसलिये जानता है—जानने-रूपमें परिणमित होता है, इसीप्रकार जबतक यह आत्मा, जिन्हें सयोगसिद्ध संबंध है ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवोंमें भी अपने अज्ञानभावसे विशेष न जानता हुआ उनके भेदको नहीं देखता तबतक निःशंकतया क्रोधादिमें अपनेपनेसे प्रवर्तता है, और वहाँ (क्रोधादिमें अपनेपनसे) प्रवर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रोधादि क्रियाका परभावभूत होनेसे निषेध किया गया है तथापि उस स्वभावभूत होनेका उसे अध्यास होनेसे क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है। अब यहाँ जो यह आत्मा अपने अज्ञानभावसे, ज्ञानभवन[1]मात्र सहज उदासीन (ज्ञाता दृष्टा मात्र) अवस्थाका त्याग करके अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है वह कर्ता है; और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवृत्तिसे भिन्न, जो क्रियमाण[2]रूपसे अंतरंगमें उत्पन्न होने पर प्रतिभासित होते हैं ऐसे क्रोधादिक वे (उस कर्ताके) कर्म हैं। इसप्रकार अनादिकालीन अज्ञानसे होनेवाली यह (आत्माकी) कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है। इसप्रकार अपने अज्ञानके कारण कर्ताकर्मभावसे क्रोधादिमें प्रवर्तमान इस आत्माके, क्रोधादिकी प्रवृत्तिरूप परिणामको निमित्तमात्र करके स्वयं अपने भावसे ही परिणमित होता हुआ पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है। इसप्रकार जीव और पुद्गलका, परस्पर अवगाह जिसका लक्षण है ऐसा सम्बन्धरूप बंध सिद्ध होता है। अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहपना होनेसे जिसमेंसे इतरेतराश्रय दोष दूर हो गया है, ऐसा वह बंध, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त है।

भावार्थः—यह आत्मा, जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होता है, उसीप्रकार जबतक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है, ज्ञानमें और क्रोधादिमें भेद नहीं जानता तबतक

---

१ भवन=होना वह, परिणमना वह; परिणमन। २ क्रियमाणरूपसे=किया जाता वह—इसरूपसे।

मायत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म । एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः । एवमस्यात्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेवपरिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति । एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसंबंधात्मा बंधः सिद्ध्येत् । स चानेकात्मकैकसंतानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तं ॥ ६९ ॥ ७० ॥

कदास्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत्—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥ ७१ ॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य ॥ ७१ ॥

उसके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है; क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ वह स्वयं कर्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है। और अनादि अज्ञानसे तो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे बंध है और उस बंधके निमित्तसे अज्ञान है; इसप्रकार अनादि संतान (प्रवाह) है, इसलिये उसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता।

इसप्रकार जबतक आत्मा क्रोधादि कर्मका कर्ता होकर परिणमित होता है तबतक कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है और तबतक कर्मका बंध होता है। ६९-७०।

अब, प्रश्न करता है कि इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ७१

अन्वयार्थः—[**यदा**] जब [**अनेन जीवेन**] यह जीव [**आत्मनः**] आत्माका [**तथैव च**] और [**आस्रवाणां**] आस्रवोंका [**विशेषांतरं**] अन्तर और भेद [**ज्ञातं भवति**] जानता है [**तदा तु**] तब [**तस्य**] उसे [**बंधः न**] बंध नहीं होता।

ये जीव ज्यों ही आस्रवोंका, त्यों हि अपने आत्मका।
जाने विशेषांतर तब हि, बंधन नहीं उसको कहा ॥ ७१ ॥

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा । क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः । अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि । यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवंतो विभाव्यंते न तथा ज्ञानमपि इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वं इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्त्तते तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबंधोपि निवर्त्तते । तथा सति ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोधः सिद्ध्येत् ॥ ७१ ॥

कथं ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोध इति चेत्;—

टीका:—इस जगतमें वस्तु है वह (अपने) स्वभावमात्र ही है, और 'स्व' का भवन (होना) वह स्व-भाव है (अपना जो होना-परिणमना सो स्वभाव है); इसलिये निश्चयसे ज्ञानका होना—परिणमना सो आत्मा है, और क्रोधादिका होना-परिणमना सो क्रोधादि है। तथा ज्ञानका जो होना-परिणमना है सो क्रोधादिका भी होना-परिणमना नहीं है, क्योंकि ज्ञानके होते (परिणमनेके) समय जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है उसीप्रकार क्रोधादिक भी होते हुए मालूम नहीं पड़ते; और क्रोधादिका जो होना--परिणमना वह ज्ञानका भी होना--परिणमना नहीं है, क्योकि क्रोधादिके होनेके (परिणमनेके) समय जैसे क्रोधादिक होते हुए मालूम पड़ते हैं वैसे ज्ञान भी होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। इसप्रकार क्रोधादिके और आत्माके निश्चयसे एक वस्तुत्व नहीं है। इसप्रकार आत्मा और आस्रवोंका विशेष (अन्तर) देखनेसे जब यह आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है तब इस आत्माके अनादि होने पर भी अज्ञानसे उत्पन्न हुई ऐसी (परमे) कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति निवृत्त होती है; उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञानके निमित्तसे होता हुवा पौद्गलिक द्रव्यकर्मका बंध भी निवृत्त होता है। ऐसा होने पर, ज्ञानमात्रसे ही बंधका निरोध सिद्ध होता है।

भावार्थ:—क्रोधादिक और ज्ञान भिन्न २ वस्तुएं हैं। न तो ज्ञानमे क्रोधादि है और न क्रोधादिमे ज्ञान है, ऐसा उनका भेदज्ञान हो तब उनका एकत्वरूपका अज्ञान नाश होता है,—और अज्ञानके नाश हो जानेसे कर्मका बन्ध भी नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानसे ही बन्धका निरोध होता है। ७१।

अब, पूछता है कि ज्ञानमात्रसे ही बंधका निरोध कैसे होता है? उसका उत्तर कहते हैं:—

णादूण आसवाणं-असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥ ७२ ॥

जले जंबालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयः खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलंभकत्वादत्यंतं शुचिरेव । जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावाः खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव एव । आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद् दुःखस्या-

---

गाथा ७२

अन्वयार्थः—[**आस्रवाणां च**] आस्रवोंकी [**अशुचित्वं**] अशुचिता [**च**] और [**विपरीतभावं**] विपरीतता [**च**] तथा [**दुःखस्य कारणानि इति**] वे दुःखके कारण हैं ऐसा [**ज्ञात्वा**] जानकर [**जीवः**] जीव [**ततः निवृत्तिं**] उनसे निवृत्ति [**करोति**] करता है ।

टीका:—जलमें सेवाल (काई) है सो मल या मैल है, उस सेवालकी भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभवमें आते हैं इसलिये वे अशुचि हैं—अपवित्र हैं, और भगवान् आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्रस्वभावरूप अनुभवमें आता है इसलिये अत्यन्त शुचि है—पवित्र है—उज्ज्वल है । आस्रवोंके जड़स्वभावत्व होनेसे वे दूसरेके द्वारा जानने योग्य हैं, (—क्योंकि जो जड़ हो वह अपनेको तथा परको नहीं जानता, उसे दूसरा ही जानता है—) इसलिये वे चैतन्यसे अन्य स्वभाववाले हैं; और भगवान् आत्मा तो, अपनेको-सदा विज्ञानघनस्वभावपना होनेसे स्वयं ही चेतक (—ज्ञाता) है (-स्वको और परको जानता है-), इसलिये वह चैतन्यसे अनन्य स्वभाववाला है । आस्रव आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये दुःखके कारण हैं; और भगवान् आत्मा तो, सदा ही निराकुलता-स्वभावके कारण किसीका कार्य तथा किसीका कारण न होनेसे दुःखका अकारण (कारण नहीं) है । इसप्रकार विशेष (अन्तर) को देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आश्रवोंके भेदको जानता है उसी समय

अशुचिपना विपरीतता, ये आश्रवोंका जानके ।
अरु दुःखकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे ॥ ७२ ॥

कारणमेव। इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्त्तते। तेभ्योऽनिवर्त्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बंधनिरोधः सिद्ध्येत्। किं च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानं? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किंवास्रवेभ्यो निवृत्तं। आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदापि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बंधनिरोधः इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः। यत्त्वात्मास्र-

---

क्रोधादि आस्रवोंसे निवृत्त होता है, क्योंकि उनसे जो निवृत्त नहीं है उसे आत्मा और आस्रवोंके पारमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञानकी सिद्धि ही नहीं हुई। इसलिये क्रोधादिक आस्रवोंसे निवृत्तिके साथ जो अविनाभावी है ऐसे ज्ञानमात्रसे ही, अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मके बन्धका निरोध होता है।

और, जो यह आत्मा और आस्रवोंका भेदज्ञान है सो अज्ञान है या ज्ञान? यदि अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवोंके अभेदज्ञानसे उसकी कोई विशेषता नहीं हुई। और यदि ज्ञान है तो वह आस्रवोंमें प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त? यदि आस्रवोंमें प्रवृत्त होता है तो भी आत्मा और आस्रवोंके अभेदज्ञानसे उसकी कोई विशेषता नहीं हुई। और यदि आस्रवोंसे निवृत्त है तो ज्ञानसे ही बंधका निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा? (सिद्ध हुआ ही कहलायेगा) ऐसा सिद्ध होनेसे अज्ञानका अंश ऐसे क्रियानयका खण्डन हुआ। और यदि आत्मा और आस्रवोंका भेदज्ञान आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है, ऐसा सिद्ध होनेसे ज्ञानके अंश ऐसे (एकांत) ज्ञाननयका भी खण्डन हुआ।

भावार्थः—आस्रव अशुचि है, जड़ है, दुःखके कारण हैं, और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है सुखस्वरूप है। इसप्रकार लक्षणभेदसे दोनोंको भिन्न जानकर आस्रवोंसे आत्मा निवृत्त होता है, और उसे कर्मका बंध नहीं होता। आत्मा और आस्रवोंका भेद जाननेपर भी यदि आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं, किन्तु अज्ञान ही है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि—अविरत सम्यक्दृष्टिको मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी प्रकृतियोंका तो आस्रव नहीं होता किन्तु अन्य प्रकृतियोंका तो आस्रव होकर बंध होता है; इसलिये उसे ज्ञानी कहना या अज्ञानी? उसका समाधानः—सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है, क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वक के आस्रवोंसे निवृत्त हुआ है। उसे प्रकृतियोंका जो आस्रव तथा बंध होता है वह अभिप्राय पूर्वक नहीं है। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद परद्रव्यके स्वामित्वका अभाव है, इसलिये जबतक उसके चारित्रमोहका उदय है तबतक उसके उदयानुसार जो आस्रव-बंध होता है, उसका

वयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोपि निरस्तः ।

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ॥४७॥ (मालिनी)

स्वामित्व उसको नहीं है । अभिप्रायमें तो वह आस्रव-बंधसे सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है, इसलिये वह ज्ञानी ही है ।

जो यह कहा है कि ज्ञानीको बंध नहीं होता, उसका कारण इसप्रकार है:—मिथ्यात्व संबंधी बन्ध जो कि अनन्त संसारका कारण है, वही यहाँ प्रधानतया विवक्षित है । अविरति आदिसे जो बन्ध होता है वह अल्पस्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घसंसारका कारण नहीं है; इसलिये वह प्रधान नहीं माना गया । अथवा तो ऐसा कारण है कि—ज्ञान बंधका कारण नहीं है । जबतक ज्ञानमें मिथ्यात्वका उदय था तबतक वह अज्ञान कहलाता था और मिथ्यात्वके जानेके बाद अज्ञान नहीं किन्तु ज्ञान ही है । उसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है, इसलिये ज्ञानीके बन्ध नहीं है; क्योंकि विकार जो कि बन्धरूप है और बन्धका कारण है, वह तो बन्धकी पंक्तिमें है, ज्ञानकी पंक्तिमें नहीं । इस अर्थका समर्थनरूप कथन आगे गाथाओंमें आयेगा ।

यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ—पर परिणतिको छोड़ता हुआ, भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ, यह अखंड और अत्यन्त प्रचण्डज्ञान प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है । अहो ! ऐसे ज्ञानमें (परद्रव्यके) कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है ? तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है ? (कदापि नहीं हो सकता ।)

(ज्ञेयोंके निमित्तसे तथा क्षयोपशमके विशेषसे ज्ञानमें जो अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे उनसे रहित ज्ञानमात्र आकार अब अनुभवमें आया इसलिये ज्ञानको 'अखंड' विशेषण दिया है । मतिज्ञानादि जो अनेक भेद कहे जाते थे उन्हें दूर करता हुआ उदयको प्राप्त हुआ है इसलिये 'भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ ऐसा कहा है' । परके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित होता था, उस परिणतिको छोड़ता हुआ उदयको प्राप्त हुआ है इसलिये 'परपरिणतिको छोड़ता हुआ' ऐसा कहा है । परके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित नहीं होता, बलवान है, इसलिये 'अत्यन्त-प्रचंड' कहा है ।)

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत् ;—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥ ७३ ॥

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥ ७३ ॥

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदितविज्ञानघनस्वभावभावत्वादेकः । सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः । पुद्गलस्वामिकस्य क्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमना-

---

भावार्थः—कर्मबंध तो अज्ञानसे हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे था । अब जब भेदभावको और परपरिणतिको दूर करके एकाकारज्ञान प्रगट हुआ तब भेदरूप कारककी प्रवृत्ति मिट गई; तब फिर अब बंध किसलिये होगा ? अर्थात् नहीं होगा ॥ ७२ ॥

अब प्रश्न करता है कि यह आत्मा किस विधिसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है ? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

गाथा ७३

अन्वयार्थः—ज्ञानी विचार करता है कि:—[**खलु**] निश्चयसे [**अहं**] मै [**एकः**] एक हूँ, [**शुद्धः**] शुद्ध हूँ, [**निर्ममतः**] ममतारहित हूँ, [**ज्ञानदर्शनसमग्रः**] ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूँ; [**तस्मिन् स्थितः**] उस स्वभावमें रहता हुआ, [**तच्चित्तः**] उसमें (-उस चैतन्य–अनुभवमे) लीन होता हुआ (मै) [**एतान्**] इन [**सर्वान्**] क्रोधादिक सर्व आस्रवोको [**क्षयं**] क्षयको [**नयामि**] प्राप्त कराता हूँ ।

टीकाः—मै यह प्रत्यक्ष, अखंड, अनंत, चिन्मात्रज्योति आत्मा अनादि-अनंत, नित्य-उदयरूप, विज्ञानघनस्वभावभावत्वके कारण एक हूँ, (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणस्वरूप) सर्व कारकोंके समूहकी प्रक्रियासे पारको प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपनेसे शुद्ध हूँ; पुद्गल द्रव्य जिसका स्वामी है ऐसे जो क्रोधादिभावोका विश्वव्यापित्व उसके स्वामीपनेरूप स्वयं सदा ही नहीं परिणमता होनेसे ममतारहित हूँ, चिन्मात्र-ज्योतिका (आत्माका), वस्तुस्वभावसे ही, सामान्य और विशेषसे परिपूर्णता होनेसे, मैं

मैं एक शुद्ध ममत्व हीन रु, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ ।
इसमें रहूँ स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ ॥ ७३ ॥

न्निर्ममतः । चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः । गगनादिवत्पारमार्थिको वस्तुविशेषोस्मि तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतन-चंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान् भावानखिलानेव क्षपयामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त्त इव झगित्येवोद्वांतसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानघनभूतः खल्वयमात्मास्रवेभ्यो निवर्त्तते ॥ ७३ ॥

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत् ;—

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥ ७४ ॥

ज्ञानदर्शनसे परिपूर्ण हूँ (वस्तुस्वभाव सामान्य-विशेषस्वरूप है आत्मा भी वस्तु होनेसे वह सामान्य–विशेषस्वरूप है, अर्थात् दर्शनज्ञानस्वरूप है ।)—ऐसा मैं आकाशादि द्रव्यकी भाँति पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ । इसलिये अब मैं समस्त परद्रव्यप्रवृत्तिसे निवृत्तिसे इसी आत्मस्वभावमें निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्यके निमित्तसे विशेषरूप चेतनमें होती हुई चंचल कल्लोलोंके निरोधसे इसको ही (इस चैतन्यस्वरूपको ही) अनुभवन करता हुआ, अपने अज्ञानसे आत्मामें उत्पन्न होते हुए जो यह क्रोधादिकभाव हैं उन सबका क्षय करता हूँ,—ऐसा निश्चय करके, जिसने बहुत समयसे पकड़े हुए जहाजको छोड़ दिया है, ऐसे समुद्रके भँवरकी भाँति जिसने सर्व विकल्पोंको शीघ्र ही वमन कर दिया है, ऐसे निर्विकल्प, अचलित, निर्मल आत्माका अवलंबन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ यह आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त होता है ।

भावार्थ—शुद्धनयसे ज्ञानीने आत्माका ऐसा निश्चय किया है, कि—'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्यके प्रति ममतारहित हूँ, ज्ञानदर्शनसे पूर्ण वस्तु हूँ' । जब वह ज्ञानी आत्मा ऐसे अपने स्वरूपमें रहता हुआ उसीके अनुभवरूप हो तब क्रोधादिक आस्रव क्षयको प्राप्त होते है । जैसे समुद्रके आवर्त्त (भँवर) ने बहुत समयसे जहाजको पकड़ रखा हो, और जब वह आवर्त्त शमन हो जाता है, तब वह उस जहाजको छोड़ देता है, इसीप्रकार आत्मा विकल्पोंके आवर्त्त को शमन करता हुआ आस्रवोंको छोड़ देता है ॥ ७३ ॥

अब, प्रश्न करता है कि ज्ञान होनेका और आस्रवोंकी निवृत्तिका समकाल (एककाल) कैसे है ? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं.—

ये सर्व जीव निबद्ध अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं ।
ये दुःख दुखफल जानके, इनसे निवर्तन जीव करे ॥ ७४ ॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।

दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ॥ ७४ ॥

जतुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव । अपस्माररयवद्वर्द्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव । शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृंभमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एव । बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत् त्रातुमशक्यत्वादशरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव । नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद् दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव । आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव । इति

गाथा ७४

अन्वयार्थः—[**एते**] यह आस्रव [**जीवनिबद्धाः**] जीवके साथ निबद्ध हैं, [**अध्रुवाः**] अध्रुव हैं, [**अनित्याः**] अनित्य हैं, [**तथा च**] तथा [**अशरणाः**] अशरण हैं [**च**] और वे [**दुःखानि**] दुःखरूप हैं, [**दुःखफलाः**] दुःख ही जिनका फल है ऐसे है,—[**इति ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर ज्ञानी [**तेभ्यः**] उनसे [**निवर्तते**] निवृत्त होता है ।

टीका—वृक्ष और लाखकी भाँति वध्य घातकस्वभावपना होनेसे आस्रव जीवके साथ बँधे हुए है; किन्तु अविरुद्ध स्वभावत्वका अभाव होनेसे वे जीव ही नहीं हैं । (लाखके निमित्तसे पीपल आदि वृक्षका नाश होता है । लाख घातक है और वृक्ष वध्य (घात होने योग्य) है । इसप्रकार लाख और वृक्षका स्वभाव एक दूसरेसे विरुद्ध है, इसलिये लाख वृक्षके साथ मात्र बँधी हुई ही है; लाख स्वयं वृक्ष नहीं है । इसीप्रकार आस्रव घातक है और आत्मा वध्य है । इसप्रकार विरुद्धस्वभाव होनेसे आस्रव स्वयं जीव नहीं है ।) आस्रव मृगीके वेगकी भाँति बढ़ते-घटते होनेसे अध्रुव हैं, चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है । आस्रव शीत-दाहज्वरके आवेशकी भाँति अनुक्रमसे उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य हैं; विज्ञानघन जिसका स्वभाव है ऐसा जीव ही नित्य है । जैसे कामसेवनमें वीर्य छूट जाता है उसी क्षण दारुण कामका संस्कार नष्ट हो जाता है, किसीसे नहीं रोका जा सकता, इसीप्रकार कर्मोदय छूट जाता है उसीक्षण आस्रव नाशको प्राप्त हो जाता है, रोका नहीं जा सकता, इसलिये वे (आस्रव) अशरण हैं; स्वयंरक्षित सहजचित्शक्तिरूप जीव ही शरण सहित है । आस्रव सदा आकुल-

विकल्पानंतरमेव शिथिलितकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृंभमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्त्तते। यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्त्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्त्तते। तावदास्रवेभ्यश्च निवर्त्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति-ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वं।

स्वभाववाले होनेसे दुःखरूप हैं; सदा निराकुल स्वभाववाला जीव ही अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है। आस्रव आगामीकालमें आकुलताको उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणामके हेतु होनेसे दुःखफलरूप (दुःख जिसका फल है ऐसे) हैं; जीव ही समस्त पुद्गलपरिणामका अहेतु होनेसे अदुःखफल (दुःखफलरूप नहीं) है। ऐसा आस्रवोंका और जीवका भेदज्ञान होते ही (तत्काल ही) जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है ऐसा वह आत्मा, जिसमें बादल समूहकी रचना खंडित हो गई है ऐसी दिशाके विस्तारकी भाँति अमर्याद जिसका विस्तार है ऐसा, सहजरूपसे विकासको प्राप्त चित्शक्तिसे ज्यों ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है त्यों त्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है, और ज्यों ज्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है त्यों त्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है; उतना विज्ञानघनस्वभाव होता है जितना सम्यक्प्रकारसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है और उतना आस्रवोंसे निवृत्त होता है जितना सम्यक्प्रकारसे विज्ञानघनस्वभाव होता है। इस प्रकार ज्ञानको और आस्रवोंकी निवृत्तिको समकालपना है।

भावार्थः—आस्रवोंका और आत्माका जैसा ऊपर कहा है, तदनुसार भेद जानते ही, जिस जिस प्रकारसे जितने जितने अंशमें आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता है उस उसप्रकारसे उतने उतने अंशमें वह आस्रवोंसे निवृत्त होता है। जब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव होता है तब समस्त आस्रवोंसे निवृत्त होता है, इसप्रकार ज्ञानका और आस्रवनिवृत्तिका एक काल है।

यह आस्रवोंको दूर होनेका और संवर होनेका वर्णन गुणस्थानोंकी परिपाटीरूपसे तत्त्वार्थसूत्रकी टीका आदि सिद्धांतोंमें है वहाँसे जानना। यहाँ तो सामान्य प्रकरण है इसलिये सामान्यतया कहा है।

'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है', इसका क्या अर्थ है? उत्तरः—'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है अर्थात् आत्मा विज्ञानमें स्थित होता जाता है'। जबतक मिथ्यात्व तबतक ज्ञानको (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अधिक हो तो भी) अज्ञान कहा जाता है, और मिथ्यात्वके जानेके बाद उसे (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प हो तो भी) विज्ञान कहा जाता है। ज्यों ज्यों वह ज्ञान अर्थात् विज्ञान स्थिर—घन होता जाता है त्यों त्यों आस्रवोंकी निवृत्ति होती जाती है, और ज्यों ज्यों आस्रवोंकी निवृत्ति होती जाती है, त्यों त्यों ज्ञान (विज्ञान) स्थिर—घन होता जाता है, अर्थात् आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है।

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम् ।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥४८॥ (शार्दूलविक्रीड़ित)

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत् ;—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ७५ ॥

अब, इसी अर्थका कलशरूप तथा आगेके कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार पूर्वकथित विधानसे अधुना (तत्काल) ही परद्रव्यसे उत्कृष्ट (सर्व प्रकारसे) निवृत्ति करके, विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपनेपर निर्भयतासे आरूढ़ होता हुआ, अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ (अथवा अपनेको निःशंकतया आस्तिक्य-भावसे स्थिर करता हुआ), अज्ञानसे उत्पन्न हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिके अभ्याससे उत्पन्न क्लेशोंसे निवृत्त हुआ, स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ जगतका साक्षी (ज्ञातादृष्टा), पुराणपुरुष (आत्मा) अब यहाँ से प्रकाशमान होता है । ७४ ।

अब, पूछते हैं कि—आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया, यह कैसे पहिचाना जाता है ? उसका चिह्न (लक्षण) कहिये । उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

गाथा ७५

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**आत्मा**] आत्मा [**एनं**] इस [**कर्मणः परिणामं च**] कर्मके परिणामको [**तथैव च**] तथा [**नोकर्मणः परिणामं**] नोकर्मके परिणामको [**न करोति**] नहीं करता, किन्तु [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**भवति**] है ।

टीकाः—निश्चय से मोह, राग द्वेष, सुख, दुःख आदिरूपसे अंतरंगमें उत्पन्न होता हुआ जो कर्मका परिणाम, और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदिरूपसे बाहर उत्पन्न होता हुवा जो नोकर्मका परिणाम, वह सब ही पुद्गलपरिणाम हैं । पर-मार्थसे, जैसे घड़ेके और मिट्टीके व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है, उसी

जो कर्मका परिणाम, अरु नोकर्मका परिणाम है ।
सो नहिं करे जो मात्र जाणे, वो हि आत्मा ज्ञानि है ॥७५॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम्।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ ७५ ॥

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्श-रसगंधवर्णशब्दबंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणाम च समस्तमपि परमार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापक-भावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रिय-माणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुंभकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्म-त्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा। किं तु परमार्थतः पुद्गलपरिणामज्ञानपुद्गलयोर्घट-कुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामात्मनोर्घटमृत्ति-

---

प्रकार पुद्गलपरिणामके और पुद्गलके व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक है इसलिये पुद्गलपरिणामका कर्ता है, और पुद्गलपरिणाम उस व्याप से स्वयं व्याप्त होनेके कारण कर्म है। इसलिये पुद्गलद्रव्यके द्वारा कर्ता होकर कर्मरूपसे किय जानेवाला जो समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलपरिणाम है, उसे जो आत्मा, पुद्गलपरिणामको औ आत्माको घट और कुम्हारकी भाँति व्याप्यव्यापकभावके अभावके कारण कर्ताकर्मपने क असिद्धि होनेसे, परमार्थसे करता नहीं है परन्तु (मात्र) पुद्गलपरिणामके ज्ञानको (आत्माके कर्मरूपसे करता हुवा अपने आत्माको जानता है; वह आत्मा (कर्म-नोकर्मसे) अत्यन्त भि ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है। (पुद्गलपरिणामका ज्ञान आत्माका कर्म किसप्रकार है सो समझाते हैं:—) परमार्थसे पुद्गलपरिणामके ज्ञानको और पुद्गलको घट और कुम्हार क भाँति व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ता-कर्मपनेकी असिद्धि है, और जैसे घड़े औ मिट्टी के व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ता-कर्मपना है, उसीप्रकार आत्मपरिणा और आत्माके व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ता-कर्मपना है। आत्मद्रव्य स्वतं व्यापक होनेसे आत्मपरिणामका अर्थात् पुद्गलपरिणामके ज्ञानका कर्ता है, और पुद्गलपरिणा का ज्ञान उस व्यापकसे स्वयं व्याप्य होनेसे कर्म है। और इस प्रकार (ज्ञाता पुद्गलपरिणामक ज्ञान करता है इसलिये) ऐसा भी नहीं है कि पुद्गल परिणाम ज्ञाताका व्याप्य है; क्योंकि पुद्गल और आत्मा के ज्ञेयज्ञायक सम्बन्धका व्यवहारमात्र होनेपर भी पुद्गलपरिणाम जिसक निमित्त है, ऐसा ज्ञान ही ज्ञाताका व्याप्य है। (इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाताका कर्म है)

अब, इसी अर्थका समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूपमें ही होती है, अतत्स्वरूपमें नहीं ही होती। और व्याप्यव्यापकभावके संभवके बिना कर्ताकर्मकी स्थिति कैसी ? अर्थात् कर्ताकर्मकी स्थिति

कयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात्। न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसंबंधव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात्।

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्॥ ४९॥ (शार्दूलविक्रीडित)

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्;—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उपज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं॥ ७६॥

नहीं ही होती। ऐसे प्रबल विवेकरूप और सबको ग्रासीभूत करनेके स्वभाव वाले ज्ञानप्रकाशके भारसे अज्ञानांधकारको भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर, उस समय कर्तृत्व रहित हुआ शोभित होता है।

भावार्थः—जो सर्व अवस्थाओंमे व्याप्त होता है सो तो व्यापक है, और कोई एक अवस्थाविशेष वह (उस व्यापकका) व्याप्य है; इसप्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही है। जो द्रव्यका आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है वही पर्यायका आत्मा, स्वरूप अथवा स्वत्व है। ऐसा होनेसे द्रव्य पर्यायमें व्याप्त होता है और पर्याय द्रव्यके द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसी व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूपमें ही (अभिन्न सत्ता वाले पदार्थमे ही) होती है; अतत्स्वरूपमें (जिनकी सत्तासत्त्व भिन्न भिन्न है ऐसे पदार्थोंमें) नहीं ही होती। जहाँ व्याप्यव्यापकभाव होता है वहीं कर्ताकर्मभाव होता है; व्याप्यव्यापकभावके बिना कर्ताकर्मभाव नहीं होता। जो ऐसा जानता है, वह पुद्गल और आत्माके कर्ताकर्मभाव नहीं है ऐसा जानता है। ऐसा जानने पर वह ज्ञानी होता है, कर्ताकर्मभावसे रहित होता है, और ज्ञातादृष्टा—जगत्का साक्षीभूत—होता है॥७५॥

अब, यह प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्मको जाननेवाले जीवके पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं:—

बहुभाँति पुद्गल कर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्य पर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे नहिं ऊपजे॥७६॥

णावि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ७६ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥ ७६ ॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परि-

---

गाथा ७६

अन्वयार्थः—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अनेकविधं**] अनेक प्रकारके [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्मको [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**खलु**] निश्चयसे [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्यकी पर्यायमें [**न अपि परिणमति**] परिणमित नहीं होता, [**न गृह्णाति**] उसे ग्रहण नहीं करता, [**न उत्पद्यते**] और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता।

टीकाः—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला पुद्गलका परिणामस्वरूप कर्म (कर्ताका कार्य), उसमे पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ, और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस पुद्गल परिणामको करता है। इस प्रकार पुद्गल द्रव्यसे किये जाने वाले पुद्गलपरिणामको ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमे अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अंतमें व्याप्त होकर, घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेके रूपमे परिणमित होती है और घड़ेके रूपमे उत्पन्न होती है उसीप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहने वाले) परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अंतमे व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिये, यद्यपि ज्ञानी पुद्गलकर्मको जानता है, तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करने वाले ज्ञानी का पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थः—जीव पुद्गलकर्मको जानता है, तथापि उसे पुद्गलके साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।

सामान्यतया कर्ताका कर्म तीनप्रकारका कहा जाता है—निर्वर्त्य, विकार्य, और प्राप्य। कर्ताके द्वारा, जो पहले न हो ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये सो कर्ताका निर्वर्त्यकर्म है। कर्ताके द्वारा, पदार्थमें विकार-परिवर्तन करके जो कुछ किया जाये वह

णमति न तथोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७६॥

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवति इति चेत्:—

णवि परिणमदि ण गिह्लदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥ ७७ ॥

नापि परिणामति न गृह्लात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ॥ ७७ ॥

कर्ताका विकार्यकर्म है । कर्ता, जो नया उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है वह कर्ताका प्राप्यकर्म है ।

जीव पुद्गलकर्मको नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि चेतन जड़को कैसे उत्पन्न कर सकता है, इसलिये पुद्गलकर्म जीवका निर्वर्त्यकर्म नहीं है । जीव पुद्गलमें विकार करके उसे पुद्गलकर्मरूप परिणमन नहीं करा सकता, क्योंकि चेतन जड़को कैसे परिणमित कर सकता है ? इसलिये पुद्गलकर्म जीवका विकार्यकर्म भी नहीं है । परमार्थसे जीव पुद्गलको ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिकको कैसे ग्रहण कर सकता है ? इसलिये पुद्गलकर्म जीवका प्राप्यकर्म भी नहीं है । इसप्रकार पुद्गलकर्म जीवका कर्म नहीं है, और जीव उसका कर्ता नहीं है । जीवका स्वभाव ज्ञाता है, इसलिये ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ स्वयं पुद्गलकर्मको जानता है; इसलिये पुद्गलकर्मको जाननेवाले ऐसे जीवका परके साथ कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? नहीं ही हो सकता ॥७६॥

अब, प्रश्न करता है कि अपने परिणामको जाननेवाले ऐसे जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ७७

अन्वयार्थः—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अनेकविधं**] अनेक प्रकारके [**स्वकपरिणामं**] अपने परिणामको [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**खलु**] निश्चयसे [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्यकी पर्यायमें [**न अपि परिणमति**] परिणमित नहीं होता, [**न गृह्णाति**] उसे ग्रहण नहीं करता [**न उत्पद्यते**] और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता ।

बहुभाँति निजपरिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे ।
पर द्रव्य पर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे नहिं ऊपजे ॥७७॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७७॥

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्;—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ७८ ॥

टीकाः—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा व्याप्यलक्षणवाला आत्माका परिणाम स्वरूप जो कर्म (कर्ताका कार्य), उसमे आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अंतमे व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ उस-रूप परिणमन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ उस आत्मपरिणामको करता है। इसप्रकार आत्माके द्वारा किये जाने वाले आत्मपरिणामको ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अंत मे व्याप्त होकर घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेके रूपमे परिणमित होती है, और घड़ेके रूपमे उत्पन्न होती है, उसीप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता इसलिये यद्यपि ज्ञानी अपने परिणामको जानता है, तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्य परिणाम-स्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थः—जैसा ७६ वीं गाथामें कहा है तदनुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गलकर्मको जानता हुआ ज्ञानी' ऐसा कहा था, उसके स्थानपर यहाँ 'अपने परिणामको जानता हुआ ज्ञानी' ऐसा कहा है इतना अन्तर है ॥७७॥

अब प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाले ऐसे जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं:—

पुद्गल कर्मका फल अनंता, ज्ञानि जन जाना करे।
परद्रव्य पर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे नहिं ऊपजे ॥७८॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतम् ॥ ७८ ॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तद्गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥ ७८ ॥

गाथा ७८

अन्वयार्थः—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**पुद्गलकर्मफलं**] पुद्गलकर्मका फल [**अनंतं**] जो कि अनन्त है, उसे [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**खलु**] परमार्थसे [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्यकी पर्यायरूप [**न अपि परिणमति**] परिणमित नहीं होता, [**न गृह्णाति**] उसे ग्रहण नहीं करता, [**न उत्पद्यते**] और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता।

टीकाः—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलस्वरूप जो कर्म (कर्ताका कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलको करता है इसप्रकार पुद्गलद्रव्यके द्वारा किये जाने वाले सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलको ज्ञानी जानता हुआ भी जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेके रूपमें परिणमित होती है, और घड़ेके रूपमें उत्पन्न होती है, उसी प्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले) ऐसे परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता, इसलिये यद्यपि ज्ञानी सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मके फलको जानता है, तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

ण वि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥ ७९ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ॥ ७९ ॥

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानन् पुद्गलद्रव्यं स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । किं तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति

भावार्थः – जैसा कि ७६ वीं गाथामें कहा गया था, तदनुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गलकर्मको जाननेवाला ज्ञानी' कहा था, और यहाँ उसके बदलेमें 'पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाला ज्ञानी' ऐसा कहा है,—इतना विशेष है ॥ ७८ ॥

अब प्रश्न करता है कि जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नहीं जाननेवाले ऐसे पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ७९

अन्वयार्थः—[**तथा**] इसप्रकार [**पुद्गलद्रव्यं अपि**] पुद्गलद्रव्य भी [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्यके पर्यायरूप [**न अपि परिणमति**] परिणमित नहीं होता, [**न गृह्णाति**] उसे ग्रहण नहीं करता, [**न उत्पद्यते**] और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह [**स्वकैः भावैः**] अपने ही भावोंसे (भावरूपसे) [**परिणमति**] परिणमन करता है।

टीकाः—जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर घड़ेको ग्रहण करती है, घड़े-रूप परिणमित होती है और घड़े-रूप उत्पन्न होती है, उसीप्रकार जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको न जानता हुआ ऐसा

इस भाँति पुद्गल द्रव्य भी, निज भावसे ही परिणमे।
परद्रव्य पर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे नहिं ऊपजे ॥७९॥

तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥ स्रग्धरा ॥

पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्य के परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणमित नहीं होता, और उस रूप उत्पन्न नहीं होता, परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे जो व्याप्यलक्षणवाले अपने स्वभावरूप कर्म (कर्ताके कार्य) में (वह पुद्गलद्रव्य) स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर उसीको ग्रहण करता है, उसी-रूप परिणमित होता है, और उसी-रूप उत्पन्न होता है इसलिये जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है उसे नहीं करता होने से उस पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है ।

भावार्थः—कोई ऐसा समझे कि पुद्गल जो कि जड़ है और किसीको नहीं जानता, उसका जीवके साथ कर्ताकर्मपना होगा, परन्तु ऐसा भी नहीं है । पुद्गलद्रव्य जीवको उत्पन्न नहीं कर सकता, परिणमित नहीं कर सकता, तथा ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिये उसका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है परमार्थसे किसी भी द्रव्यका किसी अन्यद्रव्यके साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञानी तो अपनी और परकी परिणतिको जानता हुआ प्रवर्तता है, और पुद्गलद्रव्य अपनी तथा परकी परणतिको न जानता हुआ प्रवर्तता है । इसप्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होनेसे (दोनो भिन्नद्रव्य होनेसे) वे दोनो परस्पर अंतरंगमें व्याप्यव्यापक-भावको प्राप्त होनेमें असमर्थ हैं । जीव-पुद्गलके कर्ताकर्मभाव है, ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञानके कारण वहाँ तक भासित होती है, कि जहाँतक (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति करवत की भाँति निर्दयतासे (उग्रतासे) जीव-पुद्गलका तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती ।

भावार्थः—भेदज्ञान होनेके बाद, जीव और पुद्गलमें कर्ताकर्मभाव है ऐसी बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि जबतक भेदज्ञान नहीं होता तबतक अज्ञानसे कर्ताकर्मभावकी बुद्धि होती है ।७६।

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह;-

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ ८० ॥

णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्लंपि ॥ ८१ ॥

एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८२ ॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८०॥

नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥ ८१ ॥

एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥ ८२ ॥

यद्यपि जीवके परिणाम और पुद्गलके परिणामके अन्योन्य (परस्पर) निमित्त मात्रता है, तथापि उनके कर्ताकर्मपना नहीं है ऐसा अब कहते हैं:—

गाथा ८०-८१-८२

अन्वयार्थः—[**पुद्गलाः**] पुद्गल [**जीवपरिणामहेतुं**] जीवके परिणामके निमित्तसे [**कर्मत्वं**] कर्मरूपमे [**परिणमंति**] परिणमित होते हैं, [**तथा एव**] तथा [**जीवः अपि**] जीव भी [**पुद्गलकर्मनिमित्तं**] पुद्गलकर्मके निमित्तसे [**परि-**

जिव भाव हेतू पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे।
पुद्गल करमके निमितसे, यह जीव भी त्यों परिणमे ॥ ८० ॥

जिव कर्मगुण कर्ता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म हि करे।
अन्योन्यके हि निमित्तसे, परिणाम दोनोंके बने ॥ ८१ ॥

इस हेतुसे आत्मा हुआ, कर्ता स्वयं निज भाव ही।
पुद्गल करमकृत सर्व भावोंका, कभी कर्ता नहीं ॥ ८२ ॥

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमंति पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेपि जीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः। ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभावस्य कर्त्ता कदाचित्स्यात्। मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः॥ ८० । ८१ । ८२॥

णमति] परिणमन करता है। [**जीवः**] जीव [**कर्मगुणान्**] कर्मके गुणोंको [**न अपि करोति**] नहीं करता [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्म**] कर्म [**जीवगुणान्**] जीवके गुणोको नहीं करता; [**तु**] परन्तु [**अन्योन्यनिमित्तेन**] परस्पर निमित्तसे [**द्वयोः अपि**] दोनोके [**परिणामं**] परिणाम [**जानीहि**] जानो। [**एतेन कारणेन तु**] इस कारणसे [**आत्मा**] आत्मा [**स्वकेन**] अपने ही [**भावेन**] भावसे [**कर्ता**] कर्ता (कहा जाता) है, [**तु**] परंतु [**पुद्गलकर्मकृतानां**] पुद्गलकर्मसे किये गये [**सर्वभावानां**] समस्त भावोंका [**कर्ता न**] कर्ता नहीं ह।

टीकाः—'जीवपरिणामको निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं,—इस प्रकार जीवके परिणामके और पुद्गलके परिणामके परस्पर हेतुत्वका उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्गलमें परस्पर व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे जीवको पुद्गलपरिणामोंके साथ और पुद्गलकर्मको जीवपरिणामों के साथ कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होनेसे, मात्र निमित्तनैमित्तिकभावका निषेध न होनेसे, परस्पर निमित्त मात्र होनेसे ही दोनोंके परिणाम (होना) है। इसलिये, जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है, (अर्थात् जैसे मिट्टी ही घड़ा बनाती है). उसीप्रकार अपने भावसे अपना भाव किया जाता है. इसलिये जीव अपने भावका कर्ता कदाचित् होता है, परन्तु जैसे मिट्टीसे कपड़ा नहीं किया जा सकता उसीप्रकार अपने भावसे परभावका किया जाना अशक्य है इसलिये (जीव) पुद्गलभावोंका कर्ता तो कदापि नहीं हो सकता, यह निश्चय है।

भावार्थः—जीवके परिणामके और पुद्गलके परिणामके परस्पर मात्र निमित्तनैमित्तिकपना है, तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है। परके निमित्तसे जो अपने भाव हुए उनका

ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च ।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ ॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम् ॥ ८३ ॥

यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषूत्तरंगनिस्तरंगावस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत् । यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्पर-

---

कर्ता सो जीवको अज्ञानदशामें कदाचित् कह भी सकते हैं, परन्तु जीव परभावका कर्ता कदापि नहीं है । ८०-८२ ।

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जीवको अपने ही परिणामोंके साथ कर्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यभाव (भोक्ताभोग्यपना) है, ऐसा अब कहते हैं:—

गाथा ८३

अन्वयार्थः—[**निश्चयनयस्य**] निश्चयनयका [**एवं**] ऐसा मत है कि [**आत्मा**] आत्मा [**आत्मानं एव हि**] अपनेको ही [**करोति**] करता है [**तु पुनः**] और फिर [**आत्मा**] आत्मा [**तं च एव आत्मानं**] अपनेको ही [**वेदयते**] भोगता है, ऐसा हे शिष्य ! तू [**जानीहि**] जान ।

टीका:—जैसे उत्तरंग[1] और निस्तरंग[2] अवस्थाओंको हवाका चलना और न चलना निमित्त होने पर भी हवा और समुद्रको व्याप्य-व्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है इसलिये, समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग अवस्थामें आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग ऐसा अपनेको करताहुआ स्वयं एकको ही करताहुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्यको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; और फिर जैसे वही समुद्र, भाव्यभावकभावके अभावके कारण परभावका परके द्वारा अनुभवन अशक्य होने से, अपने को उत्तरंग अथवा निस्तरंगरूप अनुभवन करता हुआ

आत्मा करे निजको हि ये, मंतव्य निश्चयनय हि का ।
अरु भोगता निजको हि आत्मा, शिष्य यों तू जानना ॥ ८३ ॥

भावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्। तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःसंसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्। तथायमेव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारं निःसंसारं वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन्प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ॥ ८३ ॥

अथ व्यवहारं दर्शयति:—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८४ ॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम्।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधं ॥ ८४ ॥

स्वयं एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्यको अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; इसी प्रकार संसार और निःसंसार अवस्थाओंको पुद्गलकर्मके विपाकका सम्भव (होना; उत्पत्ति) और असम्भव (न होना) निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीवको व्याप्यव्यापकभावका अभाव होने से कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है इसलिये, जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर संसार अथवा निःसंसार अवस्थामें आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर संसारयुक्त अथवा संसाररहित ऐसा अपने को करता हुआ, अपनेको एकको ही करताहुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्यको करता-हुआ प्रतिभासित न हो; और फिर उसीप्रकार यही जीव, भाव्यभावकभावके अभावके कारण परभावका परके द्वारा अनुभवन अशक्य है इसलिये संसारसहित अथवा संसाररहित अपनेको अनुभव करता हुआ, अपनेको एकको ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु अन्यको अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो।

भावार्थ—आत्माके परद्रव्य-पुद्गलकर्मके निमित्तसे संसारयुक्त और संसाररहित अवस्था है। आत्मा उस अवस्थारूपसे स्वयं ही परिणमित होता है इसलिये वह अपना ही कर्ता-भोक्ता है; पुद्गलकर्मका कर्ता-भोक्ता तो कदापि नहीं है ॥ ८३ ॥

अब, व्यवहार बतलाते हैं:—

आत्मा करे बहुभाँति पुद्गल-कर्म मत व्यवहारका।
अरु वो हि पुद्गलकर्म, आत्मा नेकविधमय भोगता ॥ ८४ ॥

यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूययाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोस्ति तावद्व्यवहारः, तथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसंभवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च

गाथा ८४

अन्वयार्थः—[**व्यवहारस्य तु**] व्यवहारनयका यह मत है कि [**आत्मा**] आत्मा [**नैकविधं**] अनेक प्रकारके [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्मको [**करोति**] करता है, [**पुनः च**] और [**तत् एव**] उसी [**अनेकविधं**] अनेक प्रकारके [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्मको [**वेदयते**] भोगता है।

टीका:—जैसे भीतर मिट्टी व्याप्यव्यापकभावसे घड़ेको करती है, और भाव्यभावकभावसे मिट्टी ही घड़ेको भोगती है तथापि बाह्यमे व्याप्यव्यापकभावसे घड़ेकी उत्पत्ति मे अनुकूल ऐसे (इच्छारूप और हाथ आदि की क्रियारूप अपने) व्यापारको करता हुआ तथा घड़ेके द्वारा किये गये पानीके उपयोगसे उत्पन्न तृप्तिको (अपने तृप्तिभावको) भाव्यभावकभावके द्वारा अनुभव करता हुआ—भोगता हुआ कुम्हार घड़ेका कर्ता है और भोक्ता है, ऐसा लोगोका अनादिसे रूढ़ व्यवहार है; उसीप्रकार, भीतर व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलद्रव्य, कर्मको करता है और भाव्यभावकभावसे पुद्गलद्रव्य ही कर्मको भोगता है, तथापि बाह्यमें व्याप्यव्यापकभावसे अज्ञानके कारण पुद्गलकर्मके होनेमे अनुकूल (अपने रागादिक) परिणामोंको करता हुआ और पुद्गलकर्मके विपाकसे उत्पन्न हुई विषयोंकी निकटतासे उत्पन्न (अपनी) सुखदु.खरूप परिणतिको भाव्यभावकभावके द्वारा अनुभव करता हुआ—भोगता हुआ जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है,—ऐसा अज्ञानियोका अनादि संसारसे प्रसिद्ध व्यवहार है।

भावार्थ·—पुद्गलकर्मको परमार्थसे पुद्गलद्रव्य ही करता है, जीव तो पुद्गलकर्मकी उत्पत्ति के अनुकूल अपने रागादिक परिणामोंको करता है। और पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म को भोगता है; तथा जीव तो पुद्गल कर्मके निमित्तसे होने वाले अपने रागादिक परिणामोंको भोगता है। परन्तु जीव और पुद्गलका ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव देखकर अज्ञानीको ऐसा

जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोस्ति तावद्व्यवहारः ॥ ८४ ॥

अथैनं दूषयतिः—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियाविदिरित्तो पसजदि सो जिणावमदं ॥ ८५ ॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा ।
द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतम् ॥८५॥

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोस्ति भिन्ना, परिणामोपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न

भ्रम होता है कि जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है। अनादि अज्ञानके कारण ऐसा अनादि कालसे प्रसिद्ध व्यवहार है।

परमार्थसे जीव-पुद्गलकी प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी जब तक भेद ज्ञान न हो तब तक बाहरसे उनकी प्रवृत्ति एकसी दिखाई देती है। अज्ञानीको जीव पुद्गलका भेदज्ञान नहीं होता, इसलिये वह ऊपरी दृष्टिसे जैसा दिखाई देता है वैसा मान लेता है; इसलिये वह यह मानता है कि जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है। श्री गुरु भेदज्ञान कराकर, परमार्थ जीव का स्वरूप बताकर, अज्ञानीके इस प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं॥ ८४ ॥

अब इस व्यवहारको दूषण देते हैं:—

गाथा ८५

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**आत्मा**] आत्मा [**इदं**] इस [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म को [**करोति**] करे [**च**] और [**तत् एव**] उसीको [**वेदयते**] भोगे तो [**सः**] वह आत्मा [**द्विक्रियाव्यतिरिक्तः**] दो क्रियाओंसे अभिन्न [**प्रसजति**] ठहरे, ऐसा प्रसंग आता है, [**जिनावमतं**] जो कि जिनदेवको सम्मत नही है।

टीकाः—पहले तो, जगतमें जो क्रिया है सो सब ही परिणामस्वरूप होनेसे वास्तव में परिणामसे भिन्न नहीं है (परिणाम ही है); परिणाम भी परिणामी से (द्रव्य से) भिन्न

पुद्गलकरम जिव जो करे, उनको हि जो जिव भोगवे ।
जिनको असंमत द्वि क्रिया, से एकरूप आत्मा हुवे ॥ ८५ ॥

भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रो-रव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति, भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गल-कर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततो यंस्वपरसमवेतक्रियाद्वया-व्यतिरिक्ततायां प्रसजंत्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमा-त्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ॥ ८५ ॥

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत्‌ः—

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥ ८६ ॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभाव च द्वावपि कुर्वंति ।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवति ॥ ८६ ॥

नहीं है क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है (भिन्न भिन्न दो वस्तु नहीं है) इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) जो कुछ क्रिया है वह सब ही क्रियावानसे (द्रव्य से) भिन्न नहीं है । इस प्रकार वस्तुस्थितिसे ही (वस्तुकी ऐसी ही मर्यादा होनेसे) क्रिया और कर्ताकी अभिन्नता सदा ही प्रगटित होनेसे, जैसे जीव व्याप्यव्यापकभावसे अपने परिणाम को करता है और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभव करता है—भोगता है, उसी प्रकार यदि व्याप्य-व्यापकभावसे पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्यभावकभावसे उसीको भोगे तो वह जीव अपनी और पर की एकत्रित हुई दो क्रियाओंसे अभिन्नताका प्रसंग आने पर स्व-परका परस्पर विभाग अस्त (नाश) हो जानेसे अनेक द्रव्यस्वरूप एक आत्माका अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिताके कारण सर्वज्ञके मतसे बाहर है ।

भावार्थः—दो द्रव्योकी क्रिया भिन्न ही है । जड़की क्रियाको चेतन नहीं करता और चेतनकी क्रियाको जड़ नहीं करता, जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियायें करता हुआ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्यकी क्रियाओं को एक द्रव्य करता है ऐसा मानना जिनेन्द्र भगवानका मत नहीं है ॥८५॥

अब पुनः प्रश्न करता है कि दो क्रियाओंका अनुभव करने वाला मिथ्यादृष्टि कैसे है ? उसका समाधान करते हैं:—

जिवभाव पुद्गल भाव दोनों भावको आतमा करे ।
इमसे हि मिथ्यादृष्टि, ऐसे द्विक्रियावादी हुवे ॥ ८६ ॥

यतः किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वंतमात्मानं मन्यंते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धांतः । मा-चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु । यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति न पुनः कलशकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति । तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य

गाथा ८६

अन्वयार्थः—[**यस्मात् तु**] क्योंकि [**आत्मभावं**] आत्माके भावको [**च**] और [**पुद्गलभावं**] पुद्गलके भावको–[**द्वौ अपि**] दोनोंको [**कुर्वंति**] आत्मा करते हैं, ऐसा वे मानते है [**तेन तु**] इसलिये [**द्विक्रियावादिनः**] एक द्रव्यके दो क्रियाओंका होना माननेवाले [**मिथ्यादृष्टयः**] मिथ्यादृष्टि [**भवंति**] हैं।

टीका:—निश्चयसे द्विक्रियावादी यह मानते हैं कि आत्माके परिणामको और पुद्गलके परिणामको स्वयं (आत्मा) करता है, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि ही है, ऐसा सिद्धान्त है। एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंके परिणाम किये गये प्रतिभासित न हों। जैसे कुम्हार घड़े की उत्पत्तिमें अनुकूल अपने (इच्छारूप और हस्तादिकी क्रियारूप) व्यापार परिणामको जो कि अपने से अभिन्न है और अपनेसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियासे किया जाता है उसे-करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घड़ा बनानेके अहंकारसे भरा हुआ होने पर भी (वह कुम्हार) अपने व्यापारके अनुरूप मिट्टीके घट-परिणामको–जो कि मिट्टीसे अभिन्न है, और मिट्टीसे अभिन्नपरिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है उसे करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; इसीप्रकार आत्मा भी अज्ञानके कारण पुद्गलकर्मरूप परिणामके अनुकूल अपने परिणामको–जो कि अपने से अभिन्न है और अपनेसे अभिन्न परिणतमात्र क्रियासे किया जाता है, उसे—करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु पुद्गलके परिणामको करनेके अहंकारसे भरा हुआ होने पर भी (वह आत्मा) अपने परिणामके अनुरूप पुद्गलके परिणामको–जो कि पुद्गलसे अभिन्न है और पुद्गलसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियासे किया जाता है, उसे–करता हुआ प्रतिभासित न हो।

परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु ।

> यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
> या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ ५१ ॥ (आर्या)
>
> एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
> एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ५२ ॥ (आर्या)
>
> नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
> उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥ ५३ ॥ (आर्या)

भावार्थः—आत्मा अपने ही परिणामको करता हुआ प्रतिभासित हो; पुद्गलके परिणामको करता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो । आत्माकी और पुद्गलकी दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है, ऐसा मानने वाले मिथ्यादृष्टि है । जड़—चेतनकी एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्योके पलट जानेसे सबका लोप हो जायगा यह महादोष उत्पन्न होगा ।

अब, इसी अर्थका समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—जो परिणमित होता है सो कर्ता है, जो (परिणमित होने वाले का) परिणाम है सो कर्म है, और जो परिणति है सो क्रिया है । यह तीनो वस्तुरूपसे भिन्न नहीं हैं।

भावार्थः—द्रव्यदृष्टिसे परिणाम और परिणामीका अभेद है, और पर्यायदृष्टिसे भेद है । भेददृष्टिसे तो कर्ता, कर्म, और क्रिया यह तीन कहे गये हैं. किन्तु यहाँ अभेददृष्टिसे परमार्थतः यह कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया—तीनो ही एक द्रव्यकी अभिन्न अवस्थायें हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्नवस्तुएं नहीं हैं ।

पुनः कहते हैं कि :—

अर्थः—वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है एकके ही सदा परिणाम होते हैं, (अर्थात् एक अवस्थासे अन्य अवस्था एक की ही होती है) और एक की ही परिणति-क्रिया होती है; क्योंकि अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है ।

भावार्थः— एक वस्तुकी अनेक पर्यायें होती हैं; उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है । वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदिसे भिन्न भिन्न प्रतिभासित होती हैं, तथापि एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं; ऐसा ही भेदाभेदस्वरूप वस्तुका स्वभाव है ।

और कहते हैं कि—

अर्थ —दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्योंका एक परिणाम नहीं

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ५४ ॥ (आर्या)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेहमित्युच्चकै
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥ ५५ ॥ (शार्दूल०)

होता, और दो द्रव्योंकी एक परिणति—क्रिया नहीं होती; क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही है, वे बदलकर एक नहीं हो जाते ।

भावार्थः—जो दो वस्तुएं है वे सर्वथा भिन्न ही है, प्रदेशभेद वाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होतीं, एक परिणामको उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती—ऐसा नियम है । यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हो तो सर्व द्रव्योंका लोप हो जाये ।

पुनः इस अर्थको दृढ़ करते हैं:—

अर्थः—एक द्रव्यके दो कर्ता नहीं होते, और एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते, तथा एक द्रव्यकी दो क्रियाएं नहीं होती; क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता ।

भावार्थः—इस प्रकार उपरोक्त श्लोकमें निश्चयनयसे अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे वस्तुस्थितिका नियम कहा है ।

आत्माके अनादिसे परद्रव्यके कर्ताकर्मपनेका अज्ञान है, यदि वह परमार्थनयके ग्रहणसे एक बार भी विलयको प्राप्त हो जाये तो फिर न आये, अब ऐसा कहते है ।

अर्थः—इस जगतमें मोही (अज्ञानी) जीवोंका 'परद्रव्यको मैं करता हूँ' ऐसा परद्रव्यके कर्तृत्वका महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार—जो अत्यन्त दुर्निवार है, अनादि संसार से चला आ रहा है । आचार्य कहते हैं कि—अहो ! परमार्थनयका अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक अभेदनयका ग्रहण करनेसे यदि वह एक बार भी नाशको प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्माको पुनः बंधन कैसे हो सकता है ? (जीव ज्ञानघन है, इसलिये यथार्थज्ञान होनेके बाद ज्ञान कहाँ जा सकता है ? और जब ज्ञान नहीं जाता तब फिर अज्ञानसे बंध कैसे हो सकता है ?)

भावार्थः—यहाँ तात्पर्य यह है कि—अज्ञान तो अनादिसे ही है, परन्तु परमार्थनय के ग्रहणसे दर्शनमोहका नाश होकर, एकबार यथार्थज्ञान होकर क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व न आये । मिथ्यात्वके न आनेसे मिथ्यात्वका बंध भी न हो, और मिथ्यात्वके जानेके बाद संसारका बन्धन कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता, अर्थात् मोक्ष ही होता है, ऐसा जानना चाहिये ।

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥ ५६ ॥ (अनुष्टुप्)

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥ ८७ ॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविध जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम् ।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥ ८७ ॥

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरंदव-

---

अब पुनः विशेपतापूर्वक कहते है :—

अर्थः—आत्मा तो सदा अपने भावोको करता है, और परद्रव्य परके भावोंको करता है; क्योकि जो अपने भाव हैं सो तो आप ही है, और जो परके भाव हैं सो पर ही है । (यह नियम है) ॥ ५६ ॥

(परद्रव्यके कर्ताकर्मपनेकी मान्यताको अज्ञान कहकर यह कहा है कि जो ऐसा मानता है सो मिथ्यादृष्टि है; यहाँ आशंका उत्पन्न होती है कि—यह मिथ्यात्वादिभाव क्या वस्तु हैं ? यदि उन्हें जीवका परिणाम कहा जाये तो पहले रागादिभावोंको पुद्गलका परिणाम कहा था, उस कथनके साथ विरोध आता है; और यदि उन्हें पुद्गलका परिणाम कहा जाये तो जिनके साथ जीवको कोई प्रयोजन नहीं है उनका फल जीव क्यों प्राप्त करे ? इस आशंकाको दूर करनेके लिये अब गाथा कहते है:—)

गाथा ८७

अन्वयार्थः—[**पुनः**] और [**मिथ्यात्वं**] जो मिथ्यात्व कहा है वह [**द्विविधं**] दो प्रकारका है–[**जीवः अजीवः**] एक जीव मिथ्यात्व और दूसरा अजीवमिथ्यात्व, [**तथा एव**] और इसीप्रकार [**अज्ञानं**] अज्ञान, [**अविरतिः**] अविरति, [**योगः**] योग, [**मोहः**] मोह तथा [**क्रोधाद्याः**] क्रोधादि कपाय– [**इमे भावाः**] यह सब भाव जीव और अजीवके भेदसे दो-दो प्रकारके है ।

टीका—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव है वे प्रत्येक मयूर और दर्पणकी भाँति, अजीव और जीवके द्वारा भाये जाते हैं इसलिये वे अजीव भी हैं और जीव

मिथ्यात्व जीव अजीव दोविध, उभयविध अज्ञान है ।
अविरमण योग रु मोह अरु क्रोधादि उभय प्रकार है ॥ ८७ ॥

जीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ। तथाहि—यथा नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव। यथा च नीलहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरंदेन भाव्यमाना मुकुरंद एव। तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव। तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव॥ ८७॥

काविह जीवाजीवाविति चेत्—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु॥ ८८॥

भी है। इसे दृष्टान्तसे समझाते हैं:—जैसे गहरानीला, हरा, पीला आदि (वर्णरूपभाव) जो कि मोरके अपने स्वभाव से मोरके द्वारा भाया जाता है (होता है), वह मोर ही है, और (दर्पण में प्रतिबिम्बरूपसे दिखाई देने वाला) गहरानीला, हरा, पीला इत्यादि भाव जो कि (दर्पण की) स्वच्छताके विकार मात्रसे दर्पणके द्वारा भाया जाता है, वह दर्पण ही है; इसी प्रकार मिथ्यादर्शन,अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि अजीवके अपने द्रव्यस्वभाव से अजीवके द्वारा भाये जाते हैं वे अजीव ही है और मिथ्यादर्शन, अज्ञान अविरति इत्यादि भाव जो कि चैतन्यके विकार मात्रसे जीवके द्वारा भाये जाते है वे जीव ही है।

भावार्थः—पुद्गलके परमाणु पौद्गलिक मिथ्यात्वादि कर्मरूपसे परिणमित होते हैं। उस कर्मका विपाक (उदय) होने पर उसमे जो मिथ्यात्वादि स्वाद उत्पन्न होता है वह मिथ्यात्वादि अजीव है; और कर्मके निमित्तसे जीव विभावरूप परिणमित होता है वे विभाव परिणाम चेतनके विकार है, इसलिये वे जीव हैं।

यहाँ यह समझना चाहिये कि—मिथ्यात्वादि कर्मकी प्रकृतियाँ पुद्गलद्रव्यके परमाणु है। जीव उपयोगस्वरूप है उसके उपयोगकी ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिककर्मका उदय होने पर उसके उदयका जो स्वाद आवे उसके आकार उपयोग हो जाता है अज्ञानीको अज्ञानके कारण उस स्वादका और उपयोगका भेदज्ञान नहीं है इसलिये वह स्वादको ही अपना भाव समझता है। जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीवभावको जीव जानता है, अजीवभाव को अजीव जानता है तब मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यक् ज्ञान होता है॥८७॥

अब प्रश्न करता है कि मिथ्यात्वादिको जीव और अजीव कहा है, सो वे जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि कौन हैं? उसका उत्तर कहते हैं:—

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः ।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥ ८८ ॥

यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्तांच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्तं पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः ॥ ८८ ॥

मिथ्यादर्शनादिचैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत् ;—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥ ८९ ॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥ ८९ ॥

गाथा ८८

अन्वयार्थः—[**मिथ्यात्वं**] जो मिथ्यात्व, [**योगः**] योग [**अविरतिः**] अविरति [**अज्ञानं**] और अज्ञान [**अजीवः**] अजीव है सो तो [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म है; [**च**] और जो [**अज्ञानं**] अज्ञान [**अविरतिः**] अविरति [**मिथ्यात्वं**] और मिथ्यात्व [**जीवः**] जीव है [**तु**] वह [**उपयोगः**] उपयोग है ।

टीका:—निश्चयसे जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव है वे तो अमूर्तिक चैतन्य परिणामसे अन्य मूर्तिक पुद्गल कर्म है । और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जीव हैं वे मूर्तिक पुद्गल द्रव्यसे अन्य चैतन्य परिणामके विकार हैं ॥ ८८ ॥

अब पुनः प्रश्न करता है कि—मिथ्यादर्शनादि चैतन्य परिणामका विकार कहाँ से हुआ ? इसका उत्तर गाथामें कहते हैं:—

गाथा ८९

अन्वयार्थः—[**मोहयुक्तस्य**] (अनादिसे) मोहयुक्त होनेसे [**उपयो-**

मिथ्यात्व अरु अज्ञान आदि अजीव, पुद्गल कर्म हैं ।
अज्ञान अरु अविरमण अरु मिथ्यात्व जिव, उपयोग हैं ॥८८॥
है मोहयुत उपयोगका परिणाम तीन अनादिका ।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान अविरतभाव ये त्रय जानना ॥ ८९ ॥

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः। स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोपि प्रभवन् दृष्टः। यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाःस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टव्यः॥ ८९ ॥

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयतिः—

गस्य] उपयोगके [**अनादयः**] अनादिसे लेकर [**त्रयः परिणामाः**] तीन परिणाम हैं; वे [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व [**अज्ञानं**] अज्ञान [**च अविरति भावः**] और अविरति भाव (ऐसे तीन) [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

टीकाः—यद्यपि निश्चयसे अपने निजरससे ही सर्व वस्तुओंकी अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमनमें सामर्थ्य है, तथापि (आत्माका) अनादिसे अन्य-वस्तुभूत मोहके साथ संयोग होनेसे आत्माके उपयोगका मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकार का परिणामविकार है। उपयोगका वह परिणामविकार स्फटिककी स्वच्छताके परिणामविकार की भाँति परके कारण (परकी उपाधिसे) उत्पन्न होता दिखाई देता है। इसी बातको स्पष्ट करते हैं:—जैसे स्फटिककी स्वच्छताकी, स्वरूप-परिणमनमें, (अपने उज्वलतारूप स्वरूपमें परिणमन करनेमे) सामर्थ्य होने पर भी कदाचित् (स्फटिकके) काले, हरे, और पीले, तमाल, केल और सोनेके पात्ररूपी आधारका संयोग होनेसे स्फटिककी स्वच्छताका काला, हरा और पीला-ऐसे तीन प्रकारका परिणामविकार दिखाई देता है, उसी प्रकार (आत्माके) अनादिसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है, ऐसे अन्य वस्तुभूत मोह का संयोग होनेसे आत्माके उपयोगका मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीनप्रकारका परिणाम विकार समझना चाहिये।

भावार्थः—आत्माके उपयोग मे यह तीन प्रकारका परिणामविकार अनादिकर्मके निमित्तसे है। ऐसा नहीं है कि पहले यह शुद्ध ही था और अब इसमें नया परिणामविकार हो गया है। यदि ऐसा हो तो सिद्धोंके भी नया परिणामविकार होना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि वह अनादिसे ही है॥ ८९॥

अब आत्माके तीन प्रकारके परिणामविकारका कर्तृत्व बतलाते हैं:—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥ ९० ॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥ ९० ॥

अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तुसर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोऽप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमा-

गाथा ९०

अन्वयार्थः—[**एतेषु च**] अनादिसे ये तीन प्रकारके परिणामविकार होनेसे [**उपयोगः**] आत्माका उपयोग यद्यपि [**शुद्धः**] (शुद्ध नयसे) शुद्ध [**निरंजनः**] निरंजन [**भावः**] (एक) भाव है, तथापि [**त्रिविधः**] तीन प्रकारका होता हुआ [**सः उपयोगः**] वह उपयोग [**यं भावं**] जिस (विकारी) भावको [**करोति**] स्वयं करता है [**तस्य**] उस भावका [**सः**] वह [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है।

टीका—इसप्रकार अनादिसे अन्य वस्तुभूत मोहके साथ संयुक्तताके कारण अपनेमें उत्पन्न होने वाले जो यह तीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप परिणामविकार हैं, उनके निमित्त (कारण) से–यद्यपि परमार्थसे तो उपयोग शुद्ध, निरंजन, अनादिनिधन वस्तुके सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावपनेसे एक प्रकारका है तथापि—अशुद्ध, सांजन, अनेकभावताको प्राप्त होता हुआ तीन प्रकारका होकर स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्वको प्राप्त, विकाररूप परिणमित होकर जिस जिस भावको अपना बनाता है उस उस भावका वह उपयोग, कर्ता होता है।

भावार्थ—पहले कहा था कि जो परिणमित होता है सो कर्ता है। यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ इसलिये जिस भावरूप वह परिणमित हुआ उस भावका उसे कर्ता कहा है। इसप्रकार उपयोगको कर्ता जानना चाहिये। यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे

इससे हि है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मल भाव जो।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भावका कर्ता बने ॥९०॥

न्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्त्ता स्यात् ॥ ९० ॥

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह;—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं ॥ ९१ ॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य ।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम् ॥ ९१ ॥

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्त्ता स्यात्साधकवत्तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते । तथाहि—यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्त्ता स्यात् । तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं

आत्मा कर्ता नहीं है, तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होनेसे अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे आत्माको भी कर्ता कहा जाता है ॥ ९० ॥

अब, यह कहते हैं कि जब आत्माके तीन प्रकारके परिणामविकारका कर्तृत्व होता है तब पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है ।

गाथा ९१

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] आत्मा [**यं भावं**] जिस भावको [**करोति**] करता है [**तस्य भावस्य**] उस भावका [**सः**] वह [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है; [**तस्मिन्**] उसके कर्ता होने पर [**पुद्गलं द्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य [**स्वयं**] अपने आप [**कर्मत्वं**] कर्मरूप [**परिणमते**] परिणमित होता है ।

टीका:—आत्मा स्वयं ही उसरूप परिणमित होनेसे जिस भावको वास्तवमें करता है उसका वह साधक (मन्त्र साधनेवाले) की भाँति कर्ता होता है । वह (आत्माका भाव) निमित्तभूत होने पर, पुद्गलद्रव्य कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होता है । इसी बातको स्पष्टतया समझाते हैं:—जैसे मंत्र-साधक उसप्रकारके ध्यानभावसे स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यान

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भावका कर्ता बने ।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्व रूपहि परिणमे ॥ ९१ ॥

कर्त्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यंते विषव्याप्तयो, विडंब्यंते योषितो, ध्वंस्यंते बंधास्तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्त्ता स्यात् । तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते ॥९१॥

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह;—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९२ ॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः ।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥ ९२ ॥

का कर्ता होता है, और वह ध्यानभाव समस्त साध्यभावोंको अनुकूल होनेसे निमित्तमात्र होने पर, साधकके कर्ता हुए बिना (सर्पादिकका) व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बनाको प्राप्त होती हैं और बंधन स्वयमेव टूट जाते है, इसी प्रकार यह आत्मा अज्ञानके कारण मिथ्यादर्शनादि भावरूप स्वयं ही परिणमित होता हुआ मिथ्यादर्शनादि भावका कर्ता होता है और वह मिथ्यादर्शनादि भाव पुद्गलद्रव्यको (कर्मरूप परिणमित होने में) अनुकूल होनेसे निमित्तमात्र होनेपर, आत्माके कर्ता हुए बिना पुद्गलद्रव्य मोहनीय आदि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं ।

भावार्थः—आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमित होता है किसीके साथ ममत्व करता है, किसीके साथ राग करता है, और किसीके साथ द्वेष करता है; उन भावोंका स्वयं कर्ता होता है । उन भावोंके निमित्त मात्र होने पर पुद्गलद्रव्य स्वयं अपने भावसे ही कर्मरूप परिणमित होता है । परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव मात्र है; किन्तु कर्ता तो दोनो अपने अपने भावके हैं, यह निश्चय है ॥ ९१ ॥

अब यह तात्पर्य कहते हैं कि अज्ञानसे ही कर्म उत्पन्न होता है:—

गाथा ९२

अन्वयार्थः—[**परं**] जो परको [**आत्मानं**] अपने रूप [**कुर्वन्**] करता है [**च**] और [**आत्मानं अपि**] अपनेको भी [**परं**] पर [**कुर्वन्**]

परको करे निजरूप अरु, निज आत्मको भी पर करे ।
अज्ञानमय ये जीव ऐसा, कर्मका कारक बने ॥ ९२ ॥

अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति। तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्तं तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना

करता है, [**सः**] वह [**अज्ञानमयः जीवः**] अज्ञानमय जीव [**कर्मणां**] कर्मोंका [**कारकः**] कर्ता [**भवति**] होता है।

टीका:—यह आत्मा अज्ञानसे अपना और परका परस्पर भेद (अन्तर) नहीं जानता हो तब वह परको अपने रूप और अपनेको पररूप करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ कर्मोंका कर्ता प्रतिभासित होता है। यह स्पष्टतासे समझाते हैं:—जैसे शीत-उष्ण का अनुभव करानेमे समर्थ शीत-उष्ण पुद्गल परिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होने वाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है इसी प्रकार ऐसा अनुभव करानेमे समर्थ राग-द्वेष-सुख-दु.खादिरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यंत भिन्न है, और उसके निमित्तसे होनेवाला उसप्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यंत भिन्न है। जब आत्मा अज्ञान के कारण उस रागद्वेष सुख दुःखादिका और उसके अनुभवका परस्पर विशेष नहीं जानता हो तब एकत्वके निश्चयके कारण, शीत-उष्णकी भाँति (जैसे शीत-उष्णरूपसे आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है, उसी प्रकार) जिस रूप आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है, ऐसे राग द्वेष सुख दुःखादिरूप अज्ञानात्माके द्वारा परिणमित होता हुआ (परिणमित होना मानता हुआ) ज्ञानका अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ, 'यह मै रागी हूँ' (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ) इत्यादि विधिसे रागादि कर्मका कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—रागद्वेष, सुखदु खादि अवस्था पुद्गलकर्मके उदयका स्वाद है; इसलिये वह, शीत-उष्णताकी भाँति, पुद्गलकर्मसे अभिन्न है और आत्मासे अत्यंत भिन्न है। अज्ञान के कारण आत्माको उसका भेदज्ञान न होनेसे वह यह जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है

परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणः कर्ता प्रतिभाति ॥ ९२ ॥

ज्ञानात्तु न कर्म प्रभवतीत्याह;—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥ ९३ ॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥ ९३ ॥

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलाद-

---

क्योंकि ज्ञानकी स्वच्छताके कारण राग द्वेषादिका स्वाद शीत-उष्णताकी भाँति ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होने पर, मानों ज्ञान ही रागद्वेष होगया हो इसप्रकार अज्ञानीको भासित होता है । इसलिये वह यह मानता है कि 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ' इत्यादि । इसप्रकार अज्ञानी जीव रागद्वेषादिका कर्ता होता है ॥ ९२ ॥

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानसे कर्म उत्पन्न नहीं होता:—

गाथा ९३

अन्वयार्थः—[**परं**] जो परको [**आत्मानं**] अपने रूप [**अकुर्वन्**] नहीं करता [**च**] और [**आत्मानं अपि**] अपनेको भी [**परं**] पर [**अकुर्वन्**] नहीं करता [**सः**] वह [**ज्ञानमयः जीवः**] ज्ञानमय जीव [**कर्मणां**] कर्मोंका [**अकारकः भवति**] अकर्ता होता है ।

टीका:—यह आत्मा जब ज्ञानसे परका और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) जानता है तब परको अपने रूप और अपनेको पर नहीं करता हुआ स्वयं ज्ञानमय होता हुआ कर्मोंका अकर्ता प्रतिभासित होता है । इसीको स्पष्टतया समझाते हैं.—जैसे शीत-उष्णका अनुभव करानेमें समर्थ शीत-उष्ण पुद्गल परिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण

परको नहीं निजरूप अरु, निज आत्मको नहिं पर करे ।
यह ज्ञानमय आत्मा, अकारक कर्मका ऐसे बने ॥ ९३ ॥

भिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्तं तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति ॥ ९३ ॥

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत्;—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ९४ ॥

आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है, और उसके निमित्तसे होने वाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है, उसी प्रकार वैसा अनुभव करानेमें समर्थ रागद्वेष, सुखदुःखादिरूप पुद्गल परिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है, और उसके निमित्तसे होने वाला उसप्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है। जब ज्ञानके कारण आत्मा उस रागद्वेष, सुखदु.खादिका और उसके अनुभवका परस्पर अन्तर जानता है तब, वे एक नहीं किन्तु भिन्न हैं ऐसे विवेक (भेद-ज्ञान) के कारण, शीत-उष्णकी भाँति (जैसे शीत-उष्णरूप आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसी प्रकार) जिनके रूपमें आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है ऐसे रागद्वेष, सुखदुःखादिरूपसे अज्ञानात्माके द्वारा किंचित्मात्र परिणमित न होता हुआ, ज्ञानका ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ स्वयं ज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं (रागको) जानता ही हूँ, रागी तो पुद्गल है (अर्थात् राग तो पुद्गल करता है)' इत्यादि विधिसे ज्ञानसे विरुद्ध समस्त रागादिकर्मका अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थः—जब आत्मा रागद्वेष, सुखदुःखादि अवस्थाको ज्ञानसे भिन्न जानता है, अर्थात् 'जैसे शीत-उष्णता पुद्गलकी अवस्था है उसीप्रकार राग द्वेषादि भी पुद्गलकी अवस्था है' ऐसा भेदज्ञान होता है, तब अपनेको ज्ञाता जानता है और रागादिरूप पुद्गलको जानता है। ऐसा होनेपर रागादिका कर्ता आत्मा नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है ॥ ९३ ॥

अब यह प्रश्न करता है कि अज्ञानसे कर्म कैसे उत्पन्न होता है? इसका उत्तर देते हुए कहते है कि:—

"मैं क्रोध" आत्मविकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप, जिवभावका कर्ता बने ॥ ९४ ॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्प करोति क्रोधोऽहम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९४ ॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामान्याधिकरण्येनानुभवनात्क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति। ततोयमात्मा क्रोधोहमिति भ्रांत्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात्। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥ ९४ ॥

गाथा ९४

अन्वयार्थः—[**त्रिविधः**] तीन प्रकारका [**एषः**] यह [**उपयोगः**] उपयोग [**अहं क्रोधः**] 'मै क्रोध हूँ' ऐसा [**आत्मविकल्पं**] अपना विकल्प [**करोति**] करता है; इसलिये [**सः**] आत्मा [**तस्य उपयोगस्य**] उस उपयोग-रूप [**आत्मभावस्य**] अपने भावका [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है।

टीका:—वास्तवमे यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रति (लीनता) से स्व-परके समस्त भेदको छिपाकर, भाव्य-भावकभाव को प्राप्त चेतन और अचेतनका सामान्य अधिकरण से (मानो उनका एक आधार हो इस प्रकार) अनुभव करनेसे, 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये 'मैं क्रोध हूँ' ऐसी भ्रान्तिके कारण जो सविकार (विकार युक्त) है, ऐसे चैतन्य-परिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सविकार चैतन्य परिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है। इसी प्रकार 'क्रोध' पदको बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन के सोलह सूत्र व्याख्यानरूपसे लेना चाहिये; और इस उपदेशसे दूसरे भी विचार करना चाहिये।

भावार्थ:—अज्ञानरूप अर्थात मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरति-रूप तीन प्रकारका जो सविकार चैतन्य परिणाम है वह अपना और परका भेद न जानकर 'मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ' इत्यादि मानता है; इसलिये अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सविकार चैतन्य परिणामका कर्ता होता है, और वह अज्ञानरूपभाव उसका कर्म होता है॥ ९४॥

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ धम्माई।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स॥ ९५ ॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९५ ॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः समानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोहमधर्मोहमाकाशमहं कालोहं पुद्गलोहं जीवांतरमहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति। ततोयमात्मा धर्मोहमधर्मोहमाकाशमहं कालोहं पुद्गलोहं जीवांतरमहमिति भ्रांत्या

अब इसी बातको विशेषरूप से कहते हैं:—

गाथा ९५

अन्वयार्थः—[त्रिविधः] तीन प्रकार का **[एषः] यह [उपयोगः]** उपयोग **[धर्मादिकं]** 'मै धर्मास्तिकाय आदि हूँ' ऐसा **[आत्म विकल्पं]** अपना विकल्प **[करोति]** करता है; इसलिये **[सः]** आत्मा **[तस्य उपयोगस्य]** उस उपयोग रूप **[आत्मभावस्य]** अपने भाव का **[कर्ता]** कर्ता **[भवति]** होता है।

टीकाः—वास्तव में यह सामान्यरूपसे अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप तीन प्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है वह परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रति (लीनता) से स्व-परके समस्त भेदको छिपाकर ज्ञेय ज्ञायक भावको प्राप्त ऐसे चेतन और अचेतनका सामान्य अधिकरणसे अनुभव करनेसे 'मै धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मै आकाश हूँ, मै काल हूँ, मै पुद्गल हूँ, मै अन्य जीव हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मै आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मै अन्य जीव हूँ' ऐसी भ्रान्तिके कारण जो सोपाधिक (उपाधियुक्त) है ऐसे चैतन्य परिणामको परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिक चैतन्य परिणामरूप अपने भावका कर्ता होता है।

"मैं धर्म" आदि विकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप, जिवभावका कर्ता बने॥ ९५ ॥

सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् ॥ ९५ ॥

ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं ;—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥ ९६ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥ ९६ ॥

यत्किल क्रोधोहमित्यादिवद्धर्मोहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि

भावार्थः—धर्मादिके विकल्पके समय जो, स्वयं शुद्ध चैतन्यमात्र होनेका भान न रखकर, धर्मादिके विकल्पमें एकाकार हो जाता है वह अपनेको धर्मादि द्रव्यरूप मानता है।

इस प्रकार, अज्ञानरूप चैतन्य परिणाम अपनेको धर्मादि द्रव्यरूप मानता है इसलिये अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्य परिणामका कर्ता होता है और वह अज्ञानरूपभाव उसका कर्म होता है ॥ ९५ ॥

"इसलिये कर्तृत्वका मूल अज्ञान सिद्ध हुआ" यह अब कहते हैं:—

गाथा ९६

अन्वयार्थः—[**एवं तु**] इस प्रकार [**मंदबुद्धिः**] अज्ञानी [**अज्ञानभावेन**] अज्ञान भावसे [**पराणि द्रव्याणि**] परद्रव्यों को [**आत्मानं**] अपने रूप [**करोति**] करता है [**अपि च**] और [**आत्मानं**] अपनेको [**परं**] पर [**करोति**] करता है।

टीका:—वास्तव में इस प्रकार, 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादिकी भाँति और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादिकी भाँति आत्मा परद्रव्यो को अपने रूप करता है और अपने को भी परद्रव्य रूप करता है; इसलिये यह आत्मा, यद्यपि समस्त वस्तुओंके सम्बन्ध से रहित अनन्त शुद्ध चैतन्य धातुमय है, तथापि अज्ञानके कारण ही सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्य परिणाम वाला होनेसे उस प्रकारके अपने भावका कर्ता प्रतिभासित होता है। इस प्रकार भूताविष्ट

यह मंदबुद्धी जीव यों, परद्रव्यको निजरुप करे।
इस भाँतिसे निज आत्मको, अज्ञानसे पररूप करे ॥ ९६ ॥

परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, तदयमशेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोप्य-ज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रति-भातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं। तथाहि—यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टंभनिर्भरभयंकरा-रंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। तथायमात्माप्य-ज्ञानादेव भाव्यभावकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्र-भाव्यक्रोधादिविकारकरंबितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। यथा वापरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषा-त्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रंकषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वा-रविनिस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। तथायमात्माप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नोइन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्मा-

---

(जिसके शरीर में भूत प्रविष्ट हो ऐसे) पुरुषकी भाँति और ध्यानाविष्ट (ध्यान करनेवाले) पुरुष की भाँति, आत्माके कर्तृत्वका मूल अज्ञान सिद्ध हुआ। यह प्रगट दृष्टान्तसे समझाते हैं:—जैसे भूताविष्ट पुरुष अज्ञानके कारण भूतको और अपनेको एक करता हुआ, अमनुष्यो-चित विशिष्ट चेष्टाओंके अवलम्बन सहित भयंकर आरम्भ (कार्य) से युक्त अमानुषिक व्यवहारवाला होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है; इसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ही भाव्य-भावकरूप परको और अपनेको एक करता हुआ, अविकार अनुभूतिमात्र भावकके लिये अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि विकारोंसे मिश्रित चैतन्य परिणाम विकार वाला होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है।

जैसे अपरीक्षक आचार्यके उपदेशसे भैंसेका ध्यान करता हुआ कोई भोला पुरुष अज्ञानके कारण भैंसेको और अपनेको एक करता हुआ, 'मैं गगनस्पर्शी सींगों वाला बड़ा भैंसा हूँ' ऐसे अध्यासके कारण मनुष्योचित मकानके द्वारमें से बाहर निकलनेसे च्युत होता हुआ उसप्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है। इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ज्ञेय-ज्ञायकरूप परको और अपनेको एक करता हुआ 'मै पर द्रव्य हूँ' ऐसे अध्यासके कारण मनके विषयभूत किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवके द्वारा (अपनी) शुद्ध चैतन्य धातु रुकी होनेसे तथा इन्द्रियोंके विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों के द्वारा (अपना) केवल बोध (ज्ञान) ढँका हुआ होनेसे और मृतक शरीरके द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वयं) मूर्च्छित हुआ होनेसे उसप्रकारके भावका कर्ता प्रतिभा-सित होता है।

काशकालपुद्गलजीवांतरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेंद्रियविषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ॥ ९६ ॥

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वं;—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥ ९७ ॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः ।
एवं खलु यो जानाति सो मुंचति सर्वकर्तृत्वम् ॥ ९७ ॥

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति । यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति, ततः स खल्वकर्ता

भावार्थः—यह आत्मा अज्ञानके कारण, अचेतन कर्मरूप भावकके क्रोधादि भाव्य को चेतन भावकके साथ एकरूप मानता है; और वह जड़ ज्ञेयरूप धर्मादि द्रव्योंको भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है। इसलिये वह सविकार और सोपाधिक चैतन्य परिणामका कर्ता होता है।

यहाँ क्रोधादिके साथ एकत्वकी मान्यतासे उत्पन्न होने वाला कर्तृत्व समझानेके लिये भूताविष्ट पुरुषका दृष्टांत दिया है और धर्मादिक अन्य द्रव्योंके साथ एकत्वकी मान्यतासे उत्पन्न होने वाला कर्तृत्व समझानेके लिये ध्यानाविष्ट पुरुषका दृष्टान्त दिया है ॥ ९६ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे कर्तृत्वका नाश होता है; यही अब कहते हैं:—

गाथा ९७

अन्वयार्थः—[**एतेन तु**] इसलिये [**निश्चयविद्भिः**] निश्चयके जानने वाले ज्ञानियोंने [**सः आत्मा**] उस आत्माको [**कर्ता**] कर्ता [**परिकथितः**] कहा है, [**एवं खलु**] ऐसा निश्चयसे [**यः**] जो [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह (ज्ञानी होता हुआ) [**सर्वकर्तृत्वं**] सर्व कर्तृत्वको [**मुंचति**] छोड़ता है।

टीका—क्योंकि यह आत्मा अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वका आत्म विकल्प करता है इसलिये वह निश्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है—जो ऐसा जानता है वह

इस हेतुसे परमार्थविद्, कर्त्ता कहें इस आत्मको ।
यह ज्ञान जिसको होय, वो छोड़े सकल कर्तृत्वको ॥ ९७ ॥

प्रतिभाति। तथाहि—इहायमात्मा किलाज्ञानीसन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात् ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति ततः क्रोधोहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो वारंवारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति। ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिद्धया प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात्। ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंतमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति। ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनागपि न करोति ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति।

समस्त कर्तृत्वको छोड़ देता है, इसलिये वह निश्चयसे अकर्ता प्रतिभासित होता है। इसे स्पष्ट समझाते हैं:—

यह आत्मा अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानके कारण अनादि संसारसे लेकर मिश्रित स्वादका स्वादन—अनुभवन होनेसे (अर्थात् पुद्गलकर्मका और अपने स्वादका एकमेकरूपसे-मिश्र अनुभव होनेसे), जिसकी भेद संवेदन (भेदज्ञान) की शक्ति संकुचित होगई है ऐसा अनादिसे ही है, इसलिये वह स्व-परको एकरूप जानता है; इसीलिये 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्म विकल्प करता है; इसलिये निर्विकल्प, अकृत्रिम एक विज्ञानघन (स्वभाव) से भ्रष्ट होता हुआ बारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

और जब आत्मा ज्ञानी होता है तब ज्ञानके कारण ज्ञानके प्रारंभसे लेकर पृथक्-पृथक् स्वादका अनुभवन होनेसे (पुद्गलकर्मका और अपने स्वादका एकरूप नहीं, किन्तु भिन्न भिन्नरूप अनुभवन होनेसे), जिसकी भेद संवेदनशक्ति प्रगट होगई है ऐसा होता है; इसलिये वह जानता है कि 'अनादिनिधन,—निरंतर स्वादमें आनेवाला, समस्त अन्य रसोंसे विलक्षण (भिन्न) अत्यन्त मधुर चैतन्य रस ही एक जिसका रस है ऐसा आत्मा है, और कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं; उनके साथ जो एकत्वका विकल्प करना है वह अज्ञानसे है'; इस प्रकार परको और अपनेको भिन्नरूप जानता है. इसलिये 'अकृत्रिम (नित्य), एक ज्ञान ही मैं हूँ किन्तु कृत्रिम (अनित्य) अनेक जो क्रोधादिक हैं वह मैं नहीं हूँ, ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प किंचित्मात्र भी नहीं करता; इसलिये समस्त कर्तृत्वको छोड़ देता है; अतः सदा ही उदासीन अवस्था वाला होता हुआ मात्र जानता ही रहता है; और इसलिये निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते। ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यंतमकर्ता प्रतिभाति।

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥ ५७ ॥ (वसन्ततिलका)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ॥ ५८ ॥ (शार्दूल०)

भावार्थः—जो परद्रव्यके और परद्रव्यके भावोंके कर्तृत्व को अज्ञान जानता है वह स्वय कर्ता क्यो बनेगा ? यदि अज्ञानी बना रहना हो तो पर द्रव्यका कर्ता बनेगा। इसलिये ज्ञान होनेके बाद परद्रव्यका कर्तृत्व नहीं रहता।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—निश्चयसे स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी अज्ञानके कारण जो जीव, घासके साथ एकमेक हुये सुन्दर भोजनको खाने वाले हाथी आदि पशुओंकी भाँति, राग करता है (रागका और अपना मिश्रस्वाद लेता है) वह, श्री खंडके खट्टे मीठे स्वादकी अति लोलुपता से श्री खंडको पीता हुआ-भी स्वयं गायका दूध पी रहा है ऐसा माननेवाले पुरुषके समान है।

भावार्थः—जैसे हाथीको घासके और सुन्दर आहारके भिन्न स्वादका भान नहीं होता उसीप्रकार अज्ञानीको पुद्गलकर्मका और अपने—भिन्न स्वादका भान नहीं होता; इसलिये वह एकाकाररूपसे-रागादिमे प्रवृत्त होता है। जैसे श्रीखंडका स्वादलोलुप पुरुष श्रीखंडके स्वाद भेदको न जानकर श्रीखंडके स्वादको मात्र दूधका स्वाद जानता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव स्व-परके मिश्र स्वादको अपना स्वाद समझता है।

अज्ञानसे ही जीव कर्ता होता है, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—अज्ञानके कारण मृगमरीचिकामें जलकी बुद्धि होनेसे हिरण उसे पीनेको दौड़ते हैं, अज्ञानके कारण ही अन्धकारमे पड़ी हुई रस्सीमें सर्पका अध्यास होनेसे लोग (भयसे) भागते हैं; और (इसी प्रकार) अज्ञानके कारण ये जीव, पवनसे तरंगित समुद्रकी भाँति विकल्पोंके समूहको करनेसे—यद्यपि वे स्वयं शुद्धज्ञानमय हैं, तथापि आकुलित होते हुए अपने आप ही कर्ता होते हैं।

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥ ५९ ॥ (वसंततिलका)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम् ॥६०॥ (मन्दाक्रान्ता)

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ ६१ ॥ (अनुष्टप्)

भावार्थः—अज्ञानसे क्या क्या नहीं होता ? हिरण बालू की चमकको जल समझकर पीने दौड़ते है और इसप्रकार वे खेदखिन्न होते हैं; अँधेरेमें पड़ी हुई रस्सीको सर्प मानकर लोग उससे डरकर भागते हैं इसीप्रकार यह आत्मा पवनसे क्षुब्ध हुये तरंगित समुद्र की भाँति, अज्ञानके कारण अनेक विकल्प करता हुआ क्षुब्ध होता है, और इसप्रकार—यद्यपि परमार्थसे वह शुद्धज्ञानघन है तथापि—अज्ञानसे कर्ता होता है ।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानसे आत्मा कर्ता नहीं होताः—

अर्थः—जैसे हंस दूध और पानीके विशेष (अन्तर) को जानता है उसी प्रकार जो जीव ज्ञानके कारण विवेक वाला (भेदज्ञान वाला) होनेसे परके और अपने विशेषको जानता है वह (जैसे हंस, मिश्रित हुवे दूध और पानीको अलग करके दूधको ग्रहण करता है, उसी प्रकार) अचल चैतन्य धातु मे आरूढ़ होता हुआ (उसका आश्रय लेता हुआ) मात्र जानता ही है किंचित् मात्र भी कर्ता नहीं होता ।

भावार्थः—जो स्व-परके भेदको जानता है वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं ।

अब, यह कहते हैं कि जो कुछ ज्ञात होता है वह ज्ञानसे ही होता हैः—

अर्थः—(गर्म पानी मे) अग्निकी उष्णताका और पानीकी शीतलताका भेद, ज्ञानसे ही प्रगट होता है, व्यंजनके स्वादसे नमकके स्वादकी सर्वथा भिन्नता ज्ञानसे ही प्रगट होती है, निजरससे विकसित होती हुई नित्य चैतन्य धातुका और क्रोधादि भावका भेद, कर्तृत्वको भेदता हुआ ज्ञानसे ही प्रगट होता है ।

अब, अज्ञानी भी अपने ही भावको करता है, किन्तु पुद्गलके भाव को कभी नहीं करताः—इस अर्थका, आगेकी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैंः—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ ६२ ॥ (अनुष्टुप्)

तथा हि:—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥ ९८ ॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥ ९८ ॥

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मकं

अर्थः—इस प्रकार वास्तव मे अपनेको अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ आत्मा अपने ही भावका कर्ता है, पर भावका (पुद्गलके भावोंका) कर्ता तो कदापि नहीं है ।

इसी बातको दृढ़ करते हुये कहते हैं किः—

अर्थः—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञानके अतिरिक्त अन्य क्या करे ? आत्मा पर भावका कर्ता है ऐसा मानना (तथा कहना) सो व्यवहारी जीवोंका मोह (अज्ञान) है ॥ ६७ ॥

अब कहते हैं कि व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं:—

गाथा ९८

अन्वयार्थः—[**व्यवहारेण तु**] व्यवहारसे अर्थात् व्यवहारीजन मानते हैं कि [**इह**] जगत में [**आत्मा**] आत्मा [**घटपटरथान्द्रव्याणि**] घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को [**च**] और [**करणानि**] इन्द्रियो को [**विविधानि**] अनेक प्रकार के [**कर्माणि**] क्रोधादि द्रव्य कर्मों को [**च नोकर्माणि**] और शरीरादिक नोकर्मों को [**करोति**] करता है ।

टीका:—जिससे अपने (इच्छारूप) विकल्प और (हस्तादि की क्रिया रूप) व्यापारके द्वारा यह आत्मा घट आदि पर द्रव्य स्वरूप बाह्य कर्मको कर्ता हुआ (व्यवहारी जनो को) प्रतिभासित होता है इसलिये उसी प्रकार (आत्मा) क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप

घटपटरथादिक वस्तुऐं, कर्मादि अरु सब इन्द्रियें ।
नोकर्म विधविध जगतमें, आत्मा करे व्यवहारसे ॥ ९८ ॥

बहिःकर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंतःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः ॥ ९८ ॥

स न सन् ;—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥ ९९ ॥

यदिखल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्य-

---

समस्त अन्तरंग कर्मको भी-(उपरोक्त) दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप हैं इसलिये उनमें अन्तर न होने से—कर्ता है, ऐसा व्यवहारी जनोंका व्यामोह (भ्रान्ति, अज्ञान) है।

भावार्थः—घट पट, कर्म (द्रव्यकर्म और भावकर्म) नो कर्म इत्यादि पर द्रव्योको आत्मा करता है, ऐसा मानना सो व्यवहारीजनोंका व्यवहार या अज्ञान है ॥ ९८ ॥

अब यह कहते है कि व्यवहारीजनोकी यह मान्यता यथार्थ नहीं है:—

गाथा ९९

अन्वयार्थः—[**यदि च**] यदि [**सः**] आत्मा [**परद्रव्याणि**] पर द्रव्योंको [**कुर्यात्**] करे तो वह [**नियमेन**] नियमसे [**तन्मयः**] तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय [**भवेत्**] हो जाये; [**यस्मात् न तन्मयः**] किन्तु तन्मय नहीं है [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह [**तेषां**] उनका [**कर्ता**] कर्ता [**न भवति**] नहीं है।

टीकाः—यदि निश्चयसे यह आत्मा परद्रव्य स्वरूप कर्मको करे तो, अन्य किसी प्रकारसे परिणाम—परिणामी भाव न बन सकने से, वह (आत्मा) नियमसे तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये; परन्तु वह तन्मय नहीं है क्योंकि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्यके नाश की आपत्ति, (दोष) आ जायेगा। इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता नहीं है।

परद्रव्यको जिव जो करे, तो जरूर वो तन्मय बने।
पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्ता जीव है ॥ ९९ ॥

थानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात् । न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोस्ति । ततो व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति ॥ ९९ ॥

निमित्तनैमित्तकभावेनापि न कर्तास्तिः—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०० ॥

जीवो न करोति घट नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि ।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥ १०० ॥

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषंगाद व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति नित्यकर्तृत्वानुषंगान्निमित्तनैमित्तकभावेनापि न

भावार्थ—यदि एक द्रव्यका कर्ता दूसरा द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जायें क्योंकि कर्ता-कर्मभाव अथवा परिणाम परिणामीभाव एक द्रव्य में ही हो सकता है। इसी प्रकार यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाये तो उस द्रव्यका ही नाश हो जाये यह बड़ा दोष आ जायेगा इसलिये एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता कहना उचित नहीं है ॥ ९९ ॥

अब यह कहते हैं कि आत्मा (व्याप्यव्यापकभावसे ही नहीं किन्तु) निमित्तनैमित्तिक भावसे भी कर्ता नहीं है:—

गाथा १००

अन्वयार्थः—[**जीवः**] जीव [**घटं**] घट को [**न करोति**] नहीं करता, [**पटं न एव**] पटको नहीं करता, [**शेषकानि**] शेष कोई [**द्रव्याणि**] द्रव्यो को [**न एव**] नहीं करता, [**च**] परन्तु [**योगोपयोगौ**] जीवके योग और उपयोग [**उत्पादकौ**] घटादिको उत्पन्न करनेवाले निमित्त हैं [**तयोः**] उनका [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] जीव होता है।

टीकाः—वास्तवमें जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं उन्हें आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे नहीं करता क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये; तथा वह निमित्तनैमित्तिकभावसे भी (उनको) नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्वका

जिव नहिं करे घट पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जिव करे ।
उपयोगयोग निमित्तकर्त्ता, जीव तत्कर्ता बने ॥ १०० ॥

तत्कुर्यात् । अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्त्तारौ योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ॥ १०० ॥

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्ः—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ १०१ ॥

ये पुद्गलद्रव्याणा परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि ।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ १०१ ॥

(सर्व अवस्थाओंमें कर्तृत्व रहनेका) प्रसंग आजायेगा । अनित्य (जो सर्व अवस्थाओंमे व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्तरूपसे उसके (परद्रव्यस्वरूप कर्मके) कर्ता हैं । (रागादि विकारयुक्त चैतन्य परिणामरूप) अपने विकल्पको और (आत्मप्रदेशोंके चलनरूप) अपने व्यापारको कदाचित् अज्ञानसे करनेके कारण योग और उपयोगका तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो (निमित्तरूपसे भी कदापि) नहीं है ।

भावार्थः—योग अर्थात् आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञानका कषायोंके साथ उपयुक्त होना—जुड़ना । यह योग और उपयोग घटादि और क्रोधादि के निमित्त हैं, इसलिए उन्हें घटादि तथा क्रोधादिका निमित्तकर्ता कहा जावे, परन्तु आत्माको तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता । आत्माको संसार अवस्थामे अज्ञानसे मात्र योग-उपयोगका कर्ता कहा जा सकता है ।

तात्पर्य यह है कि—द्रव्यदृष्टिसे कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कर्ता नहीं है, परंतु पर्यायदृष्टिसे किसी द्रव्यकी पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्यकी पर्यायकी निमित्त होती है, इसलिये इस अपेक्षासे एक द्रव्यके परिणाम अन्य द्रव्यके परिणामोंके निमित्तकर्ता कहलाते हैं । परमार्थसे द्रव्य अपने ही परिणामोंका कर्ता है, अन्यके परिणामका अन्यद्रव्य कर्ता नहीं होता ॥ १०० ॥

अब यह कहते है कि ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है:—

गाथा १०१

अन्वयार्थः—[ये] जो [ज्ञानावरणानि] ज्ञानावरणादिक [पुद्गल-

ज्ञानावरण आदिक सभी, पुद्गल दरव परिणाम हैं ।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वो ज्ञानि है ॥ १०१ ॥

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत्पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवंतो ज्ञानावरणानि भवंति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी किंतु यथा स गोरसाध्यक्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य जानात्येव ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥ १०१ ॥

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् ;—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ १०२ ॥

द्रव्याणां] पुद्गल द्रव्योके [**परिणामाः**] परिणाम [**भवंति**] है [**तानि**] उन्हे [**यः आत्मा**] जो आत्मा [**न करोति**] नहीं करता, परंतु [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**भवति**] है ।

टीका:—जैसे दूध-दही जो कि गोरसके द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरसके मीठे-खट्टे परिणाम है उन्हें, गोरसका तटस्थ द्रष्टापुरुष करता नहीं है, इसीप्रकार ज्ञानावरणादिक जोकि वास्तवमें पुद्गलद्रव्यके द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं, उन्हें ज्ञानी करता नहीं है, किंतु जैसे वह गोरसका द्रष्टा, स्वतः (देखनेवालेसे) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस-परिणामके दर्शनमें व्याप्त होकर, मात्र देखता ही है, इसीप्रकार ज्ञानी, स्वतः (जाननेवालेसे) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला, पुद्गलद्रव्य-परिणाम जिसका निमित्त है ऐसे ज्ञानमें व्याप्त होकर मात्र जानता ही है । इसप्रकार ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है ।

और इसीप्रकार 'ज्ञानावरण' पद पलटकर कर्म-सूत्रका (कर्मकी गाथाका) विभाग करके कथन करनेसे दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतरायके सात सूत्र तथा उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शनके सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना, और इसीप्रकार इस उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ॥ १०१ ॥

जो भाव जीव करे शुभाशुभ, उस हि का कर्ता बने ।
उसका बने वो कर्म, आत्मा उस हि का वेदक बने ॥ १०२ ॥

य भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥ १०२ ॥

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मंदतीव्रस्वादाभ्यामचलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं भिंदानः शुभमशुभं वा यो यं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद्भवति कर्ता, स भावोपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्यत्वाद्भवति कर्म । स एव चात्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वात् भवत्यनुभाव्यः । एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् ॥ १०२ ॥

अब यह कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्यके भावका कर्ता नहीं है:—

गाथा १०२

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] आत्मा [**यं**] जिस [**शुभं अशुभं**] शुभ या अशुभ [**भावं**] (अपने) भावको [**करोति**] करता है [**तस्य**] उस भावका [**सः**] वह [**खलु**] वास्तवमें [**कर्ता**] कर्ता होता है, [**तत्**] वह (भाव) [**तस्य**] उसका [**कर्म**] कर्म [**भवति**] होता है [**सः आत्मा तु**] और वह आत्मा [**तस्य**] उसका (उस भावरूप कर्मका) [**वेदकः**] भोक्ता होता है ।

टीका:—अपना अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वाद होनेपर भी इस लोकमें जो यह आत्मा अनादि कालीन अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वके अध्यास (निश्चय) से मंद और तीव्र स्वादयुक्त पुद्गलकर्मके विपाककी दो दशाओंके द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वादको भेदता हुआ अज्ञानरूप शुभ या अशुभ भावको करता है, वह आत्मा उस समय तन्मयतासे उस भावका व्यापक होनेसे उसका कर्ता होता है, और वह भाव भी उस समय तन्मयतासे उस आत्माका व्याप्य होनेसे उसका कर्म होता है; और वही आत्मा उस समय तन्मयतासे उस भावका भावक होनेसे उसका अनुभव करनेवाला (भोक्ता) होता है, और वह भाव भी उस समय तन्मयतासे उस आत्माका भाव्य होनेसे उसका अनुभाव्य (भोग्य) होता है । इसप्रकार अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं है ।

भावार्थ:—पुद्गलकर्मका उदय होनेपर ज्ञानी उसे जानता ही है अर्थात् वह ज्ञानका ही कर्ता होता है और अज्ञानी अज्ञानके कारण कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले अपने अज्ञानरूप शुभाशुभ भावोंका कर्ता होता है । इसप्रकार ज्ञानी अपने ज्ञानरूप भावका और अज्ञानी अपने अज्ञानरूप भावका कर्ता है; परभावका कर्ता तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी नहीं है ॥ १०२ ॥

न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येतः—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये ।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ॥ १०३ ॥

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः, स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तेत न पुनः द्रव्यांतरं गुणांतरं वा संक्रामेत। द्रव्यांतरं गुणांतरं वाऽसंक्रामंश्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत् । अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत ॥ १०३ ॥

अब यह कहते हैं कि परभावको कोई (द्रव्य) नहीं कर सकताः—

गाथा १०३

अन्वयार्थः—[**यः**] जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) [**यस्मिन् द्रव्ये**] जिस द्रव्यमें [**गुणे**] और गुणमें वर्तती है [**सः**] वह [**अन्यस्मिन् तु**] अन्य [**द्रव्ये**] द्रव्यमें तथा गुणमें [**न संक्रामति**] संक्रमणको प्राप्त नहीं होती (बदलकर अन्यमें नहीं मिल जाती), [**अन्यत् असंक्रान्तः**] अन्यरूपसे संक्रमणको प्राप्त न होती हुई [**सः**] वह वस्तु, [**तत् द्रव्यं**] अन्य वस्तुको [**कथं**] कैसे [**परिणामयति**] परिणमन करा सकती है ?

टीकाः—जगत्मे जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्यमें और गुणमें निजरससे ही अनादिसे ही वर्तती है, वह वास्तवमें अचलितवस्तुस्थितिकी मर्यादाको तोड़ना अशक्य होनेसे उसीमे (अपने उतने द्रव्यगुणमें ही) वर्तती है, परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमणको प्राप्त नहीं होती; तब द्रव्यांतर या गुणांतररूप संक्रमणको प्राप्त न होती हुई वह अन्य वस्तुको कैसे परिणमित करा सकती है ? (कभी नहीं करा सकती) इसलिये परभाव किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता।

भावार्थः—जो द्रव्यस्वभाव है उसे कोई भी नहीं बदल सकता; यह वस्तुकी मर्यादा है ॥ १०३ ॥

जो द्रव्य जो गुण द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे ।
अनसंक्रमा किसभाँति वह परद्रव्य प्रणमावे अरे ॥ १०३ ॥

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता:—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि ।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥ १०४ ॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥ १०४ ॥

यथा खलु मृण्मये कलशकर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति । तथा पुद्गलमयज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते । द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः

उपरोक्त कारणसे आत्मा वास्तवमे पुद्गलकर्मका अकर्ता सिद्ध हुआ, यह कहते हैं:—

गाथा १०४

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] आत्मा [**पुद्गलमये कर्मणि**] पुद्गलमय कर्ममें [**द्रव्यगुणस्य च**] द्रव्यको तथा गुणको [**न करोति**] नहीं करता; [**तस्मिन्**] उसमें [**तत् उभयं**] उन दोनोको [**अकुर्वन्**] न करता हुआ [**सः**] वह [**तस्यकर्ता**] उसका कर्ता [**कथं**] कैसे हो सकता है ?

टीका:—जैसे—मिट्टीमय घटरूपी कर्म जो कि मिट्टीरूपी द्रव्यमें और मिट्टीके गुणमें निजरससे ही वर्तता है उसमें कुम्हार अपनेको या अपने गुणको डालता या मिलाता नहीं है, क्योंकि (किसी वस्तुका) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूपमे संक्रमण होनेका वस्तुस्थिति से ही निषेध है; द्रव्यान्तर रूपमे (अन्य द्रव्य रूपमे) संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तुको परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण दोनोको उस घट रूपी कर्ममें न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थसे उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता । इसीप्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्यमें और पुद्गलके गुणोंमे निजरससे ही वर्तता है, उसमे आत्मा अपने द्रव्यको या अपने गुणको वास्तवमे डालता या मिलाता नहीं है क्योंकि (किसी वस्तु)

आत्मा करे नहिं द्रव्य गुण, पुद्गलमयी कर्मोंविषै ।
इन उभयको उनमें न कर्त्ता, क्यों हि तत्कर्त्ता बने ॥ १०४ ॥

परिणमयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात् । ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्त्ता ॥ १०४ ॥

अतोन्यस्तूपचारः—

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥ १०५ ॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामम् ।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥ १०५ ॥

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना

का द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूपमें संक्रमण होना अशक्य है; द्रव्यान्तररूपमें संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तुको परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण-दोनोंको ज्ञानावरणादि कर्मोंमें न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थसे उसका कर्ता कैसे हो सकता है ? (कभी नहीं हो सकता) इसलिये वास्तवमें आत्मा पुद्गलकर्मोंका अकर्ता सिद्ध हुआ ॥१०४॥

इसलिये इसके अतिरिक्त अन्य-अर्थात् आत्माको पुद्गलकर्मका कर्ता कहना सो उपचार है, अब यह कहते हैं :—

गाथा १०५

अन्वयार्थः—[**जीवे**] जीव [**हेतुभूते**] निमित्तभूत होने पर [**बंधस्य तु**] कर्म बंधका [**परिणामं**] परिणाम होता हुआ [**दृष्ट्वा**] देखकर '[**जीवेन**] जीवने [**कर्म कृतं**] कर्म किया' इसप्रकार [**उपचार मात्रेण**] उपचारमात्रसे [**भण्यते**] कहा जाता है ।

टीकाः—इस लोकमें वास्तवमें आत्मा स्वभावसे पौद्गलिककर्मका निमित्तभूत न होनेपर भी, अनादि अज्ञानके कारण, पौद्गलिक कर्मको निमित्तरूप होते हुवे अज्ञानभावमें परिणमता होनेसे, निमित्तभूत होनेपर पौद्गलिककर्म उत्पन्न होता है, इसलिये 'पौद्गलिककर्म

जिव हेतुभूत हुआ अरे, परिणाम देख जु बंधका ।
उपचारमात्र कहाय यों, यह कर्म आत्माने किया ॥ १०५ ॥

कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः ॥ १०५ ॥

कथं इति चेत् ;—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥ १०६ ॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥ १०६ ॥

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो न परमार्थः। तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि

आत्माने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघन स्वभावसे भ्रष्ट, विकल्प परायण अज्ञानियोंका विकल्प है; वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

भावार्थः—कदाचित् होनेवाले निमित्त नैमित्तिक भावमें कर्ताकर्मभाव कहना सो उपचार है ॥ १०५ ॥

अब यह उपचार कैसे है सो दृष्टांत द्वारा कहते हैं:—

गाथा १०६

अन्वयार्थः—[**योधैः**] योद्धाओंके द्वारा [**युद्धे कृते**] युद्ध किये जानेपर, '[**राज्ञा कृतं**] राजाने युद्ध किया' [**इति**] इसप्रकार [**लोकः**] लोक [**जल्पते**] (व्यवहारसे) कहते हैं, [**तथा**] उसीप्रकार '[**ज्ञानावरणादि**] ज्ञानावरणादि कर्म [**जीवेनकृतं**] जीवने किया' [**व्यवहारेण**] ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।

टीकाः—जैसे युद्धपरिणाममें स्वयं परिणमते हुवे योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर, युद्ध परिणाममें स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले राजामे ऐसा उपचार किया जाता है कि 'राजाने युद्ध किया,' यह परमार्थसे नहीं है; इसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म परिणामरूप स्वयं परिणमते हुवे पुद्गलद्रव्यके द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जानेपर ज्ञानावरणादि कर्म परि-

---

योद्धा करें जहँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
त्यों जीवने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहार से ॥ १०६ ॥

ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञाना-वरणादिकर्मेत्युपचारो न परमार्थः ॥ १०६ ॥

अत एतत्स्थितं;—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ १०७ ॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।
आत्मा पुद्गलद्रव्य व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ॥ १०७ ॥

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म । यत्तु

णामरूप स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले आत्मामें जो यह उपचार किया जाता है कि 'आत्माने ज्ञानावरणादिकर्म किये हैं,' वह परमार्थ नहीं है ।

भावार्थः—योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर भी उपचारसे यह कहा जाता है कि 'राजाने युद्ध किया', इसीप्रकार ज्ञानावरणादिकर्म पुद्गलद्रव्यके द्वारा किये जानेपर भी उपचारसे यह कहा जाता है कि 'जीवने कर्म किये' ॥ १०६ ॥

अब कहते हैं कि उपरोक्त हेतुसे यह सिद्ध हुआ कि:—

गाथा १०७

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] आत्मा [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्यको [**उत्पादयति**] उत्पन्न करता है, [**करोति च**] करता है, [**बध्नाति**] बाँधता है, [**परिणामयति**] परिणमन कराता है [**च**] और [**गृह्णाति**] ग्रहण करता है–यह [**व्यवहारनयस्य**] व्यवहारनयका [**वक्तव्यं**] कथन है ।

टीका—यह आत्मा वास्तवमें व्याप्य व्यापक भावके अभावके कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य-ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्मको ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता, और न उसे करता है न बाँधता है । तथा व्याप्य व्यापक-भावका अभाव होनेपर भी "प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य-पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको आत्मा ग्रहण करता है परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है" इत्यादिरूप

उपजावता प्रणमावता ग्रहता अवरु बांधे करे ।
पुद्गलदरबको आतमा, व्यवहारनय वक्तव्य है ॥ १०७ ॥

व्याप्यव्यापकभावाभावेपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ॥ १०७॥

कथमिति चेत् :—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥ १०८॥

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।
तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥ १०८ ॥

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः । तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्य-

---

विकल्प वास्तवमें उपचार है ।

भावार्थः—व्याप्यव्यापकभावके बिना कर्तृत्व कर्मत्व कहना सो उपचार है; इसलिये आत्मा पुद्गलद्रव्यको ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है इत्यादि कहना सो उपचार है ॥ १०७ ॥

अब यहाँ प्रश्न करता है कि यह उपचार कैसे है ? उसका उत्तर दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं :—

गाथा १०८

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**राजा**] राजाको [**दोषगुणोत्पादकः इति**] प्रजाके दोष और गुणोंको उत्पन्न करनेवाला [**व्यवहारात्**] व्यवहारसे [**आलपितः**] कहा है [**तथा**] उसी प्रकार [**जीवः**] जीवको [**द्रव्यगुणोत्पादकः**] पुद्गल द्रव्यके द्रव्य-गुणोंको उत्पन्न करने वाला [**व्यवहारात्**] व्यवहारसे [**भणितः**] कहा गया है ।

टीकाः—जैसे प्रजाके गुण दोषोमे और प्रजामे व्याप्यव्यापकभाव होनेसे स्वभावसे ही (प्रजाके अपने भावसे ही) उन गुण दोषोकी उत्पत्ति होने पर भी - यद्यपि उन गुण दोषों में और राजामें व्याप्यव्यापकभावका अभाव है तथापि—यह उपचारसे कहा जाता है कि 'उनका उत्पादक राजा है'; इसीप्रकार पुद्गलद्रव्यके गुण दोषोमे और पुद्गलद्रव्यमें व्याप्यव्यापक-

---

गुणदोष उत्पादक कहा, ज्यों भूपको व्यवहारसे ।
त्यों द्रव्यगुण उत्पन्न कर्त्ता, जिव कहा व्यवहारसे ॥ १०८ ॥

व्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेपु गुणदोषेपु व्याप्यव्यापकभावाभावेपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः ॥

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ॥ ६३ ॥ (वसंततिलका)

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥ १०९ ॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥ ११० ॥

भाव होनेसे स्व-भावसे ही (पुद्गलद्रव्यके अपने भावसे ही) उन गुण दोषोकी उत्पत्ति होने पर भी - यद्यपि गुण दोषोमे और जीवमे व्याप्यव्यापकभावका अभाव है, तथापि—'उनका उत्पादक जीव है', ऐसा उपचार किया जाता है ।

भावार्थ - जगत्‌में कहा जाता है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' । इस कहावतसे प्रजाके गुण दोषोंका उत्पन्न करने वाला राजा कहा जाता है । इसीप्रकार पुद्गलद्रव्यके गुणदोषोंको उत्पन्न करने वाला जीव कहा जाता है । किन्तु परमार्थदृष्टिसे देखा जाये तो यह यथार्थ नहीं किन्तु उपचार है ।

अब आगेकी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं :—

अर्थ—यदि पुद्गलकर्मको जीव नहीं करता तो फिर उसे कौन करता है ? ऐसी आशंका करके अब तीव्र वेग वाले मोहका (कर्तृत्वकर्मत्वके अज्ञानका) नाश करनेके लिये, यह कहते हैं कि 'पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है', इसलिये (हे ज्ञानके इच्छुक पुरुषो !) इसे सुनो ॥ १०८ ॥

सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बंधके कर्ता कहे ।
मिथ्यात्व अरु अविरमण, योग कषाय ये ही जानने ॥ १०९ ॥
फिर उनहिंका दर्शा दिया, यह भेद तेर प्रकारका ।
मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरमभेद सयोगिका ॥ ११० ॥

एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥ १११ ॥

गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११२ ॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यते बंधकर्तारः ।
मिथ्यात्वमविरमण कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥ १०९ ॥

तेषां पुनरपि चाय भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।
मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमातः ॥ ११० ॥

एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् ।
ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥ १११ ॥

गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात् ।
तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि ॥ ११२ ॥

अब, यह कहते हैं कि पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है :—

गाथा १०९–११०–१११–११२

अन्वयार्थः—[**चत्वारः**] चार [**सामान्यप्रत्ययाः**] सामान्य प्रत्यय[1] [**खलु**] निश्चयसे [**बंधकर्तारः**] बंधके कर्ता [**भण्यंते**] कहे जाते है, वे— [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व, [**अविरमणं**] अविरमण [**च**] तथा [**कषाययोगौ**] कषाय और योग [**बोद्धव्याः**] जानना [**पुनः अपि च**] और फिर [**तेषां**] उनका, [**अयं**] यह [**त्रयोदशविकल्पः**] तेरह प्रकारका [**भेदः तु**] भेद [**भणितः**] कहा गया है जो कि–[**मिथ्यादृष्ट्यादिः**] मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान) से लेकर [**सयोगिनः चरमांतः यावत्**] सयोग केवली (गुणस्थान) पर्यंत है ।

---

१ प्रत्यय=कर्मबन्धके कारण अर्थात् आस्रव;

पुद्गल करमके उदयसे, उत्पन्न इससे अजीव वे ।
वे जो करे कर्मो भले, भोक्ता भि नहिं जिवद्रव्य है ॥ १११ ॥
परमार्थसे 'गुण' नामके, प्रत्यय करें इन कर्मको ।
तिससे अकर्ता जीव है, गुणथान करते कर्मको ॥ ११२ ॥

पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ तद्विशेषाः मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बंधस्य सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्त्तारः, त एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यंतास्त्रयोदश कर्त्तारः। अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पादत्यंतमचेतनाः संतस्त्रयोदश कर्तारः केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव किं जीवस्यात्रापतितं। अथायं तर्कः—पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति। स किलाविवेको यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोपि कथं पुनः पुद्गलकर्मणः

[**एते**] यह (प्रत्यय अथवा गुणस्थान) [**खलु**] जो कि निश्चयसे [**अचेतनाः**] अचेतन हैं [**यस्मात्**] क्योंकि [**पुद्गलकर्मोदयसंभवाः**] पुद्गलकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं, [**ते**] वे [**यदि**] यदि [**कर्म**] कर्म [**कुर्वंति**] करते हैं तो भले करें; [**तेषां**] उनका (कर्मोंका) [**वेदकः अपि**] भोक्ता भी [**आत्मा न**] आत्मा नहीं है। [**यस्मात्**] क्योंकि [**एते**] यह [**गुणसंज्ञिताः तु**] 'गुण' नामक [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय [**कर्म**] कर्म [**कुर्वंति**] करते हैं [**तस्मात्**] इसलिये [**जीवः**] जीव [**अकर्ता**] कर्मोंका अकर्ता है, [**च**] और [**गुणाः**] 'गुण' ही [**कर्माणि**] कर्मोंको [**कुर्वंति**] करते हैं।

टीकाः—वास्तवमें पुद्गलकर्मका पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है, उसके विशेष—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगबंधके सामान्य हेतु होनेसे चार कर्ता हैं; उन्हींके भेद करने पर मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली पर्यंत तेरह कर्ता हैं। अब, जो पुद्गलकर्मके विपाकके प्रकार होनेसे अत्यन्त अचेतन हैं, ऐसे यह तेरह कर्ता ही मात्र व्याप्यव्यापकभावसे यदि कुछ भी पुद्गलकर्मको करें तो भले करें; इसमें जीवका क्या आया ?

यहाँ यह तर्क है कि "पुद्गलमय मिथ्यात्वादिको भोगता हुआ, जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्मको करता है।" (इसका समाधान यह है कि:—) यह तर्क वास्तवमें अविवेक है, क्योंकि भाव्यभावकभावका अभाव होनेसे आत्मा निश्चयसे पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादिका भोक्ता भी नहीं है तब फिर पुद्गलकर्मका कर्ता कैसे हो सकता है ? इसलिये यह सिद्ध हुआ कि:—जो पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य प्रत्ययोंके भेदरूप तेरह विशेष प्रत्यय हैं जो कि गुणशब्दसे (गुणस्थान नामसे) कहे जाते हैं, वही मात्र कर्मोंको करते हैं, इसलिए जीव पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है, किन्तु 'गुण' ही उनके कर्ता हैं; और वे 'गुण' तो पुद्गलद्रव्य ही हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्मका पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है।

कर्ता नाम । अथैतदायातं यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवला एव कुर्वंति कर्माणि। ततः पुद्गलकर्मणामकर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारस्ते तु पुद्गलद्रव्यमेव । ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ ॥ १०९–११०–१११–११२ ॥

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं;—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥ ११३ ॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥ ११४ ॥
अह दे अण्णो कोहो अणुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥ ११५ ॥

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः ।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ॥ ११३ ॥
एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाऽजीवः ।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम् ॥ ११४ ॥
अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ॥ ११५ ॥

भावार्थः—शास्त्रोंमे प्रत्ययोंको बंधका कर्ता कहा गया है। गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही हैं, इसलिये ये गुणस्थान बंधके कर्ता है अर्थात् पुद्गलकर्मके कर्ता हैं। और मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय या गुणस्थानरूप विशेष प्रत्यय अचेतन, पुद्गलद्रव्यमय ही हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्मका कर्ता है, जीव नहीं। जीवको पुद्गलकर्मका कर्ता मानना अज्ञान है ॥ १०९ से ११२ ॥

उपयोग ज्योंहि अनन्य जिवका, क्रोध त्योंही जीवका ।
तो दोष आवे जीव त्योंहि अजीवके एकत्वका ॥ ११३ ॥
यों जगतमें जो जीव वेहि अजीव भी निश्चय हुवे ।
नोकर्म, प्रत्यय, कर्मके एकत्वमें भी दोष ये ॥ ११४ ॥
जो क्रोध यों है अन्य, जिव उपयोग आत्मक अन्य है ।
तो क्रोधवत् नोकर्म प्रत्यय, कर्म भी सब अन्य हैं ॥ ११५ ॥

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोऽप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः। तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः। एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्वप्रतिपत्तावयमेव दोषः। अथैतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः इत्यभ्युपगमः तर्हि यथोपयोगा-

---

अब यह कहते हैं कि—जीव और उन प्रत्ययोंमे एकत्व नहीं है :—

गाथा ११३-११४-११५

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**जीवस्य**] जीवके [**उपयोगः**] उपयोग [**अनन्यः**] अनन्य अर्थात् एकरूप है [**तथा**] उसीप्रकार [**यदि**] यदि [**क्रोधोऽपि**] क्रोध भी [**अनन्यः**] अनन्य हो तो [**एवं**] इसप्रकार [**जीवस्य**] जीवके [**च**] और [**अजीवस्य**] अजीवके [**अनन्यत्वं**] अनन्यत्व [**आपन्नं**] आ गया। [**एवं च**] और ऐसा होनेसे, [**इह**] इस जगत्में [**यः तु**] जो [**जीवः**] जीव है-[**सः एव**] वही-[**नियमतः**] नियमसे [**तथा**] उसीप्रकार [**अजीवः**] अजीव सिद्ध हुआ, (दोनोके अनन्यत्व होनेमे यह दोष आया); [**प्रत्ययनोकर्मकर्मणां**] प्रत्यय, नोकर्म और कर्मके [**एकत्वे**] एकत्वमें भी [**अयं दोषः**] यही दोष आता है। [**अथ**] अब यदि (इस दोपके भयसे) [**ते**] तेरे मतमें [**क्रोधः**] क्रोध [**अन्यः**] अन्य है और [**उपयोगात्मकः**] उपयोग स्वरूप [**चेतयिता**] आत्मा [**अन्यः**] अन्य [**भवति**] है, तो [**यथा क्रोधः**] जैसे क्रोध है [**तथा**] वैसे ही [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय [**कर्म**] कर्म, [**नोकर्म अपि**] और नोकर्म भी [**अन्यत्**] आत्मासे अन्य ही है।

टीकाः—'जैसे जीवके उपयोगमयत्वके कारण जीवसे उपयोग अनन्य (अभिन्न) है उसीप्रकार जड़—क्रोध भी अनन्य ही है', यदि ऐसी [1]प्रतिपत्ति की जाये तो चिद्रूप (जीव) और जड़के अनन्यत्वके कारण जीवके उपयोगमयताकी भाँति जड़ क्रोधमयता भी आ जायेगी। और ऐसा होने पर जो जीव है, वही अजीव सिद्ध होगा; इसप्रकार अन्य द्रव्यका लोप हो जायेगा। इसीप्रकार 'प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जीवसे अनन्य हैं' ऐसी प्रतिपत्तिमें भी

---

१ प्रतिपत्ति=प्रतीति, प्रतिपादन;

त्मनो जीवादन्यो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषान्नास्ति जीवप्रत्यययोरेकत्वं ॥ ११३-११४-११५ ॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति:—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥ ११६ ॥

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ ११७ ॥

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि [1]चेदा ॥ ११८ ॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९ ॥

यही दोष आता है। इसलिये यदि इस दोषके भयसे यह स्वीकार किया जाये कि उपयोगात्मक जीव अन्य ही है और जड़-स्वभाव व क्रोध अन्य ही है, तो जैसे उपयोगात्मक जीवसे जड़-स्वभाव क्रोध अन्य है उसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं क्योंकि उनके जड़स्वभावत्वमें अन्तर नहीं है; (अर्थात् जैसे क्रोध जड़ है, उसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जड़ हैं।) इसप्रकार जीव और प्रत्ययमें एकत्व नहीं है।

भावार्थ:—मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़ स्वभाव हैं और जीव चेतन स्वभाव है। यदि जड़ और चेतन एक हो जाये तो भिन्न द्रव्योंके लोप होनेका महा दोष आता है। इसलिये निश्चयनयका यह सिद्धान्त है कि आस्रव और आत्मामें एकत्व नहीं है ॥११३ से ११५॥

---

१ णाणी इत्यपि पाठः ।

जिवमें स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहिं कर्मभावों परिणमे ।
तो वो हि पुद्गल द्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे ॥ ११६ ॥
जो वर्गणा कार्माणकी, नहिं कर्मभावों परिणमे ।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ॥ ११७ ॥
जो कर्म भावों परिणमावे जीव पुद्गल द्रव्यको ।
क्यों जीव उसको परिणमावे, स्वयं नहिं परिणमत जो ॥ ११८ ॥
स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्म भावों परिणमे ।
जिव परिणमावे कर्मको, कर्मत्वमें मिथ्या बने ॥ ११९ ॥

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥ १२० ॥

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन ।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥ ११६ ॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ ११७ ॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन ।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता ॥ ११८ ॥
अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यम् ।
जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥ ११९ ॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम् ।
तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥ १२० ॥

अब सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्गल द्रव्यका परिणामस्वभावत्व सिद्ध करते हैं (अर्थात सांख्यमतवाले प्रकृति और पुरुषको अपरिणामी मानते हैं, उन्हें समझाते हैं):—

गाथा ११६-११७-११८-११९-१२०

अन्वयार्थः—[**इदं पुद्गलद्रव्यं**] यह पुद्गलद्रव्य [**जीवे**] जीव में [**स्वयं**] स्वयं [**बद्धं न**] नहीं बँधा [**कर्मभावेन**] और कर्म भावसे [**स्वयं**] स्वयं [**न परिणमते**] नहीं परिणमता, यदि ऐसा माना जाये [**तदा**] तो वह [**अपरिणामी**] अपरिणामी [**भवति**] सिद्ध होता है [**च**] और [**कार्मण-वर्गणासु**] कर्मण वर्गणाऐं [**कर्म भावेन**] कर्म भावसे [**अपरिणममानासु**] नहीं परिणमती होनेसे [**संसारस्य**] संसारका [**अभावः**] अभाव [**प्रसजति**] सिद्ध होता है [**वा**] अथवा [**सांख्य समयः**] सांख्यमतका प्रसंग आता है ।

[**जीवः**] और जीव [**पुद्गलद्रव्याणि**] पुद्गलद्रव्योंको [**कर्मभावेन**] कर्मभावसे [**परिणामयति**] परिणमाता है, ऐसा माना जाये तो यह प्रश्न होता है

पुद्गल दरव जो कर्म परिणत, नियमसे कर्महि बने ।
ज्ञानावरण इत्यादि परिणत वोहि तुम जानो उसे ॥ १२० ॥

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धसत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात्। तथा सति संसाराभावः। अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणमयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः? किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत्? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत। न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते। ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु। तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश

कि [**स्वयं अपरिणममानानि**] स्वयं नहीं परिणमती हुई [**तानि**] उन वर्गणाओं को [**चेतयिता**] चेतन आत्मा [**कथं नु**] कैसे [**परिणामयति**] परिणमन करा सकता? [**अथ**] अथवा यदि [**पुद्गलं द्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य [**स्वयमेव हि**] अपने आप ही [**कर्मभावेन**] कर्मभावसे [**परिणमते**] परिणमन करता है,–ऐसा माना जाये तो [**जीवः**] जीव [**कर्म**] कर्मको अर्थात् पुद्गलद्रव्यको [**कर्मत्वं**] कर्मरूप [**परिणामयति**] परिणमन कराता है [**इति**] यह कथन [**मिथ्या**] मिथ्या सिद्ध होता है।

[**नियमात्**] इसलिये जैसे नियमसे [**कर्म परिणतं**] कर्मरूप (कर्ताके कार्यरूपसे) परिणमित [**पुद्गलं द्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य [**कर्म चैव**] कर्म ही [**भवति**] है [**तथा**] इसीप्रकार [**ज्ञानावरणादिपरिणतं**] ज्ञानावरणादि रूप परिणमित [**तत्**] पुद्गलद्रव्य [**तत् चैव**] ज्ञानावरणादि ही है [**जानीत**] ऐसा जानो।

टीका:—यदि पुद्गलद्रव्य जीव मे स्वयं न बँधकर कर्म भावसे स्वयमेव परिणमता न हो, तो वह अपरिणामी ही सिद्ध होगा; और ऐसा होने से संसारका अभाव होगा। (क्योंकि यदि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप नहीं परिणमे तो जीव कर्मरहित सिद्ध होवे; तब फिर संसार किसका?) यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि "जीव पुद्गल द्रव्य को कर्म भावसे परिणमाता है, इसलिये संसारका अभाव नहीं होगा;" तो उसका निराकरण दो पक्षों को लेकर इस प्रकार किया जाता है कि:—क्या जीव, स्वयं अपरिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुए को दूसरेके द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता, क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। (इसलिये प्रथम पक्ष असत्य है) और स्वयं परिणमते हुए को अन्य परिणमाने

इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात्। इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं ॥

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ ६४ ॥ (उपजाति)

जीवस्य परिणामित्वं साधयतिः—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥ १२१ ॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२२ ॥

वालेकी अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखतीं। (इसलिये दूसरा पक्ष भी असत्य है।) अतः पुद्गलद्रव्य परिणमन स्वभाव वाला स्वयमेव हो ऐसा होने से, जैसे घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है उसी प्रकार जड़ स्वभाव वाले ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्यका परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस प्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई और उसके सिद्ध होने पर पुद्गलद्रव्य अपने जिस भावको करता है उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

भावार्थः—सर्व द्रव्य परिणमन स्वभाव वाले हैं इसलिये वे अपने अपने भावके स्वयं ही कर्ता हैं। पुद्गलद्रव्य भी अपने जिस भावको करता है उसका वह स्वयं ही कर्ता है ॥ ११६ से १२० ॥

अब, जीवका परिणामित्व सिद्ध करते हैं:—

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे।
तो जीव यह तुझ मतविषैं, परिणमनहीन बने अरे ॥ १२१ ॥
क्रोधादि भावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे।
संसारका हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ॥ १२२ ॥

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥ १२३ ॥

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥ १२४ ॥

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥ १२५ ॥

न स्वय बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥ १२१ ॥

अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ १२२ ॥

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्व ।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ॥ १२३ ॥

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः ।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥ १२४ ॥

क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥ १२५ ॥

गाथा १२१-१२२-१२३-१२४-१२५

अन्वयार्थः—सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! [**एषः**] यह [**जीवः**] जीव [**कर्मणि**] कर्म में [**स्वयं**] स्वयं [**बद्धः न**] नहीं बँधा है, [**क्रोधादिभिः**] और क्रोधादि भावसे [**स्वयं**] स्वयं [**न परिण-**

जो क्रोध पुद्गलकर्म जिवको, परिणमावे क्रोधमें ।
क्यों क्रोध उसको परिणमावे जो स्वयं नहिं परिणमे ॥ १२३ ॥

अथवा स्वयं जिव क्रोधभावों परिणमे तुझ बुद्धिसे ।
तो क्रोध जिवको परिणमावे क्रोधमें मिथ्या बने ॥ १२४ ॥

क्रोधोपयोगी क्रोध जिव, मानोपयोगी मान है ।
मायोपयुत माया अवरु लोभोपयुत लोभहि बने ॥ १२५ ॥

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स किलापरिणाम्येव स्यात्। तथा सति संसाराभावः। अथ पुद्गलकर्मक्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः। किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत्? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणमयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्तिः

मते] नहीं परिणमता; [**यदि तव**] यदि तेरा यह मत है [**तदा**] तो वह (जीव) [**अपरिणामी**] अपरिणामी [**भवति**] सिद्ध होता है; [**जीवे**] और जीव [**स्वयं**] स्वयं [**क्रोधादिभिः भावैः**] क्रोधादि भावरूप [**अपरिणममाने**] नहीं परिणमता होने से [**संसारस्य**] संसारका [**अभावः**] अभाव [**प्रसजति**] सिद्ध होता है, [**वा**] अथवा [**सांख्यसमयः**] सांख्यमतका प्रसंग आता है।

[**पुद्गलकर्म क्रोधः**] और, पुद्गलकर्म जो क्रोध है वह [**जीवं**] जीवको [**क्रोधत्वं**] क्रोधरूप [**परिणामयति**] परिणमन कराता है, ऐसा तू माने तो यह प्रश्न होता है कि [**स्वयं अपरिणममानं**] स्वयं नहीं परिणमते हुए [**तं**] उस जीवको [**क्रोधः**] क्रोध [**कथंनु**] कैसे [**परिणामयति**] परिणमन करा सकता है? [**अथ**] अथवा यदि [**आत्मा**] आत्मा [**स्वयं**] अपने आप [**क्रोध भावेन**] क्रोधभावसे [**परिणमते**] परिणमता है [**एषा ते बुद्धिः**] ऐसी तेरी बुद्धि हो तो [**क्रोधः**] क्रोध [**जीवं**] जीव को [**क्रोधत्वं**] क्रोधरूप [**परिणामयति**] परिणमन कराता है [**इति**] यह कथन [**मिथ्या**] मिथ्या सिद्ध होता है।

इसलिये यह सिद्धान्त है कि [**क्रोधोपयुक्तः**] क्रोध में उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकार परिणमित हुआ है ऐसा) [**आत्मा**] आत्मा [**क्रोधः**] क्रोध ही है [**मानोपयुक्तः**] मान में उपयुक्त आत्मा [**मानः एव**] मान ही है, [**मायोपयुक्तः**] माया में उपयुक्त आत्मा, [**माया**] माया है, [**च**] और [**लोभोपयुक्तः**] लोभ में उपयुक्त आत्मा [**लोभः**] लोभ [**भवति**] है।

टीका:—यदि जीव कर्ममें स्वयं न बँधता हुआ क्रोधादि भावमें स्वयमेव नहीं परिणमता हो तो वह वास्तवमें अपरिणामी ही सिद्ध होगा; और ऐसा होनेसे संसारका अभाव होगा। यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि "पुद्गलकर्म जो क्रोधादिक हैं वे

कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तु-शक्तयः परमपेक्षंते । ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु । तथा सति गरुडध्यान-परिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः स एव स्वयं क्रोधादिः स्यादिति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वं ॥

स्थितेति जीवस्य निरंतराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥ ६५ ॥

तथाहि:—

जीवको क्रोधादिभावरूप परिणमाते हैं, इसलिये संसारका अभाव नहीं होता," तो उसका निराकरण दो पक्ष लेकर इसप्रकार किया जाता है कि:—पुद्गल कर्म क्रोधादिक है वह स्वयं अपरिणमते हुए जीवको क्रोधादि भावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को ? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुएको परके द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता; क्योंकि (वस्तुमें) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता । और स्वयं परिणमते हुए को तो अन्य परिण-माने वालेकी अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखती । (इस-प्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं ।) इसलिये जीव परिणमन स्वभाववाला स्वयमेव हो, ऐसा होनेसे, जैसे गरुड़के ध्यानरूप परिणमित मंत्र साधक स्वयं गरुड़ है, उसीप्रकार अज्ञान स्वभावयुक्त क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादि है । इसप्रकार जीवका परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ ।

भावार्थ:—जीव परिणाम स्वभाव है । जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है, ऐसा जानना ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—इसप्रकार जीवकी स्वभावभूत परिणमन शक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई । यह सिद्ध होने पर जीव अपने जिस भावको करता है उसका वह कर्ता होता है ।

भावार्थ:—जीव भी परिणामी है, इसलिये स्वयं जिस भावरूप परिणमता है उसका कर्ता होता है । १२१—१२५ ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानमयभावका और अज्ञानी अज्ञानमयभावका कर्ता है:—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥ १२६ ॥

य करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः ।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥ १२६ ॥

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत । स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात् । अज्ञानिनः तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात् ॥ १२६ ॥

गाथा १२६

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] आत्मा [**यं भावं**] जिस भावको [**करोति**] करता है [**तस्य कर्मणः**] उस भावरूप कर्मका [**सः**] वह [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीको तो [**सः**] वह भाव [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमय है [**अज्ञानिनः**] और अज्ञानीको [**अज्ञानमयः**] अज्ञानमय है ।

टीकाः—इसप्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणाम स्वभाववाला है, तथापि अपने जिस भावको करता है, उस भावका ही—कर्मत्वको प्राप्त हुएका ही—कर्ता वह होता है; (अर्थात् वह भाव आत्माका कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है ।) वह भाव ज्ञानीको ज्ञानमय ही है क्योंकि उसे सम्यक् प्रकारसे स्व-परके विवेकसे (सर्व परद्रव्य भावोंसे भिन्न) आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई है, और वह भाव अज्ञानीको तो अज्ञानमय ही है; क्योंकि उसे सम्यक् प्रकारसे स्वपरका विवेक न होनेसे भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त अस्त होगई है ।

भावार्थः—ज्ञानीको तो स्व-परका भेदज्ञान हुवा है, इसलिये उसके अपने ज्ञानमय-भावका ही कर्तृत्व है और अज्ञानीको स्वपरका भेदज्ञान नहीं है, इसलिये उसके अज्ञानमय-भावका ही कर्तृत्व है । १२६ ।

जिस भावको आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्मका ।
वो ज्ञानमय है ज्ञानिका, अज्ञानमय अज्ञानिका ॥ १२६ ॥

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याहः—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥ १२७॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥१२७॥

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि । ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञा-

---

अब यह कहते हैं कि ज्ञानमयभावसे क्या होता है, और अज्ञानमय भावसे क्या होता है:—

गाथा १२७

अन्वयार्थः—[**अज्ञानिनः**] अज्ञानीके [**अज्ञानमयः**] अज्ञानमय [**भावः**] भाव है [**तेन**] इसलिये वह [**कर्माणि**] कर्मोंको [**करोति**] करता है [**ज्ञानिनः तु**] और ज्ञानीके तो [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमय (भाव है) [**तस्मात् तु**] इसलिये वह [**कर्माणि**] कर्मोंको [**न करोति**] नहीं करता ।

टीकाः—अज्ञानीके, सम्यक् प्रकारसे स्व-परका विवेक न होनेके कारण भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई होने से अज्ञानमयभाव ही होता है; और उसके होनेसे स्व-परके एकत्वके अध्यासके कारण ज्ञानमात्र ऐसे निजमें से (आत्मस्वरूपमें से) भ्रष्ट हुआ; पर ऐसे रागद्वेषके साथ एक होकर जिसके अहंकार प्रवर्त्त रहा है ऐसा स्वयं 'यह मैं वास्तव में रागी हूँ, द्वेषी हूँ (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ, द्वेष करता हूँ)' इस प्रकार (मानता हुआ) रागी और द्वेषी होता है, इसलिये अज्ञानमयभावके कारण अज्ञानी अपनेको पर ऐसे रागद्वेषरूप करता हुआ कर्मोंको करता है ।

अज्ञानमय अज्ञानिका, जिससे करे वो कर्म को ।
पर ज्ञानमय है ज्ञानिका, जिससे करे नहिं कर्म वो ॥ १२७ ॥

नेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि ॥

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽमज्ञानिनो नान्यः ॥ ६६ ॥ (आर्या)

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायए भावो ।
जह्मा तह्मा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥

ज्ञानीके तो, सम्यक् प्रकारसे स्व-परविवेकके द्वारा भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई होनेसे ज्ञानमयभाव ही होता है, और ऐसा होने पर स्व-परके भिन्नत्वके विज्ञानके कारण ज्ञानमात्र ऐसे निजमें सुनिविष्ट (सम्यक् प्रकारसे स्थित) हुआ, पर ऐसे रागद्वेषसे भिन्नत्वके कारण निजरससे ही जिसका अहंकार निवृत्त हुआ है ऐसा स्वयं वास्तवमें मात्र जानता ही है, रागी और द्वेषी नहीं होता इसलिये ज्ञानमयभावके कारण ज्ञानी अपनेको पर ऐसे रागद्वेषरूप न करता हुआ कर्मोंको नहीं करता ।

भावार्थ—इस आत्माके रागद्वेषका उदय आने पर, अपने उपयोगमें उसका रागद्वेषरूप मलिन स्वाद लेता है । अज्ञानीके स्वपरका भेदज्ञान न होनेसे वह यह मानता है कि "यह रागद्वेषरूपमलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है—वही मैं हूँ ।" इस प्रकार रागद्वेष में अहंबुद्धि करता अज्ञानी अपनेको रागीद्वेषी करता है, इसलिये वह कर्मोंको कर्ता है । इस प्रकार अज्ञानमयभावसे कर्मबन्ध होता है ।

ज्ञानीके भेदज्ञान होनेसे वह ऐसा जानता है कि "ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग है, वही मेरा स्वरूप है, वही मैं हूँ; रागद्वेष कर्मोंका रस है, वह मेरा स्वरूप नहीं है ।" इस प्रकार रागद्वेषमें अहंबुद्धि न कर्ता हुआ ज्ञानी अपनेको रागी द्वेषी नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है; इसलिये वह कर्मोंको नहीं करता । इस प्रकार ज्ञानमयभावसे कर्मबन्ध नहीं होता ।

अब आगे की गाथाके अर्थका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानीको ज्ञानमय भावही क्यों होता है और अन्य (अज्ञानमयभाव) क्यों नहीं होता ? तथा अज्ञानीके सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं तथा अन्य (ज्ञानमयभाव) क्यों नहीं होते ? ॥ १२७ ॥

ज्यों ज्ञानमय को भावमेंसे ज्ञान भावहि उपजते ।
यों नियत ज्ञानी जीवके सब भाव ज्ञानमयी बनें ॥ १२८ ॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।
जह्मा तह्मा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

ज्ञानमयाद्भावाद् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥ १२८ ॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माद्भावा अज्ञानमया अज्ञानिनः ॥ १२९ ॥

यतो ह्यज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोप्यज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानोऽज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्व एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः। यतश्च

गाथा १२८-१२९

अन्वयार्थः—[**यस्मात्**] क्यों कि [**ज्ञानमयात् भावात् च**] ज्ञानमयभाव में से [**ज्ञानमयः एव**] ज्ञानमय ही [**भावः**] भाव [**जायते**] उत्पन्न होता है [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञानिनः**] ज्ञानियोंके [**सर्वे भावाः**] समस्त भाव [**खलु**] वास्तवमें [**ज्ञानमयाः**] ज्ञानमय ही होते हैं। [**च**] और [**यस्मात्**] क्यों कि [**अज्ञानमयात् भावात्**] अज्ञानमयभाव में से [**अज्ञानः एव**] अज्ञानमय ही [**भावः**] भाव [**जायते**] उत्पन्न होता है, [**तस्मात्**] इसलिये [**अज्ञानिनः**] अज्ञानियोंके [**भावाः**] भाव [**अज्ञानमयाः**] अज्ञानमय ही होते हैं।

टीका:—वास्तवमें अज्ञानमयभावमेंसे जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही अज्ञानमयताका उलंघन न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है, इसलिये अज्ञानियोंके सभी भाव अज्ञानमय होते हैं। और ज्ञानमय भावमेंसे जो कोई भी भाव होता है वह सब ही ज्ञानमयताका उलंघन न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इसलिये ज्ञानियोंके सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं :—

भावार्थ:—ज्ञानीका परिणमन अज्ञानीके परिणमनसे भिन्न ही प्रकारका है। अज्ञानीका परिणमन अज्ञानमय और ज्ञानीका ज्ञानमय है; इसलिये अज्ञानीके, क्रोध, मान, व्रत, तप

अज्ञानमय को भावसे, अज्ञान भावहि ऊपजे।
इस हेतुसे अज्ञानिके, अज्ञानमय भावहि बने ॥ १२९ ॥

ज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्वे एव ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः ॥

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवंति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवंत्यज्ञानिनस्तु ते ॥ ६७ ॥ (अनुष्टुप्)

अथैतदेव दृष्टांतेन समर्थयते:—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥ १३० ॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥ १३१ ॥

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः ।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायते तु कटकादयः ॥ १३० ॥
अज्ञानमया भावा अज्ञानिनो बहुविधा अपि जायते ।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवंति ॥ १३१ ॥

इत्यादि समस्त भाव अज्ञानजातिका उलंघन न करनेसे अज्ञानमय ही हैं, और ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञान जातिका उलंघन न करनेसे ज्ञानमय ही हैं ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानसे रचित होते हैं और अज्ञानीके समस्त भाव अज्ञानसे रचित होते हैं ॥ १२८-१२९ ॥

अब, इसी अर्थको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं:—

गाथा १३०-१३१

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**कनकमयात् भावात्**] स्वर्णमय भावमेंसे [**कुण्डलादयः भावाः**] स्वर्णमय कुण्डल इत्यादि भाव [**जायन्ते**] होते हैं [**तु**] और [**अयोमयकात् भावात्**] लोहमय भावमेंसे [**कटकादयः**] लोहमय

ज्यों कनकमय को भावमेंसे, कुण्डलादिक ऊपजे ।
पर लोहमय को भावसे, कटकादि भावो नीपजे ॥ १३० ॥
त्यों भाव बहुविध ऊपजे, अज्ञानमय अज्ञानिके ।
पर ज्ञानिके तो सर्व भावहि, ज्ञानमय निश्चय बने ॥ १३१ ॥

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां जांबूनदमयाद्भावाज्जांबूनदजातिमनतिवर्तमाना जांबूनदकुंडलादय एव भावा भवेयुर्न पुनः कालायसवलयादयः। कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय एव भवेयुर्न पुनर्जांबूनदकुंडलादयः। तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्यज्ञानमया एव भावा

कड़ा इत्यादि भाव [**जायन्ते**] होते है, [**तथा**] उसी प्रकार [**अज्ञानिनः**] अज्ञानियोंके [**बहुविधाः अपि**] अनेक प्रकारके [**अज्ञानमयाः भावाः**] अज्ञानमय भाव [**जायन्ते**] होते हैं, [**तु**] और [**ज्ञानिनः**] ज्ञानियोके [**सर्वे**] सभी [**ज्ञानमयाः भावाः**] ज्ञानमय भाव [**भवंति**] होते है।

टीकाः—जैसे पुद्गल स्वयं परिणाम स्वभावी है तथापि "कारण जैसे कार्य होते हैं" इसलिये सुवर्णमय भावमेंसे सुवर्ण जातिका उलंघन न करते हुए सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव ही होते हैं, किन्तु लौहमय कड़ा इत्यादि भाव नहीं होते; और लौहमय भावमेंसे लौह जातिको उलंघन न करते हुये लौहमय कड़ा इत्यादि भाव ही होते हैं, किन्तु सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव नहीं होते; इसीप्रकार जीव स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी, कारण जैसे ही कार्य होनेसे, अज्ञानीके जो कि स्वयं अज्ञानमय भाव हैं उसके अज्ञानमय भावोंमेंसे अज्ञान जातिका उलंघन न करते हुए अनेक प्रकारके अज्ञानमयभाव ही होते हैं किन्तु ज्ञानमयभाव नहीं होते; तथा ज्ञानीके जो कि स्वयं ज्ञानमयभाव हैं उसके ज्ञानमयभावोंमेंसे ज्ञानकी जातिका उलंघन न करते हुए समस्त ज्ञानमयभाव ही होते हैं किन्तु अज्ञानमयभाव नहीं होते।

भावार्थः—'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्यायसे जैसे लोहेमेंसे लौहमय कड़ा इत्यादि वस्तुएं होती है, और सुवर्णमेंसे सुवर्णमय आभूषण होते हैं (इसी प्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमयभाव होनेसे उसके (अज्ञानमय भावमेंसे) अज्ञानमय भाव ही होते हैं और ज्ञानी स्वयं ज्ञानमयभाव होनेसे उसके (ज्ञानमय भावमेंसे) ज्ञानमयभाव ही होते हैं।

अज्ञानीके शुभाशुभभावोंमें आत्मबुद्धि होनेसे उसके समस्तभाव अज्ञानमय ही हैं।

अविरतसम्यक्दृष्टि (ज्ञानी) के यद्यपि चारित्रमोहके उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं तथापि उसके उन भावोंमें आत्मबुद्धि नहीं है, वह उन्हें परके निमित्तसे उत्पन्न उपाधि मानता है। उसके क्रोधादिक कर्म उदयमें आकर खिर जाते हैं—वह भविष्यका ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार परिभ्रमण बढ़े, क्योंकि (ज्ञानी) स्वयं उद्यमी होकर

भवेयुर्न पुनर्ज्ञानमयाः, ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनतिवर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनरज्ञानमयाः ॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥ ६८ ॥ (अनुष्टुप्)

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥ १३२ ॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥ १३३ ॥

क्रोधादिभावरूप परिणमता नहीं है; यद्यपि *उदयकी बलवत्तासे परिणमता है तथापि ज्ञातृत्वका उलंघन करके परिणमता नहीं है ज्ञानीका स्वामित्व निरंतर ज्ञानमे ही वर्तता है इसलिये वह क्रोधादि भावोका अन्य ज्ञेयोकी भाँति ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। इसप्रकार ज्ञानी के समस्तभाव ज्ञानमय ही हैं।

अब आगे की गाथाका सूचक अर्थरूप श्लोक कहते हैं :—

अर्थ:—अज्ञानी (अपने) अज्ञानमयभावोंकी भूमिकामें व्याप्त होकर (आगामी) द्रव्यकर्मके निमित्त (अज्ञानादि) भावोंके हेतुत्वको प्राप्त होता है। (अर्थात् द्रव्यकर्मके निमित्तरूप भावोंका हेतु बनता है) ॥ १३०-१३१ ॥

---

*सम्यग्दृष्टिकी रुचि सर्वदा शुद्धात्मद्रव्यके प्रति ही होती है, उसको कभी रागद्वेषादि भावोंकी रुचि नहीं होती, उसको जो रागद्वेषादि भाव होते हैं वे भाव, यद्यपि उसकी स्वयकी निर्बलतासे ही एवं उसके स्वयके अपराधसे ही होते हैं, फिर भी वे रुचिपूर्वक नहीं होते इस कारण उन भावोंको 'कर्मकी बलवत्तासे होनेवाले भाव' कहनेमें आता है, इससे ऐसा नहीं समझना कि 'जड द्रव्यकर्म आत्माके ऊपर लेशमात्र-भी जोर कर सकते हैं,' परन्तु ऐसा समझना कि 'विकारी भावोंके होने पर भी सम्यग्दृष्टि महात्माकी शुद्धात्मद्रव्यरुचिमें किंचित् भी कमी नहीं है, मात्र चारित्रादि संबन्धी निर्बलता है—ऐसा आशय बतलानेके लिये ऐसा कहा है।' जहाँ जहाँ 'कर्मकी बलवत्ता', 'कर्मकी जबरदस्ती', 'कर्मका जोर' इत्यादि कथन होवे वहाँ वहाँ ऐसा आशय समझना।

जो तत्त्वका अज्ञान जिवके, उदय वो अज्ञानका ।
अप्रतीत तत्त्वकी जीवके जो, उदय वो मिथ्यात्वका ॥ १३२ ॥
जिवका जु अविरत भाव है, वो उदय अनसंयम हि का ।
जिवका कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कषायका ॥ १३३ ॥

तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥ १३४ ॥

एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १३५ ॥

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥ १३६ ॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्दधानत्वम् ॥ १३२ ॥

उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणम् ।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः ॥ १३३ ॥

तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥ १३४ ॥

एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १३५ ॥

तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम् ॥ १३६ ॥

इसी अर्थको पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

गाथा १३२-१३३-१३४-१३५-१३६

अन्वयार्थः—[**जीवानां**] जीवोंके [**या**] जो [**अतत्त्वोपलब्धिः**] तत्वका अज्ञान है [**सः**] वह [**अज्ञानस्य**] अज्ञानका [**उदयः**] उदय है [**तु**] और [**जीवस्य**] जीवके [**अश्रद्दधानत्वं**] जो (तत्वका) अश्रद्धान है वह

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का ।
उत्साह करते जीवके वो उदय जानो योगका ॥ १३४ ॥

जब होय हेतूभूत ये तब स्कंध जो कार्माणके ।
वे अष्टविध ज्ञानावरण इत्यादि भावों परिणमें ॥ १३५ ॥

कार्मणवरगणारूप वे जब, बंध पावें जीवमें ।
आत्मा हि जिव परिणाम भावोंका तभी हेतू बने ॥ १३६ ॥

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः। तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः, अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः, कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः। अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा

[**मिथ्यात्वस्य**] मिथ्यात्वका [**उदयः**] उदय है, [**तु**] और [**जीवानां**] जीवोंके [**यत्**] जो [**अविरमणं**] अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है वह [**असंयमस्य**] असयमका [**उदयः**] उदय [**भवेत्**] है [**तु**] और [**जीवानां**] जीवोंके [**यः**] जो [**कलुषोपयोगः**] मलिन (ज्ञातृत्वकी स्वच्छतासे रहित) उपयोग है, [**सः**] वह [**कषायोदयः**] कषायका उदय है [**तु**] तथा [**जीवानां**] जीवोंके [**यः**] जो [**शोभनः अशोभनः वा**] शुभ या अशुभ [**कर्तव्यः विरतिभावः वा**] प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप [**चेष्टोत्साहः**] (मन, वचन, कायाश्रित) चेष्टाका उत्साह है [**तं**] उसे [**योगोदयं**] योगका उदय [**जानीहि**] जानो।

[**एतेषु**] इनको (उदयोंको) [**हेतुभूतेषु**] हेतुभूत होने पर [**यत् तु**] जो [**कार्मणवर्गणागतं**] कार्मणवर्गणागत (कार्मणवर्गणारूप) पुद्गलद्रव्य [**ज्ञानावरणादि भावैः अष्टविधं**] ज्ञानावरणादि भावरूपसे आठ प्रकार [**परिणमते**] परिणमता है [**तत् कार्मणवर्गणागतं**] वह कार्मणवर्गणा गत पुद्गलद्रव्य [**यदा**] जब [**खलु**] वास्तवमें [**जीवनिबद्धं**] जीवमें बँधता है [**तदा तु**] तब [**जीवः**] जीव [**परिणामभावानां**] (अपने अज्ञानमय) परिणामभावोंका [**हेतुः**] हेतु [**भवति**] होता है।

टीका:—तत्वके अज्ञानरूपसे (वस्तुस्वरूपकी अन्यथा उपलब्धिरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ अज्ञानका उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके उदय—जो कि (नवीन) कर्मोंके हेतु हैं वे अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्वके अश्रद्धानरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ मिथ्यात्वका उदय है; अविरमणरूपसे (अत्यागभावरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ असंयमका उदय है; कलुष (मलिन) उपयोगरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ कषायका उदय है; शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्तिके व्यापाररूपसे ज्ञानमें स्वादरूप

स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति ॥ १३२-१३३-१३४-१३५-१३६ ॥

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः—

जइ जीवेण सह च्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥ १३७ ॥

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१३८॥

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः ।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥ १३७ ॥

होता हुआ योगका उदय है। यह पौद्गलिक मिथ्यात्वादिके उदय हेतुभूत होनेपर जो कार्मण वर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावसे आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है, वह कार्मण वर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीवमें निबद्ध होवे तब स्वयमेव अज्ञानसे स्वपरके एकत्वके अध्यासके कारण तत्व--अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय परिणाम भावोंका हेतु होता है।

भावार्थः—अज्ञानभावके भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके उदय पुद्गलके परिणाम हैं और उनका स्वाद अतत्वश्रद्धानादिरूपसे ज्ञानमें आता है वे उदय निमित्त-भूत होनेपर, कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं और जीवके साथ बँधते हैं; और उस समय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभावसे अतत्व-श्रद्धानादिभावरूप परिणमता है, और इसप्रकार अपने अज्ञानमयभावोंका कारण स्वयं ही होता है।

मिथ्यात्वादिका उदय होना, नवीन पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमना तथा बंधना, और जीवका अपने अतत्वश्रद्धानादिभावरूप परिणमना--यह तीनों ही एक समयमें ही होते हैं; सब स्वतंत्रतया अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसीका परिणमन नहीं कराता ॥ १३२--१३६ ॥

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि पुद्गलद्रव्यका परिणमन जीवसे भिन्न ही है:—

जो कर्मरूप परिणाम, जिवके साथ पुद्गलका बने ।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे ॥ १३७ ॥

पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्यके ।
जिव भाव हेतूसे अलग, तब कर्मके परिणाम हैं ॥ १३८ ॥

एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥ १३८ ॥

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः। अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ॥ १३७-१३८ ॥

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः:—

गाथा १३७-१३८

अन्वयार्थः—[यदि] यदि **[पुद्गल द्रव्यस्य]** पुद्गलद्रव्यका **[जीवेन सह चैव]** जीवके साथ ही **[कर्म परिणामः]** कर्मरूप परिणाम होता है—ऐसा माना जाये तो **[एवं]** इसप्रकार **[पुद्गल जीवौ द्वौ अपि]** पुद्गल और जीव दोनो **[खलु]** वास्तवमें **[कर्मत्वं आपन्नौ]** कर्मत्वको प्राप्त हो जायें **[तु]** परन्तु **[कर्म भावेन]** कर्मभावसे **[परिणामः]** परिणाम तो **[पुद्गल-द्रव्यस्य एकस्य]** पुद्गल द्रव्यके एकके ही होता है **[तत्]** इसलिये **[जीवभाव-हेतुभिः विना]** जीव भावरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् भिन्न ही **[कर्मणः]** कर्मका **[परिणामः]** परिणाम है।

टीकाः—यदि पुद्गलद्रव्यके, कर्मपरिणामके निमित्तभूत ऐसे रागादि-अज्ञान परिणाम से परिणत जीवके साथ ही (अर्थात् दोनों मिलकर ही) कर्मरूप परिणाम होता है, ऐसा तर्क उपस्थित किया जावे तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दीका—दोनोंका लालरंगरूप परिणाम होता है उसीप्रकार पुद्गल और जीवद्रव्य—दोनोके कर्मरूप परिणामकी आपत्ति आजावे। परन्तु एक पुद्गल द्रव्यके ही कर्मत्वरूप परिणाम तो होता है; इसलिये जीवका रागादि अज्ञान परिणाम, जो कि कर्मका निमित्त है, उससे भिन्न ही पुद्गलकर्मका परिणाम है।

भावार्थः—यदि यह माना जाये कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं तो दोनोंके कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो। परन्तु जीव तो कभी भी जड़कर्मरूप नहीं परिणम सकता, इसलिये जीवका अज्ञान परिणाम जो कि कर्मका निमित्त है उससे अलग ही पुद्गल द्रव्यका कर्म परिणाम है। १३७-१३८।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जीवका परिणाम पुद्गल द्रव्यसे भिन्न ही है:—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥ १३९ ॥

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥ १४० ॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवंति रागादयः ।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥ १३९ ॥

एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥ १४० ॥

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्य-

---

गाथा १३९-१४०

अन्वयार्थः—[**जीवस्य तु**] यदि जीवके [**कर्मणा च सः**] कर्मके साथ ही [**रागादयः परिणामाः**] रागादि परिणाम [**खलु भवंति**] होते हैं (अर्थात् दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमते है) ऐसा माना जाये तो [**एवं**] इसप्रकार [**जीवः कर्म च**] जीव और कर्म [**द्वे अपि**] दोनो [**रागादित्वं आपन्ने**] रागादिभाव को प्राप्त हो जाये [**तु**] परन्तु [**रागादिभिः परिणामः**] रागादिभावसे परिणाम तो [**जीवस्य एकस्य**] जीवके एकके ही [**जायते**] होता है, [**तत्**] इसलिये [**कर्मोदय हेतुभिः विना**] कर्मोदयरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् भिन्न ही [**जीवस्य**] जीवका [**परिणामः**] परिणाम है ।

टीकाः—यदि जीवके, रागादि—अज्ञान परिणामके निमित्तभूत उदयागत पुद्गलकर्म के साथ ही (दोनों एकत्रित होकर ही), रागादि-अज्ञानपरिणाम होता है—ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दीका—दोनोका लालरंगरूप परिणाम

जिवके करमके साथ ही, जो भाव रागादिक बने ।
तो कर्म अरु जिव उभय ही, रागादिपन पावें अरे ॥ १३९ ॥
पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जिव एकके ।
इससे हि कर्मोदय निमितसे, अलग जिव परिणाम है ॥ १४० ॥

ज्ञानपरिणामापत्तिः । अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः ततः पुद्गलकर्म विपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो जीवस्य परिणामः ॥१३९-१४०॥

किमात्मनि बद्धास्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह;—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥ १४१ ॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम् ।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥ १४१ ॥

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदतिव्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः । जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं

होता है उसीप्रकार जीव और पुद्गलकर्म दोनोंके रागादि अज्ञान परिणामकी आपत्ति आ जावे, परन्तु एक जीवके ही रागादि अज्ञानपरिणाम तो होता है; इसलिये पुद्गलकर्मका उदय, जो कि जीवके रागादि-अज्ञान परिणामका निमित्त है उससे भिन्न ही जीवका परिणाम है ।

भावार्थः—यदि यह माना जाये कि जीव और पुद्गलकर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं, तो दोनोंके रागादिरूप परिणाम सिद्ध हों । किन्तु पुद्गल कर्म तो रागादिरूप (जीव-रागादिरूप) कभी नहीं परिणम सकता; इसलिये पुद्गलकर्मका उदय जो कि रागादि परिणाम का निमित्त है उससे भिन्न ही जीवका परिणाम है ॥ १३९-१४० ॥

अब यहाँ नयविभागसे यह कहते हैं कि 'आत्मामें कर्म बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है'—

गाथा १४१

अन्वयार्थः—[**जीवे**] जीवमें [**कर्म**] कर्म [**बद्धं**] (उसके प्रदेशोंके साथ) बँधा हुआ है [**तु**] और [**स्पृष्टं**] स्पर्शित है, [**इति**] ऐसा [**व्यवहारनयभणितं**] व्यवहारनयका कथन है [**तु**] और [**जीवे**] जीवमें [**कर्म**] कर्म [**अबद्धस्पृष्टं भवति**] अबद्ध और अस्पर्शित है, ऐसा [**शुद्धनयस्य**] शुद्धनयका कथन है ।

टीकाः—जीवको और पुद्गलकर्मको एक बंधपर्यायपनेसे देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नताका अभाव है, इसलिये जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट है, ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है । जीवको

है कर्म जिवमें बद्धस्पृष्ट जु कथन यह व्यवहारका ।
पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जिवमें, कथन है नय शुद्धका ॥ १४१ ॥

कर्मेति निश्चयनयपक्षः ॥ १४१ ॥

ततः किं:—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम्।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥ १४२ ॥

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोपि हि नयपक्षः। य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रांतः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति। तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न

तथा पुद्गलकर्मको अनेक द्रव्यपनेसे देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है इसलिये जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है, यह निश्चयनयका पक्ष है। १४१।

किन्तु इससे क्या? जो आत्मा उन दोनों नय पक्षोंको पार कर चुका है, वही समयसार है; यह अब गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा १४२

अन्वयार्थः—[**जीवे**] जीवमें [**कर्म**] कर्म [**बद्धं**] बद्ध है अथवा [**अबद्धं**] अबद्ध है— [**एवं तु**] इसप्रकार तो [**नयपक्षं**] नयपक्ष [**जानीहि**] जानो; [**पुनः**] किन्तु [**यः**] जो [**पक्षातिक्रान्तः**] पक्षातिक्रान्त [**भण्यते**] कहलाता है [**सः**] वह [**समयसारः**] समयसार है (अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्व है)।

टीकाः—'जीवमें कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प तथा 'जीवमें कर्म अबद्ध है', ऐसा विकल्प–दोनों नयपक्ष हैं। जो उस नयपक्षका अतिक्रम करता है (उसे उलंघन कर देता है, छोड़ देता है) वही समस्त विकल्पोंका अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है। यहाँ, (विशेष समझाया जाता है कि) जो 'जीवमें

हैं कर्म जिवमें बद्ध वा अनबद्ध ये नयपक्ष हैं।
परपक्षसे अतिक्रान्त भाषित, वो समयकासार है ॥ १४२ ॥

विकल्पमतिक्रामति । यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन्न विकल्पमतिक्रामति । ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति । य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विंदति । यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावनां न नाटयति ।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥६९॥ (उपेन्द्रवज्रा)

कर्मबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह 'जीवमे कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता हुआ भी विकल्पका अतिक्रम नहीं करता, और जो 'जीवमे कर्म अबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह भी 'जीवमें कर्मबद्ध है' ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता हुआ भी विकल्पका अतिक्रम नहीं करता; और जो यह विकल्प करता है कि 'जीवमें कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है' वह दोनों पक्षका अतिक्रम न करता हुआ, विकल्पका अतिक्रम नहीं करता । इसलिये जो समस्त नय पक्षका अतिक्रम करता है वही समस्त विकल्पका अतिक्रम करता है; जो समस्त विकल्पका अतिक्रम करता है, वही समयसारको प्राप्त करता है—उसका अनुभव करता है ।

भावार्थः—'जीव कर्मसे बँधा हुआ है' तथा 'नहीं बँधा हुआ है'–यह दोनों नयपक्ष हैं । उनमेसे किसी ने बंध पक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबन्धपक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया, और किसी ने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्पका ही ग्रहण किया । परन्तु ऐसे विकल्पोंको छोड़कर जो कोई भी पक्षको ग्रहण नहीं करता, वह शुद्ध पदार्थका स्वरूप जानकर उसरूप सयमसारको–शुद्धात्माको प्राप्त करता है । नय पक्षको ग्रहण करना राग है, इसलिये समस्त नयपक्षको छोड़नेसे वीतराग समयसार हुआ जाता है ।

अब, 'यदि ऐसा है तो नयपक्षके त्यागकी भावनाको वास्तवमे कौन नहीं नचायेगा ? ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्षके त्यागकी भावना वाले २३ कलशरूपकाव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो नयपक्षपातको छोड़कर सदा (अपने) स्वरूपमे गुप्त होकर निवास करते हैं वे ही, जिनका चित्त विकल्प जालसे रहित शांत होगया है ऐसे होते हुए, साक्षात् अमृतपान करते हैं ।

भावार्थः—जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है तब तक चित्तका क्षोभ नहीं मिटता ।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥ (उपजाति)

एकस्य मूढो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७१ ॥ (उपजाति)

जब नयोंका सब पक्षपात दूर हो जाता है तब वीतरागदशा होकर स्वरूपमें प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुखका अनुभव होता है ।

अब २० कलशों द्वारा नयपक्षका विशेष वर्णन करते हुए कहते है कि जो ऐसे समस्त नयपक्षोंको छोड़ देता है वह तत्ववेत्ता (तत्त्वज्ञानी) स्वरूपको प्राप्त करता है:—

अर्थः—जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है ऐसा एक नयका पक्ष है, और नहीं बँधा हुआ है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता (वस्तुस्वरूपका ज्ञाता) पक्षपातरहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है। (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा ही निरंतर अनुभवमें आता है।)

भावार्थः—इस ग्रंथमें पहलेसे ही व्यवहारनयको गौण करके और शुद्धनयको मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्यके परिणाम परनिमित्तसे अनेक होते हैं, उन सबको आचार्यदेव पहलेसे ही गौण कहते आये हैं और उन्होंने जीवको शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इसप्रकार जीव--पदार्थको शुद्ध, नित्य अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि--जो इस शुद्धनयका भी पक्षपात (विकल्प) करेगा वह भी उस शुद्ध स्वरूपके स्वादको प्राप्त नहीं करेगा; अशुद्धनयकी तो बात ही क्या है? किन्तु यदि कोई शुद्धनयका भी पक्षपात करेगा तो पक्षका राग नहीं मिटेगा इसलिये वीतरागता प्रगट नहीं होगी। पक्षपातको छोड़कर चिन्मात्र स्वरूपमें लीन होने पर ही समयसारको प्राप्त किया जाता है। इसलिये शुद्धनयको जानकर उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्धस्वरूपका अनुभव करके, स्वरूपमे प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करनी चाहिये।

अर्थः—जीव मूढ़ (मोही) है ऐसा एक नयका पक्ष है, और वह मूढ़ नहीं है, ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके संबन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है। (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरंतर अनुभवमें आता है।)

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७२ ॥(उपजाति)

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७३ ॥(उपजाति)

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७४ ॥ (उपजाति)

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७५ ॥ (उपजाति)

एकस्य जीवो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७६ ॥(उपजाति)

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७७ ॥(उपजाति)

अर्थः—जीव रागी है, ऐसा एक नयका पक्ष है, और वह रागी नहीं है, ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।

अर्थः—जीव द्वेषी है, ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव द्वेषी नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोके दो पक्षपात हैं । जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।

अर्थः—जीव कर्ता है ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव कर्ता नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोके दो पक्षपात हैं । जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।

अर्थः—जीव भोक्ता है ऐसा एक नयका पक्ष है; और जीव भोक्ता नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं । जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।

अर्थः—जीव जीव है ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव जीव नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं । जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।

अर्थः—जीव सूक्ष्म है ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव सूक्ष्म नहीं है ऐसा दूसरे

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥ (उपजाति)

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥ (उपजाति)

एकस्य भावो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥ (उपजाति)

एकस्य चैको न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।८१॥ (उपजाति)

एकस्य सांतो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥ (उपजाति)

नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव हेतु (कारण) है ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव हेतु (कारण) नहीं है, ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव कार्य है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कार्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव भाव है (अर्थात् भावरूप है) ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव भाव नहीं (अर्थात् अभावरूप है) ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव एक है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव एक नहीं है (अनेक है) ऐसा दूसरे न१का पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव सांत (अन्त सहित) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव सांत नहीं ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है, उसे निरंतर चित्स्वरूपजीव चित्स्वरूप ही है।

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥ (उपजाति)

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥ (उपजाति)

एकस्य नाना न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥ (उपजाति)

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥ (उपजाति)

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥ (उपजाति)

अर्थः—जीव नित्य है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नित्य नहीं ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव वाच्य (अर्थात् वचनसे कहा जा सके ऐसा) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वाच्य (वचनगोचर) नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव नानारूप है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नानारूप नहीं ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव चेत्य (जानने योग्य) है, ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव चेत्य नहीं है, ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। इस प्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव दृश्य (देखने योग्य) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव दृश्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दोनोंके दो पक्षपात हैं। । तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥ (उपजाति)

एकस्य भातो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥ (उपजाति)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अंतर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥ ९० ॥ (वसन्ततिलका)

अर्थः—जीव वेद्य (वेदने योग्य, ज्ञात होने योग्य) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वेद्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अर्थः—जीव 'भात' (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव 'भात' नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है इस प्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमे दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

भावार्थः—बद्ध अबद्ध, मूढ़ अमूढ़, रागी अरागी, द्वेषी अद्वेषी, कर्ता अकर्ता, भोक्ता अभोक्ता, जीव अजीव, सूक्ष्म स्थूल, कारण अकारण, कार्य अकार्य, भाव अभाव, एक अनेक, सांत अनंत, नित्य अनित्य, वाच्य अवाच्य, नाना अनाना, चेत्य अचेत्य, दृश्य अदृश्य, वेद्य अवेद्य, भात अभात इत्यादि नयोंके पक्षपात है। जो पुरुष नयोंके कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्वका—वस्तुस्वरूपका निर्णय करके नयोके पक्षपातको छोड़ता है, उसे चित्स्वरूप जीवका चित्स्वरूप रूप अनुभव होता है।

जीवमे अनेक साधारण धर्म है परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है, इसलिये उसे मुख्य करके यहाँ जीवको चित्स्वरूप कहा है।

अब उपरोक्त २० कलशोके कथनका उपसंहार करते है.—

अर्थः—इसप्रकार जिसमे बहुतसे विकल्पोका जाल अपने आप उठता है ऐसी बड़ी नयपक्ष कक्षाको उलंघन करके (तत्त्ववेत्ता) भीतर और बाहर समता रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भावको (स्वरूपको) प्राप्त करता है।

अब नयपक्षकी त्यागकी भावनाका अन्तिम काव्य कहते है :—

इंद्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ९१ ॥ (रथोद्धता)

पक्षातिक्रांतस्य किंस्वरूपमिति चेत् ;—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ॥ १४३ ॥

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवल-

---

अर्थः—विपुल, महान, चंचल, विकल्परूपी तरंगोके द्वारा उड़ते हुए इस समस्त इन्द्रजालको, जिसका स्फुरण मात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है वह चिन्मात्र तेजःपुंज मैं हूं।

भावार्थः—चैतन्यका अनुभव होने पर समस्त नयोका विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण विलयको प्राप्त होता है; ऐसा चित् प्रकाश मैं हूँ ॥ १४२ ॥

पक्षातिक्रान्तका स्वरूप क्या है ? इसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १४३

अन्वयार्थः—[**नयपक्षपरिहीनः**] नयपक्षसे रहित जीव [**समयप्रतिबद्धः**] समयसे प्रतिबद्ध होता हुआ (अर्थात् चित्स्वरूप आत्माका अनुभव करता हुआ), [**द्वयोः अपि**] दोनों ही [**नययोः**] नयोके [**भणितं**] कथनको [**केवलं तु**] मात्र [**जानाति**] जानता ही है [**तु**] परन्तु [**नयपक्षं**] नयपक्षको [**किंचित् अपि**] किंचित् मात्र भी [**न गृह्णाति**] ग्रहण नहीं करता।

टीका—जैसे केवली भगवान, विश्वके साक्षीपनके कारण, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार, निश्चयनयपक्षोके स्वरूपको ही मात्र जानते हैं, परन्तु निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होनेसे, श्रुतज्ञानकी भूमिका

नयद्वय कथन जाने हि, केवल समयमें प्रतिबद्ध जो ।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्षसे परिहीन वो ॥ १४३ ॥

ज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वाच्छ्रुतज्ञानभूमिकातिक्रांततया समस्तनय-पक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति तथा किल यः श्रुतज्ञानावयव-भूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशमविजृंभितश्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गम-नेपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति न तु खरतरदृष्टि-गृहीतसुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघन-भूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मकसमस्तांतर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रांततया समस्तनय-पक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोनुभूतिमात्रः समयसारः।

चित्स्वभावभरभावितभावा-
भावभावपरमार्थतयैकम् ।

की अतिक्रान्तताके द्वारा (अर्थात् श्रुतज्ञानकी भूमिकाको पार कर चुकनेके कारण) समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुवे होने से किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, इसीप्रकार (श्रुत-ज्ञानी आत्मा), क्षयोपशमसे जो उत्पन्न होते है, ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार निश्चयनय पक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते है, परन्तु तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिसे ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय, समयसे प्रतिबद्धताके द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्माके अनु-भवन द्वारा) अनुभवके समय स्वयं ही विज्ञानघन हुवे होनेसे, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अंतर्जल्प तथा बहिर्जल्परूप विकल्पोकी भूमिकाकी अतिक्रान्तताके द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुवे होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तवमे समस्त विकल्पों से पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूति मात्र समयसार है।

भावार्थः—जैसे केवली भगवान सदा नयपक्षके स्वरूपके साक्षी (ज्ञाता दृष्टा) हैं उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षोंसे रहित होकर शुद्ध चैतन्य मात्र भावका अनु-भवन करते है तब वे नयपक्षके स्वरूपके ज्ञाता ही हैं, यदि एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये तो मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग होता है; प्रयोजन वश एक नयको प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त मात्र चारित्र मोहका राग रहता है और जब नयपक्षको छोड़कर वस्तुस्वरूपको मात्र जानते ही हैं तब श्रुतज्ञानी भी केवलीकी भाँति वीत-राग जैसे ही होते हैं ऐसा जानना।

अब इस कलशमे यह कहते है कि वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है:—

अर्थः—चित्स्वभावके पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य किये जाते हैं, ऐसा

बंधपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समयसारमपारम् ॥ ९३ ॥ (स्वागता)

पक्षातिक्रांत एव समयसार इत्यवतिष्ठते:—

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभत इति केवलं व्यपदेशम् ।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥ १४४ ॥

अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते । यः खल्वखिल-नयपक्षाक्षुण्णतया विश्रांतसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः । यतः प्रथमतः

जिसका परमार्थस्वरूप है इसलिये जो एक है ऐसे अपार समयसारको मैं समस्त बंध पद्धतिको दूर करके अर्थात् कर्मोदयसे होनेवाले सर्वभावोंको छोड़कर अनुभव करता हूँ ।

भावार्थ:—निर्विकल्प अनुभव होने पर जिसके केवलज्ञानादि गुणोंका पार नहीं है, ऐसे समयसाररूपी परमात्माका अनुभव ही वर्तता है, 'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा भी विकल्प नहीं होता ऐसा जानना ॥ १४३ ॥

अब, यह कहते हैं कि नियमसे यह सिद्ध है कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है:—

गाथा १४४

अन्वयार्थ:—[**यः**] जो [**सर्वनयपक्षरहितः**] सर्व नयपक्षोंसे रहित [**भणितः**] कहा गया है [**सः**] वह [**समयसारः**] समयसार है, [**एषः**] इसी (समयसार) को ही [**केवलं**] केवल [**सम्यक्दर्शनज्ञानं**] सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान [**इति**] ऐसी [**व्यपदेशं**] संज्ञा (नाम) [**लभते**] मिलती है (नामोंके भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है ।)

टीका:—वास्तवमें समस्त नय पक्षोंके द्वारा खण्डित न होनेसे जिसका समस्त विकल्पोंका व्यापार रुक गया है, ऐसा समयसार है, वास्तवमें इस एक को ही केवल सम्यक्-दर्शन और सम्यग्ज्ञानका नाम प्राप्त है (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसारसे अलग नहीं है, एक ही है) ।

सम्यक्त्व और सुज्ञानकी, जिस एकको संज्ञा मिले ।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समयकासार है ॥ १४४ ॥

श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य ततः खल्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेंद्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधार्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः तथा नानाविधनयपक्षालंबनेनानेकविकल्पैराकुलयंती श्रुतज्ञानबुद्धीरप्यवधार्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यंतमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवंतमादिमध्यांतविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरंतमिवाखंडप्रतिभासमयमनंतं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विंदन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव ।

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥ ९३ ॥ (शार्दूलविक्रीडित)

प्रथम, श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके, और फिर आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये, पर पदार्थकी प्रसिद्धिकी कारणभूत इन्द्रियों और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियोंको मर्यादामे लेकर जिसने मतिज्ञान–तत्वको (मतिज्ञानके स्वरूपको) आत्मसन्मुख किया है, तथा जो नानाप्रकारके नयपक्षोंके आलम्बनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंको भी मर्यादामें लाकर श्रुतज्ञान–तत्वको भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यंत विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरससे ही प्रगट होता हुआ, आदि मध्य और अन्तसे रहित अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन परमात्मारूप समयसारका जब अनुभव करता है तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है इसलिये समयसार ही सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थः—पहले आत्माका आगम ज्ञानसे ज्ञानस्वरूप निश्चय करके, फिर इन्द्रिय बुद्धिरूप मतिज्ञानको ज्ञानमात्रमे ही मिलाकर तथा श्रुतज्ञानरूपी नयोके विकल्पोंको मिटाकर श्रुतज्ञानको भी निर्विकल्प करके एक अखंड प्रतिभासका अनुभव करना ही "सम्यक्दर्शन" और "सम्यग्ज्ञान" के नामको प्राप्त करता है; सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहीं अनुभवसे भिन्न नहीं है।

अब इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—नयोके पक्षोसे रहित अचल निर्विकल्प भावको प्राप्त होता हुआ जो समय का (आत्माका) सार प्रकाशित करता है वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा)–जो कि निभृत

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत्॥ ९४॥ (शार्दूलविक्रीडित)

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति॥ ९५॥ (अनुष्टुप्)

(निश्चल, आत्मलीन) पुरुषोंके द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान (अनुभवमे आता है) वह-विज्ञान ही जिसका एक रस है ऐसा भगवान है, पवित्र पुराण पुरुष है। चाहे ज्ञान कहो या दर्शन वह यही (समयसार) ही है। अधिक क्या कहें? जो कुछ है सो यह एक ही है। (मात्र भिन्न भिन्न नामसे कहा जाता है।)

अब यह कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञानसे च्युत हुआ था सो ज्ञानमें ही आ मिलता है:—

अर्थः—जैसे पानी अपने समूहसे च्युत होता हुआ दूर गहन वनमें बह रहा हो, उसे दूरसे ही ढाल वाले मार्गके द्वारा अपने समूहकी ओर बल पूर्वक मोड़ दिया जाये तो फिर वह पानी पानीको पानीके समूहकी ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर अपने समूहमें आ मिलता है; इसी प्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघन स्वभावसे च्युत होकर प्रचुर विकल्प-जालोंके गहनवनमें दूर परिभ्रमण कर रहा था, उसे दूरसे ही विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघनस्वभावकी ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिये केवल विज्ञानघनके ही रसिक पुरुषोंको जो एक विज्ञानरस वाला ही अनुभवमे आता है, ऐसा वह आत्मा, आत्मा को आत्मामें खींचता हुआ (अर्थात् ज्ञान ज्ञानको खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर), सदा विज्ञानघनस्वभावमें आ मिलता है।

भावार्थः—जैसे पानी अपने पानीके निवासस्थलसे किसी मार्गसे बाहर निकलकर बनमें अनेक स्थानों पर बह निकले, और फिर किसी ढालवाले मार्गद्वारा ज्यो का त्यों अपने निवासस्थानमें आ मिले, इसी प्रकार आत्मा भी मिथ्यात्वके मार्गसे स्वभावसे बाहर निकलकर विकल्पोंके वनमें भ्रमण करता हुआ किसी भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा स्वयं ही अपनेको खींचता हुआ अपने विज्ञानघनस्वभावमें आ मिलता है।

अब, कर्ता कर्म अधिकारका उपसंहार करते हुए, कुछ कलशरूप काव्य कहते हैं, उनमें से प्रथम कलशमें कर्ता और कर्मका संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं:—

अर्थः—विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और विकल्प ही केवल कर्म है (अन्य कोई कर्ता-कर्म नहीं है) जो जीव विकल्प सहित है उसका कर्ता-कर्मपना कभी नष्ट नहीं होता।

य: करोति स करोति केवलं
यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
य: करोति न हि वेत्ति स क्वचित्
यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥ ९६ ॥ (रथोद्धता)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ९७ ॥ (इन्द्रवज्रा)

भावार्थः—जबतक विकल्पभाव है तबतक कर्ता कर्मभाव है, जब विकल्पका अभाव हो जाता है तब कर्ताकर्मभावका भी अभाव हो जाता है।

अब कहते हैं कि जो करता है, सो करता ही है,और जो जानता है सो जानता ही है-

अर्थः—जो करता है सो मात्र करता ही है, और जो जानता है सो मात्र जानता ही है। जो करता है वह कभी जानता नहीं और जो जानता है वह कभी करता नहीं।

भावार्थः—जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं। इसीप्रकार अब यह कहते हैं कि करने और जाननेरूप दोनों क्रियाएं भिन्न हैं:—

अर्थः—करनेरूप क्रियाके भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती, और जाननेरूप क्रियाके भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; इसलिये 'ज्ञप्ति' क्रिया और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न है; इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञात है वह कर्ता नहीं है।

भावार्थः—जब आत्मा इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मै परद्रव्य को करता हूँ' तब तो वह कर्ताभावरूप परिणमन क्रियाके करनेसे अर्थात् 'करोति' क्रियाके करनेसे कर्ता ही है, और जब वह इस प्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्यको जानता हूँ', तब ज्ञाताभावरूप परिणमन करनेसे अर्थात् ज्ञप्तिक्रियाके करनेसे ज्ञाता-ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि—अविरत-सम्यक्दृष्टि आदिको जबतक चारित्रमोहका उदय रहता है, तबतक वह कषायरूप परिणमन करता है इसलिये उसका वह कर्ता कहलाता है या नहीं ? समाधान.—अविरत-सम्यक्दृष्टि इत्यादिके श्रद्धा-ज्ञानमे परद्रव्यके स्वामित्वरूप कर्तृत्वका अभिप्राय नहीं है, जो कषायरूप परिणमन है वह उदयकी बलवत्ताके कारण है; वह उसका ज्ञाता है; इसलिये उसके अज्ञानसम्बन्धी कर्तृत्व नहीं है। निमित्तकी बलवत्तासे होने वाले परिणमनका फल किंचित् होताहै, वह संसारका कारण नहीं है। जैसे वृत्तकी जड़ काट देनेके बाद वह वृत्त कुछ समय तक रहे अथवा न रहे,—प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझना।

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ॥ ९८ ॥ (शार्दूलविक्रीड़ित)

अथवा नानट्यतां तथापि

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥ ९९ ॥

पुनः इसी बातको दृढ़ करते हैं:—

अर्थः—निश्चयसे, न तो कर्ता कर्ममें है, और न कर्म कर्तामें ही है,—यदि इस प्रकार परस्पर दोनोंका निषेध किया जाये तो कर्ता-कर्मकी क्या स्थिति होगी ? (अर्थात् जीव-पुद्गलके कर्ता-कर्मपन कदापि नहीं हो सकेगा), इस प्रकार ज्ञाता सदा ज्ञातामें ही है और कर्म सदा कर्ममें ही है ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है तथापि अरे ! नेपथ्यमें यह मोह क्यों अत्यन्त वेगपूर्वक नाच रहा है ? (इसप्रकार आचार्य्यको खेद और आश्चर्य होता है) ।

भावार्थः—कर्म तो पुद्गल है, जीवको उसका कर्ता कहना असत्य है । उन दोनोंमें अत्यन्त भेद है । न तो जीव पुद्गलमें है और न पुद्गल जीवमें; तब फिर उनमें कर्ता-कर्मभाव कैसे हो सकता है ? इसलिये जीव तो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, वह पुद्गलकर्मोंका कर्ता नहीं है; और पुद्गलकर्म, पुद्गल ही हैं; ज्ञाताका कर्म नहीं हैं । आचार्यदेवने खेदपूर्वक कहा है कि इस-प्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य हैं तथापि 'मैं कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' इसप्रकार अज्ञानीका यह मोह (अज्ञान) क्यों नाच रहा है ।

अब, यह कहते हैं कि यदि मोह नाचता है तो भले नाचे, तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है:—

अर्थः—अचल, व्यक्त और चित्शक्तियोंके (ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंके) समूहके भारसे अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति अंतरंग में उग्रतासे ऐसी जाज्वल्यमान हुई कि—आत्मा अज्ञानमें कर्ता होता था सो अब वह कर्ता नहीं होता और अज्ञानके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप होता था सो वह कर्मरूप नहीं होता; और ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है ।

भावार्थः—जब आत्मा ज्ञानी होता है तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है,

इति जीवाजीवौकर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ ॥

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ कर्तृकर्मप्ररूपकः द्वितीयोऽकः ॥ २ ॥

पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं होता; और पुद्गल पुद्गल ही रहता है, कर्मरूप परिणमित नहीं होता। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर दोनों द्रव्योंके परिणमनमे निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं होता। ऐसा ज्ञान सम्यक्दृष्टिके होता है।

टीका:—इसप्रकार जीव और अजीव कर्ताकर्मका वेष त्यागकर बाहर निकल गये।

भावार्थ:—जीव और अजीव दोनों कर्ता-कर्मका वेष धारण करके—एक होकर रंगभूमिमें प्रविष्ट हुए थे। जब सम्यक्दृष्टिने अपने यथार्थ दर्शक ज्ञानसे उन्हें भिन्न भिन्न लक्षणसे यह जान लिया कि वे एक नहीं किन्तु दो—अलग अलग है तब वे वेषका त्याग करके रंगभूमिसे बाहर निकल गये। बहुरूपियाकी ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जब तक देखने वाले उसे पहिचान नहीं लेते तब तक वह अपनी चेष्टाएँ किया करता है, किन्तु जब कोई यथार्थरूपसे पहिचान लेता है तब वह निजरूपको प्रगट करके चेष्टा करना छोड़ देता है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना ॥ १४१ ॥

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वणै करता सो,
ताकरि बन्धन आन तणूं फल ले सुख दुःख भवाश्रमवासो;
ज्ञान भये करता न बनै तब बन्ध न होय खुलै परपासो,
आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै नित थासो।

॥ द्वितीय कर्ताकर्म अधिकार समाप्तः ॥

-: ३ :-

पुण्य-पाप अधिकार
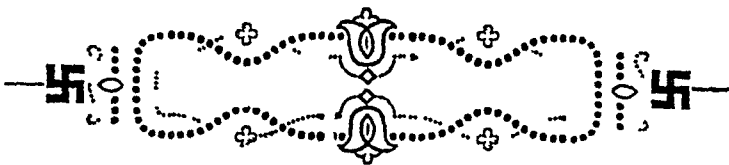
अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति:—

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो
द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं
स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १०० ॥ (द्रुतविलंबित)

—::: दोहा :::—

पुण्य पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर मानि ।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूं चरन हित जानि ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य-पापरूपसे प्रवेश करता है ।'

जैसे नृत्यमंच पर एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो तो उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है, इसीप्रकार यद्यपि कर्म एक ही है, तथापि वह पुण्य पापके भेदसे दो प्रकारके रूप धारण करके नाचता है, उसे सम्यक्दृष्टिका यथार्थज्ञान एकरूप जान लेता है । उस ज्ञानकी महिमाका काव्य इस अधिकारके प्रारम्भमें टीकाकार आचार्य्य कहते हैं :—

अर्थ:—अब (कर्ताकर्म अधिकारके पश्चात्), शुभ और अशुभके भेदसे द्वित्वको प्राप्त उस कर्मको एकरूप करता हुआ, जिसने अत्यन्त मोहरजको दूर कर दिया है, ऐसा यह (प्रत्यक्ष–अनुभवगोचर) ज्ञान सुधांशु (सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) स्वयं उदयको प्राप्त होता है ।

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥ १०१ ॥ (मंदाक्रांता)

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १४५ ॥

कर्म अशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीथ सुशीलम् ।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥ १४५ ॥

भावार्थः—अज्ञानसे एक ही कर्म दो प्रकार दिखाई देता था, उसे सम्यक्ज्ञान ने एक प्रकारका बताया है। ज्ञान पर जो मोहरूपी रज चढ़ी हुई थी उसे दूर कर देनेसे यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ है। जैसे बादल या कुहरेके पटलसे चन्द्रमाका यथार्थ प्रकाश नहीं होता किन्तु आवरणके दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है, इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

अब पुण्य-पापके स्वरूपका दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—(शूद्राके पेटसे एक ही साथ जन्मको प्राप्त दो पुत्रोंमें से एक ब्राह्मणके यहाँ और दूसरा उसी शूद्राके यहाँ पला उनमें से) एक तो 'मैं ब्राह्मण हूँ' इसप्रकार ब्राह्मणत्वके अभिमानसे दूरसे ही मदिराका त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता, तब दूसरा 'मै स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर नित्य मदिरासे ही स्नान करता है, अर्थात् उसे पवित्र मानता है। यद्यपि वे दोनों शूद्राके पेटसे एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं इसलिये (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं, तथापि वे जातिभेदके भ्रम सहित प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं। (इसीप्रकार पुण्य और पापके सम्बन्धमें समझना चाहिये।)

भावार्थः—पुण्य पाप दोनों विभाव परिणतिसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये दोनों बन्धरूप ही हैं। व्यवहारदृष्टिसे भ्रमवश उनकी प्रवृत्ति भिन्न भिन्न भासित होनेसे वे अच्छे और बुरे रूपसे दो प्रकार दिखाई देते हैं। परमार्थदृष्टि तो उन्हें एक रूप ही, बन्धरूप ही और बुरा ही जानती है।

अब, शुभाशुभ कर्मके स्वभावका वर्णन गाथामें करते है:—

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशिल शुभकर्मको ।
किसरीत होय सुशील, जो संसारमें दाखिल करे ॥१४५॥

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात् शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात् शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात् शुभाशुभमोक्षबंधमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रयभेदात् चैकमपि कर्म किंचिच्छुभं किंचिदशुभमिति केषांचित्किल पक्षः, स तु सप्रतिपक्षः। तथाहि—शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवल-

---

गाथा १४५

अन्वयार्थः—[**अशुभं कर्म**] अशुभकर्म [**कुशीलं**] कुशील है (बुरा है) [**अपि च**] और [**शुभकर्म**] शुभ कर्म [**सुशीलं**] सुशील है (अच्छा है) ऐसा [**जानीथ**] तुम जानते हो ? (किन्तु) [**तत्**] वह [**सुशीलं**] सुशील [**कथं**] कैसे [**भवति**] हो सकता है [**यत्**] जो (जीवको) [**संसारं**] संसारमें [**प्रवेशयति**] प्रवेश कराता है ?

टीकाः—किसी कर्ममे शुभ जीवपरिणाम निमित्त होनेसे और किसीमें अशुभ जीवपरिणाम निमित्त होनेसे कर्मके कारणोंमे भेद होता है। कोई कर्म शुभ पुद्गलपरिणाममय और कोई अशुभ पुद्गलपरिणाममय होनेसे कर्मके स्वभावमे भेद होता है। किसी कर्मका शुभ फलरूप और किसीका अशुभ फलरूप विपाक होनेसे कर्मके अनुभव (स्वादमे) भेद होता है। कोई कर्म शुभ-मोक्षमार्गके आश्रित होनेसे और कोई कर्म अशुभ-बन्धमार्गके आश्रित होनेसे कर्मके आश्रयमे भेद होता है। (इसलिये) यद्यपि (वास्तवमे) कर्म एक ही है, तथापि कई लोगोंका ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म शुभ है कोई अशुभ है। परन्तु वह (पक्ष) प्रतिपक्ष सहित है। वह प्रतिपक्ष (अर्थात् व्यवहारपक्षका निषेध करने वाला निश्चयपक्ष) इसप्रकार है:—

शुभ या अशुभ जीव परिणाम केवल अज्ञानमय होनेसे एक हैं; और उनके एक होने से कर्मके कारणोंमे भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होनेसे एक है, उसके एक होनेसे कर्मके स्वभावमे भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ फलरूप होने वाला विपाक केवल पुद्गलमय होनेसे एक है; उसके एक होनेसे कर्मके अनुभवमे (स्वादमें) भेद नहीं होता, इसलिये कर्म एक ही है। शुभ-मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ-बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय है, इसलिये वे अनेक (भिन्न भिन्न-दो) हैं, और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय-बन्धमार्गके ही आश्रित होनेसे कर्मके आश्रयमें भेद नहीं है, इसलिये कर्म एक ही है।

पुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म। शुभाशुभौ मोक्षबंधमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबंधमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म ॥

भावार्थः—कोई कर्म तो अरहंतादिमें भक्ति-अनुराग, जीवोंके प्रति अनुकम्पाके परिणाम और मन्द कषायसे चित्तकी उज्वलता इत्यादि शुभ परिणामोंके निमित्तसे होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादिक अशुभ लेश्या, निर्दयता, विषयासक्ति, और देव, गुरु आदि पूज्य पुरुषोंके प्रति विनयभावसे नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभपरिणामोंके निमित्तसे होते हैं। इसप्रकार हेतु भेद होनेसे कर्मके शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं। सातावेदनीय शुभ-आयु, शुभनाम और शुभगोत्र-इन कर्मोंके परिणामों (प्रकृति) इत्यादिमे तथा चार घातीय-कर्म, असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र-इन कर्मोंके परिणामोंमे भेद है; इसप्रकार स्वभावभेद होनेसे कर्मोंके शुभ और अशुभ दो भेद हैं। किसी कर्मके फलका अनुभव सुखरूप और किसीका दुःखरूप है। इसप्रकार अनुभवका भेद होनेसे कर्मके शुभ और अशुभ दो भेद हैं। कोई कर्म मोक्षमार्गके आश्रित है, और कोई कर्म बन्धमार्गके आश्रित है, इसप्रकार आश्रयका भेद होनेसे कर्मके शुभ और अशुभ दो भेद हैं। इसप्रकार हेतु, स्वभाव अनुभव और आश्रय ऐसे चार प्रकारसे कर्ममे भेद होनेसे कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है, ऐसा कुछ लोगोंका पक्ष है।

अब इस भेद पक्षका निषेध किया जाता है:—जीवके शुभ और अशुभ परिणाम-दोनों अज्ञानमय है इसलिये कर्मका हेतु एक अज्ञान ही है, अतः कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम दोनों पुद्गलमय ही है इसलिये कर्मका स्वभाव एक पुद्गलपरिणाम रूप ही है; अतः कर्म एक ही है। सुख-दुःखरूप दोनों अनुभव पुद्गलमय ही है, इसलिये कर्म का अनुभव एक पुद्गलमय ही है, अतः कर्म एक ही है। मोक्षमार्ग और बन्धमार्गमे, मोक्ष-मार्ग तो केवल जीवके, और बन्धमार्ग केवल पुद्गलके परिणाममय ही है, इसलिये कर्मका आश्रयमात्र बंधमार्ग ही है; (अर्थात् कर्म एक बन्धमार्गके आश्रयसे ही होता है—मोक्षमार्ग में नहीं होता); अतः कर्म एक ही है।

इसप्रकार कर्मके शुभाशुभभेदके पक्षको गौण करके उसका निषेध किया है; क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है, और यदि अभेदपक्षसे देखा जाये तो कर्म एक ही है—दो नहीं।

अब इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते है—

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥ १०२ ॥ (उपजाति)

अथोभयं कर्माविशेषेण बंधहेतुं साधयति;—

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥ १४६ ॥

सौवर्णिकमपि निगल बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम् ।
बध्नात्येवं जीव शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥ १४६ ॥

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बंधत्वाविशेषात् कांचनकालायसनिगलवत् ॥ १४६ ॥

अर्थः—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय-इन चारों का सदा ही अभेद होने से कर्म मे निश्चय से भेद नहीं है, इसलिये समस्त कर्म स्वयं निश्चय से बंधमार्ग के आश्रित हैं और बंध का कारण हैं, अतः कर्म एक ही माना गया है, उसे एक ही मानना योग्य है ॥१४५॥

अब यह सिद्ध करते हैं कि—दोनों—शुभाशुभकर्म, बिना किसी अन्तर के बंध के कारण हैं:—

गाथा १४६

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**सौवर्णिकं**] सोनेकी [**निगलं**] बेड़ी [**अपि**] भी [**पुरुषं**] पुरुषको [**बध्नाति**] बाँधती है, और [**कालायसं**] लोहेकी [**अपि**] भी बाँधती है, [**एवं**] इसी प्रकार [**शुभं वा अशुभं**] शुभ तथा अशुभ [**कृतं कर्म**] किया हुआ कर्म [**जीवं**] जीवको [**बध्नाति**] (अविशेषतया) बाँधता है ।

टीकाः—जैसे सोनेकी और लोहेकी बेड़ी बिना किसी भी अन्तरके पुरुषको बाँधती है क्योंकि बन्धनभावकी अपेक्षासे उनमें कोई अन्तर नहीं है; इसी प्रकार शुभ और अशुभकर्म बिना किसी भी अन्तरके पुरुषको (जीवको) बाँधते हैं, क्योंकि बन्धभावकी अपेक्षासे उनमें कोई अन्तर नहीं है ॥ १४६ ॥

ज्यों लोहकी त्यों कनककी, जंजीर जकड़े पुरुषको ।
इस रीतसे शुभ या अशुभकृत, कर्म बांधे जीवको ॥१४६॥

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति:—

तह्मा दु कुसीलेहिं य रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण॥ १४७॥

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम्।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण॥ १४७॥

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बंधहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत्॥ १४७॥

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टांतेन समर्थयते:—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च॥ १४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णाउं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया॥ १४९॥

अब दोनों कर्मोंका निषेध करते है :—

गाथा १४७

अन्वयार्थः—[**तस्मात् तु**] इसलिये [**कुशीलाभ्यां**] इन दोनों कुशीलोंके साथ [**रागं**] राग [**मा कुरुत**] मत करो [**वा**] अथवा [**संसर्गं च**] संसर्ग भी [**मा**] मत करो [**हि**] क्योंकि [**कुशीलसंसर्गरागेण**] कुशीलके साथ संसर्ग और राग करनेसे [**स्वाधीनः विनाशः**] स्वाधीनताका नाश होता है, अर्थात् अपने द्वारा ही अपना घात होता है।

टीका:—जैसे कुशील—मनोरम और अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है, उसीप्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभकर्मोंके साथ राग और संसर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभकर्मोंके साथ राग और संसर्गका निषेध किया गया है। १४७।

इससे करो नहिं राग वा संसर्ग उभय कुशीलका।
इस कुशिलके संसर्ग से है, नाश तुझ स्वातंत्र्यका ॥१४७॥
जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जनको जानके।
संसर्ग उसके साथ त्योंही, राग करना परितजे ॥१४८॥
यों कर्मप्रकृती शील और स्वभाव कुत्सित जानके।
निजभावमें रत राग, अरु संसर्ग उसका परिहरे॥ १४९॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥ १४८ ॥

एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा ।
वर्जयंति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥ १४९ ॥

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति। तथा किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्प्पंतीं मनोर-

---

अब भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ही दृष्टांतपूर्वक यह समर्थन करते हैं कि दोनों कर्म निषेध्य हैं:—

गाथा १४८-१४९

अन्वयार्थः—[**यथा नाम**] जैसे [**कोऽपि पुरुषः**] कोई भी पुरुष [**कुत्सितशीलं**] कुशील अर्थात् खराब स्वभाववाले [**जनं**] पुरुषको [**विज्ञाय**] जानकर [**तेन समकं**] उसके साथ [**संसर्गं च रागकरणं**] संसर्ग और राग करना [**वर्जयति**] छोड़ देता है, [**एवं एव च**] इसीप्रकार [**स्वभावरताः**] स्वभावमें रत पुरुष [**कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं**] कर्म प्रकृतिके शील-स्वभावको [**कुत्सितं**] कुत्सित अर्थात् खराब [**ज्ञात्वा**] जानकर [**तत्संसर्गं**] उसके साथ ससर्ग [**वर्जयंति**] छोड़ देते हैं [**परिहरंति च**] और राग छोड़ देते हैं।

टीकाः—जैसे कोई जंगलका कुशल हाथी अपने बन्धनके लिये निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनीको परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता इसीप्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बंधके लिये समीप आनेवाली (उदयमें आने वाली) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) सभी कर्म प्रकृतियोंको परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।

भावार्थः—हाथीको पकड़नेके लिये हथिनी रखी जाती है, हाथी कामान्ध होता हुआ उस हथिनीरूपी कुट्टनीके साथ राग तथा संसर्ग करता है, इसलिये वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है। जो हाथी चतुर होता है वह उस हथिनीके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता; इसीप्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृतिको अच्छा समझकर उसके साथ

मामननोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति ॥ १४८ । १४९ ॥

अथोभयकर्महेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसंप्राप्तः।
एषो जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व ॥ १५० ॥

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयकर्माविशेषेण बंधहेतुं साधयति तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति।

राग तथा संसर्ग करते हैं, इसलिये वे बन्धमें पड़कर पराधीन बनकर संसारके दुःख भोगते हैं, और जो ज्ञानी होता है वह उसके साथ कभी भी राग तथा संसर्ग नहीं करता। १४८–१४९।

अब आगमसे यह सिद्ध करते हैं कि दोनों कर्म बंधके कारण हैं और निषेध्य हैं:—

गाथा १५०

अन्वयार्थः—[**रक्तः जीवः**] रागी जीव [**कर्म**] कर्म [**बध्नाति**] बाँधता है [**विरागसंप्राप्तः**] और वैराग्यको प्राप्त जीव [**मुच्यते**] कर्मसे छूटता है— [**एषः**] यह [**जिनोपदेशः**] जिनेन्द्र भगवान्‌का उपदेश है; [**तस्मात्**] इसलिये (हे भव्यजीव !) तू [**कर्मसु**] कर्मोंमें [**मा रज्यस्व**] प्रीति—राग मत कर।

टीकाः—"रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्मसे छूटता है" ऐसा जो यह आगम वचन है सो सामान्यतया रागीपनकी निमित्तताके कारण शुभाशुभ दोनों कर्मोंको अविशेषतया बन्धके कारणरूप सिद्ध करता है, और इसलिये दोनों कर्मोंका निषेध करता है।

इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

जिव रागी बांधे कर्मको, वैराग्यगत मुक्ती लहे।
ये जिन प्रभू उपदेश है नहिं रक्त हो तू कर्मसे ॥ १५० ॥

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्
बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं
ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥ १०३ ॥ (स्वागता)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥ (शिखरिणी)

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति—

अर्थः—क्योंकि सर्वज्ञदेव समस्त (शुभाशुभ) कर्मको अविशेषतया बन्ध का साधन (कारण) कहते है, इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि उन्होने) समस्त कर्मका निषेध किया है और ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है।

जब कि समस्त कर्मोंका निषेध कर दिया गया तब फिर मुनियोंको किसकी शरण रही सो अब कहते हैं:—

अर्थः—शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म-ऐसे समस्त कर्मोंका निषेध कर देने पर निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था मे प्रवर्तमान मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है तब ज्ञानमे आचरण करता हुआ-रमण करता हुआ-परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है; वे उस ज्ञानमे लीन होते हुए परम-अमृत का स्वयं अनुभव करते हैं-स्वाद लेते हैं।

भावार्थः—किसीको यह शंका हो सकती है कि—जब सुकृत और दुष्कृत दोनोंको निषेध कर दिया गया है तब फिर मुनियोंको कुछ भी करना शेष नहीं रहता, इसलिये वे किसके आश्रयसे या किस आलम्बनके द्वारा मुनित्वका पालन कर सकेंगे? आचार्यदेवने उसके समाधानार्थ कहा है कि:—समस्त कर्मोंका त्याग होजाने पर ज्ञानका महा शरण है। उस ज्ञानमें लीन होनेपर सर्व आकुलतासे रहित परमानन्दका भोग होता है, जिसके स्वादको ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी कषायी जीव कर्मोंको ही सर्वस्व जानकर उन्हींमें लीन हो रहे हैं, वे ज्ञानानन्दके स्वादको नहीं जानते ॥ १५० ॥

अब, यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान मोक्ष का कारण है:—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ १५१ ॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी ।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम् ॥ १५१ ॥

ज्ञानं मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः । तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत् । स तु युगपदेकीभावप्रवृत्तज्ञानगमनमयतया समयः । सकलनयपक्षासंकीर्णैक-ज्ञानतया शुद्धः । केवलचिन्मात्रवस्तुतया केवली । मननमात्रभावतया मुनिः । स्वयमेव

गाथा १५१

अन्वयार्थः—[**खलु**] निश्चयसे [**यः**] जो [**परमार्थः**] परमार्थ (परमपदार्थ) है, [**समयः**] समय है [**शुद्धः**] शुद्ध है [**केवली**] केवली है [**मुनिः**] मुनि है [**ज्ञानी**] ज्ञानी है, [**तस्मिन् स्वभावे**] उस स्वभावमें [**स्थिताः**] स्थित [**मुनयः**] मुनि [**निर्वाणं**] निर्वाणको [**प्राप्नुवंति**] प्राप्त होते हैं ।

टीकाः—ज्ञान मोक्षका कारण है, क्योंकि वह शुभाशुभकर्मोंके बन्धका कारण नहीं होनेसे उसके इसप्रकार मोक्षका कारणपना बनता है । वह ज्ञान, समस्त कर्म आदि अन्य जातियोंसे भिन्न चैतन्य जातिमात्र परमार्थ (परमपदार्थ) है—आत्मा है । वह (आत्मा) एक ही साथ एकरूपसे प्रवर्तमान ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होनेसे समय है, समस्त नयपक्षोंसे अमिश्रित एक ज्ञानस्वरूप होनेसे शुद्ध है, केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होने से केवली है । केवल मनन मात्र (ज्ञानमात्र) भावस्वरूप होने से मुनि है, स्वयं ही ज्ञान-स्वरूप होनेसे ज्ञानी है, 'स्व' का भवन[1]मात्रस्वरूप होनेसे स्वभाव है, अथवा स्वतः चैतन्यका भवनमात्रस्वरूप होनेसे सद्भाव है; (क्योंकि जो स्वतः होता है वह सत्स्वरूप ही होता है) इसप्रकार शब्द भेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है । (यद्यपि नाम भिन्न भिन्न है तथापि वस्तु एक ही है)

---

१ भवन = होना;

परमार्थ है निश्चय, समय, शुध, केवली, मुनि, ज्ञानि है ।
तिष्ठे जु उसहि स्वभाव मुनिवर, मोक्षकी प्राप्ती करें ॥ १५१ ॥

ज्ञानतया ज्ञानी । स्वस्य भवनमात्रतया स्वभावः स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः ॥ १५१ ॥

अथ ज्ञानं विधापयति—

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥ १५२ ॥

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं विंदंति सर्वज्ञाः ॥ १५२ ॥

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपःकर्मणोः बंधहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ॥१५२॥

भावार्थः—मोक्षका उपादान तो आत्मा ही है। परमार्थसे आत्माका ज्ञानस्वभाव है; जो ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान है। इसलिये ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहना योग्य है ॥ १५१ ॥

अब यह बतलाते हैं कि आगममें भी ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है:—

गाथा १५२

अन्वयार्थः—[**परमार्थे तु**] परमार्थमें [**अस्थितः**] अस्थित [**यः**] जो जीव [**तपः करोति**] तप करता है [**च**] और [**व्रतं धारयति**] व्रत धारण करता है, [**तत् सर्वं**] उसके उन सब तप और व्रतको [**सर्वज्ञाः**] सर्वज्ञदेव [**बालतपः**] बालतप और [**बालव्रतं**] बालव्रत [**विंदंति**] कहते हैं।

टीकाः—आगममे भी ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है, (ऐसा सिद्ध होता है) क्योंकि जो जीव परमार्थभूत ज्ञानसे रहित है उसके अज्ञान पूर्वक किये गये व्रत, तप आदि कर्म, बन्धके कारण हैं इसलिये उन कर्मोंको 'बाल' संज्ञा देकर उनका निषेध किया जानेसे ज्ञान ही मोक्षका कारण सिद्ध होता है।

भावार्थः—ज्ञानके बिना किये गये तप, व्रतादिको सर्वज्ञदेवने बालतप तथा बालव्रत (अज्ञानतप तथा अज्ञानव्रत) कहा है, इसलिये मोक्षका कारण ज्ञान ही है ॥ १५२ ॥

परमार्थमें नहिं तिष्ठकर, जो तप करें व्रतको धरें।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवरने कहे ॥ १५२ ॥

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतू नियमयति—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥ १५३ ॥

व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वंतः ।
परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विंदंति ॥ १५३ ॥

ज्ञानमेव मोक्षहेतुस्तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात् । अज्ञानमेव बंधहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात् ॥

अब यह कहते हैं कि ज्ञान ही मोक्षका हेतु है और अज्ञान ही बन्धका हेतु है यह नियम है :—

गाथा १५३

अन्वयार्थः—[**व्रतनियमान्**] व्रत और नियमोंको [**धारयन्तः**] धारण करते हुए भी [**तथा**] तथा [**शीलानि च तपः**] शील और तप [**कुर्वन्तः**] करते हुए भी [**ये**] जो [**परमार्थबाह्याः**] परमार्थसे बाह्य हैं (अर्थात् परमपदार्थरूप ज्ञानका—ज्ञानस्वरूप आत्मा का जिसको श्रद्धान नही है) [**ते**] वे [**निर्वाणं**] निर्वाणको [**न विंदंति**] प्राप्त नही होते ।

टीका:—ज्ञान ही मोक्षका हेतु है, क्योकि ज्ञानके अभावमे स्वयं ही अज्ञानरूप होने वाले अज्ञानियोंके अंतरंगमें व्रत, नियम, शील तप इत्यादि शुभ कर्मोंका सद्भाव होने पर भी मोक्षका अभाव है । अज्ञान ही बंधका कारण है, क्योंकि उसके अभावमे स्वयं ही ज्ञानरूप होने वाले ज्ञानियोंके बाह्य व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मोंका असद्भाव होने पर भी मोक्षका सद्भाव है ।

भावार्थः—ज्ञानरूप परिणमन ही मोक्षका कारण है और अज्ञानरूप परिणमन ही बन्धका कारण है । व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभभावरूप शुभकर्म कहीं मोक्षके कारण नहीं है । ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानीके वे शुभकर्म न होने पर भी वह मोक्षको प्राप्त करता है, तथा अज्ञानरूप परिणमित अज्ञानीके वे शुभकर्म होनेपर भी, वह बन्धको प्राप्त करता है ।

व्रतनियमको धारें भले, तपशीलको भी आचरें ।
परमार्थसे जो बाह्य वो, निर्वाणप्राप्ती नहिं करें ॥ १५३ ॥

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥ (शिखरिणी)

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥ १५४ ॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति ।
संसारगमनहेतुमपि मोक्षहेतुमजानंतः ॥ १५४ ॥

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषंतोऽपि तद्धेतु-भूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसार-

---

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूपसे और अचलरूपसे ज्ञानस्वरूप होता हुआ-परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्षका हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है; उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वह बन्धका हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव बंधस्वरूप है। इसलिये आगम मे ज्ञानस्वरूप होनेका (ज्ञानस्वरूप परिणमित होनेका) अर्थात् अनुभूति करनेका ही विधान है ॥ १५३ ॥

अब फिर भी पुण्यकर्मके पक्षपातीको समझानेके लिये उसका दोष बतलाते हैं:—

गाथा १५४

अन्वयार्थः—[**ये**] जो [**परमार्थबाह्याः**] परमार्थसे बाह्य है [**ते**] वे [**मोक्षहेतुं**] मोक्षके हेतुको [**अजानन्तः**] न जानते हुए [**संसारगमनहेतुं अपि**] संसार गमनका हेतु होने पर भी [**अज्ञानेन**] अज्ञानसे [**पुण्यं**] पुण्यको (मोक्षका हेतु समझकर) [**इच्छंति**] चाहते हैं।

टीकाः—समस्त कर्मोंके पक्षका नाश करनेसे उत्पन्न होनेवाले आत्मलाभस्वरूप मोक्षको इस जगतमें कितने ही जीव चाहते हुए भी, मोक्षकी कारणभूत सामायिककी—जो

परमार्थबाहिर जीवगण, जानें न हेतू मोक्षका ।
अज्ञानसे वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसारका ॥ १५४ ॥

भूतं सामायिकं प्रतिज्ञायापि दुरंतकर्मचक्रोत्तरणक्लीबतया परमार्थभूतज्ञानानुभवनमात्रं सामायिकमात्मस्वभावमलभमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवृत्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुन्मूलयंतः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बंधहेतुमध्यास्य च व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मबंधहेतुमप्यजानंतो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छंति ॥ १५४ ॥

अथ परमार्थमोक्षहेतुस्तेषां दर्शयति—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ १५५ ॥

(सामायिक) सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञानकी भवनमात्र है, एकाग्रता लक्षणयुक्त है, और समयसारस्वरूप है, उसकी—प्रतिज्ञा लेकर भी दुरंत कर्मचक्रको पार करनेकी नपुंसकताके कारण परमार्थभूत ज्ञानके अनुभवनमात्र सामायिकस्वरूप आत्मस्वभावको न प्राप्त होते हुए जिनके अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्म निवृत्त हुए हैं और अत्यन्त स्थूल विशुद्धपरिणामरूप कर्म प्रवर्त रहे है ऐसे वे, कर्मके अनुभवके गुरुत्वलघुत्वकी प्राप्तिमात्रसे ही सन्तुष्ट चित्त होते हुए भी स्वयं स्थूललक्ष वाले होकर (संक्लेशपरिणामको छोड़ते हुए भी) समस्त कर्मकाण्डको मूलसे नहीं उखाड़ते । इसप्रकार वे स्वयं अपने अज्ञानसे केवल अशुभकर्मको ही बन्धका कारण मानकर, व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों को बन्धका कारण होने पर भी उन्हें बन्धका कारण न जानते हुए मोक्षके कारणरूपमें अंगीकार करते हैं,—मोक्षके कारणरूपमे उनका आश्रय करते हैं।

भावार्थः—कितने ही अज्ञानीजन दीक्षा लेते समय सामायिककी प्रतिज्ञा लेते हैं, परन्तु सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभावकी श्रद्धा, लक्ष्य तथा अनुभव न कर सकनेसे, स्थूल लक्ष्य वाले वे जीव स्थूल संक्लेश परिणामोंको छोड़कर ऐसे ही स्थूल विशुद्ध परिणामोंमे (शुभपरिणामों में) प्रसन्न होते है। (संक्लेशपरिणाम तथा विशुद्ध परिणाम दोनों अत्यन्त स्थूल हैं; आत्मस्वभाव ही सूक्ष्म है ।) इसप्रकार वे-यद्यपि वास्तविकतया सर्व कर्म रहित आत्मस्वभावका अनुभवन ही मोक्षका कारण है तथापि कर्मानुभवके अल्प-बहुत्वको ही बध-मोक्षका कारण मानकर व्रत नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मोंका मोक्षके हेतुके रूपमें आश्रय करते हैं ।१५४।

अब जीवो को परमार्थ (वास्तविक) मोक्षका कारण बतलाते हैं:—

जीवादिका श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है ।
रागादिवर्जन चरित है, अरु ये हि मुक्ती पंथ है ॥ १५५ ॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्व तेषामधिगमो ज्ञानम् ।
रागादिपरिहरणं चरणं एषस्तु मोक्षपथः ॥ १५५ ॥

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । तत्र सम्यक्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं । जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं । रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रं । तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातं । ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः ॥ १५५ ॥

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥ १५६ ॥

गाथा १५५

अन्वयार्थः—[**जीवादिश्रद्धानं**] जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान [**सम्यक्त्वं**] सम्यक्त्व है, [**तेषां अधिगमः**] उन जीवादि पदार्थोंका अधिगम [**ज्ञानं**] ज्ञान है, और [**रागादिपरिहरणं**] रागादिका त्याग [**चरणं**] चारित्र है;—[**एषः तु**] यही [**मोक्षपथः**] मोक्षका मार्ग है ।

टीकाः—मोक्षका कारण वास्तवमे सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है । उसमें सम्यक्दर्शन तो जीवादि पदार्थोंके श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञानका होना —परिणमन करना है; जीवादि पदार्थोंके ज्ञानस्वभावरूप ज्ञानका होना—परिणमन करना ज्ञान है; रागादिके त्यागस्वभावरूप ज्ञानका होना-परिणमन करना सो चारित्र है । अतः इसप्रकार सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक ज्ञानका ही भवन (-परिणमन) है । इसलिये ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्षका कारण है ।

भावार्थः—आत्माका असाधारणस्वरूप ज्ञान ही है । और इस प्रकरणमें ज्ञानको ही प्रधान करके विवेचन किया है । इसलिये 'सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' यह कहकर ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है । ज्ञान अभेदविवक्षामे आत्मा ही है—ऐसा कहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है. इसीलिये टीकामें कई स्थानोंपर आचार्यदेवने ज्ञानस्वरूप आत्माको 'ज्ञान' शब्दसे कहा है ॥१५५॥

अब, परमार्थ मोक्षकारणमे अन्य जो कर्म उनका निषेध करते हैं:—

विद्वान् जन भूतार्थ तज, व्यवहारमें वर्तन करे ।
पर कर्मनाश विधानतो, परमार्थ आश्रित संतके ॥ १५६ ॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तंते ।

परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः ॥ १५६ ॥

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्ष-हेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धस्तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्या-भवनात् । परमार्थमोक्षहेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् ।

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।

एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ १०६ ॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।

द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ १०७ ॥ (अनुष्टुप्)

गाथा १५६

अन्वयार्थः—[निश्चयार्थं] निश्चयनयके विषयको **[मुक्त्वा]** छोड़कर **[विद्वांसः]** विद्वान **[व्यवहारेण]** व्यवहारके द्वारा **[प्रवर्तंते]** प्रवर्तते हैं; **[तु]** परन्तु **[परमार्थं आश्रितानां]** परमार्थके (आत्मस्वरूपके) आश्रित **[यतीनां]** यतीश्वरोंके ही **[कर्मक्षयः]** कर्मोंका नाश **[विहितः]** (आगममें) कहा गया है (केवल व्यवहारमें प्रवर्तन करनेवाले पण्डितोंके कर्मक्षय नहीं होता ।)

टीकाः— कुछ लोग परमार्थ मोक्षहेतुसे अन्य जो व्रत, तप इत्यादि शुभकर्मस्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं, उस समस्तहीका निषेध किया गया है; क्योंकि वह (मोक्षहेतु) अन्यद्रव्यके स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है, इसलिये उसके स्वभावसे ज्ञानका भवन (होना) नहीं बनता, —मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही एक द्रव्यके स्वभाववाला(जीवस्वभाववाला) है, इसलिये उसके स्वभावके द्वारा ज्ञानका भवन (होना) बनता है ।

भावार्थः— क्योंकि आत्माका मोक्ष होता है,इसलिये उसका कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिये । जो अन्य द्रव्यके स्वभाववाला है उससे आत्माका मोक्ष कैसे हो सकता है ? शुभकर्म पुद्गलस्वभाववाले है, इसलिये उनके भवनसे परमार्थ आत्माका भवन नहीं बन सकता; इसलिये वे आत्माके मोक्षके कारण नहीं होते । ज्ञान आत्मस्वभावी है इसलिये उसके भवनसे आत्माका भवन बनता है; अतः वह आत्माके मोक्षका कारण होता है । इस प्रकार ज्ञान ही वास्तविक मोक्षहेतु है ।

अब इसी अर्थके कलशरूप दो श्लोक कहते हैं:—

अर्थः— ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (जीवस्वभावी) होनेसे ज्ञानके स्वभावसे सदा

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बंधत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥ १०८ ॥ (अनुष्टुप्)

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥ १५७ ॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥ १५८ ॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णायव्वं ॥ १५९ ॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम् ॥ १५७ ॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम् ॥ १५८ ॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यम् ॥ १५९ ॥

ज्ञानका भवन बनता है, इसलिये ज्ञान ही मोक्षका कारण है ।

कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी (पुद्गलस्वभावी) होनेसे कर्मके स्वभावसे ज्ञानका भवन नहीं बनता, इसलिये कर्म मोक्षका कारण नहीं है ।

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—कर्म मोक्षके कारणोंका तिरोधान करनेवाला है, **और वह स्वयं ही** बंधस्वरूप है, तथा मोक्षके कारणोंका तिरोधायिभावस्वरूप (तिरोधानकर्ता) **है, इसलिये** उसका निषेध किया गया है । १०८ ।

मल मिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका ।
मिथ्यात्वमलके लेपसे, सम्यक्त त्यों ही जानना ॥ १५७ ॥
मल मिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका ।
अज्ञानमलके लेपसे, सद्ज्ञान त्यों ही जानना ॥ १५८ ॥
मल मिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका ।
चारित्र पावे नाश, लिप्त कषायमलसे जानना ॥ १५९ ॥

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात् तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्। ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्। ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूत-

---

अब पहले, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म मोक्षके कारणोंका तिरोधान करनेवाला है:—

गाथा १५७--१५८--१५९

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्रका [**श्वेतभावः**] श्वेतभाव [**मलमेलनासक्तः**] मैलके मिलने से लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नष्ट हो जाता है–तिरोभूत हो जाता है [**तथा**] उसीप्रकार [**मिथ्यात्वमलावच्छन्नं**] मिथ्यात्वरूपी मैलसे व्याप्त होता हुआ–लिप्त होता हुआ [**सम्यक्त्वं खलु**] सम्यक्त्व वास्तवमें तिरोभूत होता है [**ज्ञातव्यं**] ऐसा जानना चाहिये। [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्रका [**श्वेतभावः**] श्वेतभाव [**मलमेलनासक्तः**] मैलके मिलने से लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नाशको प्राप्त होता है–तिरोभूत हो जाता है [**तथा**] उसीप्रकार [**अज्ञानमलावच्छन्नं**] अज्ञानरूपी मैलसे व्याप्त होता हुआ–लिप्त होता हुआ [**ज्ञानं भवति**] ज्ञान तिरोभूत हो जाता है, [**ज्ञातव्यं**] ऐसा जानना चाहिये। [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्रका [**श्वेतभावः**] श्वेतभाव [**मलमेलनासक्तः**] मैलके मिलने से लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नाशको प्राप्त होता है–तिरोभूत हो जाता है, [**तथा**] उसीप्रकार [**कषायमलावच्छन्नं**] कषायरूपी मैलसे व्याप्त--लिप्त होता हुआ [**चारित्रं अपि**] चारित्र भी तिरोभूत हो जाता है, [**ज्ञातव्यं**] ऐसा जानना चाहिये।

टीका:—ज्ञानका सम्यक्त्व जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है वह परभावस्वरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैलके द्वारा व्याप्त होनेसे तिरोभूत होजाता है, जैसे परभावस्वरूप मैलसे व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्रका स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञानका ज्ञान जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है वह परभावस्वरूप अज्ञान नामक कर्ममलके द्वारा व्याप्त होनेसे तिरोभूत हो जाता है, जैसे परभावस्वरूप मैलसे व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्रका स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञानका चारित्र जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव

मलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धं ॥ १५७-१५८-१५९ ॥

अथ कर्मणः स्वयं बंधत्वं साधयति—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥ १६० ॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम् ॥ १६० ॥

यतः स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषा-

---

है वह परभावस्वरूप कषाय नामक कर्ममलके द्वारा व्याप्त होनेसे तिरोभूत होता है, जैसे परभावस्वरूप मैलसे व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्रका स्वभावभत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। इसलिये मोक्षके कारणका, (सम्यकदर्शन, ज्ञान और चारित्रका) तिरोधान करने वाला होने से कर्मका निषेध किया गया है।

भावार्थ:—सम्यकदर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। ज्ञानका सम्यक्त्वरूप परिणमन मिथ्यात्व कर्मसे तिरोभूत होता है, ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन अज्ञानकर्मसे तिरोभूव होता है; और ज्ञानका चारित्ररूप परिणमन कषायकर्मसे तिरोभूत होता है। इसप्रकार मोक्षके कारणभावोंको कर्म तिरोभूत करता है इसलिये उसका निषेध किया गया है ॥ १५७ - १५६ ॥

अव, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म स्वयं ही वन्ध स्वरूप है:—

गाथा १६०

अन्वयार्थः—[**सः**] वह आत्मा [**सर्वज्ञानदर्शी**] (स्वभाव से) सर्वको जानने-देखने वाला है, तथापि [**निजेन कर्मरजसा**] अपने कर्ममलसे [**अवच्छन्नः**] लिप्त होता हुआ—व्याप्त होता हुआ [**संसार समापन्नः**] संसारको प्राप्त हुआ वह [**सर्वतः**] सब प्रकारसे [**सर्वं**] सर्वको [**न विजानाति**] नहीं जानता।

टीका:—जो स्वयं ही ज्ञान होनेके कारण विश्वको (सर्व पदार्थोंको) सामान्य-विशेषतया जाननेके स्वभाव वाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादिकालसे अपने

यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छादसे।
संसारप्राप्त, न जानता वो सर्वको सब रीतसे ॥ १६० ॥

पराधप्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बंधावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानद-ज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते । ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बंधः । अतः स्वयं बंधत्वा-त्कर्म प्रतिषिद्धं ॥ १६० ॥

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥ १६१ ॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥ १६२ ॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥ १६३ ॥

पुरुषार्थके अपराधसे प्रवर्तमान कर्ममलके द्वारा लिप्त या व्याप्त होने से ही, बन्ध अवस्थामें सर्वप्रकारसे सम्पूर्ण अपने को अर्थात् सर्वप्रकारसे सर्व ज्ञेयोंको जानने वाले अपनेको न जानता हुआ, इसप्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभावसे (अज्ञानदशामें) रह रहा है; इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं। इसलिये स्वयं बन्धस्वरूप होनेसे कर्मका निषेध किया गया है।

भावार्थः—यहाँ भी 'ज्ञान' शब्दसे आत्मा समझना चाहिये। ज्ञान अर्थात् आत्म-द्रव्य स्वभावसे तो सबको जानने-देखने वाला है परन्तु अनादि से स्वयं अपराधी होनेके कारण कर्मों से आच्छादित है, इसलिये वह अपने सम्पूर्ण स्वरूपको नहीं जानता, यों अज्ञानदशामें रह रहा है। इसप्रकार केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा कर्मों से लिप्त होने से अज्ञानरूप अथवा बद्धरूप वर्तता है, इसलिये यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है, अतः कर्मोंका निषेध किया गया है ॥ १६० ॥

सम्यक्त्वप्रतिबंधक करम, मिथ्यात्व जिनवरने कहा ।
उसके उदयसे जीव मिथ्यात्वी बने यह जानना ॥ १६१ ॥
त्यों ज्ञानप्रतिबंधक करम, अज्ञान जिनवरने कहा ।
उसके उदयसे जीव अज्ञानी बने यह जानना ॥ १६२ ॥
चारित्रप्रतिबंधक करम, जिन ने कषायों को कहा ।
उसके उदयसे जीव चारितहीन हो यह जानना ॥ १६३ ॥

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्व जिनवरैः परिकथितम् ।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥ १६१ ॥

ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितम् ।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥ १६२ ॥

चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः ।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ॥ १६३ ॥

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वं । ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं

अब, यह बतलाते है कि कर्म मोक्षके कारणके तिरोधायिभावस्वरूप अर्थात् मिथ्यात्वादि भावस्वरूप हैं :—

गाथा १६१-१६२-१६३

अन्वयार्थः—[**सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं**] सम्यक्त्वको रोकनेवाला [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरो ने [**परिकथितं**] कहा है, [**तस्य उदयेन**] उसके उदयसे [**जीवः**] जीव [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि होता है [**इति ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिये। [**ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं**] ज्ञानको रोकनेवाला [**अज्ञानं**] अज्ञान है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरोने [**परिकथितं**] कहा है; [**तस्य उदयेन**] उसके उदयसे [**जीवः**] जीव [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**भवति**] होता है [**ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिये। [**चारित्रप्रतिनिबद्धः**] चारित्रको रोकनेवाला [**कषायः**] कषाय है, ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरों ने [**परिकथितः**] कहा है; [**तस्य उदयेन**] उसके उदयसे [**जीवः**] जीव [**अचारित्रः**] अचारित्रवान [**भवति**] होता है [**ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिये।

टीका:—सम्यक्त्व जो कि मोक्षके कारणरूप स्वभाव है उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है वह (मिथ्यात्व) तो स्वयं कर्म ही है उसके उदयसे ही ज्ञानके मिथ्यादृष्टिपना होता है। ज्ञान जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है उसे रोकने वाला अज्ञान है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही ज्ञानके अज्ञानीपना होता है। चारित्र जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव

किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानित्वं। चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकः किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वं। अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धं॥

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥ (शार्दूल०)

है उसे रोकनेवाली कषाय है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही ज्ञानके अचारित्रपना होता है; इसलिये स्वयं मोक्षके कारणका तिरोधायिभावस्वरूप होनेसे कर्मका निषेध किया गया है।

भावार्थः—सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षके कारणरूप भाव हैं, उनसे विपरीत मिथ्यात्वादि भाव हैं; कर्म मिथ्यात्वादिभावस्वरूप हैं। इसप्रकार कर्म मोक्षके कारणभूत भावोंसे विपरीतभावस्वरूप हैं।

पहले तीन गाथाओंमें कहा था कि कर्म मोक्षके कारणरूप भावोंका सम्यक्त्वादिका—घातक है। बादकी एक गाथामें यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। और इन अन्तिम तीन गाथाओंमें कहा है कि कर्म मोक्षके कारणरूपभावोंसे विरोधीभावस्वरूप है—मिथ्यात्वादिस्वरूप है इसप्रकार यह बताया है कि कर्म मोक्षके कारणका घातक है, बन्धस्वरूप है और बन्धका कारणस्वरूप है, इसलिये निषिद्ध है।

अशुभकर्म तो मोक्षका कारण है ही नहीं, प्रत्युत बाधक ही है, इसलिये निषिद्ध ही है; परन्तु शुभकर्म भी कर्म सामान्यमें आजाता है इसलिये वह भी बाधक ही है, इसलिये निषिद्ध ही है ऐसा समझना चाहिये।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—मोक्षार्थीको यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है। जहाँ समस्त कर्मोंका त्याग किया जाता है फिर वहाँ पुण्य या पापकी क्या बात है? (कर्ममात्र त्याज्य है, तब फिर पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है ऐसी बातको अवकाश ही कहाँ है? कर्मसामान्यमें दोनों आगये है।) समस्त कर्मका त्याग होने पर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होनेसे—परिणमन करनेसे मोक्षका कारणभूत होता हुआ, निष्कर्म अवस्थाके साथ जिसका उद्धत (उत्कट) रस प्रतिबद्ध है ऐसा ज्ञान, अपने आप दौड़ा चला आता है।

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय त-
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ ११० ॥ (शार्दूल०)

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति यन्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः ।

भावार्थः—कर्मको दूर करके, अपने सम्यक्त्वादि स्वभावरूप परिणमन करनेसे मोक्षका कारणरूप होनेवाला ज्ञान अपने आप प्रगट होता है—तब फिर उसे कौन रोक सकता है ?

अब, आशंका उत्पन्न होती है कि—जबतक अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादिके कर्मका उदय रहता है तब तक ज्ञान, मोक्षका कारण कैसे हो सकता है और कर्म तथा ज्ञान (कर्मके निमित्तसे होनेवाली शुभाशुभ परिणति तथा ज्ञानपरिणति) दोनों एक ही साथ कैसे रह सकते हैं ? इसके समाधानार्थ काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जबतक ज्ञानकी कर्मविरति भली भाँति परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती तबतक कर्म और ज्ञानका एकत्रितपना शास्त्रमें कहा है; उनके एकत्रित रहनेमें कोई भी क्षति या विरोध नहीं है । किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मामें अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बंधका कारण है, और जो एक परम ज्ञान है वह एक ही मोक्षका कारण है, जो कि स्वतः विमुक्त है (अर्थात् तीनोंकाल परद्रव्य-भावों से भिन्न है ।)

भावार्थः—जबतक यथाख्यातचारित्र नहीं होता तबतक सम्यक्दृष्टिके दो धाराएँ रहती हैं,-शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा । उन दोनोंके एक साथ रहनेमें कोई भी विरोध नहीं है । जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञानके परस्पर विरोध है वैसे कर्मसामान्य और ज्ञानके विरोध नहीं है ।) ऐसी स्थितिमें कर्म अपना कार्य करता है, और ज्ञान अपना कार्य करता है । जितने अंशमें शुभाशुभकर्मधारा है उतने अंशमें कर्मबन्ध होता है और जितने अंशमें ज्ञानधारा है उतने अंशमें कर्मका नाश होता जाता है । विषय कषायके विकल्प या व्रत नियमके विकल्प अथवा शुद्ध स्वरूपका विचार तक भी कर्मबन्धका कारण है, शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्षका कारण है ।

अब कर्म और ज्ञानका नयविभाग बतलाते हैं:—

विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥ १११ ॥ (शार्दूल०)

अर्थः—कर्मनयके आलम्बनमें तत्पर (कर्मनयके पक्षपाती) पुरुष डूबे हुए हैं, क्योंकि वे ज्ञानको नहीं जानते ज्ञाननयके इच्छुक (पक्षपाती) पुरुष भी डूबे हुए है; क्योंकि वे स्वच्छन्दतासे अत्यन्त मन्द-उद्यमी है (वे स्वरूपप्राप्तिका पुरुषार्थ नहीं करते, प्रमादी हैं और विषय कषायमें वर्तते हैं।), वे जीव विश्वके ऊपर तैरते है जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए,—परिणमतेहुए कर्म नहीं करते और कभी भी प्रमादवश भी नहीं होते, (स्वरूपमें उद्यमी रहते हैं।)

भावार्थः—यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्रायका निषेध किया है, क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय ही मिथ्यात्व है।

कितने ही लोग परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानते नहीं और व्यवहार दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप क्रियाकाण्डके आडम्बरको मोक्षका कारण जानकर उसमें तत्पर रहते हैं,—उसका पक्षपात करते हैं (ऐसे कर्मनयके पक्षपाती लोग, जो कि ज्ञानको तो नहीं जानते और कर्मनयमें ही खेदखिन्न है वे संसार में डूबते हैं।

और कितने ही लोग आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं जानते तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियोंके उपदेशसे अथवा अपने आप ही अंतरंगमें ज्ञानका स्वरूप मिथ्याप्रकारसे कल्पित करके उसमें पक्षपात करते है। वे अपनी परिणतिमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना अपनेको सर्वथा अबन्ध मानते है, और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्रके क्रिया काण्डको निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं। ऐसे ज्ञाननयके पक्षपाती लोग जो कि स्वरूपका कोई पुरुषार्थ नहीं करते और शुभपरिणामोंको छोड़कर स्वच्छन्दी होकर विषयकषायोमे वर्तते हैं वे भी संसार समुद्रमें डूबते है।

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए शुभाशुभ कर्मोंको (अर्थात् शुभाशुभ-भावोको) हेय जानते हैं और शुद्ध परिणतिको ही उपादेय जानते है। वे मात्र अशुभकर्मोंको ही नहीं किन्तु शुभकर्मोंको भी छोड़कर, स्वरूपमे स्थिर होनेके लिये निरंतर उद्यमी रहते हैं, वे सम्पूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ करते ही रहते है, जबतक पुरुषार्थकी अपूर्णताके कारण शुभाशुभपरिणामोसे छूटकर स्वरूपमे सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता तबतक-यद्यपि स्वरूपस्थिरताका आन्तरिक अवलम्बन तो शुद्ध परिणति स्वयंही है तथापि—आन्तरिक

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥ ११२ ॥ (मंदाक्रांता)

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम् ॥

अवलम्बन लेनेवालेको जो बाह्य आलम्बनरूप होते हैं, ऐसे (शुद्धस्वरूपके विचार आदि) शुभपरिणामोंमें वे जीव हेयबुद्धिसे प्रवर्तते हैं, किन्तु शुभकर्मोंको निरर्थक मानकर, उन्हें छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी बुद्धि कभी नहीं होती । ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मोंका नाश करके संसारसे निवृत्त होते हैं ।

अब पुण्य-पाप अधिकारको पूर्ण करते हुए आचार्य्यदेव ज्ञानकी महिमा करते हैं—

अर्थः—मोहरूपी मदिराके पीनेसे, भ्रमरसके भारसे (अतिशयपनेसे) शुभाशुभ कर्मके भेदरूपी उन्मादको जो नचाता है ऐसे समस्त कर्मको, अपने बलद्वारा समूल उखाड़कर अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई । वह ज्ञानज्योति ऐसी है कि जिसने अज्ञानरूपी अंधकारका ग्रास कर लिया है, अर्थात् जिसने अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश कर दिया है, जो लीलामात्रसे (सहज पुरुषार्थसे) विकसित होती जाती है और जिसने परम कला अर्थात् केवलज्ञानके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है । (जबतक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है तबतक ज्ञानज्योति केवलज्ञानके साथ शुद्धनयके बलसे परोक्ष क्रीड़ा करती है, केवलज्ञान होनेपर साक्षात् होती है)

भावार्थः—आपको (ज्ञानज्योतिको) प्रतिबन्धक कर्म (भावकर्म) जो कि शुभाशुभ भेदरूप होकर नाचता था और ज्ञानको भुला देता था, उसे अपनी शक्तिसे उखाड़कर ज्ञानज्योति सम्पूर्ण सामर्थ्यसहित प्रकाशित हुई । वह ज्ञानज्योति अथवा ज्ञानकला, केवलज्ञानरूपी परमकलाका अंश है, तथा वह केवलज्ञानके सम्पूर्ण स्वरूपको जानती है और उस ओर प्रगति करती है, इसलिये यह कहा है कि 'ज्ञानज्योतिने केवलज्ञानके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है ।' ज्ञानकला सहजरूपसे विकासको प्राप्त होती जाती है और अन्तमें वह परमकला अर्थात् केवलज्ञान हो जाती है ।

टीकाः—पुण्यपापरूपमें दो पात्रों के रूपमें नाचनेवाला कर्म एक पात्ररूप होकर (रंगभूमिमें से) बाहर निकल गया ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पुण्यपापप्ररूपकः तृतीयोऽङ्कः ॥ ३ ॥
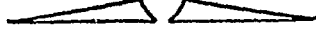
भावार्थः—यद्यपि कर्म सामान्यतया एक ही है तथापि उसने पुण्यपापरूपी दो पात्रों का स्वांग धारण करके रंगभूमिमें प्रवेश किया था। जब उसे ज्ञानने यथार्थतया एक जान-लिया तब वह एक पात्ररूप होकर रंगभूमिसे बाहर निकल गया। और नृत्य करना बन्द कर दिया ॥ १६१-१६३ ॥

आश्रय कारणरूप सवादसुं भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,
पुण्यरु पाप शुभाशुभ भावनि बंधभये सुख दुःखकरारे।
ज्ञानभये दोउ एक लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बंधके कारण हैं दोउरूप इन्हें तजि जिन मुनि मोक्ष पधारे।

॥ तृतीय पुण्य पाप अधिकार समाप्तः ॥

-: ४ :-

आस्रव अधिकार

अथ प्रविशत्यास्रवः ।

अथ महामदनिर्भरमंथरं
समररंगपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो
जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥ ११३ ॥ (द्रुतविलंबित)

—::: दोहा :::—

द्रव्यास्रवतैं भिन्न ह्वै, भावास्रव करि नास ।
भये सिद्ध परमातमा, नमूँ तिनहि सुख आस ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि—'अब आस्रव प्रवेश करता है'। जैसे नृत्यमंच पर नृत्यकार स्वांग धारण कर प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ आस्रवका स्वांग है। उस स्वांगको यथार्थतया जाननेवाला सम्यक्ज्ञान है उसकी महिमारूप मंगल करते हैं:—

अर्थः—अब समरांगणमें आये हुए महामदसे भरे हुए मदोन्मत्त आस्रवको यह दुर्जय ज्ञान-धनुर्धर जीत लेता है, जिसका महान् उदय उदार है (अर्थात् आस्रवको जीतनेके लिये जितना पुरुषार्थ चाहिये उतना वो पूरा करता है) और गम्भीर है, (अर्थात् छद्मस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते।)

भावार्थः—यहाँ आस्रव ने नृत्यमंच पर प्रवेश किया है। नृत्यमें अनेक रसोंका वर्णन होता है इसलिये यहाँ रसवत् अलंकारके द्वारा शांतरसमें वीररसको प्रधान करके वर्णन किया है कि 'ज्ञानरूपी धनुर्धर आस्रवको जीतता है'। समस्त विश्वको जीतकर मदोन्मत्त आस्रव संग्रामभूमिमें आकर खड़ा हो गया, किन्तु ज्ञान तो उससे भी अधिक बलवान

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥ १६४ ॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥ १६५ ॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥ १६४ ॥
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति।
तेषामपि भवति जीवश्च रागद्वेषादिभावकरः ॥ १६५ ॥

योद्धा है, इसलिये वह आस्रवको जीत लेता है, अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमे कर्मोंका नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञानका ऐसा सामर्थ्य है।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैंः—

गाथा १६४-१६५

अन्वयार्थः—[**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व, [**अविरमणं**] अविरमण [**कषाययोगौ च**] कषाय और योग-यह आस्रव [**संज्ञासंज्ञाः तु**] संज्ञ (चेतनके विकार) भी हैं और असंज्ञ (पुद्गलके विकार) भी है। [**बहुविधभेदाः**] विविध भेद वाले संज्ञ आस्रव–[**जीवे**] जो कि जीवमें उत्पन्न होते है वे–[**तस्य एव**] जीवके ही [**अनन्यपरिणामाः**] अनन्य परिणाम है। [**ते तु**] और असंज्ञ आस्रव [**ज्ञानावरणाद्यस्य कर्मणः**] ज्ञानावरणादि कर्मके [**कारणं**] कारण (निमित्त) [**भवंति**] होते हैं, [**च**] और [**तेषां अपि**] उनका भी (असंज्ञ आस्रवोंके भी कर्मबन्धका निमित्त होनेमें) [**रागद्वेषादिभावकरः जीवः**] राग द्वेषादि भाव करने वाला जीव [**भवति**] कारण (निमित्त) होता है।

मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं।
ये विविध भेद जु जीवमें, जिवके अनन्य हि भाव हैं ॥ १६४ ॥
अरु वे हि ज्ञानावरन आदिक, कर्मके कारण बनैं।
उनका भि कारण जिव बने, जो रागद्वेषादिक करे ॥ १६५ ॥

अथ प्रविशत्यास्रवः।

अथ महामदनिर्भरमंथरं
समररंगपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगभीरमहोदयो
जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः॥ ११३॥ (द्रुतविलंबित)

—::: दोहा :::—

द्रव्यास्रवतैं भिन्न है, भावास्रव करि नास।
भये सिद्ध परमातमा, नमूँ तिनहि सुख आस॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि—'अब आस्रव प्रवेश करता है'। जैसे नृत्यमंच पर नृत्यकार स्वांग धारण कर प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ आस्रवका स्वांग है। उस स्वांगको यथार्थतया जाननेवाला सम्यक्ज्ञान है उसकी महिमारूप मंगल करते हैं:—

अर्थः—अब समरांगणमें आये हुए महामदसे भरे हुए मदोन्मत्त आस्रवको यह दुर्जय ज्ञान-धनुर्धर जीत लेता है, जिसका महान् उदय उदार है (अर्थात् आस्रवको जीतनेके लिये जितना पुरुषार्थ चाहिये उतना वो पूरा करता है) और गम्भीर है, (अर्थात् छद्मस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते।)

भावार्थः—यहाँ आस्रव ने नृत्यमंच पर प्रवेश किया है। नृत्यमें अनेक रसोंका वर्णन होता है इसलिये यहाँ रसवत् अलंकारके द्वारा शांतरसमें वीररसको प्रधान करके वर्णन किया है कि 'ज्ञानरूपी धनुर्धर आस्रवको जीतता है'। समस्त विश्वको जीतकर मदोन्मत्त हुआ आस्रव संग्रामभूमिमें आकर खड़ा हो गया, किन्तु ज्ञान तो उससे भी अधिक बलवान

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥ १६४ ॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥ १६५ ॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु ।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥ १६४ ॥
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति ।
तेषामपि भवति जीवश्च रागद्वेषादिभावकरः ॥ १६५ ॥

योद्धा है, इसलिये वह आस्रवको जीत लेता है, अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंका नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है । ज्ञानका ऐसा सामर्थ्य है ।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १६४-१६५

अन्वयार्थः—[**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व, [**अविरमणं**] अविरमण [**कषाययोगौ च**] कषाय और योग-यह आस्रव [**संज्ञासंज्ञाः तु**] संज्ञ (चेतनके विकार) भी हैं और असंज्ञ (पुद्गलके विकार) भी हैं । [**बहुविधभेदाः**] विविध भेद वाले संज्ञ आस्रव–[**जीवे**] जो कि जीवमें उत्पन्न होते हैं वे–[**तस्य एव**] जीवके ही [**अनन्यपरिणामाः**] अनन्य परिणाम है । [**ते तु**] और असंज्ञ आस्रव [**ज्ञानावरणाद्यस्य कर्मणः**] ज्ञानावरणादि कर्मके [**कारणं**] कारण (निमित्त) [**भवंति**] होते हैं, [**च**] और [**तेषां अपि**] उनका भी (असंज्ञ आस्रवोंके भी कर्मबन्धका निमित्त होनेसे) [**रागद्वेषादिभावकरः जीवः**] राग द्वेषादि भाव करने वाला जीव [**भवति**] कारण (निमित्त) होता है ।

मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं ।
ये विविध भेद जु जीवमें, जिवके अनन्य हि भाव हैं ॥ १६४ ॥
अरु वे हि ज्ञानावरन आदिक, कर्मके कारण बनैं ।
उनका भि कारण जिव बने, जो रागद्वेषादिक करे ॥ १६५ ॥

रागद्वेषमोहा आस्रवाः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदाभासाः व मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः,ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवाः । तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः । तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवाः, ते चाज्ञानिन एव भवंतीति अर्थादेवापद्यते ॥ १६४–१६५ ॥

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥ १६६ ॥

टीका:—इस जीवमें राग, द्वेष और मोह - यह आस्रव अपने परिणामके कारणसे होते हैं. इसलिये वे जड़ न होनेसे चिदाभास हैं। (अर्थात् जिसमें चैतन्यका आभास है ऐसे हैं, चिद्विकार हैं।)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग–यह पुद्गलपरिणाम, ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मके आस्रवणके निमित्त होनेसे, वास्तवमें आस्रव हैं; और उनके (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामोंके) कर्म—आस्रवणके निमित्तत्वके निमित्त राग, द्वेष, मोह हैं—जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं। इसलिये (मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामोंके) आस्रवणके निमित्तत्वके निमित्तभूत होनेसे राग-द्वेष मोह ही आस्रव हैं। और वे (राग, द्वेष, मोह) तो अज्ञानीके ही होते हैं, यह अर्थ में से ही स्पष्ट ज्ञात होता है। (यद्यपि गाथामे यह स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा है तथापि गाथाके ही अर्थमेंसे यह आशय निकलता है।)

भावार्थः—ज्ञानावरणादिकर्मोंके आस्रवणका (आगमन का) निमित्त कारण तो मिथ्यात्वादिकर्मके उदयरूप पुद्गल–परिणाम हैं, इसलिये वे वास्तवमें आस्रव हैं। और उनके, कर्माश्रवणके निमित्तभूत होनेका निमित्त जीवके राग, द्वेष, मोहरूप (अज्ञानमय) परिणाम हैं, इसलिये रागद्वेषमोह ही आस्रव हैं। उन रागद्वेषमोहको चिद्विकार भी कहा जाता है। वे रागद्वेषमोह जीवकी अज्ञान अवस्थामें ही होते हैं। मिथ्यात्वसहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है। इसलिये मिथ्यादृष्टिके अर्थात् अज्ञानीके ही रागद्वेषमोहरूप आस्रव होते हैं ॥ १६४-१६५ ॥

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानीके उन आस्रवोंका (भावास्रवोंका) अभाव है:—

सद्‌दृष्टिको आश्रव नहीं, नहिं बंध, आश्रवरोध है।
नहिं बांधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं ॥ १६६ ॥

नास्ति त्वास्रवबंधः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः ।
संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ॥ १६६ ॥

यतो हि ज्ञानिनोज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनोऽवश्यमेव निरुध्यंते । ततोऽज्ञानमयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रवनिरोधः । अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि

गाथा १६६

अन्वयार्थः—[**सम्यग्दृष्टेः तु**] सम्यग्दृष्टिके [**आस्रवबंधः**] आस्रव जिसका निमित्त है ऐसा बंध [**नास्ति**] नहीं है, [**आस्रवनिरोधः**] (क्योंकि) आस्रवका (भावास्रवका) निरोध है; [**तानि**] नवीन कर्मों को [**अबध्नन्**] नहीं बाँधता हुआ [**सः**] वह, [**संति**] सत्तामें रहे हुए [**पूर्वनिबद्धानि**] पूर्वबद्ध कर्मोंको [**जानाति**] जानता ही है ।

टीका:—वास्तवमें ज्ञानीके ज्ञानमय भावोंसे अज्ञानमयभाव अवश्य ही निरुद्ध—अभावरूप होते हैं, क्योंकि परस्पर विरोधीभाव एकसाथ नहीं रह सकते; इसलिये अज्ञानमय-भावरूप राग-द्वेष-मोह जो कि आस्रवभूत (आस्रवस्वरूप) हैं उनका निरोध होनेसे, ज्ञानीके आस्रवका निरोध होता ही है । इसलिये ज्ञानी, आस्रव जिनका निमित्त है ऐसे (ज्ञानावर-णादि) पुद्गलकर्मोंको नहीं बाँधता,—सदा अकर्तृत्व होनेसे नवीन कर्मोंको न बाँधता हुआ सत्तामें रहे हुए पूर्वबद्ध कर्मों को, स्वयं ज्ञानस्वभाववान् होनेसे मात्र जानता ही है । (ज्ञानीका ज्ञानही स्वभाव है, कर्तृत्व नहीं; यदि कर्तृत्व हो तो कर्मको बाँधे, ज्ञातृत्व होनेसे कर्मबन्ध नहीं करता ।)

भावार्थ:—ज्ञानीके अज्ञानमयभाव नहीं होते, और अज्ञानमय भाव न होनेसे (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह अर्थात् आस्रव नहीं होते, और आस्रव न होनेसे नवीन बंध नहीं होता । इस प्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होनेसे नवीनकर्म नहीं बाँधता, और जो पूर्वबद्धकर्म सत्तामें विद्यमान हैं उनका मात्रज्ञाता ही रहता है ।

अविरतसम्यक्दृष्टिके भी अज्ञानमय राग, द्वेष मोह नहीं होता । जो मिथ्यात्व सहित रागादि होता है वही अज्ञानके पक्षमे माना जाता है, सम्यक्त्व सहित रागादिक अज्ञानके पक्षमें नहीं है । सम्यक्दृष्टिके सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है । उसको चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे जो रागादि होता है, उसका स्वामित्व उसके नहीं है । वह रागादिको रोग समान जानकर प्रवर्तता है और अपनी शक्तिके अनुसार उन्हें काटता जाता है, इसलिये

बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृकत्वान्नवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वा-त्केवलमेव जानाति ॥ १६६ ॥

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥ १६७ ॥

भावो रागादियुतो जीवेन कृतस्तु बंधको भणितः ।
रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायकः केवलम् ॥ १६७ ॥

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपलसंपर्कज इव कालायससूचीं कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति । तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोप-

---

ज्ञानीके जो रागादि होता है वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है। वह आगा-मी सामान्य-संसारका बन्ध नहीं करता मात्र अल्पस्थिति-अनुभागवाला बंध करता है। ऐसे अल्पबंधको यहाँ नहीं गिना है।

इसप्रकार ज्ञानीके आस्रव न होनेसे बन्ध नहीं होता ॥ १६६ ॥

अब, राग, द्वेष, मोह ही आस्रव है ऐसा नियम करते हैं :—

गाथा १६७

अन्वयार्थः—[**जीवेन कृतः**] जीवकृत [**रागादियुतः**] रागादियुक्त [**भावः तु**] भाव [**बंधकः भणितः**] बंधक (नवीन कर्मोंका बन्ध करनेवाला) कहा गया है। [**रागादिविप्रमुक्तः**] रागादिसे रहित भाव [**अबंधकः**] बंधक नहीं है, [**केवलं ज्ञायकः**] वह मात्र ज्ञायक ही है।

टीका:—जैसे लोहचुम्बक पाषाणके साथ संसर्गसे (लोहेकी सुईमें) उत्पन्न हुआ भाव लोहेकी सुईको (गति करनेके लिये) प्रेरित करता है उसी प्रकार रागद्वेषमोहके साथ मिश्रित होने से (आत्मामें) उत्पन्न हुआ अज्ञानमयभाव ही आत्माको कर्म करनेके लिये प्रेरित करता है और जैसे लोह चुम्बक-पाषाणके असंसर्गमें (सुईमें) उत्पन्न हुआ भाव लोहेकी सुईको (गति न करनेरूप) स्वभावमें ही स्थापित करता है उसीप्रकार रागद्वेष मोहके

रागादियुत जो भाव जिवकृत उसहि को बंधक कहा ।
रागादिसे प्रविमुक्त ज्ञायक मात्र, बंधक नहिं रहा ॥ १६७ ॥

लविवेकज इव कालायससूचीं अकर्मकरणौत्सुक्यमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति। ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद्बंधकः। तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः ॥ १६७ ॥

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति—

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥ १६८ ॥

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृंतैः।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥ १६८ ॥

यथा खलु पक्वं फलं वृन्तात्सकृद्विश्लिष्टं सत्, न पुनर्वृंतसंबंधमुपैति तथा

साथ मिश्रित नहीं होनेसे (आत्मामें) उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव, जिसे कर्म करनेकी उत्सुकता नहीं है (अर्थात् कर्म करनेका जिसका स्वभाव नहीं है) ऐसे आत्माको स्वभावमें ही स्थापित करता है; इसलिये रागादिके साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्वमें प्रेरित करता है अतः वह बंधक है, और रागादिके साथ अमिश्रित भाव स्वभावका प्रकाशक होनेसे मात्र ज्ञायक ही है, किंचित्मात्र भी बंधक नहीं है।

भावार्थः—रागादिके साथ मिश्रित अज्ञानमयभाव ही बंधका कर्ता है, और रागादिके साथ अमिश्रित ज्ञानमय भाव बंधका कर्ता नहीं है,—यह नियम है ॥ १६७ ॥

अब, रागादिके साथ अमिश्रित भावकी उत्पत्ति बतलाते हैं:—

गाथा १६८

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**पक्के फले**] पके हुए फलके [**पतिते**] गिरने पर [**पुनः**] फिरसे [**फलं**] वह फल [**वृंतैः**] उस डंठलके साथ [**न बध्यते**] नहीं जुड़ता, उसीप्रकार [**जीवस्य**] जीवके [**कर्मभावे**] कर्मभाव [**पतिते**] खिर जानेपर वह [**पुनः**] फिरसे [**उदयं न उपैति**] उत्पन्न नहीं होता, (अर्थात् वह कर्मभाव जीवके साथ पुनः नहीं जुड़ता)।

टीकाः—जैसे पका हुआ फल एक बार डंठलसे गिर जाने पर फिर वह उसके साथ संबंधको प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार कर्मोदयसे उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभावसे एक बार

फल पक्क खिरता, वृन्तसह संबंध फिर पाता नहीं।
त्यों कर्मभाव खिरा, पुनः जिवमें उदय पाता नहीं ॥ १६८ ॥

कर्मोदयजो भावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन्, न पुनर्जीवभावमुपैति। एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति।

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुंधन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान्
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥ ११४ ॥ (शालिनी)

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति—

अलग होने पर फिर जीवभावको प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार रागादिके साथ न मिला हुआ ज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है।

भावार्थः—यदि ज्ञान एकबार (अप्रतिपाती भावसे) रागादिकसे भिन्न परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादिके साथ मिश्रित नहीं होता। इसप्रकार उत्पन्न हुआ, रागादिके साथ न मिला हुआ ज्ञानमयभाव सदा रहता है। फिर जीव अस्थिरतारूपसे रागादिमें युक्त होता है वह निश्चयदृष्टिसे युक्तता है ही नहीं, और उसके जो अल्पबंध होता है वह भी निश्चयदृष्टिसे बंध है ही नहीं, क्योंकि अबद्धस्पृष्टरूपसे परिणमन निरंतर वर्तता ही रहता है। तथा उसे मिथ्यात्वके साथ रहने वाली प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसारका कारण नहीं है। मूलसे कटे हुए वृक्षके हरे पत्तोके समान वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य हैं।

अब, 'ज्ञानमयभाव ही भावास्रवका अभाव है' इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

अर्थः—जीवका जो रागद्वेषमोह रहित, ज्ञानसे ही रचित भाव है, और जो सर्व द्रव्यकर्मके आस्रव समूहको रोकने वाला है, वह (ज्ञानमय) भाव सर्व भावास्रवके अभावस्वरूप है।

भावार्थः—मिथ्यात्वरहित भाव ज्ञानमय है। वह ज्ञानमय भाव राग, द्वेष, मोह रहित है और द्रव्यकर्मके प्रवाहको रोकनेवाला है इसलिये वह भाव ही भावास्रवके अभावस्वरूप है।

संसारका कारण मिथ्यात्व ही है; इसलिये मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिका अभाव होनेपर सर्व भावास्रवोंका अभाव हो जाता है, यह यहाँ कहा गया है॥ १६८॥

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है:—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स ॥ १६९ ॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य ।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥ १६९ ॥

ये खलु पूर्वं अज्ञानेन बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिंडसमानाः । ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्माण शरीरेणैव संबद्धा न तु जीवेन, अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः ।

गाथा १६९

अन्वयार्थः—[**तस्य ज्ञानिनः**] उस ज्ञानीके [**पूर्वनिबद्धाः तु**] पूर्वबद्ध [**सर्वे अपि**] समस्त [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय [**पृथ्वीपिण्डसमानाः**] मिट्टीके ढेलेके समान हैं [**तु**] और [**ते**] वे [**कर्मशरीरेण**] (मात्र) कार्माण शरीरके साथ [**बद्धाः**] बधे हुए हैं ।

टीकाः—जो पहले अज्ञानसे बंधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं वे अन्य द्रव्यस्वरूप प्रत्यय, अचेतन पुद्गल परिणामवाले हैं इसलिये ज्ञानीके लिये मिट्टीके ढेलेके समान है । (जैसे मिट्टी आदि पुद्गलस्कन्ध हैं वैसे ही यह प्रत्यय हैं); वे तो समस्त ही, स्वभावसे ही मात्र कार्माणशरीरके साथ बंधे हुए हैं—सम्बन्धयुक्त हैं, जीवके साथ नहीं; इसलिये ज्ञानीके स्वभावसे ही द्रव्यास्रवका अभावसिद्ध है ।

भावार्थः—ज्ञानीके जो पहले अज्ञानदशामें बंधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं वे तो मिट्टीके ढेलेकी भाँति पुद्गलमय हैं, इसलिये वे स्वभावसे ही अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीवसे भिन्न हैं । उनका बन्ध अथवा संबंध पुद्गलमय कार्मणशरीरके साथ ही है, चिन्मय जीवके साथ नहीं । इसलिये ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव तो स्वभावसे ही है । (और ज्ञानी के भावास्रवका अभाव होनेसे, द्रव्यास्रव नवीन कर्मोंके आश्रवणके कारण नहीं होते, इसलिये इस दृष्टिसे भी ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है ।)

अब, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते है :—

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानिके ।
वे पृथ्विपिंड समान हैं, कार्मणशरीर निबद्ध हैं ॥ १६९ ॥

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो
द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो
निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥ ११५ ॥ (उपजाति)

कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्—

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समए समए जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणी दु ॥ १७० ॥

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्।
समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ॥ १७० ॥

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव। यत्तु तस्यापि द्रव्य-

---

अर्थः—भावास्रवोंके अभावको प्राप्त और द्रव्यास्रवोंसे तो स्वभावसे ही भिन्न ज्ञानी—जो कि सदा एक ज्ञानमय भाववाला है—निरास्रव ही है, मात्र एक ज्ञायक ही है।

भावार्थः—ज्ञानीके रागद्वेषमोहस्वरूप भावास्रवका अभाव हुआ है, और वह द्रव्यास्रवसे तो सदा ही स्वयमेव भिन्न ही है, क्योंकि द्रव्यास्रव पुद्गल परिणामस्वरूप है, और ज्ञानी चैतन्यस्वरूप है। इसप्रकार ज्ञानीके भावास्रव तथा द्रव्यास्रवका अभाव होनेसे वह निरास्रव ही है ॥ १६९ ॥

अब, यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं :—

गाथा १७०

अन्वयार्थः—[**यस्मात्**] क्योंकि [**चतुर्विधाः**] चारप्रकारके द्रव्यास्रव [**ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्**] ज्ञान दर्शन गुणोंके द्वारा [**समये समये**] समय समय पर [**अनेकभेदं**] अनेक प्रकारका कर्म [**बध्नंति**] बाँधते हैं [**तेन**] इसलिये [**ज्ञानी तु**] ज्ञानी तो [**अबंधः इति**] अबन्ध है।

टीकाः—पहले, ज्ञानी तो आस्रव भावकी भावनाके अभिप्रायके अभावके कारण

चउविधाश्रव समय समय जु, ज्ञानदर्शन गुणहिसे।
बहु भेद बांधे कर्म, इससे ज्ञानि बंधक नाहिं है ॥ १७० ॥

प्रत्ययाः प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म बध्नंति तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः ॥ १७० ॥

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति चेत्—

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥ १७१ ॥

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते ।
अन्यत्व ज्ञानगुणः तेन तु स बधको भणितः ॥ १७१ ॥

ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः, तावत् तस्यांतर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः । स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ॥ १७१ ॥

निरास्रव ही है, परन्तु जो उसे भी द्रव्यप्रत्यय प्रति समय अनेक प्रकारका पुद्गलकर्म बाँधते हैं वहाँ ज्ञानगुणका परिणमन कारण है ॥ १७० ॥

अब, यह प्रश्न होता है कि ज्ञानगुणका परिणमन बंधका कारण कैसे है ? उसके उत्तरकी गाथा कहते हैं:—

गाथा १७१

अन्वयार्थः—[**यस्मात् तु**] क्योंकि [**ज्ञानगुणः**] ज्ञानगुण [**जघन्यात् ज्ञानगुणात्**] जघन्य ज्ञानगुणके कारण [**पुनरपि**] फिरसे भी [**अन्यत्वं**] अन्यरूपसे [**परिणमते**] परिणमन करता है, [**तेन तु**] इसलिये [**सः**] वह (ज्ञानगुण) [**बंधकः**] कर्मोंका बन्धक [**भणितः**] कहा गया है ।

टीकाः—जबतक ज्ञानगुणका जघन्य भाव है (क्षयोपशमिक भाव है) तबतक वह (ज्ञानगुण) अन्तर्मुहूर्तमें विपरिणामको प्राप्त होता है, इसलिये पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन होता है । वह (ज्ञानगुणका जघन्य भावसे परिणमन), यथाख्यातचारित्र-अवस्थाके नीचे अवश्यम्भावी रागका सद्भाव होनेसे, बन्धका कारण ही है ।

भावार्थः—क्षायोपशमिकज्ञान एक ज्ञेय पर अंतर्मुहूर्त ही ठहरता है, फिर वह अवश्य ही अन्य ज्ञेयको अवलम्बता है; स्वरूपमें भी वह अंतर्मुहूर्त ही टिक सकता है, फिर

जो ज्ञानगुणकी जघनतामें, वर्तता गुण ज्ञानका ।
फिर फिर प्रणमता अन्यरूप जु, उसहिसे बंधक कहा ॥ १७१ ॥

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण॥ १७२॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन॥ १७२॥

यो हि ज्ञानी स बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनु-

---

वह विपरिणामको प्राप्त होता है। इसलिये ऐसा अनुमान भी हो सकता है कि सम्यक्दृष्टि आत्मा सविकल्पदशामें हो या निर्विकल्प अनुभवदशा मे,—उसे यथाख्यातचारित्र अवस्था होनेसे पूर्व अवश्य ही रागभावका सद्भाव होता है; और राग होनेसे बंध भी होता है। इसलिये ज्ञानगुणके जघन्यभावको बन्धका हेतु कहा गया है॥ १७१॥

अब, पुनः प्रश्न होता है कि—यदि ऐसा है (अर्थात् ज्ञानगुणका जघन्यभाव बन्धका कारण है) तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १७२

अन्वयार्थः—[**यत्**] क्योंकि [**दर्शनज्ञानचारित्रं**] दर्शन–ज्ञान–चारित्र [**जघन्यभावेन**] जघन्यभावसे [**परिणमते**] परिणमन करते हैं [**तेन तु**] इसलिये [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**विविधेन**] अनेक प्रकारके [**पुद्गलकर्मणा**] पुद्गलकर्मसे [**बध्यते**] बँधता है।

टीका:—जो वास्तवमें ज्ञानी है, उसके बुद्धि पूर्वक रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावोंका अभाव है, इसलिये वह निरास्रव ही है। परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—वह ज्ञानी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्टभावसे देखने, जानने और आचरण करनेमें अशक्त वर्तता हुआ जघन्यभावसे ही ज्ञानको देखता, जानता और आचरण करता है तबतक उसे भी, जघन्य भावकी अन्यथा अनुपपत्तिके द्वारा (जघन्यभाव अन्य प्रकारसे नहीं बनता इसलिये) जिसका अनुमान हो सकता है ऐसे अबुद्धि पूर्वक कर्मकलंकके विपाकका सद्भाव होनेसे पुद्गलकर्मका बन्ध

---

१ बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालम्ब्य प्रवर्तन्ते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवंति। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।

चारित्र दर्शन ज्ञान तीन, जघन्य भाव जु परिणमे।
उससे हि ज्ञानी विविध पुद्गलकर्मसे बंधात है॥ १७२॥

मीयमानाबुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात्। अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति। ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात्।

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं।
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिंदन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥ (शार्दूल०)

होता है। इसलिये तबतक ज्ञानको देखना, जानना और आचरण करना चाहिये जबतक ज्ञानका जितना पूर्णभाव है उतना देखने जानने और आचरणमें भली भाँति आजाये। तबसे लेकर साचात् ज्ञानी होता हुआ (वह आत्मा) सर्वथा निरास्रव ही होता है।

भावार्थः—ज्ञानीके बुद्धि पूर्वक (अज्ञानमय) राग-द्वेष-मोहका अभाव होनेसे वह निरास्रव ही है। परन्तु जबतक चायोपशमिकज्ञान है तबतक वह ज्ञानी ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट भावसे न तो देख सकता है, न जान सकता है और न आचरण कर सकता है; किन्तु जघन्य भावसे देख सकता है, जान सकता है और आचरण कर सकता है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस ज्ञानीके अभी अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकका विपाक (चारित्रमोह सम्बन्धी रागद्वेष) विद्यमान है, और इससे उसके बंध भी होता है, इसलिये उसे यह उपदेश है कि—जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक निरंतर ज्ञानका ही ध्यान करना चाहिये, ज्ञानको ही देखना चाहिये, ज्ञानको ही जानना चाहिये और ज्ञानका ही आचरण करना चाहिये। इसी मार्गसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रका परिणमन बढ़ता जाता है और ऐसा करते करते केवलज्ञान प्रगट होता है। जब केवलज्ञान प्रगटता है तबसे आत्मा साचात् ज्ञानी है और सर्व प्रकारसे निरास्रव है।

जबतक चायोपमिक ज्ञान है तबतक अबुद्धि पूर्वक (चारित्र मोहका) राग होने पर भी, बुद्धि पूर्वक रागके अभावकी अपेचासे ज्ञानीके निरास्रवत्व कहा है और अबुद्धि पूर्वक रागका अभाव होनेपर तथा केवलज्ञान प्रगट होनेपर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। यह, विवचाकी विचित्रता है। अपेचासे समझनेपर यह सर्व कथन यथार्थ है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—आत्मा जब ज्ञानी होता है तब, स्वयं अपने समस्त बुद्धि पूर्वक रागको निरंतर छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ, और जो अबुद्धि पूर्वक राग है उसे भी जीतनेके लिये बारम्बार (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्तिको स्पर्श करता हुआ, और (इस प्रकार) समस्त परवृत्तिको-पर-परणतिको उखाड़ता हुआ ज्ञानके पूर्ण भावरूप होता हुआ वास्तवमें सदा निराश्रव है।

सर्वस्यामेव जीवंत्यां द्रव्यप्रत्ययसंततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥ ११७ ॥ (अनुष्टुप्)

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥ १७३ ॥

भावार्थ:—ज्ञानीने समस्त रागको हेय जाना है। वह रागको मिटानेके लिये उद्यम किया करता है। उसके आस्रवभावकी भावनाका अभिप्राय नहीं है, इसलिये वह सदा निरास्रव ही कहलाता है।

परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकारकी है—अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप। ज्ञानीने अश्रद्धारूप परवृत्तिको छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्तिको जीतनेके लिये निज शक्तिको बारम्बार स्पर्श करता है, अर्थात् परिणतिको स्वरूपके प्रति बारम्बार उन्मुख किया करता है। इसप्रकार सकल परवृत्तिको उखाड़करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

'बुद्धि पूर्वक' और 'अबुद्धि पूर्वक' का अर्थ इस प्रकार है:—जो रागादि परिणाम इच्छा सहित होते हैं सो बुद्धि पूर्वक हैं और जो इच्छा रहित—परनिमित्तकी बलवत्तासे होते हैं सो अबुद्धि पूर्वक हैं। ज्ञानीके जो रागादि परिणाम होते हैं वे सभी अबुद्धि पूर्वक ही हैं; सविकल्पदशामें होनेवाले रागादि परिणामोंको ज्ञानी जानता है, तथापि वे अबुद्धि पूर्वक हैं क्योंकि वे बिना ही इच्छाके होते हैं।

(पण्डित राजमल्लजी ने इस कलशकी टीका करते हुए 'बुद्धि पूर्वक' और 'अबुद्धि-पूर्वक' का अर्थ इस प्रकार किया है:—जो रागादि परिणाम मनके द्वारा बाह्य विषयोंका आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं और जो प्रवर्तते हुये जीवको निजको ज्ञात होते हैं, तथा दूसरोंको भी अनुमानसे ज्ञात होते हैं वे परिणाम बुद्धि पूर्वक हैं; और जो रागादि परिणाम इन्द्रिय-मनके व्यापारके अतिरिक्त मात्र मोहोदयके निमित्तसे होते हैं तथा जीवको ज्ञात नहीं होते वे अबुद्धि-पूर्वक हैं। इन अबुद्धिपूर्वक परिणामोंको प्रत्यक्षज्ञानी जानता है, और उनके अविनाभावी चिन्होंसे वे अनुमानसे भी ज्ञात होते हैं।)

अब शिष्यकी आशंकाका श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:—'ज्ञानीके समस्त द्रव्यास्रवकी संतति विद्यमान होनेपर भी यह क्यों कहा है कि ज्ञानी सदा ही निरास्रव है' ?—यदि तेरी यह मति (आशंका) है तो अब उसका उत्तर कहा जाता है ॥ १७२ ॥

अब, पूर्वोक्त आशंकाके समाधानार्थ गाथा कहते हैं:—

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टिके ।
उपयोगके प्रायोग्य बंधन, कर्मभावोंसे करे ॥ १७३ ॥

होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥ १७४ ॥

संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥ १७५ ॥

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥ १७६ ॥

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः।
उपयोगप्रायोग्यं बध्नति कर्मभावेन ॥ १७३ ॥

भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवंत्युपभोग्यानि।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १७४ ॥

संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥ १७५ ॥

एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भणितः।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥ १७६ ॥

गाथा १७३-१७४-१७५-१७६

अन्वयार्थः— [**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टिके [**सर्वे**] समस्त [**पूर्वनिबद्धाः तु**] पूर्वबद्ध [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय (द्रव्यास्रव) [**संति**] सत्तारूपमें विद्यमान हैं, वे [**उपयोगप्रायोग्यं**] उपयोगके प्रयोगानुसार [**कर्मभावेन**] कर्मभावके द्वारा (रागादिके द्वारा) [**बध्नंति**] नवीन बन्ध करते है। वे प्रत्यय [**निरुपभोग्यानि**] निरुपभोग्य [**भूत्वा**] होकर फिर [**यथा**] जैसे [**उपभोग्यानि**] उपभोग्य

अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध होय उस विध बांधते।
ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु सप्त अष्ट प्रकार के ॥ १७४ ॥

सत्ताविषैं वे निरुपभोग्य हि, बालिका ज्यों पुरुषको।
उपभोग्य बनते वे हि बांधें, यौवना ज्यों पुरुषको ॥ १७५ ॥

इस हेतुसे सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबंधक कहे।
आसरव भाव अभावमें, प्रत्यय नहीं बंधक कहे ॥ १७६ ॥

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वात् उपभोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्य-

---

[**भवंति**] होते हैं [**तथा**] उसी प्रकार [**ज्ञानावरणादिभावैः**] ज्ञानावरणादि भावसे [**सप्ताष्टविधानि भूतानि**] सात-आठ प्रकारसे होनेवाले कर्मोंको [**बध्नाति**] बांधते हैं [**संति तु**] सत्ता-अवस्थामें वे [**निरुपभोग्यानि**] निरुपभोग्य हैं, अर्थात् भोगने योग्य नहीं हैं [**यथा**] जैसे [**इह**] इस जगतमें [**बाला स्त्री**] बाल स्त्री [**पुरुषस्य**] पुरुषके लिये निरुपभोग्य है। [**यथा**] जैसे [**तरुणीस्त्री**] तरुण स्त्री-युवती [**नरस्य**] पुरुषको [**बध्नाति**] बाँध लेती है, उसी प्रकार [**तानि**] वे [**उपभोग्यानि**] उपभोग्य अर्थात् भोगने योग्य होनेपर बन्धन करते हैं। [**एतेन तु कारणेन**] इस कारणसे [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टिको [**अबंधकः**] अबन्धक [**भणितः**] कहा है, क्योंकि [**आस्रवभावाभावे**] आस्रवभावके अभावमें [**प्रत्ययाः**] प्रत्ययोंको [**बंधकाः**] (कर्मोंका) बन्धक [**न भणिताः**] नहीं कहा है।

टीका—जैसे पहले तो तत्कालकी परिणीत बालस्त्री अनुपभोग्य है किन्तु यौवनको प्राप्त वह पहलेकी परिणीत स्त्री यौवनावस्थामें उपभोग्य होती है, और जिसप्रकार उपभोग्य हो तदनुसार वह पुरुषके रागभावके कारण ही पुरुषको बंधन करती है-वशमें करती है, इसीप्रकार जो पहले तो सत्तावस्थामें अनुपभोग्य हैं किन्तु विपाक अवस्थामें उपभोग योग्य होते हैं ऐसे पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय होनेपर भी वे जिसप्रकार उपभोग्य हों तदनुसार (अर्थात् उपयोगके प्रयोगानुसार) कर्मोदयके कार्यरूप जीवभावके सद्भावके कारण ही बंधन करते हैं। इसलिये ज्ञानीके यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तो भले रहें; तथापि वह (ज्ञानी) तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्मोदयका कार्य जो राग, द्वेष, मोहरूप आस्रवभाव है उसके अभावमें द्रव्यप्रत्यय बंधके कारण नहीं हैं। (जैसे यदि पुरुषको रागभाव हो तो ही यौवनावस्थाको प्राप्त स्त्री उसे वश कर सकती है, इसीप्रकार जीवके आस्रवभाव हो तब ही उदयप्राप्त द्रव्यप्रत्यय नवीन बंध कर सकते हैं।)

भावार्थ—द्रव्यास्रवोंके उदय और जीवके रागद्वेषमोहभावका निमित्त नैमित्तिक भाव है। द्रव्यास्रवोंके उदयमें युक्त हुवे बिना जीवके भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिये बंध भी नहीं हो सकता। द्रव्यास्रवोंका उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो उसीप्रकार

प्रत्ययाः संतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नंति ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः संति। संतु, तथापि स तु निरास्रव एव कर्मोदयकार्यस्य राग-द्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानामबंधहेतुत्वात्।

द्रव्यास्रव नवीन बंधके कारण होते है। यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बंध नहीं होता।

सम्यक्दृष्टिके मिथ्यात्वका और अनन्तानुबंधी कषायका उदय न होनेसे उसे उस प्रकारके भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी बंध भी नहीं होता। (क्षायिक सम्यक्दृष्टिके सत्तामेंसे मिथ्यात्वका क्षय होते समय ही अनन्तानु-बंधी कषायका तथा तत्सम्बन्धी अविरति और योग भावका भी क्षय होगया होता है, इस-लिये उसे उसप्रकारका बन्ध नहीं होता; औपशमिक सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व तथा अनन्तानु-बन्धी कषाय, मात्र उपशममें – सत्तामें ही होनेसे सत्तामें रहा हुआ द्रव्य उदयमें आये बिना उसप्रकारके बन्धका कारण नहीं होता; और क्षायोपशमिक सम्यक्दृष्टिको भी सम्यक्त्व मोह-नीयके अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ विपाकमें (उदयमें) नहीं आती इसलिये उसप्रकारका बन्ध नहीं होता।)

अविरति सम्यक्दृष्टि इत्यादिके जो चारित्रमोहका उदय विद्यमान है उसमें जिसप्रकार जीव युक्त होता है उसीप्रकार उसे नवीन बंध होता है; इसलिये गुणस्थानोंके वर्णनमें अवि-रति सम्यक्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमे अमुक-अमुक प्रकृतियोंका बन्ध कहा है। किन्तु यह बन्ध अल्प है इसलिये उसे सामान्य संसारकी अपेक्षासे बंधमें नहीं गिना जाता। सम्यक्दृष्टि चारित्रमोहके उदयमे स्वामित्व भावसे युक्त नहीं होता, वह मात्र अस्थिरतारूपसे युक्त होता है; और अस्थिरतारूप युक्तता निश्चयदृष्टिमें युक्तता ही नहीं है। इसलिये सम्यक्दृष्टिके राग-द्वेषमोहका अभाव कहा गया है। जब तक जीव कर्मका स्वामित्व रखकर कर्मोदयमें परिण-मित होता है तब तक ही वह कर्मका कर्ता कहलाता है; उदयका ज्ञाता-दृष्टा होकर परके निमित्तसे मात्र अस्थिरतारूप परिणमित होता है तब कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है। इस अपेक्षासे सम्यक्दृष्टि होनेके बाद चारित्रमोहके उदयरूप परिणमित होते हुए भी उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा गया है। जबतक मिथ्यात्वका उदय है और उसमें युक्त होकर जीव रागद्वेष मोहभावसे परिणमित होता है तब तक ही उसे अज्ञानी और बन्धक कहा जाता है। इसप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी और बंध-अबंधका यह भेद जानना। और शुद्धस्वरूपमें लीन रहनेके अभ्यास द्वारा केवलज्ञान प्रगट होनेसे जब जीव साक्षात् सम्पूर्ण ज्ञानी होता है तब वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है,—यह पहले कहा जा चुका है।

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबंधः ॥ ११८ ॥ (मालिनी)

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बंधोऽस्य ते हि बंधस्य कारणम् ॥११९॥ (अनुष्टुप्)

रागो दोषो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥ १७७ ॥
हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण वज्झंति ॥ १७८ ॥

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

अर्थः—यद्यपि अपने अपने समयका अनुसरण करनेवाले (अपने अपने समयमें उदयमें आनेवाले) पूर्वबद्ध (पहले अज्ञान अवस्थामें बंधे हुवे) द्रव्यरूप प्रत्यय अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते (वे सत्तामें रहते हैं), तथापि सर्व राग द्वेष-मोहका अभाव होनेसे ज्ञानीके कर्मबन्ध कदापि अवतार नहीं धरता – नहीं होते ।

भावार्थः—ज्ञानीके भी पहले अज्ञान अवस्थामें बंधे हुए द्रव्यास्रव सत्ता-अवस्थामें विद्यमान हैं और वे अपने उदयकालमें उदयमें आते रहते हैं, किन्तु वे द्रव्यास्रव ज्ञानीके कर्म-बन्धके कारण नहीं होते, क्योंकि ज्ञानीके समस्त राग, द्वेष, मोह भावोंका अभाव है। यहाँ समस्त राग-द्वेष मोहका अभाव बुद्धिपूर्वक राग द्वेष मोहकी अपेक्षासे समझना चाहिये ।

अब इसी अर्थको दृढ़ करने वाली आगामी दो गाथाओंका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—क्योंकि ज्ञानियोंके राग, द्वेष, मोहका असम्भव है, इसलिये उनके बन्ध नहीं है । कारण कि वे (राग द्वेष मोह) ही बंधका कारण है ॥ १७३-१७६ ॥

अब इस अर्थकी समर्थक दो गाथाऐं कहते हैं:—

नहिं रागद्वेष न मोह ये, आश्रव नहीं सद्दृष्टिके ।
इससे हि आश्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं हेतू बनें ॥ १७७ ॥
हेतू चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकारका कारण कहा ।
उनका हि रागादिक कहा, रागादि नहिं वहां बंध ना ॥ १७८ ॥

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः ।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवंति ॥ १७७ ॥

हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितम् ।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यते ॥ १७८ ॥

रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः । तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलकर्महेतुत्वस्य रागा-

---

गाथा १७७-१७८

अन्वयार्थः—[**रागः**] राग [**द्वेषः**] द्वेष [**च मोहः**] और मोह [**आस्रवाः**] यह आस्रव [**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टिके [**न संति**] नहीं होते [**तस्मात्**] इसलिये [**आस्रवभावेन विना**] आस्रवभावके विना [**प्रत्ययाः**] द्रव्यप्रत्यय [**हेतवः**] कर्मबन्धके कारण [**न भवंति**] नहीं होते । [**चतुर्विकल्पः हेतुः**] (मिथ्यात्वादि) चार प्रकारके हेतु [**अष्टविकल्पस्य**] आठ प्रकारके कर्मोंके [**कारणं**] कारण [**भणितं**] कहे गये हैं, [**च**] और [**तेषां अपि**] उनके भी [**रागादयः**] (जीवके) रागादि भाव कारण हैं; [**तेषां अभावे**] इसलिये उनके अभावमें [**न बध्यंते**] कर्म नहीं बँधते । (इसलिये सम्यक्‌दृष्टिके बंध नहीं है ।)

टीका:—सम्यक्‌दृष्टिके राग, द्वेष, मोह नहीं है, क्योंकि 'सम्यग्दृष्टित्वकी अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् राग, द्वेष, मोहके अभावके विना सम्यक्‌दृष्टित्व नहीं हो सकता); राग द्वेष मोहके अभावमें उसे (सम्यक्‌दृष्टिको) द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मका (अर्थात् पुद्गलकर्मके बंधनका) हेतुत्व धारण नहीं करते, क्योंकि द्रव्यप्रत्ययोंके पुद्गलकर्मके हेतुत्वके हेतु रागादिक हैं; इसलिये हेतुके हेतुके अभावसे हेतुमान्‌का (अर्थात् कारणका जो कारण है उसके अभावसे कार्यका) अभाव प्रसिद्ध है, इसलिये ज्ञानीके बंध नहीं है ।

भावार्थ:—यहाँ, राग, द्वेष, मोहके अभावके विना सम्यग्दृष्टित्व नहीं हो सकता ऐसा अविनाभावी नियम बताया है, सो यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिका अभाव समझना चाहिये । यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिको ही रागादि माना गया है । सम्यक्‌दृष्टि होनेके बाद जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी राग रह जाता है उसे यहाँ नहीं लिया है; वह गौण है । इसप्रकार सम्यग्दृष्टिके भावास्रवका अर्थात् राग, द्वेष, मोहका अभाव है । द्रव्यास्रवोंको बंधका हेतु होनेमें हेतुभूत जो राग, द्वेष, मोह हैं उनका सम्यक्‌दृष्टिके अभाव

दिहेतुत्वात्। हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बंधः॥

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः
पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारम्॥ १२०॥ (वसंततिलका)

होनेसे द्रव्यास्रव बन्धके हेतु नहीं होते, और द्रव्यास्रव बंधके हेतु नहीं होते इसलिये सम्यक्-दृष्टिके-ज्ञानीके बन्ध नहीं होता।

सम्यक्दृष्टिको ज्ञानी कहा जाता है वह योग्य ही है। ज्ञानी शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओंको लेकर प्रयुक्त होता है:—(१) प्रथम तो जिसे ज्ञान हो वह ज्ञानी कहलाता है; इस प्रकार सामान्य ज्ञानकी अपेक्षासे सभी जीव ज्ञानी हैं, (२) यदि सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की अपेक्षासे विचार किया जाये तो सम्यग्दृष्टिको सम्यक् ज्ञान होता है इसलिये उस अपेक्षासे वह ज्ञानी है, और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, (३) सम्पूर्णज्ञान और अपूर्णज्ञानकी अपेक्षासे विचार किया जाये तो केवली भगवान ज्ञानी हैं और छद्मस्थ अज्ञानी हैं, क्योंकि सिद्धान्तमें पाँच भावोंका कथन करने पर बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इस प्रकार अनेकान्तसे अपेक्षाके द्वारा विधि निषेध निर्बाधरूपसे सिद्ध होता है, सर्वथा एकान्तसे कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

अब, ज्ञानीको बंध नहीं होता, यह शुद्धनयका महात्म्य है, इसलिये शुद्धनयका महिमा दर्शक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—उद्धतज्ञान (जो कि किसीके दबाये नहीं दब सकता ऐसा उन्नतज्ञान) जिसका लक्षण है ऐसे शुद्धनयमें रहकर अर्थात् शुद्धनयका आश्रय लेकर जो सदाही एकाग्रता का अभ्यास करते हैं वे निरंतर रागादिसे रहित चित्तवाले वर्तते हुए बंधरहित समयके सारको (अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको) देखते हैं—अनुभव करते हैं।

भावार्थः-यहाँ शुद्धनयके द्वारा एकाग्रताका अभ्यास करनेको कहा है। 'मैं केवलज्ञान-स्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ'—ऐसा जो आत्मद्रव्यका परिणमन वह शुद्धनय। ऐसे परिणमनके कारण वृत्ति ज्ञानकी ओर उन्मुख होती रहे और स्थिरता बढ़ती जाये सो एकाग्रताका अभ्यास।

शुद्धनय श्रुतज्ञानका अंश है और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है इसलिये इस अपेक्षासे शुद्ध-नय के द्वारा होनेवाला शुद्ध स्वरूपका अनुभव भी परोक्ष है। और वह अनुभव एक देश शुद्ध है इस अपेक्षासे उसे व्यवहारसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होनेपर होता है।

अब, यह कहते हैं कि जो शुद्धनयसे च्युत होते हैं वे कर्म बाँधते हैं:—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबंधमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥ १२१ ॥

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ॥ १७९ ॥

अर्थः—जगत्में जो शुद्धनयसे च्युत होकर पुनः रागादिके सम्बन्धको प्राप्त होते हैं ऐसे जीव, जिन्होंने ज्ञानको छोड़ा है ऐसे होते हुए, पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवके द्वारा कर्मबन्धको धारण करते है (कर्मोंको बांधते हैं) जो कि अनेक प्रकारके विकल्प जालको करता है (अर्थात् जो कर्मबंध अनेक प्रकारका है)।

भावार्थः—शुद्धनयसे च्युत होना अर्थात् 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे परिणमनसे छूटकर अशुद्धरूप परिणमित होना, अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाना। ऐसा होनेपर जीवके मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिक उत्पन्न होते हैं, जिससे द्रव्यास्रव कर्मबन्धके कारण होते हैं और उससे अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं इसप्रकार यहाँ शुद्धनयसे च्युत होनेका अर्थ शुद्धता की प्रतीतिसे (सम्यक्त्वसे) च्युत होना समझना चाहिये। यहाँ उपयोगकी अपेक्षा गौण है; शुद्धनयसे च्युत होना अर्थात् शुद्ध उपयोगसे च्युत होना ऐसा अर्थ मुख्य नहीं है, क्योंकि शुद्धोपयोगरूप रहनेका समय अल्प रहता है इसलिये मात्र अल्पकाल शुद्धोपयोगरूप रहकर, और फिर उससे छूटकर ज्ञान अन्य ज्ञेयोंमें उपयुक्त हो तो भी मिथ्यात्वके विना जो रागका अंश है वह अभिप्राय पूर्वक नहीं है इसलिये ज्ञानीके मात्र अल्पबंध होता है, और अल्पबंध संसारका कारण नहीं है इसलिये यहाँ उपयोगकी अपेक्षा मुख्य नहीं है।

अब यदि उपयोगकी अपेक्षा ली जाये तो इसप्रकार अर्थ घटित होता है:—यदि जीव शुद्धस्वरूपके निर्विकल्प अनुभवसे छूटे परन्तु सम्यक्त्व से न छूटे तो उसे चारित्र मोहके रागसे कुछ बंध होता है। यद्यपि वह बंध अज्ञानके पक्षमें नहीं है तथापि वह बंध तो है ही। इसलिये उसे मिटानेके लिये सम्यकदृष्टि ज्ञानीको शुद्धनयसे न छूटनेका अर्थात् शुद्धोपयोगमें लीन रहनेका उपदेश है। केवलज्ञान होनेपर साक्षात् शुद्धनय होता है॥ १७७-१७८ ॥

जनसे ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्निके संयोगसे।
बहुभेद मांस, वसा अरू, रुधिरादि भावों परिणमे॥ १७९ ॥

तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा ॥ १८० ॥

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम्।
मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ॥ १७९ ॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं ये बद्धाः प्रत्यया बहुविकल्पम्।
बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥ १८० ॥

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात्[1] पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानवरणादि-

---

अब इसी अर्थ को दृष्टान्तद्वारा दृढ़ करते हैं:—

गाथा १७९-१८०

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**पुरुषेण**] पुरुषके द्वारा [**गृहीतः**] ग्रहण किया हुआ [**आहारः**] जो आहार है [**सः**] वह [**उदराग्निसंयुक्तः**] उदराग्निसे संयुक्त होता हुआ [**अनेकविधं**] अनेक प्रकार [**मांसवसारुधिरादीन्**] मांस, चर्बी, रुधिर आदि [**भावान्**] भावरूप [**परिणमति**] परिणमन करता है, [**तथा तु**] इसीप्रकार [**ज्ञानिनः**] ज्ञानियोंके [**पूर्वं बद्धाः**] पूर्वबद्ध [**ये प्रत्ययाः**] जो प्रत्यय हैं [**ते**] वे [**बहु विकल्पं**] अनेक प्रकारके [**कर्म**] कर्म [**बध्नंति**] बाँधते हैं,—[**ते जीवाः**] ऐसे जीव [**नयपरिहीनाः तु**] शुद्धनयसे च्युत हैं (ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत होवे तो उसके कर्म बँधते हैं)।

टीकाः—जब ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत हो तब उसके रागादि भावोंका सद्भाव होता है इसलिये, पूर्वबद्ध द्रव्य प्रत्यय, अपने कर्मबन्धके हेतुत्वके हेतुका सद्भाव होनेपर हेतुमान् भाव (कार्यभाव) का अनिवार्यत्व होने से, ज्ञानावरणादि भावसे पुद्गलकर्मको बंधरूप परिणमित करते हैं। और यह अप्रसिद्ध भी नहीं है (अर्थात् इसका दृष्टान्त जगत्में प्रसिद्ध है—सर्वज्ञात है); क्योंकि मनुष्यके द्वारा ग्रहण किये गये आहारको जठराग्नि रस, रुधिर, माँस इत्यादिरूपमें परिणमित करती है, यह देखा जाता है।

---

[1] रागादिसद्भावे।

त्यों ज्ञानिके भी पूर्वकालनिबद्ध जो प्रत्यय रहे।
बहुभेद बांधे कर्म, जो जिव शुद्धनयपरिच्युत बने ॥ १८० ॥

भावैः पुद्गलकर्मबंधं परिणमयंति । न चैतदप्रसिद्धं पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रस-रुधिरमांसादिभावैः परिणामकारणस्य दर्शनात् ।

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद्बंध एव हि ॥१२२॥ (अनुष्टुप्)

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिं ।
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः ॥ १२३ ॥ (शार्दूल०)

भावार्थः—जब ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत हो तब उसके रागादि भावोंका सद्भाव होता है। रागादि भावोंके निमित्तसे द्रव्यास्रव अवश्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं और इसलिये कार्मण वर्गणा बंधरूप परिणमित होती है। टीकामें जो यह कहा है कि "द्रव्यप्रत्यय पुद्गल-कर्मको बंधरूप परिणमित कराते हैं" सो निमित्तकी अपेक्षासे कहा है। वहाँ यह समझना चाहिये कि "द्रव्यप्रत्ययोंके निमित्तभूत होनेपर कार्मण वर्गणा स्वय बन्धरूप परिणमित होती हैं"।

अब, इस सर्व कथनका तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्यागसे (कर्मका) बन्ध नहीं होता और उसके त्यागसे बन्ध ही होता है।

'शुद्धनय त्याग करने योग्य नहीं है' इस अर्थको दृढ़ करनेवाला काव्य पुनः कहते हैं:—

अर्थः—धीर (चलाचलता रहित) और उदार (सर्व पदार्थोंमे विस्तार युक्त) जिसकी महिमा है ऐसे अनादिनिधन ज्ञानमें स्थिरताको बांधता हुआ (अर्थात् ज्ञानमें परिणति को स्थिर रखता हुआ) शुद्धनय—जो कि कर्मोंका समूल नाश करनेवाला है—पवित्र धर्मात्मा (सम्यक् दृष्टि) पुरुषो के द्वारा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है। शुद्धनयमे स्थित वे पुरुष, बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञान किरणोंके समूहको अल्पकालमे ही समेटकर, पूर्ण, ज्ञानघनके पुंजरूप, एक, अचल, शांत तेज को--तेजः पुंजको देखते है अर्थात् अनुभव करते हैं।

भावार्थः—शुद्धनय, ज्ञानके समस्त विशेषोंको गौण करके तथा परनिमित्तसे होने वाले समस्त भावोंको गौण करके, आत्माको शुद्ध, नित्य, अभेदरूप, एक चैतन्यमात्र ग्रहण करता है, और इसलिये परिणति शुद्धनयके विषयस्वरूप चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मामे एकाग्र-स्थिर होती जाती है। इसप्रकार शुद्धनयका आश्रय लेने वाले जीव बाहर निकलती हुई ज्ञान की विशेष व्यक्तताओंको अल्पकालमें ही समेटकर, शुद्धनयमें (आत्माकी शुद्धताके अनुभवमें) निर्विकल्पतया स्थिर होने पर अपने आत्माको सर्व कर्मोंसे भिन्न, केवलज्ञानस्वरूप, अमूर्तिक

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः ।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२४ ॥ (मंदाक्रांता)

इति आस्रवो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोऽङ्कः ॥ ४ ॥

पुरुषाकार, वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप देखते हैं और शुक्लध्यानमे प्रवृत्ति करके अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्रगट करते है. शुद्धनयका ऐसा माहात्म्य है । इसलिये श्री गुरुओंका यह उपदेश है कि जबतक शुद्धनयके अवलम्बनसे केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक सम्यक्दृष्टि जीवोंको शुद्धनयका त्याग नहीं करना चाहिये ।

अब, आस्रवोंका सर्वथा नाश करनेसे जो ज्ञान प्रगट हुआ उस ज्ञानकी महिमाका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसका उद्योत (प्रकाश) नित्य है ऐसी किसी परमवस्तुको अंतरंगमें देखने वाले पुरुषको, रागादि आस्रवोंका शीघ्र ही सर्व प्रकार नाश होनेसे, यह ज्ञान प्रगट हुआ कि जो ज्ञान अत्यंतात्यत (अनन्तानन्त) विस्तारको प्राप्त निजरसके प्रसारसे सर्वभावों को व्याप्त कर देता है अर्थात् सर्व पदार्थोंको जानता है, वह ज्ञान प्रगट हुआ तभीसे सदाकाल अचल है, अर्थात् प्रगट होनेके पश्चात् सदा ज्योंका त्यों ही बना रहता है—चलायमान नहीं होता और वह ज्ञान अतुल है अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नहीं है ।

भावार्थः—जो पुरुष अतरंगमें चैतन्यमात्र परमवस्तुको देखता है और शुद्धनयके आलंबन द्वारा उसमे एकाग्र होता जाता है उस पुरुषको, तत्काल सर्व रागादिक आस्रव भावों का सर्वथा अभाव होकर, सर्व अतीत अनागत और वर्तमान पदार्थोंको जानने वाला निश्चल अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है । वह ज्ञान सबसे महान् है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है ।

टीकाः—इसप्रकार आस्रव (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया ।

भावार्थः—रंगभूमिमें आस्रवका स्वांग आया था उसे ज्ञानने उसके यथार्थ स्वरूपमें जान लिया, इसलिये वह बाहर निकल गया ॥ १७९-१८० ॥

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये ।
जे मुनिराज करैं इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
काय नवाय नमूं चितलाय कहूं जय पाय लहूं मन भाये ॥

॥ चतुर्थ आस्रव अधिकार समाप्तः ॥

अथ प्रविशति संवरः ।

आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृंभते ॥ १२५ ॥ (शार्दूल०)

—::: दोहा :::—

मोहरागरुष दूरि करि, समिति गुप्ति व्रत धारि ।
संवरमय आतम कियो, नमूं ताहि मन धारि ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि "अब संवर प्रवेश करता है।" आस्रवके रंगभूमिमेंसे बाहर निकल जानेके बाद अब संवर प्रवेश करता है।

यहाँ पहले टीकाकार आचार्यदेव सर्व स्वांगको जाननेवाले सम्यक्ज्ञानका महिमा-दर्शक मंगलाचरण करते हैं :—

अर्थः—अनादि संसारसे लेकर अपने विरोधी संवरको जीतनेसे जो एकान्त गर्वित (अत्यन्त अहंकार युक्त) हुआ है, ऐसे आस्रवका तिरस्कार करनेसे जिसने सदा विजय प्राप्त की है ऐसे संवरको उत्पन्न करती हुई, पररूपसे भिन्न (अर्थात् परद्रव्य और परद्रव्यके निमित्त से होने वाले भावोंसे भिन्न), अपने सम्यक् स्वरूपमें निश्चलतासे प्रकाश करती हुई, चिन्मय उज्वल (निराबाध, निर्मल, देदीप्यमान) और निजरसके (अपने चैतन्यरसके) भारसे युक्त-अतिशयतासे युक्त ज्योति प्रगट होती है,—प्रसारित होती है।

भावार्थः—अनादिकालसे जो आस्रवका विरोधी है ऐसे संवरको जीतकर आस्रव

तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायमेदविज्ञानमभिनंदति —

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥ १८१ ॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥ १८२ ॥
एयं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥ १८३ ॥

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः।
क्रोधः क्रोधे चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥ १८१ ॥
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥ १८२ ॥
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥ १८३ ॥

मदसे गर्वित हुआ है। उस आस्रवका तिरस्कार करके उसपर जिसने सदाके लिये विजय प्राप्त की है ऐसे संवरको उत्पन्न करता हुआ, समस्त पररूपसे भिन्न और अपने स्वरूपमें निश्चल यह चैतन्य प्रकाश निजरसकी अतिशयतापूर्वक निर्मलतासे उदयको प्राप्त हुआ है।

संवर अधिकारके प्रारम्भमें ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य सकल कर्मका संवर करनेका उत्कृष्ट उपाय जो भेद विज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं :—

गाथा १८१-१८२-१८३

अन्वयार्थः—[उपयोगः] उपयोग [उपयोगे] उपयोगमें है [क्रो-

उपयोगमें उपयोग, को उपयोग नहिं क्रोधादि में।
है क्रोध क्रोधविषै हि निश्चय, क्रोध नहिं उपयोग में ॥ १८१ ॥
उपयोग है नहिं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्ममें।
ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोगमें ॥ १८२ ॥
ऐसा अविपरित ज्ञान जब ही प्रगटता है जीवके।
तब अन्य नहिं कुछ भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे ॥ १८३ ॥

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेस्तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसंबंधोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते। तेन ज्ञानं जानतायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं। जानताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात्। क्रोधादीनि क्रुध्यतादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यतादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः, न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, नच ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा संति परस्परमत्यंतस्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसंबंधशून्यत्वात्। न च यथा ज्ञानस्य जानतास्वरूपं तथा क्रुध्यतादिरपि क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यतादि स्वरूपं तथा जानतापि कथंचनापि व्यवस्थाप-

---

धादिषु] क्रोधादिमें [कोऽपि उपयोगः] कोई भी उपयोग [नास्ति] नहीं है; [च] और [क्रोधः] क्रोध [क्रोधे एव हि] क्रोधमें ही है [उपयोगे] उपयोगमें [खलु] निश्चयसे [क्रोधः] क्रोध [नास्ति] नहीं है। [अष्ट विकल्पे कर्मणि] आठ प्रकारके कर्मोंमें [च अपि] और [नोकर्मणि] नोकर्ममें [उपयोगः] उपयोग [नास्ति] नहीं है [च] और [उपयोगे] उपयोगमें [कर्म] कर्म [च अपि] तथा [नोकर्म] नोकर्म [नो अस्ति] नहीं है,— [एतत् तु] ऐसा [अविपरीतं] अविपरीत [ज्ञानं] ज्ञान [यदा तु] जब [जीवस्य] जीवके [भवति] होता है [तदा] तब [उपयोग शुद्धात्मा] वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा [किंचित् भावं] उपयोगके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावको [न करोति] नहीं करता।

टीकाः—वास्तवमें एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एकवस्तु दूसरी वस्तुके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनोंके प्रदेश भिन्न हैं इसलिये उनमें एक सत्ताकी अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनोंकी सत्ताएं भिन्न भिन्न हैं); और इसप्रकार जब कि एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है तब उनमें परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध भी है ही नहीं। इसलिये (प्रत्येक वस्तुका) अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेय सम्बन्ध है। इसलिये ज्ञान जो कि जाननक्रियारूप अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है वह, जाननक्रियाका ज्ञानसे अभिन्नत्व होनेसे, ज्ञानमें ही है; क्रोधादिक जो कि क्रोधादिक्रियारूप अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है वह क्रोधादिक्रियाका क्रोधादिसे अभिन्नत्व होनेके कारण क्रोधादिकमें ही है। (ज्ञानका स्वरूप जानन क्रिया है इसलिये ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है। जानन-

यितुं शक्येत, जानतायाः क्रुध्यतादेश्च स्वभावभेदेनोद्भासमानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वं । किं च यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यांतराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैकस्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । ततो एवं यदैकमेवज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यांतराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधि-

---

क्रिया आधार होनेसे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, ज्ञानमें ही है; इसीप्रकार क्रोध, क्रोधमें ही है।) और क्रोधादिकमें, कर्ममें या नोकर्ममे ज्ञान नहीं है तथा ज्ञानमें क्रोधादिक, कर्म या नोकर्म नहीं हैं क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूपविपरीतता होनेसे (अर्थात् ज्ञानका स्वरूप और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्मका स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होनेसे) उनके परमार्थभूत आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है। और जैसे ज्ञानका स्वरूप जाननक्रिया है उसीप्रकार (ज्ञानका स्वरूप) क्रोधादि-क्रिया भी हो, अथवा जैसे क्रोधादिका स्वरूप क्रोधादि क्रिया है उसीप्रकार जाननक्रिया भी हो ऐसा किसी भी प्रकारसे स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादि-क्रिया भिन्न भिन्न स्वभावसे प्रकाशित होती हैं; और इस भाति स्वभावोंके भिन्न होनेसे वस्तुएँ भिन्न ही हैं। इसप्रकार ज्ञान तथा अज्ञानमें (क्रोधादिक में) आधाराधेयत्व नहीं है।

इसीको विशेष समझाते हैं:—जब एक ही आकाशको अपनी बुद्धिमें स्थापित करके (आकाशके) आधाराधेयभावका विचार किया जाता है तब आकाशको शेष अन्य द्रव्योंमें आरोपित करनेका निरोध ही होनेसे (अर्थात् अन्य द्रव्योमे स्थापित करना अशक्य ही होनेसे) बुद्धिमें भिन्न आधारकी अपेक्षा प्रभवित (उद्भूत) नहीं होती और उसके प्रभवित नहीं होनेसे, 'एक आकाश ही एक आकाशमें ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और इसलिये ऐसा समझ लेनेवालेके पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता। इस प्रकार जब एक ही ज्ञानको अपनी बुद्धिमें स्थापित करके (ज्ञान का) आधाराधेय भावका विचार किया जाये तब ज्ञानको शेष अन्य द्रव्योंमें आरोपित करनेका निरोध ही होनेसे बुद्धिमें भिन्न आधार-की अपेक्षा प्रभवित नहीं होती, और उसके प्रभवित नहीं होनेसे 'एक ज्ञान ही एक ज्ञानमें ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है, और ऐसा समझ लेनेवालेको पर-आधारा-धेयत्व भासित नहीं होता इसलिये ज्ञान ही ज्ञानमें ही है, और क्रोधादिक ही क्रोधादिकमें ही है।

इस प्रकार (ज्ञानका और क्रोधादिक तथा कर्म नोकर्मका) भेदविज्ञान भली भाँति सिद्ध हुआ।

करणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवै कस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति ।

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ॥ १२६ ॥ (शार्दूल०)

भावार्थः—उपयोग तो चैतन्यका परिणमन होनेसे ज्ञानस्वरूप है, और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म—सभी पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे जड़ हैं, उनमे और ज्ञानमे प्रदेशभेद होनेसे अत्यंत भेद है। इसलिये उपयोगमें क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं, और क्रोधादिकमे, कर्ममें तथा नोकर्ममे उपयोग नहीं है। इस प्रकार उनमे पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है । प्रत्येक वस्तुका अपना अपना आधाराधेयत्व अपने अपनेमे ही है । इसलिये उपयोग, उपयोग में ही है और क्रोध, क्रोधमें ही है । इसप्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया । (भावकर्म इत्यादिका और उपयोगका भेद जानना सो भेदविज्ञान है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—चिद्रूपताको धारण करने वाला ज्ञान और जड़रूपताको धारण करने वाला राग—दोनोंका, अंतरंगमें दारुण विदारणके द्वारा (भेद करनेवाले उग्र अभ्यासके द्वारा) सभी ओरसे विभाग करके (सम्पूर्णतया दोनोंको अलग करके), यह निर्मल भेदज्ञान उदयको प्राप्त हुआ है; इसलिये अब एक शुद्धविज्ञानघनके पुंजमें स्थित और अन्यसे अर्थात् रागसे रहित; हे सत्पुरुषो ! मुदित होओ ।

भावार्थः—ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिक पुद्गलविकार होनेसे जड़ हैं;किन्तु ऐसा भासित होता है कि मानों अज्ञानसे ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो, अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनो एकरूप--जड़रूप भासित होते है । जब अंतरंगमें ज्ञान और रागादिका भेद करनेका तीव्र अभ्यास करनेसे भेदज्ञान प्रगट होता है तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञानका स्वभाव तो मात्र जाननेका ही है,ज्ञानमें जो रागादिकी कलुषता--आकुलतारूप संकल्प विकल्प-भासित होते है वे सब पुद्गलविकार है, जड़ है । इसप्रकार ज्ञान और रागादिके भेदका स्वाद आता है अर्थात् अनुभव होता है । जब ऐसा भेद ज्ञान होता है तब आत्मा आनंदित होता है, क्योंकि उसे ज्ञात है कि "स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है, रागादिरूप कभी नहीं हुआ" इसलिये आचार्यदेवने कहा है कि—"हे सत्पुरुषो ! अब मुदित होओ" ।

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किंचनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति । ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलंभः प्रभवति । शुद्धात्मोपलंभात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति ॥ १८१-१८२-१८३ ॥

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभ इति चेत्—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥ १८४ ॥
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥ १८५ ॥

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभाव न त परित्यजति ।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम् ॥ १८४ ॥
एव जानाति ज्ञानी अज्ञानी मनुते रागमेवात्मानम् ।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ॥ १८५ ॥

टीका:—इस प्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञानको अणुमात्र भी (रागादि विकाररूप) विपरीतताको न प्राप्त कराता हुआ अविचलरूपसे रहता है तब शुद्ध उपयोगमयात्मकताके द्वारा ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्मात्र भी रागद्वेषमोहरूप भावको नहीं करता; इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (अनुभव) होती है, और शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे रागद्वेषमोहका (आस्रवभावका) अभाव जिसका लक्षण है ऐसा संवर होता है ॥ १८१-१८३ ॥

अब, यह प्रश्न होता है कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि कैसे होती है ? उसके उत्तरमें गाथा कहते हैं:—

गाथा १८४-१८५

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [कनकं] सुवर्ण [अग्नितप्तं अपि]

ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे ।
त्यों कर्म उदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे ॥ १८४ ॥
जिव ज्ञानि जाने येहि, अरु अज्ञानि राग हि जिव गिने ।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतमआच्छादसे ॥ १८५ ॥

यतो यस्यैव यथोदितभेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावात् ज्ञानी सन्नेवं जानाति। यथा प्रचंडपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात्। तदपोहे तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात्। नचास्ति वस्तूच्छेदः सतो नाशासंभवात्। एवं जानंश्च कर्माक्रांतोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति किं तु शुद्धमात्मानमेवोपलभते। यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्य-

---

अग्निसे तप्त होता हुआ भी [**तं**] अपने [**कनकभावं**] सुवर्णत्वको [**न परित्यजति**] नहीं छोड़ता [**तथा**] इसी प्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**कर्मोदयतप्तः तु**] कर्मोंके उदयसे तप्त होता हुआ भी [**ज्ञानित्वं**] ज्ञानित्वको [**न जहाति**] नहीं छोड़ता;–[**एवं**] ऐसा [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**जानाति**] जानता है, [**अज्ञानी**] और अज्ञानी [**अज्ञानतमोऽवच्छन्नः**] अज्ञानांधकारसे आच्छादित होनेसे [**आत्मस्वभावं**] आत्माके स्वभावको [**अजानन्**] न जानता हुआ [**रागं एव**] रागको ही [**आत्मानं**] आत्मा [**मनुते**] मानता है।

टीका:—जिसे ऊपर कहा गया ऐसा भेदविज्ञान है वही उसके (भेदविज्ञानके) द्भावसे ज्ञानी होता हुआ इसप्रकार जानता है:—जैसे प्रचंड अग्निके द्वारा तप्त होता हुआ सुवर्ण सुवर्णत्वको नहीं छोड़ता उसीप्रकार प्रचंड कर्मोदयके द्वारा घिरा हुआ होनेपर भी न ज्ञानत्वको नहीं छोड़ता, क्योंकि हजारों कारणोंके एकत्रित होने पर भी स्वभावको छोड़ना शक्य है; उसे छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तुका ही उच्छेद हो जायेगा; और वस्तुका च्छेद तो होता नहीं है, क्योंकि सत्का नाश होना असम्भव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी र्मोंसे आक्रान्त होता हुआ भी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता, मोही नहीं होता किन्तु वह द्ध आत्माका ही अनुभव करता है। और जिसे उपरोक्त भेदविज्ञान नहीं है वह उसके भावसे अज्ञानी होता हुआ अज्ञानांधकार द्वारा आच्छादित होनेसे चैतन्यचमत्कार मात्र त्मस्वभावको न जानता हुआ, रागको ही आत्मा मानता हुआ, रागी होता है, द्वेषी होता मोही होता है, किन्तु शुद्ध आत्माका किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता। इससे सिद्ध आ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है।

भावार्थ:—जिसे भेदविज्ञान हुआ है वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञानभावसे छूटता नहीं है।' ऐसा जानता हुआ वह, कर्मोदयके द्वारा तप्त होता हुआ भी रागी

मानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते। ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभः ॥ १८४-१८५ ॥

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर इति चेत्—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥ १८६ ॥

शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥ १८६ ॥

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते

द्वेषी मोही नहीं होता, परन्तु निरंतर शुद्ध आत्माका अनुभव करता है। जिसे भेदविज्ञान नहीं है वह आत्मा, आत्माके ज्ञान स्वभावको न जानता हुआ रागको ही आत्मा मानता है, इसलिये वह रागी, द्वेषी, मोही होता है किन्तु कभी भी शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं करता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है॥ १८४-१८५॥

अब यह प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर कैसे होता है? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा १८६

अन्वयार्थः—[**शुद्धं तु**] शुद्ध आत्माको [**विजानन्**] जानता हुआ—अनुभव करता हुआ [**जीवः**] जीव [**शुद्धं च एव आत्मानं**] शुद्ध आत्माको ही [**लभते**] प्राप्त करता है [**तु**] और [**अशुद्धं**] अशुद्ध [**आत्मानं**] आत्माको [**जानन्**] जानता हुआ—अनुभव करता हुआ जीव [**अशुद्धं एव**] अशुद्ध आत्माको ही [**लभते**] प्राप्त करता है।

टीकाः—जो सदा ही अच्छिन्न धारावाही ज्ञानसे शुद्ध आत्माका अनुभव किया करता है वह, 'ज्ञानमयभावमें से ज्ञानमयभाव ही होता है' इस न्यायके अनुसार आगामी कर्मोंके आस्रवणका निमित्त जो रागद्वेषमोहकी संतति (परम्परा) उसका निरोध होनेसे, शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है; और जो सदा ही अज्ञानसे अशुद्ध आत्माका अनुभव किया करता है वह, 'अज्ञानमयभावमेंसे अज्ञानमयभाव ही होता है' इस न्यायके अनुसार

जो शुद्ध जाने आत्मको, वो शुद्ध आतम हि प्राप्त हो।
अनशुद्ध जाने आत्मको, अनशुद्ध आतम हि प्राप्त हो ॥ १८६ ॥

स ज्ञानमयाद् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । यो हि तु नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । अतः शुद्धात्मोपलंभादेव संवरः ।

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्मारामममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ १२७॥ (मालिनी)

आगामी कर्मोंके आस्रवणका निमित्त जो रागद्वेषमोहकी संतति उसका निरोध न होनेसे अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है । अतः शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे (अनुभवसे) ही संवर होता है ।

भावार्थः—जो जीव अखण्डधारावाही ज्ञानसे आत्माको निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव रुकते है, इसलिये वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है; और जो जीव अज्ञानसे आत्माका अशुद्ध अनुभव करता है उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव नहीं रुकते इसलिये वह अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है । अतः सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है ।

अब, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

अर्थः—यदि किसी भी प्रकारसे (तीव्र पुरुषार्थ करके) धारावाही ज्ञानसे शुद्ध आत्माको निश्चलतया अनुभव किया करे तो यह आत्मा जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है (अर्थात् जिसकी आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है) ऐसे आत्माको परपरिणतिके निरोधसे शुद्ध ही प्राप्त करता है ।

भावार्थः—धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माका अनुभव करनेसे रागद्वेषमोहरूप परपरिणतिका (भावास्रवोंका निरोध होता है, और उससे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है ।

धारावाही ज्ञानका अर्थ है प्रवाहरूप ज्ञान । वह दो प्रकारसे कहा जाता है—एक तो, जिसमें बीचमें मिथ्याज्ञान न आये ऐसा सम्यक्ज्ञान धारावाही ज्ञान है, और दूसरा, एक ही ज्ञेयमें उपयोगके उपयुक्त रहनेकी अपेक्षासे ज्ञानकी धारावाहिकता कही जाती है, अर्थात् जहाँतक उपयोग एक ज्ञेयमे उपयुक्त रहता है वहाँतक धारवाही ज्ञान कहलाता है; इसकी स्थिति (छद्मस्थके) अन्तर्मुहूर्त ही है, तत्पश्चात् वह खंडित होती है । इन दो अर्थोंमें

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत्—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ॥ १८७ ॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥ १८८ ॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥ १८९ ॥

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः ।
दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥ १८७ ॥
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा ।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चिंतयत्येकत्वम् ॥ १८८ ॥
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः ।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तम् ॥ १८९ ॥

से जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिये। अविरति सम्यक्दृष्टि इत्यादि नीचेके गुणस्थान वाले जीवोंके मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी, और श्रेणी चढ़ने वाले जीवके मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी, क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध आत्मामें ही उपयुक्त है ॥ १८६ ॥

अब प्रश्न करता है कि संवर किस प्रकारसे होता है, इसका उत्तर कहते हैं :—

गाथा १८७-१८८-१८९

अन्वयार्थः—[**आत्मानं**] आत्माको [**आत्मना**] आत्माके द्वारा [**द्विपुण्यपापयोगयोः**] दो पुण्य-पापरूपी शुभाशुभ योगोंसे [**रुन्ध्वा**] रोककर

शुभ अशुभसे जो रोककर निज आत्मको आत्मा हि से ।
दर्शन अवरु ज्ञानहि ठहर, परद्रव्यइच्छा परिहरे ॥ १८७ ॥
जो सर्वसंगविमुक्त ध्यावे, आत्मसे आत्मा हि को ।
नहिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व को ॥ १८८ ॥
वह आत्मध्याता, ज्ञानदर्शनमय अनन्यमयी हुआ ।
बस अल्पकाल जु कर्मसे परिमोक्ष पावे आत्मका ॥ १८९ ॥

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे वर्तमानं दृढतरभेदविज्ञानावष्टंभेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुंध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छापरिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन्, मनागपि कर्मनोकर्मणोरसंस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते; स खल्वेकत्वचेतनेनात्यंतविविक्तं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन् शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः शुद्धात्मोपलंभे सति समस्तपरद्रव्यमयत्व-

---

[दर्शन ज्ञाने] दर्शन ज्ञानमें **[स्थितः]** स्थित होता हुआ **[च]** और **[अन्यस्मिन्]** अन्य (वस्तु) की **[इच्छाविरतः]** इच्छासे विरत होता हुआ **[यः आत्मा]** जो आत्मा **[सर्वसंगमुक्तः]** (इच्छारहित होनेसे) सर्वसंगसे रहित होता हुआ **[आत्मानं]** (अपने) आत्माको **[आत्मना]** आत्माके द्वारा **[ध्यायति]** ध्याता है, और **[कर्म नोकर्म]** कर्म तथा नोकर्मको **[न अपि]** नही ध्याता, एवं **[चेतयिता]** (स्वयं) चेतयिता[1] (होने से) **[एकत्वं]** एकत्वको ही **[चिन्तयति]** चिन्तवन करता है—अनुभव करता है **[सः]** वह (आत्मा) **[आत्मानं ध्यायन्]** आत्माको ध्याता हुआ **[दर्शनज्ञानमयः]** दर्शनज्ञानमय **[अनन्यमयः]** और अनन्यमय होता हुआ **[अचिरेण एव]** अल्पकालमें ही **[कर्मप्रविमुक्तं]** कर्मोंसे रहित **[आत्मानं]** आत्माको **[लभते]** प्राप्त करता है।

टीका:—रागद्वेषमोह जिसका मूल है ऐसे शुभाशुभयोगमे प्रवर्तमान जो जीव दृढ़तर भेदविज्ञानके आलम्बनसे आत्माको आत्माके द्वारा ही अत्यन्त रोककर, शुद्धदर्शन-ज्ञानरूप आत्मद्रव्यमें भलीभाँति प्रतिष्ठित (स्थिर) करके, समस्त परद्रव्योंकी इच्छाके त्याग से सर्वसंगसे रहित होकर, निरंतर अति निष्कंप वर्तता हुआ, कर्म नोकर्मका किंचित्मात्र भी स्पर्श किये बिना अपने आत्माको ही आत्माके द्वारा ध्याता हुआ स्वयंको सहज चेतयितापन होनेसे एकत्वका ही चेतता (अनुभव करता) है (ज्ञान चेतनारूप रहता है), वह जीव वास्तवमे एकत्व-चेतन द्वारा अर्थात् एकत्वके अनुभवन द्वारा (परद्रव्यसे) अत्यंत भिन्न चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माको ध्याता हुआ, शुद्ध दर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्यको प्राप्त होता हुआ, शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (प्राप्ति) होनेपर समस्त परद्रव्यमयतासे अतिक्रांत होता

१—चेतयिता = ज्ञाता द्रष्टा;

मतिक्रांतः सन् अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानमवाप्नोति । एष संवरप्रकारः ।

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥ १२८ ॥ (मालिनी)

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत्—

तेसिं हेऊ भणिया अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥ १९० ॥
हेउअभावे णियमा जायइ णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायइ कम्मस्स वि णिरोहो ॥ १९१ ॥

हुआ अल्पकालमे ही सर्व कर्मोंसे रहित आत्माको प्राप्त करता है, यह संवरका प्रकार (विधि) है।

भावार्थः—जो जीव पहले तो रागद्वेषमोहके साथ मिले हुए मनवचन, कायके शुभाशुभ योगोंसे अपने आत्माको भेदज्ञानके बलसे चलायमान नहीं होने दे, और फिर उसीको शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मस्वरूपमे निश्चल करे तथा समस्त बाह्याभ्यंतर परिग्रहसे रहित होकर कर्म—नोकर्मसे भिन्न अपने स्वरूपमे एकाग्र होकर उसीका ही अनुभव किया करे अर्थात् उसीके ध्यानमे रहे, वह जीव आत्माका ध्यान करनेसे दर्शन ज्ञानमय होता हुआ और परद्रव्यमयताका उल्लंघन करता हुवा अल्पकालमे ही समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। यह संवर होनेकी रीति है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं

अर्थः—जो भेद विज्ञानकी शक्तिके द्वारा अपनी (स्वरूप की) महिमा मे लीन रहते हैं उन्हें नियम से शुद्ध तत्वकी उपलब्धि होती है, शुद्ध तत्वकी उपलब्धि होने पर, अचलितरूपसे समस्त अन्य द्रव्यो से दूर वर्तते हुवे ऐसे उनके अक्षय कर्ममोक्ष होता है। (अर्थात् उनका कर्मोंसे ऐसा छुटकारा हो जाता है कि पुनः कभी कर्मबन्ध नहीं होता। १८७–१८९।

रागादिके हेतू कहे, सर्वज्ञ अध्यवसानको ।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव त्यों ही योगको ॥ १९० ॥
कारण अभाव जरूर आश्रवरोध ज्ञानीको बने ।
आस्रवभाव अभावमें, नहिं कर्मका आना बने ॥ १९१ ॥

कम्मस्स अभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥ १९२ ॥

तेषां हेतवो भणिता अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ॥ १९० ॥

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिन आस्रवनिरोधः ।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥ १९१ ॥

कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः ।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधन भवति ॥ १९२ ॥

संति तावज्जीवस्य आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि । तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः । आस्रव-

---

अब यह प्रश्न होता है कि संवर किस क्रमसे होता है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा १९०-१९१-१९२

अन्वयार्थः—[**तेषां**] उनके (पूर्वकथित रागद्वेषमोहरूप आस्रवोंके) [**हेतवः**] हेतु [**सर्वदर्शिभिः**] सर्वदर्शियों ने [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व [**अज्ञानं**] अज्ञान [**च अविरतभावः**] और अविरतभाव [**च योगः**] तथा योग [**अध्यवसानानि**] यह (चार) अध्यवसान [**भणिताः**] कहे हैं । [**ज्ञानिनः**] ज्ञानियों के [**हेत्वभावे**] हेतुओंके अभावमें [**नियमात्**] नियमसे [**आस्रवनिरोधः**] आस्रवोंका निरोध [**जायते**] होता है, [**आस्रवभावेन विना**] आस्रवभावके विना [**कर्मणः अपि**] कर्मका भी [**निरोधः**] निरोध [**जायते**] होता है, [**च**] और [**कर्मणः अभावेन**] कर्मके अभावसे [**नोकर्मणां अपि**] नोकर्मों का भी [**निरोधः**] निरोध [**जायते**] होता है, [**च**] और [**नोकर्मनिरोधेन**] नोकर्मके निरोधसे [**संसारनिरोधनं**] संसारका निरोध [**भवति**] होता है ।

टीका:—पहले तो जीवके आत्मा और कर्मके एकत्वका आशय (अभिप्राय) जिनका मूल है, ऐसे मिथ्यात्व--अज्ञान--अविरति--योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, वे

है कर्मके जु अभावसे, नोकर्मका रोधन बने ।
नोकर्मका रोधन हुवे, संसार संरोधन बने ॥ १९२ ॥

भावः कर्महेतुः । कर्मनोकर्महेतुः । नोकर्म संसारहेतुः इति । ततो नित्यमेवायमात्मा आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति । ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति । ततः कर्म आस्रवति, ततो नोकर्म भवति, ततः संसारः प्रभवति । यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः । तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः, तदभावे भवति कर्माभावः, तदभावे भवति नोकर्माभावः, तदभावेऽपि भवति संसाराभावः । इत्येष संवरक्रमः ।

रागद्वेषमोहस्वरूप आस्रवभावके कारण हैं, आस्रवभाव कर्मका कारण है, कर्म नोकर्मका कारण है; और नोकर्म संसारका कारण है, इसलिये सदा ही यह आत्मा, आत्मा और कर्मके एकत्वके अध्याससे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योगमय आत्माको मानता है (अर्थात् मिथ्यात्वादि अध्यवसान करता है); इसलिये रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावको भाता है; उससे कर्मास्रव होता है; उससे नोकर्म होता है, और उससे संसार उत्पन्न होता है । किन्तु जब (वह आत्मा), आत्मा और कर्मके भेदविज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माको उपलब्ध करता है--अनुभव करता है तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान, जो कि आस्रवभावके कारण हैं उनका अभाव होता है; अध्यवसानोंका अभाव होनेपर रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावका अभाव होता है; आस्रवभावका अभाव होनेपर कर्मका अभाव होता है, कर्मका अभाव होनेपर नोकर्मका अभाव होता है, और नोकर्मका अभाव होनेपर संसारका अभाव होता है । इसप्रकार यह संवरका क्रम है ।

भावार्थः—जीवके जबतक आत्मा और कर्मके एकत्वका आशय है--भेदविज्ञान नहीं है तबतक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान वर्तते हैं, अध्यवसान से रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभावसे कर्म बंधता है, कर्मसे शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्मसे संसार है । परन्तु जब उसे आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान होता है तब शुद्धात्माकी उपलब्धि होनेसे मिथ्यात्वादि अध्यवसानोंका अभाव होता है, और उससे रागद्वेषमोहरूप आस्रवका अभाव होता है, आस्रवके अभावसे कर्म नहीं बंधता, कर्मके अभावसे शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते और नोकर्मके अभावसे संसारका अभाव होता है । इसप्रकार संवरका क्रम जानना चाहिये ।

संपद्यते संवर एष साक्षा-
च्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्
तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ १२९ ॥ (उपजाति)

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ १३० ॥ (अनुष्टुप्)

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ १३१ ॥ (अनुष्टुप्)

संवर होनेके क्रममे संवरका पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है, अब उसकी भावनाके उपदेशका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह साक्षात् संवर वास्तवमें शुद्ध आत्मतत्वकी उपलब्धिसे होता है और वह शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धि भेदविज्ञानसे ही होती है। इसलिये वह भेदविज्ञान अत्यंत भाने योग्य है।

भावार्थः—जब जीवको भेदविज्ञान होता है अर्थात् जब जीव आत्मा और कर्मको यथार्थतया भिन्न जानता है तब वह शुद्ध आत्माका अनुभव करता है; शुद्ध आत्माके अनुभवसे आस्रवभाव रुकता है और अनुक्रमसे सर्वप्रकारसे संवर होता है, इसलिये भेदविज्ञानको अत्यन्त भानेका उपदेश किया है।

अब काव्य द्वारा यह बतलाते है कि भेदविज्ञान कहाँ तक भाना चाहिये ।

अर्थः—यह भेदविज्ञान अच्छिन्न धारासे (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाहरूपसे) तबतक भाना चाहिये जबतक ज्ञान परभावोंसे छूटकर ज्ञान ज्ञानमें ही (अपने स्वरूपमें ही) स्थिर हो जाये ।

भावार्थः—यहाँ ज्ञानका ज्ञानमे स्थिर होना दो प्रकारसे जानना चाहिये । एक तो, मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यक्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये तब ज्ञान, ज्ञानमें स्थिर हुआ कहलाता है । दूसरे, जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूपमे स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो तब ज्ञान, ज्ञानमे स्थिर हुआ कहलाता है । जबतक ज्ञान दोनों प्रकारसे ज्ञानमे स्थिर न हो जाये तबतक भेदविज्ञानको भाते रहना चाहिये ।

अब पुनः भेदविज्ञानकी महिमा बतलाते हैं:—

अर्थः—जो कोई सिद्ध हुए है व भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए है; और जो कोई बँधे हैं वे उसीके (भेदविज्ञानके) ही अभावसे बंधे हैं ।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ १३२ ॥ (मंदाक्रांता)

इति संवरो निष्क्रांतः ।

भावार्थः—अनादिकालसे लेकर जबतक जीवको भेदविज्ञान नहीं है तबतक वह कर्मसे बँधता ही रहता है—संसारमें परिभ्रमण ही करता रहता है। जिस जीवको भेदविज्ञान होता है वह कर्मोंसे अवश्य छूट जाता है—मोक्षको प्राप्त कर ही लेता है। इसलिये कर्मबन्धका—संसारका मूल भेदविज्ञानका अभाव ही है और मोक्षका पहला कारण भेदविज्ञान ही है। भेदविज्ञानके विना कोई सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता।

यहाँ ऐसा भी समझना चाहिये कि—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध और वेदान्ती जो कि वस्तुको अद्वैत कहते हैं और अद्वैतके अनुभवसे ही सिद्धि कहते हैं उनका, भेदविज्ञानसे ही सिद्धि कहनेसे, निषेध हो गया क्योंकि वस्तुका स्वरूप सर्वथा अद्वैत न होने पर भी जो सर्वथा अद्वैत मानते हैं उनके किसी भी प्रकारसे भेदविज्ञान कहा ही नहीं जा सकता; जहाँ द्वैत (दो वस्तुएँ) ही नहीं मानते वहाँ भेदविज्ञान कैसा? यदि जीव और अजीव-दो वस्तुएँ मानी जाये और उनका संयोग माना जाये तभी भेदविज्ञान हो सकता है, और सिद्धि हो सकती है। इसलिये स्याद्वादियोंको ही सब कुछ निर्बाधतया सिद्ध होता है।

अब संवर अधिकार पूर्ण करते हुए, संवर होनेसे जो ज्ञान हुआ उस ज्ञानकी महिमाका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—भेदज्ञान प्रगट करनेके अभ्याससे शुद्ध तत्वकी उपलब्धि हुई, शुद्ध तत्वकी उपलब्धिसे रागसमूहका विलय हुआ, राग समूहके विलय करनेसे कर्मोंका संवर हुआ और कर्मोंका संवर होनेसे ज्ञानमें ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान उदयको प्राप्त हुआ कि जो ज्ञान परम संतोषको (परम अतीन्द्रिय आनन्दको) धारण करता है, जिसका प्रकाश निर्मल है (अर्थात् रागादिकके कारण मलिनता थी वह अब नहीं है), जो अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञानकी भाँति कुम्हलाया हुवा-निर्बल नहीं है, सर्व लोकालोकके जाननेवाला है), जो एक है (अर्थात् क्षयोपशमसे जो भेद था वह अब नहीं है) और जिसका उद्योत शाश्वत है (अर्थात् जिसका प्रकाश अविनश्वर है)।

टीकाः—इसप्रकार संवर (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया।

॥ इति श्रीमदमृतचंदसूरि विरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ संवरप्ररूपकः पञ्चमोऽकः ॥ ५ ॥
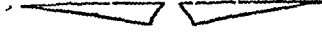
भावार्थ—रंगभूमिमें संवरका स्वांग आया था उसे ज्ञानने जान लिया इसलिये वह नृत्य करके बाहर निकल गया ॥ १९०-१९१-१९२ ॥

❀ सवैया तेईसा ❀

भेदविज्ञान कला प्रगटै, तब शुद्ध स्वभाव लहै अपना ही,
रागद्वेष विमोह सबहि गलि जाय, इमे दुठ कर्म रुकाही।
उज्ज्वलज्ञान प्रकाश करै, बहु तोष धरै परमातममाही,
यो मुनिराज भली विधि धारत, केवल पाय सुखी शिव जाहीं ॥

— पाँचवां संवर अधिकार समाप्त —
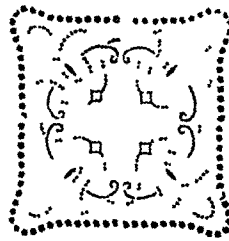
निर्जरा अधिकार

अथ प्रविशति निर्जरा--

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुंधन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति ॥१३३॥ (शार्दूल०)

—ः दोहा ः—

रागादिक कूं मेटि करि, नवे बंध हति संत ।
पूर्व उदय मे सम रहे, नमूं निर्जरावंत ॥

प्रथम टीकाकार आचार्य देव कहते है कि "अब निर्जरा प्रवेश करती है"। यहाँ तत्वो का नृत्य है अत. जैसे नृत्यमंच पर नृत्य करने वाला स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ रंगभूमिमे निर्जराका स्वाँग प्रवेश करता है।

अब, सर्व स्वाँगको यथार्थ जानने वाले सम्यक्ज्ञानको मंगलरूप जानकर आचार्यदेव मंगलके लिये प्रथम उसी–निर्मल ज्ञान ज्योतिको ही प्रगट करते है—

अर्थ—परम संवर, रागादि आस्रवोको रोकनेसे अपनी कार्य धुरा को धारण करके (अपने कार्य को यथार्थतया सभालकर), समस्त आगामी कर्मको अत्यन्ततया दूरसे ही रोकता हुआ खड़ा है; और पूर्वबद्ध (संवर होनेके पहले बँधे हुवे) कर्मको जलानेके लिये अब निर्जरा (निर्जरारूपी अग्नि) फैल रही है, जिससे ज्ञान ज्योति निरावरण होती हुई (पुनः) रागादि भावोके द्वारा मूर्च्छित नही होती—सदा अमूर्च्छित रहती है।

भावार्थ—संवर होनेके बाद नवीन कर्म तो नहीं बँधते। और जो कर्म पहले बँधे हुए थे उनकी जब निर्जरा होती है तब ज्ञान का आवरण दूर होनेसे वह (ज्ञान) ऐसा हो जाता है कि पुनः रागादिरूप परिणमित नही होता—सदा प्रकाशरूप ही रहता है।

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ ॥

उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम् ।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम् ॥ १९३ ॥

विरागस्योपभोगो निर्जरायायेव । रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योपभोगो बंधनिमित्तमेव स्यात् । स एव रागादिभावानामभावेन सम्य-

---

अब द्रव्य निर्जराका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १९३

अन्वयार्थः—[**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि जीव [**यत्**] जो [**इन्द्रियैः**] इन्द्रियोंके द्वारा [**अचेतनानां**] अचेतन [**इतरेषां**] तथा चेतन [**द्रव्याणां**] द्रव्योंका [**उपभोगं**] उपभोग [**करोति**] करता है [**तत् सर्वं**] वह सर्व [**निर्जरानिमित्तं**] निर्जरा का निमित्त है ।

टीका:—विरागीका उपभोग निर्जराके लिये ही है (वह निर्जराका कारण होता है।) रागादिभावोंके सद्भावसे मिथ्यादृष्टिके अचेतन तथा चेतनद्रव्योंका उपभोग बंधका निमित्त होता है; वही (उपभोग), रागादि भावोंके अभावसे सम्यक्दृष्टिके लिये निर्जराका निमित्त होता है । इसप्रकार द्रव्य निर्जराका स्वरूप कहा ।

भावार्थ:—सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी कहा है और ज्ञानीके रागद्वेषमोहका अभाव कहा है; इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागी है । यद्यपि उसको इन्द्रियोंके द्वारा भोग दिखाई देता हो तथापि उसे भोगकी सामग्रीके प्रति राग नही है । वह जानता है कि "यह (भोगकी सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; कर्मोदयके निमित्तसे इसका और मेरा संयोग वियोग है ।" जब तक उसे चारित्र मोहका उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होनेसे पीड़ाको सहन नही कर सकता तबतक—जैसे रोगी रोगकी पीड़ाको सहन नहीं कर सकता तब उसका औषधि इत्यादिके द्वारा उपचार करता है इसीप्रकार—भोगोपभोग सामग्रीके द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु जैसे रोगी रोगको या औषधिको अच्छा नहीं मानता उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहके उदयको या भोगोपभोग

चेतन अचेतन द्रव्यका, उपभोग इन्द्रिसमूहसे ।
जो जो करे सद्दृष्टि वह सब, निर्जरा कारण बने ॥ १९३ ॥

ग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात् । एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितं ॥ १९३ ॥

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥ १९४ ॥

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं च दुःखं वा ।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥ १९४ ॥

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातासातविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति । स तु यदा वेद्यते

सामग्रीको अच्छा नहीं मानता । और निश्चयसे तो, ज्ञातृत्वके कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मोंको मात्र जान ही लेता है उनके प्रति उसे रागद्वेषमोह नहीं है । इसप्रकार रागद्वेषमोहके विना ही उनके फलको भोगता हुवा दिखाई देता है, तो भी उसके कर्मका आस्रव नहीं होता, कर्मास्रवके विना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागतकर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं; क्योंकि उदयमें आनेके बाद कर्मकी सत्ता रह ही नहीं सकती । इसप्रकार उसके नवीन बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्मकी निर्जरा हो जानेसे उसके केवल निर्जरा ही हुई । इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागीके भोगोपभोगको निर्जराका ही निमित्त कहा गया है । पूर्व कर्म उदयमें आकर उसका द्रव्य खिर गया सो वह द्रव्यनिर्जरा है ॥ १९३ ॥

अब भावनिर्जराका स्वरूप कहते हैं.—

गाथा १९४

अन्वयार्थः—[**द्रव्ये उपभुज्यमाने**] वस्तु भोगनेमें आनेपर [**सुखं च दुःखं वा**] सुख अथवा दुःख [**नियमात्**] नियमसे [**जायते**] उत्पन्न होता है, [**उदीर्णं**] उदयको प्राप्त (उत्पन्न हुवे) [**तत् सुख दुःखं**] उस सुख दुःखका [**वेदयते**] अनुभव करता है, [**अथ**] पश्चात् [**निर्जरां याति**] वह (सुखदुःखरूपभाव) निर्जराको प्राप्त होता है ।

टीका—परद्रव्य भोगनेमें आनेपर, उसके निमित्तसे जीवका सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियमसे ही उदय होता है अर्थात् उत्पन्न होता है, क्योंकि वेदन साता और असाता—इन

परद्रव्यके उपभोग निश्चय, दुःख वा सुख होय है ।
इन उदित सुख दुख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है ॥ १९४ ॥

तदा मिथ्यादृष्टेः रागादिभावानां सद्भावेन बंधनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यजीर्णः सन् बंध एव स्यात्। सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बंधनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरैव स्यात्।

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्य च वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते॥ १३४॥ (अनुष्टुप्)

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी॥ १९५॥

दो प्रकारोंका अतिक्रम नहीं करता (अर्थात् वेदन दो प्रकारका ही है—सातारूप और असातारूप।) जब उस (सुखरूप अथवा दुःखरूप) भावका वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टिको, रागादि भावोंके सद्भावसे बंधका निमित्त होकर (वो भाव) निर्जराको प्राप्त होता हुआ भी (वास्तवमें) निर्जरित न होता हुआ बंध ही होता है; किन्तु सम्यक्दृष्टिके रागादि भावोंके अभावसे बंधका निमित्त हुए विना केवलमात्र निर्जरित होनेसे (वास्तवमें) निर्जरित होता हुआ, निर्जरा ही होती है।

भावार्थः—परद्रव्य भोगनेमें आने पर कर्मोदयके निमित्तसे जीवके सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियमसे उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टिके रागादिके कारण वह भाव आगामी बन्ध करके निर्जरित होता है, इसलिये उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता; अतः मिथ्यादृष्टिको परद्रव्यके भोगते हुए बंध ही होता है। सम्यक्दृष्टिके रागादिक न होनेसे आगामी बन्ध किये बिना ही वह भाव निर्जरित हो जाता है इसलिये उसे निर्जरित कहा जा सकता है; अतः सम्यक्दृष्टिके परद्रव्य भोगनेमें आनेपर निर्जरा ही होती है। इसप्रकार सम्यक्दृष्टिके भावनिर्जरा होती है।

अब आगामी गाथाओंकी सूचनाके रूपमें श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—वास्तवमें वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य ज्ञानकी ही है, अथवा विरागकी ही है, कि कोई (सम्यक्दृष्टि जीव) कर्मोंको भोगता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता। (वह अज्ञानीको आश्चर्य उत्पन्न करती है, और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है।) ॥ १३४ ॥

अब ज्ञानका सामर्थ्य बतलाते हैं:—

ज्यों जहरके उपभोगसे भी, वैद्यजन मरता नहीं।
त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बँधता नहीं॥ १९५॥

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति ।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥ १९५ ॥

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुंजानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वात् न बध्यते ज्ञानी ॥ १९५ ॥

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव ॥ १९६ ॥

गाथा १९५

अन्वयार्थः—[**यथा**] जिसप्रकार [**वैद्यः पुरुषः**] वैद्यपुरुष [**विषं उपभुंजानः**] विषको भोगता अर्थात् खाता हुआ भी [**मरणं न उपयाति**] मरणको प्राप्त नहीं होता [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी पुरुष [**पुद्गलकर्मणः**] पुद्गलकर्मके [**उदयं**] उदयको [**भुंक्ते**] भोगता है, तथापि [**न एव बध्यते**] बँधता नहीं है ।

टीका:—जिसप्रकार कोई विषवैद्य दूसरोंके मरणके कारणभूत विषको भोगता हुआ भी, अमोघ (रामबाण) विद्याकी सामर्थ्यसे—विषकी शक्ति रुक गई होनेसे नही मरता, उसीप्रकार अज्ञानियो को, रागादि भावोंका सद्भाव होनेसे बंधका कारण जो पुद्गलकर्मका उदय उसको ज्ञानी भोगता हुआ भी, अमोघ ज्ञानकी सामर्थ्य द्वारा रागादि भावोंका अभाव होनेसे—कर्मोदयकी शक्ति रुक गई होनेसे, बंधको प्राप्त नही होता ।

भावार्थ:—जैसे वैद्य मंत्र, तंत्र औषधि इत्यादि अपनी विद्याकी सामर्थ्यसे विषकी घातकशक्तिका अभाव कर देता है, जिससे विषके खा लेने पर भी उसका मरण नहीं होता, इसीप्रकार ज्ञानीके ज्ञानका ऐसा सामर्थ्य है कि वह कर्मोदयकी बंध करनेकी शक्तिका अभाव करता है, और ऐसा होनेसे कर्मोदयको भोगते हुए भी ज्ञानीके आगामी कर्मबन्ध नहीं होता । इसप्रकार सम्यक्ज्ञानकी सामर्थ्य कही गई है । १९५ ।

अब वैराग्यका सामर्थ्य बतलाते हैं:—

ज्यों अरतिभाव जु मद्य पीकर, मत्तजन बनता नहीं ।
द्रव्योपभोगविषैं अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं ॥ १९६ ॥

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावे माद्यति न पुरुषः ।
द्रव्योपभोगेऽरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥ १९६ ॥

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिवन्नपि तीव्रारतिभावसामर्थ्यान्न माद्यति तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुपभुंजानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी।

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्
स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्
सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ १३५ ॥ (रथोद्धता)

गाथा १९६

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**पुरुषः**] कोई पुरुष [**मद्यं**] मदिराको [**अरतिभावेन**] अरतिभावसे (अप्रीतिसे) [**पिबन्**] पीता हुआ [**न माद्यति**] मतवाला नहीं होता [**तथा एव**] इसीप्रकार [**ज्ञानी अपि**] ज्ञानी भी [**द्रव्योपभोगे**] द्रव्यके उपभोगके प्रति, [**अरतः**] अरत (वैराग्य भावमें) वर्तता हुआ [**न बध्यते**] बन्धको प्राप्त नहीं होता ।

टीका:—जैसे कोई पुरुप, मदिराके प्रति जिसको तीव्र अरतिभाव प्रवर्ता है ऐसा वर्तता हुआ, मदिरा को पीने पर भी तीव्र अरतिभावकी सामर्थ्यके कारण मतवाला नही होता; उसीप्रकार ज्ञानी भी, रागादि भावोंके अभावसे सर्वद्रव्योंके उपभोगके प्रति जिसको तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्ता है ऐसा वर्तता हुआ, विपयों को भोगता हुआ भी, तीव्र वैराग्यभावकी सामर्थ्यके कारण कर्मोंसे) बन्धको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ:—यह वैराग्यका सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयोंका सेवन करता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता ।

अब, इस अर्थका और आगामी गाथाके अर्थका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—क्योंकि यह (ज्ञानी) पुरुप विपय सेवन करता हुआ भी ज्ञानवैभव और विरागताके बलसे विषय सेवनके निजफलको (रंजित परिणामको) नहीं भोगता—प्राप्त नहीं होता, इसलिये यह (पुरुष) सेवक होने पर भी असेवक है (अर्थात् विषयोंका सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता ।)

भावार्थ:—ज्ञान और विरागताकी ऐसी कोई अचिंत्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियोंके

अथैतदेव दर्शयति—

सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥ १९७ ॥

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित्।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ॥ १९७ ॥

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः। तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्व-

---

विषयोका सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विषय सेवनका फल जो रंजित परिणाम है उसे ज्ञानी नहीं भोगता—प्राप्त नहीं करता। १९६।

अब, इसी बातको प्रगट दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं.—

गाथा १९७

अन्वयार्थः—[**कश्चित्**] कोई तो [**सेवमानः अपि**] विषयोंको सेवन करता हुआ भी [**न सेवते**] सेवन नहीं करता, और [**असेवमानः अपि**] कोई सेवन न करता हुआ भी [**सेवकः**] सेवन करनेवाला है— [**कस्यापि**] जैसे किसी पुरुषके [**प्रकरणचेष्टा**] प्रकरण[1] की चेष्टा (कोई कार्य सम्बन्धी क्रिया) वर्तती है [**न च सः प्राकरणः इति भवति**] तथापि वह प्राकरणिक[2] नहीं होता।

टीका:—जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरणकी क्रियामें प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरणका स्वामित्व न होनेसे प्राकरणिक नहीं है और दूसरा पुरुष प्रकरणकी क्रियामें प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरणका स्वामित्व होनेसे प्राकरणिक है, इसीप्रकार सम्यक्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदयसे प्राप्त हुए विषयोका सेवन करता हुआ भी रागादि भावोंके अभावके कारण विषय सेवनके फलका स्वामित्व न होनेसे असेवक ही है (सेवन करनेवाला नहीं है) और मिथ्यादृष्टि विषयोका सेवन न करता हुआ भी रागादि भावोंके सद्भावके कारण विषय सेवन के फलका स्वामित्व होनेसे सेवन करनेवाला ही है।

१—प्रकरण=कार्य। २—प्राकरणिक=कार्य करनेवाला।

सेता हुआ नहिं सेवता, नहिं सेवता सेवक बने।
प्रकरणतनी चेष्टा करे, पर प्राकरण ज्यों नहिं हुवे ॥ १९७ ॥

संचितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एव । मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव ।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥ (मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ १९८ ॥

भावार्थः—जैसे किसी सेठने अपनी दूकान पर किसीको नौकर रखा, और वह नौकर ही दूकानका सारा व्यापार—खरीदना वेचना इत्यादि सारा काम काज करता है, तथापि वह सेठ नहीं है, क्योंकि वह उस व्यापारका और उस व्यापारके हानि लाभका स्वामी नही है; वह तो मात्र नौकर है, सेठके द्वारा कराये गये सब काम काजको करता है। और जो सेठ है वह व्यापार सम्बन्धी कोई काम काज नही करता, घर ही बैठा रहता है, तथापि उस व्यापारका तथा उसके हानि-लाभका स्वामी होनेसे वही व्यापारी (सेठ) है। यह दृष्टांत सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिये। जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नही है इसीप्रकार सम्यक्दृष्टि विषयोका सेवन करनेवाला नही है, और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करनेवाला है।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—सम्यक्दृष्टिके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है; क्योंकि वह स्वरूपका ग्रहण और परका त्याग करनेकी विधिके द्वारा अपने वस्तुत्वका (यथार्थ स्वरूपका) अभ्यास करनेके लिये 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' इस भेदको परमार्थसे जानकर स्व मे स्थिर होता है और पर से—रागके योगसे सर्वतः विरमता (रुकता) है। यह रीति ज्ञानवैराग्यकी शक्तिके बिना नही हो सकती।) १३७।

अब प्रथम, यह कहते है कि सम्यक्दृष्टि सामान्यतया स्व और परको इसप्रकार जानता है:—

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवरने कहे ।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥ १९८ ॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥ १९८ ॥

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहं ॥ १९८ ॥

सम्यग्दृष्टिर्विशेषेण स्वपरावेवं जानाति—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥ १९९ ॥

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः
न त्वेष मम भावो ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥ १९९ ॥

गाथा १९८

अन्वयार्थः—[**जिनवरैः**] जिनेन्द्रदेवने [**कर्मणां**] कर्मोंके [**उदयविपाकः**] उदयका विपाक (फल) [**विविधः**] अनेक प्रकारका [**वर्णितः**] कहा है, [**ते**] वे [**ममस्वभावाः**] मेरे स्वभाव [**न तु**] नहीं हैं, [**अहं तु**] मै तो [**एकः**] एक [**ज्ञायकभावः**] ज्ञायकभाव हूँ ।

टीका:—जो कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं है; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ ।

भावार्थ—इसप्रकार सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावोंको सम्यग्दृष्टि पर जानता है, और अपनेको एक ज्ञायक स्वभाव ही जानता है । १९८ ।

अब, यह कहते है कि सम्यक्दृष्टि विशेषतया स्व और परको इसप्रकार जानता है:—

गाथा १९९

अन्वयार्थः—[**रागः**] राग [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म है, [**तस्य**] उसका [**विपाकोदयः**] विपाकरूप उदय [**एषः भवति**] यह है, [**एषः**] यह [**ममभावः**] मेरा भाव [**न तु**] नहीं है, [**अहम्**] मै तो [**खलु**] निश्चयसे [**एकः**] एक [**ज्ञायकभावः**] ज्ञायकभाव हूँ ।

पुद्गलकरमरुप रागका हि, विपाकरुप है उदय ये ।
ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायक भाव हूँ ॥ १९९ ॥

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहं। एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि ॥ १९९ ॥

एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुंचंश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति—

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥ २०० ॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावम्।
उदयं कर्मविपाकं च मुंचति तत्त्वं विजानन् ॥ २०० ॥

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि

टीका:—वास्तवमें राग नामक पुद्गलकर्म है उसके उदयके विपाकसे उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है, यह मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव हूँ। (इसप्रकार सम्यक्दृष्टि विशेषतया स्व को और पर को जानता है।) और इसीप्रकार 'राग' पदको बदलकर उसके स्थान पर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन ये शब्द रखकर सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना, और इसी उपदेशसे दूसरे भी विचारना। १९९।

इसप्रकार सम्यक्दृष्टि अपनेको जानता और रागको छोड़ता हुआ नियमसे ज्ञानवैराग्य सम्पन्न होता है, यह इस गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २००

अन्वयार्थः—[**एवं**] इसप्रकार [**सम्यक्दृष्टिः**] सम्यक्दृष्टि [**आत्मानं**] आत्माको (अपनेको) [**ज्ञायकस्वभावं**] ज्ञायकस्वभाव [**जानाति**] जानता है [**च**] और [**तत्वं**] तत्वको अर्थात् यथार्थ स्वरूपको [**विजानन्**] जानता हुआ [**कर्मविपाकं**] कर्मके विपाकरूप [**उदयं**] उदयको [**मुंचति**] छोड़ता है।

टीका:—इसप्रकार सम्यक्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावोंसे विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता) करके, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा जो

सद्दृष्टि इसरित आत्मको, ज्ञायक स्वभाव हि जानता।
अरु उदय कर्मविपाकको वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता ॥ २०० ॥

विविच्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति । तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुंचति । ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति ।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोप्याचरंतु ।

आत्माका तत्व उसको (भलीभाँति) जानता है, और इसप्रकार तत्वको जानता हुआ, स्वभाव के ग्रहण और परभावके त्यागसे उत्पन्न होने योग्य अपने वस्तुत्वको विस्तरित करता हुआ, कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए समस्त भावोंको छोड़ता है। इसलिये वह (सम्यक्दृष्टि) नियमसे ज्ञानवैराग्य सम्पन्न होता है, (यह सिद्ध हुआ ।)

भावार्थ—जब अपनेको ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने और कर्मोदयसे उत्पन्न हुए भावों को आकुलतारूप दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना, तथा परभावोंसे विरागता—यह दोनों अवश्य ही होते हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यही (ज्ञानवैराग्य ही) सम्यक्दृष्टिका चिह्न है।

"जो जीव परद्रव्यमें आसक्त—रागी है और सम्यक्दृष्टित्वका अभिमान करते है वे सम्यक्दृष्टि नहीं हैं, वे वृथा अभिमान करते है"—इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ—"यह मैं स्वयं सम्यक्दृष्टि हूँ मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रोंमे सम्यक्दृष्टिको बन्ध नहीं कहा है") ऐसा मानकर जिनका मुख गर्वसे ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे रागी जीव (परद्रव्यके प्रति रागद्वेषमोहभाववाले जीव) भले ही (महाव्रतादिका) आचरण करें तथा समितियोंकी उत्कृष्टताका आलम्बन करें तथापि वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेसे सम्यक्त्वसे रहित हैं।

भावार्थ—परद्रव्यके प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यक्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा ? वह व्रतसमितिका पालन भले ही करे, तथापि स्व–परका ज्ञान न होनेसे वह पापी ही है। जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता' स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है, वह भला, सम्यक्दृष्टि कैसा ? क्योंकि जब तक यथाख्यात चारित्र न हो तबतक चारित्र मोहके रागसे बंध तो होता ही है, और जबतक राग रहता है तबतक सम्यक्दृष्टि अपनी निंदा–गर्हा करता ही रहता है। ज्ञानके होने मात्रसे बंधसे नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होनेके बाद उसीमें लीनतारूप–शुद्धोपयोगरूप चारित्रसे बंध कट जाते हैं। इसलिये राग होने पर भी 'बंध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥ १३७ ॥ (मन्दाक्रान्ता)

यहाँ कोई पूछता है कि - "व्रत-समिति शुभकार्य है, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीवको पापी क्यों कहा गया है ?" उसका समाधान यह है —सिद्धान्तमें मिथ्यात्वको ही पाप कहा है। जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक शुभाशुभ सर्व क्रियाओंको अध्यात्ममें परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। और व्यवहारनयकी प्रधानतामें, व्यवहारी जीवोंको अशुभसे छुडाकर शुभमें लगानेकी शुभक्रियाको कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहनेसे स्याद्वाद मतमें कोई विरोध नहीं है।

फिर कोई पूछता है कि -"परद्रव्यमें जबतक राग रहे तबतक जीवको मिथ्यादृष्टि कहा है, सो यह बात हमारी समझमें नहीं आई। अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादिके चारित्र मोहके उदयसे रागादि भाव तो होते है, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है ?" उसका समाधान यह है:—यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबंधी राग प्रधानतासे कहा है। जिसे ऐसा राग होता है; अर्थात् जिसे परद्रव्यमें तथा परद्रव्यसे होनेवाले भावोंमें आत्मबुद्धि पूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्व-परका ज्ञान-श्रद्धान नही है-भेदज्ञान नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। जो जीव मुनिपद लेकर व्रत, समितिका पालन करे तथापि जबतक पर जीवोंकी रक्षा, तथा शरीर संबंधी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्यकी क्रियासे और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने शुभभावोंसे अपनी मुक्ति मानता है और पर जीवोंका घात होना तथा अयत्नाचाररूपसे प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्यकी क्रियासे और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने अशुभभावोंसे ही अपना बंध होना मानता है, तबतक यह जानना चाहिये कि उसे स्व-परका ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि बंध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावोंसे ही होता था, शुभाशुभभाव बन्धके ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया। इसप्रकार जबतक जीव परद्रव्यसे ही भला बुरा मानकर रागद्वेष करता है तबतक वह सम्यक्दृष्टि नही है।

जबतक अपनेमें चारित्र मोह संबंधी रागादिक रहता है तबतक सम्यक्दृष्टि जीव रागादिमें तथा रागादिकी प्रेरणासे जो परद्रव्य संबंधी शुभाशुभक्रियामें प्रवृत्ति करता है उन प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें यह मानता है कि—यह कर्मका जोर है उनसे निवृत्त होनेमें ही मेरा भला है। वह उन्हें रोगवत् जानता है। पीड़ा सहन नहीं होती इसलिये रोगका इलाज करनेमें प्रवृत्त होता है तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे वह रोग मानता है उसके प्रति राग कैसा ? वह उसे मिटानेका ही उपाय करता है, और उसका मिटना भी

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत्—

परमाणुमित्तयंपि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥ २०१ ॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २०२ ॥

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥ २०१ ॥
आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन्।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥ २०२ ॥

अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमनसे मानता है। अतः सम्यक्दृष्टिके राग नही है। इस प्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टिसे व्याख्यान जानना चाहिये। यहाँ मिथ्यात्व सहित रागको ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्र मोह सम्बन्धी परिणामको राग नहीं कहा; इसलिये सम्यक्दृष्टिके ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है। सम्यक्दृष्टिके मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता, और जिसके मिथ्यात्व सहित-राग हो वह सम्यक्दृष्टि नही है। ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टिके भावोंके) अन्तरको सम्यक्दृष्टि ही जानता है। पहले तो मिथ्यादृष्टिका अध्यात्म-शास्त्रमे प्रवेश ही नही है, और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है—शुभभावको सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है अर्थात् अशुभभावोंमे प्रवर्तता है अथवा निश्चयका भलीभाँति जाने बिना व्यवहारसे ही (शुभभावसे ही) मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्वमे मूढ़ रहता है। यदि कोई विरला जीव यथार्थ स्याद्वाद न्यायसे सत्यार्थको समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्य-क्त्वकी प्राप्ति होती है — वह अवश्य सम्यक्दृष्टि हो जाता है ॥२००॥

अब पूछता है कि रागी जीव सम्यक्दृष्टि क्यो नही होता ? उसका उत्तर कहते हैं :—

गाथा २०१–२०२

अन्वयार्थः—[खलु] वास्तवमें **[यस्य]** जिस जीवके **[रागादीनां तु परमाणुमात्रं अपि]** परमाणुमात्र - लेशमात्र भी रागादिक **[विद्यते]** वर्तता है

अणुमात्र भी रागादिका, सद्भाव है जिस जीवको।
वो सर्व आगमधर भले ही, जानता नहिं आत्मको ॥२०१॥
नहिं जानता जहँ आत्मको, अनआत्म भी नहिं जानता।
वो क्योंहि होय सुदृष्टि जो, जिव अजिवको नहिं जानता ॥२०२॥

यस्य रागाद्यज्ञानभावानां लेशतोऽपि विद्यते सद्भावः, भवतु स श्रुतकेवलि-सदृशोऽपि तथापि ज्ञानमयभावानामभावेन न जानात्यात्मानं। यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूपपररूपसत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमान

[**सः**] वह [**सर्वागमधरः अपि**] वह भले ही सर्वागमका धारी (समस्त आगमों को पढ़ा हुआ) हो तथापि [**आत्मानं तु**] आत्माको [**न अपि जानाति**] नहीं जानता; [**च**] और [**अनात्मानं**] आत्माको [**अजानन्**] न जानता हुआ [**सः**] वह [**अनात्मानं अपि**] अनात्माको (परको) भी [**अजानन्**] नहीं जानता, [**जीवाजीवौ**] इसप्रकार जो जीव और अजीवको [**अजानन्**] नहीं जानता वह [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**कथं भवति**] कैसे हो सकता है।

टीका:—जिसके रागादि अज्ञानमय भावोंके लेशमात्रका भी सद्भाव है वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो तथापि वह ज्ञानमय भावोंके अभावके कारण आत्माको नहीं जानता; और जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्माको भी नहीं जानता, क्योंकि स्वरूपसे सत्ता और पर-रूपसे असत्ता—इन दोनोंके द्वारा एक वस्तुका निश्चय होता है; (जिसे अनात्माका - रागका निश्चय हुआ हो उसे अनात्मा और आत्मा—दोनोंका निश्चय होना चाहिये।) इसप्रकार जो आत्मा और अनात्माको नहीं जानता वह जीव और अजीवको नहीं जानता; तथा जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यक्दृष्टि ही नहीं है। इसलिये रागी (जीव) ज्ञानके अभावके कारण सम्यक्दृष्टि नहीं होता।

भावार्थ:—यहाँ 'राग' शब्दसे अज्ञानमय रागद्वेषमोह कहे गये है। और 'अज्ञानमय' कहनेसे मिथ्यात्व—अनन्तानुबन्धीसे हुए रागादिक समझना चाहिये, मिथ्यात्वके बिना चारित्र-मोहके उदयका राग नहीं लेना चाहिये; क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादिको चारित्रमोहके उदय सम्बन्धी जो राग है सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस रागको कर्मोदयसे उत्पन्न हुआ रोग जानता है और उसे मिटाना ही चाहता है; उसे उस रागके प्रति राग नहीं है। और सम्यग्दृष्टिके रागका लेशमात्र सद्भाव नहीं है ऐसा कहा है सो इसका कारण इसप्रकार है:— सम्यग्दृष्टिके अशुभराग तो अत्यन्त गौण है और जो शुभराग होता है सो वह उसे किंचित्-मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता—उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता और निश्चयसे तो उसके रागका स्वामित्व ही नहीं है। इसलिये उसके लेशमात्र राग नहीं है।

यदि कोई जीव रागको भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो—वह भले ही सर्व शास्त्रोंको पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहार चारित्रका पालन करता हो तथापि यह समझना चाहिये कि उसने अपने आत्माके परमार्थस्वरूपको नहीं जाना, और कर्मोदयजनित रागको

स्वात्। ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति। यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति। ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः।

"आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥ १३८ ॥" (मन्द्राक्रान्ता)

ही अच्छा मान रक्खा है, तथा उसीसे अपना मोक्ष माना है। इसप्रकार अपने और परके परमार्थस्वरूपको न जाननेसे जीव - अजीवके परमार्थस्वरूपको नहीं जानता। और जहाँ जीव तथा अजीव—इन दो पदार्थोंको ही नहीं जानता वहाँ सम्यक्दृष्टि कैसा? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकता।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं, जिस काव्यके द्वारा आचार्य देव अनादि कालसे रागादिको अपना पद जानकर सोये हुए रागी प्राणियोंको उपदेश देते हैं:—

अर्थः—(श्री गुरु संसारी भव्यजीवोंको संबोधन करते है कि) हे अन्ध प्राणियो! अनादि संसारसे लेकर पर्याय पर्यायमें यह रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पदमें सो रहे हैं वह पद अर्थात् स्थान अपद है—अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है) ऐसा तुम समझो। (अपद शब्दको दो वार कहनेसे अति करुणाभाव सूचित होता है।) इस ओर आओ—इस ओर आओ! (यहाँ निवास करो) तुम्हारा पद यह है—यह है, जहाँ शुद्ध - शुद्ध चैतन्य धातु निजरसकी अतिशयताके कारण स्थायी भावत्वको प्राप्त है, अर्थात् स्थिर है—अविनाशी है। (यहाँ 'शुद्ध' शब्द दो वार कहा है जो कि द्रव्य और भाव दोनोंकी शुद्धताको सूचित करता है। समस्त अन्य द्रव्योंसे भिन्न होनेके कारण आत्मा द्रव्यसे शुद्ध है और परके निमित्तसे होने वाले अपने भावोंसे रहित होनेसे भावसे शुद्ध है।)

भावार्थः—जैसे कोई महान पुरुष मद्यपान करके मलिनस्थान पर सो रहा हो, उसे कोई आकर जगाये और सम्बोधित करे कि "यह तेरे सोनेका स्थान नहीं है, तेरा स्थान तो शुद्ध सुवर्णमय धातुसे निर्मित है, अन्य कुधातुओंके मैलसे रहित शुद्ध है और अति सुदृढ़ है इसलिये मैं तुझे जो बतलाता हूँ वहाँ आ और वहाँ शयनादि करके आनंदित हो", इसी प्रकार ये प्राणी अनादि संसारसे लेकर रागादिको भला जानकर, उन्हींको अपना स्वभाव मानकर उसीमें निश्चिंत होकर सो रहे हैं—स्थित हैं; उन्हें श्री गुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं,—जगाते हैं— सावधान करते हैं कि "हे अन्ध प्राणियो! तुम जिस पदमें सो रहे हो वह तुम्हारा नहीं है, तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्य धातुमय है, बाह्यमें अन्य द्रव्योंकी मिलावटसे रहित

किं नाम तत्पदमित्याह—

आदह्मि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण॥ २०३॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतम्।
स्थिरमेकमिमं भावं उपलभ्यमानं स्वभावेन॥ २०३॥

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः ते सर्वेऽपि स्वयम-

---

तथा अन्तरंगमें विकार रहित शुद्ध और स्थायी है, उस पदको प्राप्त होओ—शुद्ध चैतन्यरूप अपने भावका आश्रय करो" ॥ २०१। २०२॥

अब यहाँ पूछते है कि (हे गुरुदेव!) वह पद क्या है? उसका उत्तर देते हैं:—

गाथा २०३

अन्वयार्थः—[**आत्मनि**] आत्मामें [**अपदानि**] अपदभूत [**द्रव्यभावान्**] द्रव्य-भावोंको [**मुक्त्वा**] छोड़कर [**नियतं**] निश्चित [**स्थिरं**] स्थिर [**एकं**] एक [**इमं**] इस (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) [**भावं**] भावको [**स्वभावेन उपलभ्यमानं**] जो कि (आत्माके) स्वभावरूपसे अनुभव किया जाता है उसे (हे भव्य!) [**तथा**] जैसा है वैसा [**गृहाण**] ग्रहण कर (वह तेरा पद है।)

टीका:—वास्तवमें इस भगवान् आत्मामें, बहुतसे द्रव्य–भावोंके मध्यमेंसे (द्रव्य–भावरूप बहुतसे भावोंके मध्यमेंसे), जो अतत्स्वभावसे अनुभवमें आते हुए (आत्माके स्वभावरूप नहीं किन्तु परस्वभावरूप अनुभवमें आते हुये), अनियत अवस्था वाले, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव है वे सब स्वयं अस्थाई होनेके कारण स्थाताका स्थान अर्थात् रहने वालेका स्थान नहीं हो सकने योग्य होनेसे अपदभूत हैं; और जो तत्स्वभावसे (आत्मस्वभावरूपसे) अनुभवमें आता हुआ, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य, अव्यभिचारीभाव (चैतन्यमात्र ज्ञानभाव) है, वह एक ही स्वयं स्थायी होनेसे स्थाताका स्थान अर्थात् रहनेवालेका स्थान हो सकने योग्य होनेसे पदभूत है। इसलिये समस्त अस्थायी भावोंको छोड़कर जो स्थायीभावरूप है ऐसा परमार्थरसरूपसे स्वादमें आने वाला यह ज्ञान एक ही आस्वादनके योग्य हैं।

जिवमें अपदभुत द्रव्यभावकु, छोड ग्रह तु यथार्थसे।
थिर, नियत, एक हि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभावसे॥ २०३॥

स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुमशक्यत्वात् अपदभूताः । यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानः, नियतत्वावस्थः, एकः, नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः । ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं, परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यं ।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासंते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥ १३९ ॥ (अनुष्टुप्)

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वंद्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।

भावार्थः—पहले वर्णादिक गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे थे वे सब आत्मामें अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव है। आत्मा स्थायी है, (सदा विद्यमान है) और वे सब भाव अस्थायी हैं, इसलिये, वे आत्माका स्थान नहीं हो सकते अर्थात् वे आत्माका पद नहीं हैं। जो यह स्वसंवेदनरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है। आत्मा स्थायी है और ज्ञान भी स्थायीभाव है, इसलिये वह आत्माका पद है। वह एक ही, ज्ञानियों के द्वारा आस्वाद लेने योग्य है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते है —

अर्थः—वह एक ही पद आस्वादनके योग्य है जो कि विपत्तियोंका अपद है, (अर्थात् जिसमे आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और जिसके आगे अन्य (सब) पद अपद ही भासित होते हैं।

भावार्थः—एक ज्ञान ही आत्माका पद है। उसमे कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती, और उसके आगे अन्य सब पद अपदस्वरूप भासित होते है, (क्योंकि वे आकुलतामय हैं—आपत्तिरूप हैं।)

अब, यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा ज्ञानका अनुभव करता है तब इसप्रकार करता है—

अर्थः—एक ज्ञायकभावसे भरे हुए महास्वादको लेता हुआ, (इसप्रकार ज्ञानमें ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिये) द्वंद्वमय स्वादके लेनेमे असमर्थ (वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञानके भेदोंका स्वाद लेनेमे असमर्थ), आत्मानुभवके-स्वादके-प्रभावके आधीन होनेसे निजवस्तुवृत्तिको (आत्माकी शुद्ध परिणतिको) जानता - आस्वाद लेता हुआ (आत्माके अद्वितीय स्वादके अनुभवनमेसे बाहर न आता हुआ) यह आत्मा ज्ञानके विशेषोंके उदयको गौण करता हुआ, सामान्यमात्र ज्ञानका अभ्यास करता हुआ, सकल ज्ञानको एकत्वमे लाता है—एकरूपमें प्राप्त करता है।

आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥ १४० ॥ (शार्दूल०)

तथा हि—

आभिणिबोहियसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥ २०४ ॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदम् ।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति ॥ २०४ ॥

आत्मा किल परमार्थः तत्तु ज्ञानं, आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञान-

---

भावार्थ:—इस एक स्वरूप ज्ञानके रसीले स्वादके आगे अन्य रस फीके हैं। और स्वरूपज्ञानका अनुभव करते हुए सर्व भेदभाव मिट जाते हैं। ज्ञानके विशेष ज्ञेयके निमित्तसे होते है। जब ज्ञानसामान्यका स्वाद लिया जाता है तब ज्ञानके समस्त भेद भी गौण हो जाते है, एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि छद्मस्थको पूर्णरूप केवलज्ञानका स्वाद कैसे आवे? इसका उत्तर पहले शुद्धनयका कथन करते हुए दिया जा चुका है कि शुद्धनय आत्माका शुद्ध, पूर्ण स्वरूप बतलाता है, इसलिये शुद्धनयके द्वारा पूर्णरूप केवलज्ञानका परोक्ष स्वाद आता है। २०३।

अब, 'कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे ज्ञानमें भेद होने पर भी उसके (ज्ञानके) स्वरूपका विचार किया जाये तो ज्ञान एक ही है, और वह ज्ञान ही मोक्षका उपाय है' इस अर्थकी गाथा कहते हैं:—

गाथा २०४

अन्वयार्थ:—[**आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च**] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान [**तत्**] यह [**एकं एव**] एक ही [**पदंभवति**] पद है (क्योंकि ज्ञानके समस्त भेद ज्ञान ही हैं); [**सः एषः परमार्थः**] वह यह परमार्थ है (शुद्धनयका विषयभूत ज्ञान सामान्य ही यह परमार्थ है) [**यं लब्ध्वा**] जिसे प्राप्त करके [**निर्वृतिं याति**] आत्मा निर्वाणको प्राप्त होता है।

टीका:—आत्मा वास्तवमें परमार्थ (परमपदार्थ) है, और वह (आत्मा) ज्ञान है;

मति, श्रुती, अवधी, मनः, केवल सबहि एक हि पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जिव मुक्ती लहे ॥ २०४ ॥

मप्येकमेव पदं, यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकपदमिह भिंदंति ? किं तु तेपीदमेवैकं पदमभिनंदंति। तथाहि-यथात्र सवितुर्घनपटलावगुण्ठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिंदंति। तथा, आत्मनः कर्मपटलोदयावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिद्युः। किं तु प्रत्युत तमभिनंदेयुः। ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यं। तदालंबनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रांतिः, भवत्यात्मलाभः सिद्ध्यत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्म उपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति।

और आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है। यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है। यहाँ मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक पदको नहीं भेदते किन्तु वे भी इसी एक पदका अभिनन्दन करते है (समर्थन करते है।) इसी बात को दृष्टांत पूर्वक समझाते है:—जैसे इस जगतमे बादलोंके पटलसे ढका हुआ सूर्य जो कि बादलोंके विघटन (बिखरने) अनुसार प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके (सूर्यके) प्रकाशनकी (प्रकाश करनेकी) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) प्रकाश स्वभावको नहीं भेदते, इसीप्रकार कर्म पटलके उदयसे ढका हुआ आतमा जो कि कर्मके विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके ज्ञानके हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) ज्ञानस्वभावको नहीं भेदते, प्रत्युत (उलटे) अभिनन्दन करते है। इसलिये जिसमे समस्त भेद दूर हुए है ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञानका ही—आलम्बन करना चाहिये। उसके आलम्बनसे ही निजपदकी प्राप्ति होती है, भ्रान्तिका नाश होता है, आत्माका लाभ होता है, और अनात्माका परिहार सिद्ध होता है: (ऐसा होनेसे) कर्म नहीं, रागद्वेपमोह उत्पन्न नहीं होते, (रागद्वेपमोह के विना) पुन. कर्मास्रव नहीं होता, (आस्रवके विना) पुन कर्म—बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म भुक्त होकर निर्जराको प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मोंका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है। (ऐसे ज्ञानके आलम्बनका ऐसा माहात्म्य है।)

भावार्थ—कर्मके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमे जो भेद हुए हैं वे कहीं ज्ञान सामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञानको प्रगट करते हैं; इसलिये भेदोंको गौण करके, एक ज्ञान सामान्यका आलम्बन लेकर आत्माको ध्यावना, इसीसे सर्वसिद्धि होती है।

अब, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥ १४१ ॥ (शार्दूल०)

किं च—

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि ॥ १४२ ॥ (शार्दूल०)

अर्थः—समस्त पदार्थोंके समूहरूपी रसको पी लेनेकी अतिशयतासे मानों मत्त हो गई हो ऐसी निर्मल से भी निर्मल संवेदनव्यक्ति (ज्ञानपर्याय, अनुभवमें आनेवाले ज्ञानके भेद) अपने आप उछलती है, वह यह भगवान अद्भुत निधिवाला चैतन्य रत्नाकर, ज्ञानपर्यायरूपी तरंगोंके साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा एक होने पर भी अनेक होता हुआ ज्ञानपर्यायरूपी तरंगोंके द्वारा दोलायमान होता है—उछलता है ।

भावार्थः—जैसे अनेक रत्नोंवाला समुद्र एक जलसे ही भरा हुआ है और उसमें छोटी बड़ी अनेक तरंगें उठती रहती है जो कि एक जलरूप ही है, इसीप्रकार अनेक गुणोंका भण्डार यह ज्ञान समुद्र आत्मा एक ज्ञान जलसे ही भरा हुआ है, और कर्मोंके निमित्तसे ज्ञानके अनेक भेद-(व्यक्तिऐं) अपने आप प्रगट होते है उन्हें एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिये, खंड खंडरूप से अनुभव नहीं करना चाहिये ।

अब, इसी बातको विशेष कह है:—

अर्थः—कोई जीव दुष्करतर और मोक्षसे परांङ्मुख कर्मोंके द्वारा स्वयमेव (जिनाज्ञा के विना) क्लेश पाते है तो पाओ, और अन्य कोई जीव (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञामें कथित) महाव्रत और तपके भारसे बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करे तो करो, (किन्तु) जो साक्षात् मोक्ष स्वरूप है, निरामय (भाव रोगादि समस्त क्लेशोंसे रहित) पद है और स्वयं संवेद्यमान है, ऐसे इस ज्ञानको ज्ञानगुणके विना किसी भी प्रकारसे वे प्राप्त नहीं कर सकते ।

भावार्थः—ज्ञान है वह साक्षात् मोक्ष है वह ज्ञानसे ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रिया कांडसे उसकी प्राप्ति नही होती । २०४ ।

अब यही उपदेश गाथा द्वारा कहते हैं: –

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहू वि ण लहंते ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ २०५ ॥

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते ।
तद्गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम् ॥ २०५ ॥

यतो हि सकलेनापि कर्मणा कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात् ज्ञानस्यानुपलंभः । केवलेन ज्ञानेनेव ज्ञान एव ज्ञानस्य प्रकाशनाद् ज्ञानस्योपलंभः । ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानशून्या नेदमुपलभंते । इदमनुपलभमानाश्च कर्मभिर्न मुच्यंते ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टंभेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलभनीयं ।

गाथा २०५

अन्वयार्थः—[**ज्ञानगुणेन विहीनाः**] ज्ञानगुणसे रहित [**बहवः अपि**] बहुतसे लोग (अनेक प्रकारके कर्म करते हुए भी) [**एतत् पदं तु**] इस ज्ञानस्वरूप पदको [**न लभंते**] प्राप्त नहीं करते [**तद्**] इसलिये हे भव्य ! [**यदि**] यदि तू [**कर्मपरिमोक्षं**] कर्मोंसे सर्वथा मुक्ति [**इच्छसि**] चाहता हो तो [**नियतं एतत्**] नियत इस ज्ञानको [**गृहाण**] ग्रहण कर ।

टीका:—कर्ममें (कर्मकाण्डमें) ज्ञानका प्रकाशित होना नहीं होता इसलिये समस्त कर्मसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती ज्ञानमें ही ज्ञानका प्रकाश होता है इसलिये केवल (एक) ज्ञानसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है । इसलिये बहुतसे ज्ञानशून्य जीव बहुतसे कर्म करने पर भी इस ज्ञानपदको प्राप्त नहीं कर पाते और इस पदको प्राप्त न करते हुए वे कर्मोंसे मुक्त नहीं होते इसलिये कर्मोंसे मुक्त होनेके इच्छुकको मात्र ज्ञानके आलम्बनसे यह नियत एक पद प्राप्त करना चाहिये ।

भावार्थ:—ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, कर्मसे नहीं; इसलिये मोक्षार्थीको ज्ञानका ही ध्यान करना ऐसा उपदेश है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

रे ज्ञानगुणसे रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके ।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुझे ॥ २०५ ॥

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं
सहजबोधकलासुलभं किल ।
तत इदं निजबोधकलाबलात्
कलयितुं यततां सततं जगत् ॥ १४३ ॥ (द्रुतविलंबित)

किं च—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६ ॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् ।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम् ॥ २०६ ॥

अर्थः- यह (ज्ञानस्वरूप) पद कर्मोंसे वास्तवमें दुरासद[1] है, और सहज ज्ञानकी कलाके द्वारा वास्तवमे सुलभ है, इसलिये निजज्ञानकी कलाके बलसे इस पदको अभ्यास करने के लिये (अनुभव करनेके लिये) जगत सतत प्रयत्न करो ।

भावार्थः-- समस्त कर्मोंको छुड़ाकर ज्ञानकलाके बल द्वारा ही ज्ञानका अभ्यास करने का आचार्यदेवने उपदेश दिया है। ज्ञानकी 'कला' कहनेसे यह सूचित होता है कि जबतक संपूर्ण कला (केवलज्ञान) प्रगट न हो तबतक ज्ञान हीनकलास्वरूप—मतिज्ञानादिरूप है; ज्ञानकी उस कलाके आलम्बनसे ज्ञानका अभ्यास करनेसे केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण कला प्रगट होती है। २०५।

अब इस गाथामें इसी उपदेशको विशेष कहते हैं:—

गाथा २०६

अन्वयार्थः—(हे भव्य प्राणी !) तू [**एतस्मिन्**] इसमें (ज्ञानमें) [**नित्यं**] नित्य [**रतः**] रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, [**एतस्मिन्**] इसमें [**नित्यं**] नित्य [**संतुष्टः भव**] संतुष्ट हो, और [**एतेन**] इससे [**तृप्तः भव**] तृप्त हो; (ऐसा करनेसे) [**तव**] तुझे [**उत्तमं सौख्यं**] उत्तम सुख [**भविष्यति**] होगा।

---

१ दुरासद=दुष्प्राप्य; न जीता जा सके ऐसा ।

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे ।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे ॥ २०६ ॥

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि। एतावत्येव सत्याशीः, यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव संतोषमुपैहि। एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेव ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि। अथैवं तव नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य, आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति। तत्तु तत्क्षण एव त्वमेवस्वयमेव द्रक्ष्यसि मातिप्राक्षीः।

"अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देव-
श्चिन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते
ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥ १४४ ॥ (उपजाति)

टीका:—(हे भव्य!) इतना ही सत्य (परमार्थस्वरूप) आत्मा है, जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रमे ही सदा ही रति (प्रीति, रुचि) प्राप्त कर, इतना ही सत्य कल्याण है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रसे ही सदा ही संतोषको प्राप्त कर; इतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा ही तृप्ति प्राप्त कर। इसप्रकार सदा ही आत्मामे रत, आत्मासे संतुष्ट और आत्मासे तृप्त ऐसे तुझको वचनअगोचर सुख प्राप्त होगा; और उस सुखको उसी क्षण तू ही स्वयमेव देखेगा, दूसरोसे[1] मत पूछ। (वह सुख अपनेको ही अनुभव गोचर है, दूसरोसे क्यो पूछना पड़ेगा?)

भावार्थ:—ज्ञानमात्र आत्मामे लीन होना उसीसे संतुष्ट होना और उसीसे तृप्त होना परमध्यान है। उससे वर्तमान आनन्दका अनुभव होता है और थोड़े ही समयमे ज्ञानानन्द स्वरूप केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। ऐसा करनेवाला पुरुष ही उस सुखको जानता है, दूसरेका इसमे प्रवेश नहीं है।

अब, ज्ञानानुभवकी महिमाका और आगामी गाथाकी सूचनाका काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—क्योंकि यह (ज्ञानी) स्वयं ही अचिन्त्य शक्तिवाला देव है और चिन्मात्र चिन्तामणि है, इसलिये जिसके सर्व अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हैं ऐसा स्वरूप होनेसे ज्ञानी दूसरे के परिग्रहसे क्या करेगा? (कुछ भी करनेका नहीं है।)

भावार्थ:—यह ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वयं ही अनन्तशक्तिका धारक देव है, और स्वयं ही चैतन्य रूपी चिंतामणि होनेसे वांछित कार्यकी सिद्धि करनेवाला है इसलिये ज्ञानीके सर्व प्रयोजन सिद्ध

---

१. पाठान्तर=अति प्रश्न न कर।

कुतो ज्ञानी परं न परिगृह्णातीति चेत्—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥ २०७ ॥

को नाम भणेद् बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम्।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥ २०७ ॥

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः स तस्य स्वामीति खरतरतत्त्वदृष्टयवष्टंभात् आत्मानमात्मनः परिग्रहं नियमेन विजानाति। ततो न ममेदं स्वं नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति ॥ २०७ ॥

होनेसे उसे अन्य परिग्रहका सेवन करनेसे क्या साध्य है? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं। ऐसा निश्चयनयका उपदेश है। २०६।

अब, प्रश्न करता है कि ज्ञानी परको क्यों ग्रहण नहीं करता? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २०७

अन्वयार्थः—[**आत्मानं तु**] अपने आत्माको ही [**नियतं**] नियमसे [**आत्मनः परिग्रहं**] अपना परिग्रह [**विजानन्**] जानता हुआ [**कः नाम बुधः**] कौनसा ज्ञानी [**भणेत्**] यह कहेगा कि [**इदं परद्रव्यं**] यह परद्रव्य [**मम द्रव्यं**] मेरा द्रव्य [**भवति**] है?

टीका:—जो जिसका स्व भाव है वह उसका 'स्व'[1] है, और वह उसका (स्व भावका) स्वामी है,—इसप्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्वदृष्टिके आलम्बनसे ज्ञानी (अपने) आत्माको ही नियम से आत्माका परिग्रह जानता है। इसलिये "यह मेरा 'स्व' नही है, मैं इसका स्वामी नही हूँ" ऐसा जानता हुआ परद्रव्यका परिग्रह नही करता, (अर्थात् परद्रव्यको अपना परिग्रह नही करता।)

भावार्थ:—यह लोकरीति है कि समझदार—सयाना पुरुष दूसरेकी वस्तुको अपनी नहीं समझता, उसे ग्रहण नही करता; इसीप्रकार परमार्थज्ञानी अपने स्वभावको ही अपना धन समझता है, परके भावको अपना नही जानता, उसे ग्रहण नही करता। इसप्रकार ज्ञानी परका ग्रहण—सेवन नही करता ॥ २०७ ॥

---

१. स्व=धन, मिल्कत; अपनी स्वामित्व की चीज।

परद्रव्य यह मुझ द्रव्य, यों तो कौन ज्ञानीजन कहे।
निज आत्मको निजका परिग्रह, जानता जो नियमसे ॥ २०७ ॥

अतोऽहमपि न तत्परिगृह्णामि—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०८ ॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम् ।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥ २०८ ॥

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृण्हीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात् । अहमप्यवश्यमेवाजीवस्यामुष्य स्वामी स्यां । अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव । एवमवशेनापि ममाजीवत्वमापद्येत । मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी, ततो माभून्ममाजीवत्वं ज्ञातैवाहं भविष्यामि न परद्रव्यं परिगृण्हामि ॥ २०८ ॥

"इसलिये मैं भी परद्रव्यको ग्रहण नहीं करूँगा ।" इसप्रकार अब (मोक्षाभिलाषी जीव) कहता है:—

गाथा २०८

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**परिग्रहः**] परद्रव्य–परिग्रह [**मम**] मेरा हो [**ततः**] तो [**अहम्**] मैं [**अजीवतां तु**] अजीवत्वको [**गच्छेयं**] प्राप्त हो जाऊँ । [**यस्मात्**] क्यों कि [**अहं**] मैं तो [**ज्ञाता एव**] ज्ञाता ही हूँ, [**तस्मात्**] इसलिये [**परिग्रहः**] (परद्रव्यरूप) परिग्रह [**मम न**] मेरा नहीं है ।

टीका:—यदि मैं अजीव परद्रव्यका परिग्रह करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा 'स्व' हो, और मैं भी अवश्य ही उस अजीवका स्वामी होऊँ, और जो अजीवका स्वामी होगा वह वास्तवमें अजीव ही होगा । इसप्रकार अवशत (लाचारीसे) मुझमें अजीवत्व आ पड़े ! मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही जो 'स्व' है, उसीका मैं स्वामी हूँ, इसलिये मुझको अजीवत्व न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, मैं परद्रव्यका परिग्रह नहीं करूँगा ।

भावार्थ:—निश्चयनयसे यह सिद्धान्त है कि जीवका भाव जीव ही है, उसके साथ जीवका स्व–स्वामी संबंध है । और अजीवका भाव अजीव ही है, उसके साथ अजीवका स्व–स्वामी संबंध है । यदि जीवके अजीवका परिग्रह माना जाय तो जीव अजीवत्वको प्राप्त हो

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूं अरे ।
मैं नियमसे ज्ञाता हि, इससे नहिं परिग्रह मुझ बने ॥ २०८ ॥

अयं च मे निश्चयः—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०९ ॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयम् ।
यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम ॥ २०९ ॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वा विप्रलयं यातु वा यतस्ततो गच्छतु वा तथापि न परद्रव्यं परिगृण्हामि । यतो न परद्रव्यं मम स्वं नाहं परद्रव्यस्य स्वामी । परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी । अहमेव मम स्वं अहमेव मम स्वामीति जानामि ।

जाय । इसलिये परमार्थतः जीवके अजीवका परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है । ज्ञानीके ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती । ज्ञानी तो यह मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मै तो ज्ञाता हूँ ॥ २०८ ॥

"और मेरा तो यह (निम्नोक्त) निश्चय है" यह कहते हैः—

गाथा २०९

अन्वयार्थः—[छिद्यतां वा] छिद जाये, **[भिद्यतां वा]** अथवा भिद जाये, **[नीयतां वा]** अथवा कोई ले जाये, **[अथवा विप्रलयं यातु]** अथवा नष्ट हो जाये, **[यस्मात् तस्मात् गच्छतु]** अथवा चाहे जिसप्रकारसे चला जाये, **[तथापि]** फिर भी **[खलु]** वास्तवमें **[परिग्रहः]** परिग्रह **[मम न]** मेरा नहीं है ।

टीकाः—परद्रव्य छिदे, अथवा भिदे, अथवा कोई उसे ले जाये, अथवा वह नष्ट हो जाये, या चाहे जिसप्रकारसे जाये, तथापि मै परद्रव्यको परिग्रहण नहीं करूँगा; क्योंकि 'परद्रव्य मेरा स्व नही है,—मै परद्रव्यका स्वामी नही हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्यका स्व है,—परद्रव्य ही परद्रव्यका स्वामी है, मै ही अपना स्व हूँ,—मै ही अपना स्वामी हूँ' —ऐसा मै जानता हूँ ।

भावार्थः—ज्ञानीको परद्रव्यके बिगड़ने–सुधरनेका हर्ष–विषाद नही होता ।

अब, इस अर्थका कलशरूप और आगामी कथनका सूचनारूप काव्य कहते हैः—

छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट, बनो भले ।
या अन्य को रित जाय, परपरिग्रह न मेरा है अरे ॥ २०९ ॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥ १४५ ॥ (वसंततिलका)

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१० ॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम् ।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २१० ॥

---

*अर्थः—इसप्रकार समस्त परिग्रहको सामान्यतः छोडकर अब स्व–परके अविवेकके कारणरूप अज्ञानको छोड़नेका जिनका मन है ऐसा यह पुनः उसीको (परिग्रहको ही) विशेषतः छोड़नेको प्रवृत्त हुआ है ।

भावार्थः—स्वपरको एकरूप जाननेका कारण अज्ञान है । उस अज्ञानको सम्पूर्णतया छोड़नेके इच्छुक जीवने पहले तो परिग्रहका सामान्यत. त्याग किया, और अब (आगामी गाथाओंमे) उस परिग्रहको विशेषतः (भिन्न भिन्न नाम लेकर) छोड़ता है ॥ २०६ ॥

पहले यह कहते है कि ज्ञानीके धर्मका (पुण्यका) परिग्रह नहीं है:—

गाथा २१०

अन्वयार्थः—[**अनिच्छः**] अनिच्छुकको [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है, [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**धर्मं**] धर्मको (पुण्यको) [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह [**धर्मस्य**] धर्मका [**अपरिग्रहः तु**] परिग्रही नहीं है, (किंतु) [**ज्ञायकः**] (धर्मका) ज्ञायक ही [**भवति**] है ।

---

* इस कलशका अर्थ इसप्रकार भी है—इसप्रकार स्व-परके अविवेकके कारणरूप समस्त परिग्रहको सामान्यत. छोड़कर अब, जिसका मन अज्ञानको छोड़नेका है वह पुनः उसीको विशेषतः छोड़नेको प्रवृत्त हुआ है ।

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानिके ।
इससे न परिग्रहि पुण्यका, वो पुण्यका ज्ञायक रहे ॥ २१० ॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छात्वज्ञानमयो भावः। अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति। ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् धर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद् धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्॥ २१०॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि॥ २११॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मम्।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति॥ २११॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छात्वज्ञानमयो

टीका:—इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है—जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिये अज्ञानमयभाव—इच्छाके अभाव होनेसे ज्ञानी धर्मको नहीं चाहता, इसलिये ज्ञानी के धर्मका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) धर्मका केवल ज्ञायक ही है। २१०।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानीके अधर्मका (पापका) परिग्रह नहीं है:—

गाथा २११

अन्वयार्थ:—[**अनिच्छः**] अनिच्छकको [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है, [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अधर्मं**] अधर्मको (पापको) [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह [**अधर्मस्य**] अधर्मका [**अपरिग्रहः**] परिग्रही नहीं है, (किंतु) [**ज्ञायकः**] (अधर्मका) ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीका—इच्छा परिग्रह है उसको परिग्रह नहीं है जिसके इच्छा नहीं है,—इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है, इसलिये अज्ञानमय भाव—इच्छाके अभाव होनेसे ज्ञानी अधर्मको नहीं चाहता, इस-

---

अनिछक कहा अपरिग्रही, नहिं पाप इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि पापका, वो पापका ज्ञायक रहे॥ २११॥

भावः। अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति। ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् अधर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनः अधर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्। एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्म-मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशाऽन्यान्यप्यूह्यानि॥ २११॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि॥ २१२॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यशनम्।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति॥ २१२॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छात्वज्ञानमयो

लिये ज्ञानीके अधर्मका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) अधर्मका केवल ज्ञायक ही है। इसीप्रकार गाथामे 'अधर्म' शब्द बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, और स्पर्शन—यह सोलह शब्द रखकर सोलह गाथा सूत्र व्याख्यानरूप करना, और इस उपदेशसे दूसरे भी विचार करना चाहिये। २११।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानीके आहारका भी परिग्रह नही है:—

गाथा २१२

अन्वयार्थः—[**अनिच्छः**] अनिच्छकको [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अशनं**] भोजनको [**न इच्छति**] नहीं चाहता [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह [**अशनस्य**] भोजनका [**अपरिग्रहः तु**] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [**ज्ञायकः**] (भोजनका) ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीका:—इच्छा परिग्रह है उसको परिग्रह नहीं है—जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिये अज्ञानमय भाव—इच्छाके अभावके कारण ज्ञानी भोजनको नहीं चाहता, इस-

---

अनिछक कहा अपरिग्रही, नहिं अशन इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि अशनका, वो अशनका ज्ञायक रहे॥ २१२॥

भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् अशनं नेच्छति । तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशनस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ॥ २१२ ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१३ ॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम् ।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २१३ ॥

लिये ज्ञानीके भोजनका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) भोजनका केवल ज्ञायक ही है।

भावार्थः—ज्ञानीके आहारकी भी इच्छा नहीं होती, इसलिये ज्ञानीका आहार करना वह भी परिग्रह नहीं है। यहाँ प्रश्न होता है कि आहार तो मुनि भी करते हैं; उनके इच्छा है या नहीं? इच्छाके विना आहार कैसे किया जा सकता है? समाधानः—असातावेदनीय कर्मके उदयसे जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यान्तरायके उदयसे उसकी वेदना सहन नहीं की जा सकती और चारित्र मोहके उदयसे आहार ग्रहणकी इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छाको ज्ञानी कर्मोदयका कार्य जानते है, और उसे रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं। ज्ञानीके इच्छाके प्रति अनुरागरूप इच्छा नहीं होती, अर्थात् उसके ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे। इसलिये उसके अज्ञानमय इच्छाका अभाव है। परजन्य इच्छाका स्वामित्व ज्ञानीके नहीं होता, इसलिये ज्ञानी इच्छाका भी ज्ञायक ही है। इसप्रकार शुद्धनयकी प्रधानतासे कथन जानना चाहिये ॥ २१२ ॥

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के पानी इत्यादिके पीनेका भी परिग्रह नहीं हैः—

गाथा २१३

अन्वयार्थः—[अनिच्छः] अनिच्छकको [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है, [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [पानं] पानको (पेयको) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिये [सः] वह [पानस्य] पानका

अनिछक कहा अपरिग्रही, नहिं पान इच्छा ज्ञानिके ।
इससे न परिग्रहि पानका, वो पानका ज्ञायक रहे ॥ २१३ ॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति । तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात् ॥ २१३ ॥

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥ २१४ ॥

एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी ।
ज्ञायकभावो नियतो निरालंबस्तु सर्वत्र ॥ २१४ ॥

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति

[**अपरिग्रहः तु**] परिग्रही नहीं, किन्तु [**ज्ञायकः**] (पानका) ज्ञायक ही [**भवति**] है ।

टीका:—इच्छा परिग्रह है । उसको परिग्रह नहीं है, कि जिसको इच्छा नहीं है इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानीके नहीं होता ज्ञानीके ज्ञानमयभाव ही होता है; इसलिये अज्ञानमय भाव जो इच्छा उसके अभावसे ज्ञानी पानको (पानी इत्यादि पेयको) नहीं चाहता; इसलिये ज्ञानीके पानका परिग्रह नहीं है । ज्ञानमय एक ज्ञायक भावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) पानका केवल ज्ञायक ही है ।

भावार्थ:— आहारकी गाथाके भावार्थकी भाँति यहाँ भी समझना चाहिये ॥ २१३ ॥

ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रकारके परजन्य भावोंको ज्ञानी नहीं चाहता, यह कहते हैं:—

गाथा २१४

अन्वयार्थः—[**एवमादिकान् तु**] इत्यादिक [**विविधान्**] अनेक प्रकारके [**सर्वान् भावान् च**] सर्व भावोंको [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**सर्वत्र निरालम्बः तु**] सर्वत्र (सभीमें) निरालम्ब वह [**नियतः ज्ञायकभावः**] निश्चित ज्ञायक भाव ही है ।

टीका:—इत्यादिक अन्य भी अनेक प्रकारके जो परद्रव्यके स्व भाव हैं उन सभी को

ये आदि विध विध भाव बहु, ज्ञानी न इच्छे सर्वको ।
सर्वत्र आलंबनरहित बस, नियत ज्ञायकभाव वो ॥ २१४ ॥

ज्ञानी तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यंतनिष्परिग्रहत्वं । अथैवमयमशेषभावांतरपरिग्रहशून्यत्वात् उद्वांतसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यंतनिरालंबो भूत्वा प्रतिनियतटंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मानमनुभवति ।

> **पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्**
> **ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।**
> **तद्भवत्वथ च रागवियोगात्**
> **नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४६॥** (स्वागता)

ज्ञानी नहीं चाहता, इसलिये ज्ञानीके समस्त परद्रव्यके भावोंका परिग्रह नहीं है। इसप्रकार ज्ञानीके अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ।

अब इसप्रकार, समस्त अन्य भावोंके परिग्रहसे शून्यत्वके कारण जिसने समस्त अज्ञानका वमन कर डाला है ऐसा यह (ज्ञानी), सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर, नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव रहता हुआ साक्षात् विज्ञानघन आत्माका अनुभव करता है।

भावार्थः—पुण्य, पाप, अशन, पान इत्यादि समस्त अन्य भावोंका ज्ञानीको परिग्रह नहीं है, क्योंकि समस्त परभावोंको हेय जाने तब उसकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं होती।*

अब आगामी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं :—

अर्थः—पूर्वबद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण ज्ञानीके यदि उपभोग हो तो हो, परन्तु रागके वियोग (अभाव) के कारण वास्तवमें वह उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थः—पूर्वबद्ध कर्मोदयसे उपभोग सामग्री प्राप्त होती है, यदि उसे अज्ञानमय रागभावसे भोगा जावे तो वह उपभोग परिग्रहत्वको प्राप्त हो। परन्तु ज्ञानीके अज्ञानमय रागभाव नहीं होता। वह जानता है कि जो पहले बांधा था वह उदयमें आगया और छूट गया है; अब मैं उसे भविष्यमें नहीं चाहता। इसप्रकार ज्ञानीके रागरूप इच्छा नहीं है इसलिये उसका उपभोग परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता ॥ २१४ ॥

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानीके त्रिकाल सम्बन्धी परिग्रह नहीं है :—

---

*पहले मोक्षाभिलाषी सर्व परिग्रहको छोड़नेके लिये प्रवृत्त हुआ था, उसने इस गाथा तकमें समस्त परिग्रहभावको छोड़ दिया, और इसप्रकार समस्त अज्ञानको दूर कर दिया तथा ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव किया।

उप्पण्णोदयभोगो वियोगबुद्धिए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥ २१५ ॥

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम् ।
कांक्षामनागतस्य च उदयस्य न करोति ज्ञानी ॥ २१५ ॥

कर्मोदयोपभोगस्तावत् अतीतः प्रत्युत्पन्नोनागतो वा स्यात् । तत्रातीतस्तावत् अतीतत्वादेव स न परिग्रहभावं बिभर्ति । अनागतस्तु आकांक्ष्यमाण एव परिग्रहभावं बिभृयात् । प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमान एव तथा स्यात् । नच प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्टः, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्य रागबुद्धेरभावात् । वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात् । ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् । अनागतस्तु स किल

गाथा २१५

अन्वयार्थः—**[उत्पन्नोदयभोगः]** जो उत्पन्न (वर्तमान कालके) उदयका भोग है **[सः]** वह, **[तस्य]** ज्ञानीके **[नित्यं]** सदा **[वियोगबुद्ध्या]** वियोग बुद्धिसे होता है **[च]** और **[अनागतस्य उदयस्य]** आगामी उदयकी **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[कांक्षां]** वाञ्छा **[न करोति]** नहीं करता ।

टीका:—कर्मके उदयका उपभोग तीन प्रकारका होता है—अतीत, वर्तमान और भविष्य कालका । इनमेसे पहला जो अतीत उपभोग है वह अतीतता (व्यतीत होचुका होने) के कारण ही परिग्रहभावको धारण नही करता । भविष्यका उपभोग यदि वांछामें आता हो तो ही वह परिग्रहभावको धारण करता है, और जो वर्तमान उपभोग है वह यदि रागबुद्धिसे हो रहा हो तो ही परिग्रहभावको धारण करता है ।

वर्तमान उपभोग ज्ञानीके. रागबुद्धिमे प्रवर्तमान दिखाई नहीं देता, क्योंकि ज्ञानीके अज्ञानमयभाव जो रागबुद्धि उसका अभाव है. और केवल वियोगबुद्धि (हेयबुद्धि) से ही प्रवर्तमान वह, वास्तवमे परिग्रह नही है । इसलिये वर्तमान कर्मोदय - उपभोग ज्ञानीके परिग्रह नहीं है (परिग्रहरूप नही है ।)

अनागत उपभोग तो वास्तवमे ज्ञानीके वाछित ही नहीं है, (अर्थात् ज्ञानीको उसकी इच्छा ही नहीं होती) क्योंकि ज्ञानीके अज्ञानमय भाव—वाछाका अभाव है । इसलिये अनागत

सांप्रत उदयके भोगमें जु वियोगबुद्धी ज्ञानिके ।
अरु भावि कर्मविपाककी, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे ॥ २१५ ॥

ज्ञानिनो कांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकांक्षाया अभावात्। ततोनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् ॥ २१५ ॥

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत्—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखइ कयावि ॥ २१६ ॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयम्।
तद्ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदापि ॥ २१६ ॥

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदकभावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्विभावभावानां क्षणिकौ भवतः।

कर्मोदय - उपभोग ज्ञानीके परिग्रह नहीं है, (परिग्रहरूप नहीं है।)

भावार्थः—अतीत कर्मोदय-उपभोग तो व्यतीत ही हो चुका है, अनागत उपभोगकी वांछा नहीं है; क्योंकि ज्ञानी जिस कर्मको अहितरूप जानता है उसके आगामी उदयके भोग की वांछा क्यों करेगा? वर्तमान उपभोगके प्रति राग नहीं है; क्योंकि वह जिसे हेय जानता है उसके प्रति राग कैसे हो सकता है? इसप्रकार ज्ञानीके जो त्रिकालसंबंधी कर्मोदयका उपभोग है वह परिग्रह नहीं है। ज्ञानी वर्तमानमें जो उपभोगके साधन एकत्रित करता है वह तो जो पीड़ा नहीं सही जा सकती उसका उपचार करता है,-जैसे रोगी रोगका उपचार करता है। यह अशक्तिका दोष है ॥ २१५ ॥

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानी अनागत कर्मोदय-उपभोगकी वांछा क्यों नहीं करता? उसका उत्तर यह है:—

गाथा २१६

अन्वयार्थः—[**यः वेदयते**] जो भाव वेदन करता है (अर्थात् वेदकभाव) और [**वेद्यते**] जो भाव वेदन किया जाता है (अर्थात् वेद्यभाव) [**उभयं**] वे दोनों भाव [**समये समये**] समय समय पर [**विनश्यति**] नष्ट हो जाते हैं— [**तद्ज्ञायकः तु**] ऐसा जानने वाला [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**उभयं अपि**] उन दोनों भावोंकी [**कदापि**] कभी भी [**न कांक्षति**] वांछा नहीं करता।

टीकाः—ज्ञानी तो, स्वभावभावका ध्रुवत्व होनेसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावस्वरूप नित्य

रे वेद्यवेदक भाव दोनों, समय समय विनष्ट है।
ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभयकी कांक्षा करे ॥ २१६ ॥

तत्र यो भावः कांक्षमाणं वेद्यभावं वेदयते स यावद्भवति तावत्कांक्षमाणो वेद्यो भावो विनश्यति। तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं वेदयते? यदि कांक्षमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते। तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति। कस्तं वेदयते? यदि वेदकभावपृष्ठभावी भावोन्यस्तं वेदयते तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति। किं स वेदयते? इति कांक्षमाणभाववेदनानवस्था, तां च विजानन् ज्ञानी न किंचिदेव कांक्षति—

है; और जो वेद्य - वेदक (दो) भाव है वे, विभाव भावोंका उत्पन्न - विनाशत्व होनेसे, क्षणिक हैं। वहाँ, जो भाव कांक्षमाण (अर्थात् वांछा करनेवाला) ऐसे वेद्यभावका वेदन करता है अर्थात् वेद्यभावका अनुभव करनेवाला है वह (वेदकभाव) जब तक उत्पन्न होता है तब तक कांक्षमाण वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है, उसके विनष्ट हो जाने पर वेदकभाव किसका वेदन करेगा? यदि यह कहा जाये कि कांक्षमाण वेद्यभावके बाद उत्पन्न होने वाले अन्य वेद्यभावका वेदन करता है, तो—उस अन्य वेद्यभावके उत्पन्न होनेसे पूर्व ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है; तब फिर उस दूसरे वेद्यभावका कौन वेदन करेगा? यदि यह कहा जाये कि वेदकभावके बाद उत्पन्न होने वाला दूसरा वेदकभाव उसका वेदन करता है, तो—उस दूसरे वेदकभावके उत्पन्न होनेसे पूर्व ही वह वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; तब फिर वह दूसरा वेदकभाव किसका वेदन करेगा? इसप्रकार कांक्षमाण भावके वेदनकी अनवस्था है; उसे जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता।

भावार्थ—वेदकभाव और वेद्यभाव मे कालभेद है। जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता। जब वेदकभाव आता है तब वेद्यभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव किसका वेदन करेगा? और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव विनष्ट हो चुकता है, तब फिर वेदकभावके विना वेद्यका कौन वेदन करेगा? ऐसी अव्यवस्थाको जानकर ज्ञानी स्वयं ज्ञाता ही रहता है, वांछा नहीं करता।

यहाँ प्रश्न होता है कि—आत्मा तो नित्य है, इसलिये वह दोनों भावोंका वेदन कर सकता है, तब फिर ज्ञानी वांछा क्यों न करे? समाधान.—वेद्य - वेदक भाव विभावभाव हैं, स्वभावभाव नहीं, इसलिये वे विनाशीक हैं, अत. वाछा करने वाला वेद्यभाव जबतक आता है तब तक वेदकभाव (भोगने वाला भाव) नष्ट हो जाता है; और दूसरा वेदक भाव आये तब तक वेद्यभाव नष्ट हो जाता है; इसप्रकार वांछित भोग नहीं होता। इसलिये ज्ञानी निष्फल वांछा क्यों करे? जहाँ मनोवाछितका वेदन नहीं होता वहाँ वांछा करना अज्ञान है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं.—

अर्थ:—वेद्य - वेदकरूप विभाव भावोंकी चलता (अस्थिरता) होनेसे वास्तवमें

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्
वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान्
सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥ १४७ ॥ (स्वागता)

तथा हि—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥ २१७ ॥

बंधोपभोगनिमित्तेषु, अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः ।
संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥ २१७ ॥

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेपि शरीरविषयाः । तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बंधनिमित्ताः यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः ।

वांछितका वेदन नहीं होता; इसलिये ज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करता, सबके प्रति अत्यन्त विरक्तताको (वैराग्यभावको) प्राप्त होता है ।

भावार्थः— अनुभवगोचर वेद्य - वेदक विभावोंमें काल भेद है, उनका मिलाप नहीं होता, (क्योंकि वे कर्मके निमित्तसे होते हैं इसलिये अस्थिर हैं); इसलिये ज्ञानी आगामी काल सम्बन्धी वांछा क्यों करे ? ॥ २१६ ॥

इसप्रकार ज्ञानीको सर्व उपभोगोंके प्रति वैराग्य है, यह कहते हैं: --

गाथा २१७

अन्वयार्थः—[**बंधोपभोगनिमित्तेषु**] बंध और उपभोगके निमित्तभूत [**संसारदेहविषयेषु**] संसार संबंधी और देह सम्बन्धी [**अध्यवसानोदयेषु**] अध्यवसानके उदयोंमें [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके [**रागः**] राग [**न एव उत्पद्यते**] उत्पन्न नहीं होता ।

टीकाः- इस लोकमें जो अध्यवसानके उदय हैं वे कितने ही तो संसार संबंधी हैं और कितने ही शरीर सम्बन्धी हैं । उनमेंसे जितने संसार सम्बन्धी हैं, उतने बंधके निमित्त हैं, और जितने शरीर सम्बन्धी हैं उतने उपभोगके निमित्त हैं । जितने बंधके निमित्त हैं उतने तो

संसारतनसंबंधि, अरु बंधोपभोग निमित्त जो ।
उन सर्व अध्यवसान उदय जु, राग होय न ज्ञानिको ॥ २१७ ॥

यतरे बंधनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः । यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः । अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः । नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात् ।

"ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं
कर्म रागरसरिक्ततयैति
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे
स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥ १४८ ॥ (स्वागता)
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १४९ ॥ (स्वागता)

रागद्वेष मोहादिक है, और जितने उपभोगके निमित्त है उतने सुख-दुःखादिक हैं। इन सभीमे ज्ञानीके राग नहीं है, क्योंकि वे सभी नाना द्रव्योंके स्वभाव हैं इसलिये, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाववाले ज्ञानीके उनका निषेध है।

भावार्थः—जो अध्यवसानके उदय संसार सम्बन्धी हैं और बंधके निमित्त हैं वे तो राग, द्वेष, मोह इत्यादि हैं तथा जो अध्यवसानके उदय देह सम्बन्धी हैं और उपभोगके निमित्त हैं वे सुख-दुःख इत्यादि हैं। वे सभी (अध्यवसानके उदय) नाना द्रव्योके (अर्थात् पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य जो कि संयोगरूप हैं, उनके) स्वभाव है। ज्ञानीका तो एक ज्ञायकस्वभाव है, इसलिये ज्ञानीके उनका निषेध है; अतः ज्ञानीको उनके प्रति राग या प्रीति नहीं है। परद्रव्य, परभाव संसारमे भ्रमणके कारण है। यदि उनके प्रति प्रीति करे तो ज्ञानी कैसा ?

अब, इस अर्थका कलशरूप और आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं :—

अर्थः—जैसे लोध और फिटकरी इत्यादिसे जो कसायला नहीं किया गया हो, ऐसे वस्त्रमें रंगका संयोग वस्त्रके द्वारा अंगीकार न किया जानेसे ऊपर ही लौटता है (रह जाता है)—वस्त्रके भीतर प्रवेश नहीं करता, इसीप्रकार ज्ञानी रागरूपी रससे रहित है इसलिये उसे कर्म, परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थः—जैसे लोध और फिटकरी इत्यादिके लगाये बिना वस्त्रमें रंग नहीं चढ़ता उसीप्रकार रागभावके बिना ज्ञानीके कर्मोदयका भोग परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता।

अब पुनः कहते हैं कि :—

अर्थः—क्योंकि ज्ञानी निजरससे ही सर्व राग रसके त्यागरूप स्वभाव वाला है इस-

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥ २१८ ॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥ २१९ ॥

ज्ञानी रागप्रहायकः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकम् ॥ २१८ ॥
अज्ञानी पुना रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहम् ॥ २१९ ॥

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते तदलेप-स्वभावत्वात् तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्यते सर्वपर-

---

लिये वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी सर्व कर्मों से लिप्त नहीं होता ॥ २१७ ॥

अब इसी अर्थका विवेचन गाथाओं द्वारा करते हैं:—

गाथा २१८-२१९

अन्वयार्थः—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**सर्वद्रव्येषु**] जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति [**रागप्रहायकः**] रागको छोड़ने वाला है वह [**कर्ममध्यगतः**] कर्मोंके मध्यमें रहा हुवा हो [**तु**] तो भी [**रजसा**] कर्मरूपी रजसे [**नो लिप्यते**] लिप्त नहीं होता,—[**यथा**] जैसे [**कनकं**] सोना [**कर्दममध्ये**] कीचड़के बीच पड़ा हुवा हो तो भी लिप्त नहीं होता। [**पुनः**] और [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**सर्वद्रव्येषु**] जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति [**रक्तः**] रागी है वह [**कर्ममध्यगतः**] कर्मोंके मध्य रहाहुवा [**कर्मरजसा**] कर्मरजसे [**लिप्यते तु**] लिप्त होता है,—[**यथा**] जैसे [**लोहं**] लोहा [**कर्दममध्ये**] कीचड़के बीच रहा हुआ लिप्त हो जाता है। (अर्थात् उसे जंग लग जाती है।)

टीका:—जैसे वास्तवमें सोना कीचड़के बीच पड़ा हो तो भी वह कीचड़से लिप्त नहीं

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्यमें।
पर कर्मरजसे लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दम मध्यमें ॥ २१८ ॥
पर द्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्यमें।
वह कर्मरजसे लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दम मध्यमें ॥ २१९ ॥

द्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभावत्वात्। यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्यगतः सन् कर्मणा लिप्यते सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात्।

याद्दक् ताद्दगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्याद्दशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥१५०॥ (शार्दूल०)

होता (अर्थात् उसे जंग नही लगती) क्योंकि उसका स्वभाव अलिप्त रहना है, इसी प्रकार वास्तवमे ज्ञानी कर्मोंके मध्य रहा हुवा हो तथापि वह उनसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि सर्व परद्रव्योके प्रति किये जानेवाला राग उसका त्यागरूप स्वभावपना होनेसे ज्ञानी अलिप्त स्वभावी है। जैसे कीचड़के वीच पड़ा हुआ लोहा कीचड़से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमे जंग लग जाती है) क्योकि उसका स्वभाव लिप्त होना है, इसीप्रकार वास्तवमे अज्ञानी कर्मोंके मध्य रहा हुआ कर्मोंसे लिप्त हो जाता है क्योकि सर्व परद्रव्योके प्रति किये जानेवाला राग उसका ग्रहणरूप स्वभावपना होनेसे अज्ञानी लिप्त होनेके स्वभाववाला है।

भावार्थः—जैसे कीचड़मे पड़े हुए सोनेको जंग नहीं लगती और लोहेको लग जाती है, इसीप्रकार कर्मों के मध्य रहा हुआ ज्ञानी कर्मों से नहीं बँधता तथा अज्ञानी बँध जाता है। यह ज्ञान-अज्ञानकी महिमा है।

अव इस अर्थका और आगामी कथनका सूचक कलशरूप काव्य कहते है :—

अर्थः—इस लोकमे जिस वस्तुका जैसा स्वभाव होता है उसका वैसा स्वभाव उस वस्तुके अपने वशसे ही (अपने आधीन ही) होता है। वस्तुका ऐसा स्वभाव परवस्तुओंके द्वारा किसी भी प्रकारसे अन्य जैसा नहीं किया जा सकता। इसलिये जो निरंतर ज्ञानरूप परिणमित होता है वह कभी भी अज्ञान नही होता; इसलिये हे ज्ञानी ! तू (कर्मोदय जनित) उपभोगको भोग, इस जगतमे परके अपराधसे उत्पन्न होने वाला वन्ध तुझे नहीं है, (अर्थात् परके अपराधसे तुझे वन्ध नहीं होता।)

भावार्थ—वस्तुका स्वभाव वस्तुके अपने आधीन ही है। इसलिये जो आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमित होता है, उसे परद्रव्य अज्ञानरूप कभी भी परिणमित नहीं करा सकता। ऐसा होनेसे यहाँ ज्ञानीसे कहा है कि—तुझे परके अपराधसे वन्ध नहीं होता; इसलिये तू उपभोगको भोग। तू ऐसी शंका मत कर कि उपभोगके भोगनेसे मुझे वन्ध होगा। यदि ऐसी शंका करेगा तो 'परद्रव्यसे आत्माका वुरा होता है' ऐसी मान्यताका प्रसंग आ जायेगा।—

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्हगो काउं ॥ २२० ॥

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥ २२१ ॥

जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥ २२२ ॥

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥ २२३ ॥

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुम् ॥ २२० ॥

तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।
भुंजानस्यापि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुम् ॥ २२१ ॥

यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय ।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥ २२२ ॥

तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय ।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ॥ २२३ ॥

—इसप्रकार यहाँ परद्रव्यसे अपना बुरा होना माननेकी जीवकी शंका मिटाई है; यह नहीं समझना चाहिये कि भोग भोगनेकी प्रेरणा करके स्वच्छन्द कर दिया है। स्वेच्छाचारी होना तो अज्ञानभाव है यह आगे कहेंगे। २१८–२१९।

ज्यों शंखविविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तू भोगते।
पर शंखके शुक्लत्वको नहिं, कृष्ण कोई कर सके ॥ २२० ॥
त्यों ज्ञानि भी मिश्रित, सचित्त, अचित्त वस्तू भोगते।
पर ज्ञान ज्ञानीका नहीं, अज्ञान कोई कर सके ॥ २२१ ॥
जबही स्वयं वो शंख, तजकर स्वीय श्वेत स्वभावको।
पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्वको ॥ २२२ ॥
त्यों ज्ञानि भी जब ही स्वयं निज, छोड ज्ञानस्वभावको।
अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानताको प्राप्त हो ॥ २२३ ।

यथा खलु शंखस्य परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। तथा किल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बंधः। यथा च यदा स एव शंखः परद्रव्य-

---

अब इसी अर्थको दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं:—

गाथा २२०-२२१-२२२-२२३

अन्वयार्थः—[**शंखस्य**] जैसे शंख [**विविधानि**] अनेक प्रकारके [**सचित्ताचित्तमिश्रितानि**] सचित्त, अचित्त और मिश्र [**द्रव्याणि**] द्रव्योंको [**भुंजानस्य अपि**] भोगता है—खाता है तथापि [**श्वेतभावः**] उसका श्वेतभाव [**कृष्णकः कर्तुं न अपि शक्यते**] (किसीके द्वारा) काला नहीं किया जा सकता, [**तथा**] इसीप्रकार [**ज्ञानिनः अपि**] ज्ञानी भी [**विविधानि**] अनेक प्रकारके [**सचित्ताचित्तमिश्रितानि**] सचित्त, अचित्त और मिश्र [**द्रव्याणि**] द्रव्योंको [**भुंजानस्य अपि**] भोगे तथापि उसके [**ज्ञानं**] ज्ञानको [**अज्ञानतां नेतुं नशक्यं**] (किसीके द्वारा) अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता।

[**यदा**] जब [**सः एव शंखः**] वही शंख (स्वयं) [**तकं श्वेतस्वभावं**] उस श्वेत स्वभावको [**प्रहाय**] छोड़कर [**कृष्णभावं गच्छेत्**] कृष्णभावको प्राप्त होता है (कृष्णरूप परिणमित होता है) [**तदा**] तब] **शुक्लत्वं प्रजह्यात्**] शुक्लत्वको छोड़ देता है (अर्थात् काला हो जाता है), [**तथा**] इसीप्रकार [**खलु**] वास्तवमें [**ज्ञानी अपि**] ज्ञानी भी (स्वयं) [**यदा**] जब [**तकं ज्ञानस्वभावं**] उस ज्ञानस्वभावको [**प्रहाय**] छोड़कर [**अज्ञानेन**] अज्ञानरूप [**परिणतः**] परिणमित होता है, [**तदा**] तब [**अज्ञानतां**] अज्ञानताको [**गच्छेत्**] प्राप्त होता है।

टीकाः—जैसे यदि शंख परद्रव्यको भोगे—खाये तथापि उसका श्वेतपन अन्यके द्वारा काला नहीं किया जा सकता क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्यको परभावस्वरूप करनेका निमित्त (कारण) नहीं हो सकता, इसीप्रकार यदि ज्ञानी परद्रव्यको भोगे तो भी उसका ज्ञान अन्यके द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्यको परभावस्वरूप

भुंपभुजानोऽनुपभुंजानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः स्यात् । तथा यदा स एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुंजानो-ऽनुपभुंजानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमेत तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात् । ततो ज्ञानिनो यदि स्वापराधनिमित्तो बंधः ।

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः ।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥१५१॥ (शार्दूल०)

करनेका निमित्त नहीं हो सकता । इसलिये ज्ञानीको दूसरेके अपराधके निमित्तसे बंध नहीं होता ।

और जब वही शंख परद्रव्यको भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, श्वेतभावको छोड़कर स्वयमेव कृष्णरूप परिणमित होता है तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव होता है। (स्वयमेव किये गये कृष्णभावरूप होता है); इसीप्रकार जब वही ज्ञानी परद्रव्यको भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, ज्ञानको छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान होता है। इसलिये ज्ञानीके यदि बंध हो तो वह अपने ही अपराधके निमित्तसे (स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित हो तब) होता है।

भावार्थः—जैसे श्वेत शंख परके भक्षणसे काला नहीं होता किंतु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है तब काला हो जाता है, इसीप्रकार ज्ञानी परके उपभोगसे अज्ञानी नहीं होता किन्तु जब स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित होता है तब अज्ञानी होता है, और तब बंध करता है।

अर्थः—हे ज्ञानी ! तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है, तथापि यदि तू यह कहे कि "परद्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ" तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई तू खराब प्रकारसे भोगनेवाला है,—जो तेरा नहीं है उसे तू भोगता है यह महा खेद की बात है ! यदि तू कहे कि "सिद्धान्तमें यह कहा है कि परद्रव्यके उपभोगसे बंध नहीं होता; इसलिये भोगता हूँ", तो क्या तुझे भोगनेकी इच्छा है ? तू ज्ञानरूप होकर (शुद्धस्वरूपमें) निवास कर, अन्यथा (यदि भोगनेकी इच्छा करेगा—अज्ञानरूप परिणमित होगा तो) तू निश्चयतः अपने अपराधसे बंधको प्राप्त होगा।

भावार्थ—ज्ञानीको कर्म तो करना ही उचित नहीं है। यदि परद्रव्य समझकर भी उसे भोगे तो यह योग्य नहीं है। परद्रव्यके भोक्ताको तो जगतमें चोर कहा जाता है, अन्यायी कहा

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२॥ (शार्दूल०)

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।
तो सोवि देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२४ ॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२५ ॥

जाता है। और जो उपभोगसे बंध नहीं कहा सो तो, ज्ञानी इच्छाके बिना ही परकी प्रबलतासे उदयमें आये हुएको भोगता है वहाँ उसे बन्ध नहीं कहा। यदि वह स्वयं इच्छासे भोगे तब तो स्वयं अपराधी हुवा, और तब उसे बन्ध क्यों न हो?

अब आगेकी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—कर्म ही उसके कर्ताको अपने फलके साथ बलात् नहीं जोड़ता (कि तू मेरे फलको भोग), फलकी इच्छावाला ही कर्मको करता हुआ कर्मके *फलको पाता है; इसलिये ज्ञानरूप रहता हुआ और जिसने कर्मके प्रति रागकी रचना दूर की है ऐसा मुनि, कर्मफलके परित्यागरूप ही एक स्वभाववाला होनेसे, कर्म करता हुआ भी कर्मसे नहीं बँधता।

भावार्थ:—कर्म बलात् कर्ताको अपने फलके साथ नहीं जोडता, किन्तु जो कर्मको करता हुआ उसके फलकी इच्छा करता है वही उसका फल पाता है। इसलिये जो ज्ञानरूप वर्तता है और बिना ही रागके कर्म करता है वह मुनि कर्मसे नहीं बँधता, क्योंकि उसे कर्मफलकी इच्छा नहीं है। २२०–२२३।

---

*कर्मका फल अर्थात् (१) रंजित परिणाम, अथवा (२) सुख (-रंजित परिणाम) को उत्पन्न करनेवाले आगामी भोग।

ज्यों जगतमें को पुरुष, वृत्तिनिमित्त सेवे भूपको।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग देवे पुरुषको ॥ २२४ ॥
त्यों जीवपुरुष भी कर्मरजका सुख अरथ सेवन करे।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग देवे जीवको ॥ २२५ ॥

जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवए रायं ।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२६ ॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं ।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२७ ॥

पुरुषो यथा कोऽपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम् ।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२४॥
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तम् ।
तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥ २२५ ॥
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम् ।
तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२६॥
एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः ।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२७॥

अब इस अर्थको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं:—

गाथा २२४-२२५-२२६-२२७

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**इह**] इस जगतमें [**कोऽपि पुरुषः**] कोई भी पुरुष [**वृत्तिनिमित्तं तु**] आजीविकाके लिये [**राजानं**] राजाकी [**सेवते**] सेवा करता है, [**तत्**] तो [**सः राजा अपि**] वह राजा भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकारके [**भोगान्**] भोग [**ददाति**] देता है, [**एवं एव**] इसीप्रकार [**जीवपुरुषः**] जीव-पुरुष [**सुखनिमित्तं**] सुखके लिये [**कर्मरजः**] कर्मरजकी [**सेवते**] सेवा करता है [**तत्**] तो [**तत् कर्म अपि**] वह कर्म भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकारके [**भोगान्**] भोग [**ददाति**] देता है ।

अरु वो हि नर जब वृत्तिहेतू भूपकी सेवे नहीं ।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोगको देवे नहीं ॥ २२६ ॥
सद्दृष्टिको त्यों विषयहेतू कर्मरज सेवन नहीं ।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोगको देता नहीं ॥ २२७ ॥

यथा कश्चित्पुरुषो फलार्थं राजानं सेवते ततः स राजा तस्य फलं ददाति। तथा जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति। यथा च स एव पुरुषः फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति। तथा सम्यग्दृष्टिः फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यं।

[**पुनः**] और [**यथा**] जैसे [**सः एव पुरुषः**] वही पुरुष [**वृत्तिनिमित्तं**] आजीविकाके लिये [**राजानं**] राजाकी [**न सेवते**] सेवा नहीं करता [**तत्**] तो [**सः राजा अपि**] वह राजा भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकारके [**भोगान्**] भोग [**न ददाति**] नहीं देता, [**एवं एव**] इसीप्रकार [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**विषयार्थं**] विषयके लिये [**कर्मरजः**] कर्मरजकी [**न सेवते**] सेवा नहीं करता [**तत्**] इसलिये [**तत् कर्म**] वह कर्म भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकारके [**भोगान्**] भोग [**न ददाति**] नहीं देता।

टीका:—जैसे कोई पुरुष फलके लिये राजाकी सेवा करता है, तो वह राजा उसे फल देता है, इसीप्रकार जीव फलके लिये कर्मकी सेवा करता है तो वह कर्म उसे फल देता है। और जैसे वही पुरुष फलके लिये राजाकी सेवा नहीं करता तो वह राजा उसे फल नहीं देता, इसीप्रकार सम्यक्दृष्टि फलके लिये कर्मकी सेवा नहीं करता इसलिये वह कर्म उसे फल नहीं देता यह तात्पर्य है।

भावार्थ:- यहाँ एक आशय तो इसप्रकार है:—अज्ञानी विषयसुखके लिये अर्थात् रंजित परिणामके लिये उदयागत कर्मकी सेवा करता है इसलिये वह कर्म उसे (वर्तमानमें) रंजित परिणाम देता है। ज्ञानी विषयसुखके लिए अर्थात् रंजित परिणामके लिए उदयागत कर्मकी सेवा नहीं करता इसलिए वह कर्म उसे रंजित परिणाम उत्पन्न नहीं करता। उदयागत कर्मकी सेवा नहीं करता।

दूसरा आशय इसप्रकार है.—अज्ञानी सुख (रागादि परिणाम) उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगोंकी अभिलाषासे व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म करता है इसलिये वह कर्म उसे रागादि परिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगोंको देता है। ज्ञानीके सम्बन्धमें इससे विपरीत समझना चाहिये।

इसप्रकार अज्ञानी फलकी वांछासे कर्म करता है इसलिये वह फलको पाता है, और ज्ञानी फलकी वांछा बिना ही कर्म करता है इसलिये वह फलको प्राप्त नहीं करता।

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥१५३॥ (शार्दूल०)
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ॥१५४॥ (शार्दूल०)

अब, "जिसे फलकी इच्छा नहीं है वह कर्म क्यों करे" ? इस आशंकाको दूर करनेके लिये काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसने कर्मका फल छोड़ दिया है वह कर्म करता है, ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते किन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—उसे (ज्ञानीको) भी किसी कारणसे कोई ऐसा कर्म अवशतासे (उसके वश विना) आ पड़ता है । उसके आ पड़ने पर भी, जो अकम्प परम ज्ञानस्वभावमें स्थित है, ऐसा ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है ?

भावार्थः—ज्ञानीके परवशतासे कर्म आ पड़ता है तो भी वह ज्ञानसे चलायमान नहीं होता। इसलिये ज्ञानसे अचलायमान वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है ? ज्ञानीकी बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानीके परिणामोंको जाननेकी सामर्थ्य अज्ञानीकी नहीं है।

अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर ऊपरके सभी ज्ञानी ही समझना चाहिये। उनमें से अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि और आहार विहार करते हुए मुनियोके बाह्यक्रियाकर्म होते हैं, तथापि ज्ञानस्वभावसे अचलित होनेके कारण निश्चयसे वे, बाह्यक्रियाकर्मके कर्ता नहीं हैं, ज्ञानके ही कर्ता है। अन्तरंग मिथ्यात्वके अभावसे तथा यथा संभव कषायके अभावसे उनके परिणाम उज्वल हैं। उस उज्वलताको ज्ञानी ही जानते है, मिथ्यादृष्टि उस उज्वलताको नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है, वे बाहरसे ही भला-बुरा मानते है; अन्तरात्माकी गतिको बहिरात्मा क्या जाने ?

अब, इसी अर्थका समर्थक और आगामी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसके भयसे चलायमान होते हुवे (खलबलाते हुवे) तीनों लोक अपने मार्गको छोड़ देते है, ऐसा वज्रपात होने पर भी, ये सम्यक्दृष्टि जीव, स्वभावतः निर्भय होनेसे, समस्त शंकाको छोड़कर, स्वयं अपनेको (आत्माको) जिसका ज्ञानरूपी शरीर अवध्य है ऐसा जानते हुए, ज्ञानसे च्युत नहीं होते। ऐसा परम साहस करनेके लिये मात्र सम्यक्दृष्टि ही समर्थ हैं।

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका॥ २२८॥
सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंकाः॥ २२८॥

येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टयः सकलकर्मनिरभिलाषाः संतः, अत्यंतकर्मनिरपेक्षतया वर्तंते तेन नूनमेते अत्यंतनिश्शंकदारुणाध्यवसायाः संतोऽत्यंतनिर्भयाः संभाव्यंते।

भावार्थः—सम्यक्दृष्टि जीव निःशंकितगुणयुक्त होते हैं, इसलिये चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदयके समय भी वे ज्ञानरूप ही परिणमित होते है। जिसके भयसे तीनोलोकके जीव काँप उठते हैं—चलायमान हो उठते है और अपना मार्ग छोड़ देते है ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यक्दृष्टि जीव अपने स्वरूपको ज्ञानशरीरी मानता हुआ ज्ञानसे चलायमान नहीं होता। उसे ऐसी शंका नही होती कि इस वज्रपातसे मेरा नाश हो जायेगा, यदि पर्यायका विनाश हो तो ठीक ही है, क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है। २२४—२२७।

अब इस अर्थको गाथा द्वारा कहते है:—

गाथा २२८

अन्वयार्थः—[**सम्यग्दृष्टयः जीवाः**] सम्यग्दृष्टि जीव [**निःशंकाः भवंति**] निःशंक होते हैं, [**तेन**] इसलिये [**निर्भयाः**] निर्भय होते हैं [**तु**] और [**यस्मात्**] क्योंकि वे [**सप्तभयविप्रमुक्ताः**] सप्तभयोसे रहित होते हैं, [**तस्मात्**] इसलिये [**निःशंकाः**] निःशंक होते है (अडोल होते हैं)।

टीकाः—क्योंकि सम्यक्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मोके फलके प्रति निरभिलाप होते हैं इसलिये वे कर्मके प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं, इसलिये वास्तवमे वे अत्यन्त निःशंक दारुण (सुदृढ) निश्चयवाले होनेसे अत्यन्त निर्भय हैं, ऐसी संभावना की जाती है। (अर्थात् ऐसा योग्यतया माना जाता है।)

अब सात भयोके कलशरूप काव्य कहे जाते हैं, उनमेंसे पहले इहलोक और परलोकके भयोका एक काव्य कहते हैं:—

सम्यक्ति जिव होते निःशंकित इसहिसे निर्भय रहैं।
है सप्तभयप्रविमुक्त वे, इसही से वे निःशंक हैं॥ २२८॥

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५५॥ (शार्दूल०)

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५६॥ (शार्दूल०)

अर्थः—यह चित्स्वरूप लोक ही, भिन्न आत्माका (परसे भिन्नरूप परिणमित होते हुए आत्माका) शाश्वत्, एक और सकल व्यक्त (सर्वकालमें प्रगट) लोक है; क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोकको यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है—अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, उससे भिन्न दूसरा कोई लोक—यह लोक या परलोक—तेरा नहीं है, ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है, इसलिये ज्ञानीको इस लोकका तथा परलोकका भय कहाँसे हो ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका (अपने ज्ञानस्वभाव का) सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—'इस भवमें जीवन पर्यंत अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं' ? ऐसी चिंता रहना इहलोकका भय है। 'परभवमें मेरा क्या होगा' ? ऐसी चिंताका रहना परलोकका भय है। ज्ञानी जानता है कि—यह चैतन्य हो मेरा एक, नित्य लोक है, जो कि सदाकाल प्रगट है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लोक मेरा नही है। यह मेरा चैतन्यस्वरूप लोक किसीके बिगाड़े नहीं बिगड़ता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानीके इसलोकका अथवा परलोकका भय कहाँसे हो ? कभी नहीं हो सकता, वह तो अपनेको स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करता है।

अब वेदनाभयका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—अभेदस्वरूप वर्तते हुवे वेद्य–वेदकके बलसे (वेद्य और वेदक अभेद ही होते है, ऐसी वस्तुस्थितिके बलसे) एक अचल ज्ञान ही स्वयं निराकुल पुरुषोंके द्वारा (ज्ञानियोंके द्वारा) सदा वेदनमें आता है, यह एक ही वेदना (ज्ञान वेदन) ज्ञानियोके है। (आत्मा वेदक है और ज्ञान वेद्य है।) ज्ञानीके दूसरी कोई आगत (पुद्गलसे उत्पन्न) वेदना होती ही नहीं इसलिये उसे वेदनाका भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—सुख दुःखको भोगना वेदना है। ज्ञानीके अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूपका

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५७॥ (शार्दूल०)

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ।।१५८॥ (शार्दूल०)

ही उपभोग है। वह पुद्गलसे होनेवाली वेदनाको वेदना ही नही समझता, इसलिये ज्ञानीके **वेदनाभय** नहीं है। वह तो सदा निर्भय वर्तता हुआ ज्ञानका अनुभव करता है।

अब अरक्षाभयका काव्य कहते है.—

अर्थः—जो सत् है वह नष्ट नही होता ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूपसे प्रगट है। यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् (सत्स्वरूप वस्तु) है (इसलिये नाशको प्राप्त नहीं होता), इसलिये परके द्वारा उसका रक्षण कैसा ? इसप्रकार (ज्ञान निजसे ही रक्षित है इसलिये) उसका किंचित्मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता, इसलिये (ऐसा जानने वाले) ज्ञानीको अरक्षाका भय कहाँसे हो सकता है ? वह तो स्वयं निरंतर नि.शंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—सत्तास्वरूप वस्तुका कभी नाश नहीं होता। ज्ञान भी स्वयं सत्तास्वरूप वस्तु है; इसलिये वह ऐसा नही है कि जिसकी दूसरोंके द्वारा रक्षा की जाये तो रहे, अन्यथा नष्ट हो जाये। ज्ञानी ऐसा जानता है. इसलिये उसे अरक्षाका भय नहीं होता, वह तो नि.शंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

अब, अगुप्तिभयका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—वास्तवमें वस्तुका स्व-रूप ही (निजरूप ही) वस्तुकी परम 'गुप्ति' है, क्योंकि स्वरूपमें कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता; और अकृतज्ञान (-जो किसीके द्वारा नहीं किया गया है ऐसा स्वाभाविकज्ञान-) पुरुषका अर्थात् आत्माका स्वरूप है; (इसलिये ज्ञान आत्माकी परम गुप्ति है।) इसलिये आत्माकी किंचित्मात्र भी अगुप्तता न होनेसे ज्ञानीको अगुप्तिका भय कहाँसे हो सकता है ? वह तो स्वयं निरंतर नि:शंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—'गुप्ति' अर्थात जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके ऐसा किला

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५९॥ (शार्दूल०)

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१६०॥ (शार्दूल०)

भोंयरा (तलघर) इत्यादि; उसमे प्राणी निर्भयतासे निवास कर सकता है। ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहनेवाले प्राणीको अगुप्तताके कारण भय रहता है। ज्ञानी जानता है कि—वस्तुके निजस्वरूपमे कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता इसलिये वस्तुका स्वरूप ही वस्तुकी परम गुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है। पुरुषका अर्थात् आत्माका स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञानस्वरूपमे रहा हुआ आत्मा गुप्त है, क्योंकि ज्ञानस्वरूपमें दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा जानने वाले ज्ञानीको अगुप्तताका भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूपका निरंतर अनुभव करता है।

अब मरणभयका काव्य कहते हैं: —

अर्थः—प्राणो के नाश को (लोग) मरण कहते हैं। निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान है। वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत् होनेसे उसका कदापि नाश नही होता, इसलिये आत्मा का मरण किंचित्मात्र भी नहीं होता। अतः (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—इन्द्रियादि प्राणो के नाश होने को लोग मरण कहते है। किन्तु परमार्थतः आत्मा के इन्द्रियादिक प्राण नहीं है उसके तो ज्ञान प्राण है। और ज्ञान अविनाशी है—उसका नाश नहीं होता; अतः आत्मा को मरण नही है। ज्ञानी ऐसा जानता है इसलिये उसे मरण का भय नहीं है; वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का निरंतर अनुभव करता है।

अब, आकस्मिक भय का काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह स्वतःसिद्ध ज्ञान एक है, अनादि है, अनंत है, अचल है। वह जबतक है तबतक सदा ही वही है, उसमे दूसरे का उदय नहीं है। इसलिये इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंधः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥१६१॥ (मन्दाक्रान्ता)

भी नहीं होता। ऐसा जानने वाले ज्ञानी को अकस्मात् का भय कहाँ से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—'यदि कुछ अनिर्धारित-अनिष्ट एकाएक उत्पन्न होगा तो' ? ऐसा भय रहना आकस्मिक भय है। ज्ञानी जानता है कि-आत्मा का ज्ञान स्वतः सिद्ध, अनादि, अनन्त, अचल, एक है। उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नही हो सकता; इसलिये उसमें कुछ भी अनिर्धारित कहाँ से होगा, अर्थात् अकस्मात् कहाँ से होगा ? ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को आकस्मिक भय नही होता; वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानभाव का निरंतर अनुभव करता है।

इस प्रकार ज्ञानी को सातभय नही होते।

प्रश्नः—अविरत सम्यक्दृष्टि आदिको भी ज्ञानी कहा है, और उनके भय प्रकृति का उदय होता है, तथा उसके निमित्त से उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है, तब फिर ज्ञानी निर्भय कैसे है ?

समाधान—भयप्रकृति के उदय के निमित्त से ज्ञानी को भय उत्पन्न होता है, और अंतराय के प्रबल उदय से निर्बल होने के कारण उस भय की वेदना को सहन न कर सकने से ज्ञानी उस भय का इलाज भी करता है। परन्तु उसे ऐसा भय नही होता कि जिससे जीव, स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान से च्युत हो जाये। और जो भय उत्पन्न होता है वह मोहकर्म की भय नामक प्रकृति का दोष है, ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नही होता, ज्ञाता ही रहता है। इसलिये ज्ञानी के भय नहीं है।

अब, आगे की (सम्यक्दृष्टि के निःशंकित आदि चिह्नो सम्बन्धी) गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण ज्ञानके सर्वस्व को भोगनेवाले सम्यक्दृष्टि के जो निःशंकित आदि चिह्न हैं, वे समस्त कर्मों को नष्ट करते हैं, इसलिये कर्मका उदय वर्तता होने पर भी सम्यक्दृष्टि को पुनः कर्म का बंध किंचित्मात्र भी नहीं होता, परन्तु जो कर्म पहले बंधा था उसके उदय को भोगने पर उसको नियम से उस कर्म की निर्जरा ही होती है।

भावार्थः—सम्यक्दृष्टि पहले बंधी हुई भय आदि प्रकृतियों के उदय को भोगता है,

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २२९ ॥

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंधमोहकरान् ।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २२९ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबंधशंकाकरमिथ्यात्वादिभावाभावान्निश्शंकः ततोऽस्य शंकाकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२२९॥

तथापि निःशंकित[1] आदि गुणों के विद्यमान होने से उसे शंकादिकृत[2] (शंकादि के निमित्त से होनेवाला) बंध नहीं होता, किन्तु पूर्वकर्म की निर्जरा ही होती है । २२८ ।

अब, इस कथन को गाथाओं द्वारा कहते है — उसमे से पहले निःशंकित अंग की (अथवा निःशंकित गुण की–चिह्न की) गाथा इस प्रकार है:—

गाथा २१२ २२९

अन्वयार्थः -[**यः चेतयिता**] जो चेतयिता[3] [**कर्मबंधमोहकरान्**] कर्मबंध संबंधी मोह करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों के द्वारा बँधा हुआ है ऐसा भ्रम करनेवाले) [**तान् चतुरः अपि पादान्**] मिथ्यात्वादि भावरूप चारो पादों को [**छिनत्ति**] छेदता है, [**सः**] उसको [**निःशंकः**] निःशंक [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये ।

टीका:—क्योंकि सम्यक्‌दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण कर्मबन्ध संबंधी शंका करने वाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मो से बंधा हुआ है ऐसा संदेह अथवा भय करने वाले) मिथ्यात्वादि भावो का (उसको) अभाव होनेसे निःशंक है, इसलिये उसे शंकाकृत बन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थ:—सम्यक्‌दृष्टि को जिस कर्म का उदय आता है उसका वह, स्वामित्व के अभाव के कारण, कर्ता नहीं होता । इसलिये भयप्रकृति का उदय आने पर भी सम्यक्‌दृष्टि जीव निःशंक रहता है, स्वरूप से च्युत नहीं होता । ऐसा होने से उसे शंकाकृत बंध नहीं होता, कर्म रस देकर खिर जाते है । २२९ ।

१, निःशंकित=संदेह अथवा भयरहित । २, शंका=संदेह; कल्पित भय । ३, चेतयिता=चेतनेवाला जानने देखनेवाला; आत्मा ।

जो कर्मबंधनमोहकर्त्ता, पाद चारों छेदता ।
चिन्मूर्ति वो शंकारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥ २२९ ॥

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३० ॥

यस्तु न करोति कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३० ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च कांक्षाभावान्निष्कांक्षस्ततोऽस्य कांक्षाकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥ २३० ॥

अब, निःकांक्षित गुण की गाथा कहते हैं:—

गाथा २३०

अन्वयार्थः—[**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**कर्मफलेषु**] कर्मों के फलों के प्रति [**तथा**] तथा [**सर्वधर्मेषु**] सर्वधर्मों के प्रति [**कांक्षा**] कांक्षा [**न तु करोति**] नहीं करता [**सः**] उसको [**निष्कांक्षः सम्यग्दृष्टि**] निष्कांक्ष सम्यक्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये ।

टीका:—क्यों कि सम्यक्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी कर्म फलों के प्रति तथा समस्त वस्तुधर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से, निष्कांक्ष (निर्वांछक) है, इसलिये उसे कांक्षाकृत बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थ:—सम्यग्दृष्टि को, समस्त कर्म फलो की वांछा नहीं होती तथा सर्व धर्मों की वांछा नहीं होती; अर्थात् सुवर्णत्व, पाषाणत्व इत्यादि तथा निन्दा, प्रशंसा आदि के वचन इत्यादि वस्तुधर्मों की अर्थात् पुद्गल स्वभावो की उसे वांछा नहीं है,—उनके प्रति समभाव है; अथवा अन्यमतावलम्बियोके द्वारा माने गये अनेक प्रकारके सर्वथा एकान्तपक्षी व्यवहार धर्मों की उसे वांछा नहीं है– उन धर्मोंका आदर नहीं है । इसप्रकार सम्यग्दृष्टि वांछा रहित होता है इसलिये उसे वांछासे होने वाला बंध नहीं होता । वर्तमान वेदना सही नहीं जाती इसलिये उसे मिटानेके उपचारकी वांछा सम्यग्दृष्टिको चारित्रमोहके उदयके कारण होती है, किन्तु वह उस वांछाका कर्ता स्वयं नहीं होता, वह कर्मोदय—समझकर उसका ज्ञाता ही रहता है, इसलिये उसे वांछा कृत बंध नहीं होता ॥ २३० ॥

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मोंकी न कांक्षा धारता ।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥ २३० ॥

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३१ ॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम् ।
स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३१ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साऽभावान्निर्विचिकित्सः ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बंधः किंतु निर्जरैव ॥२३१॥

अब निर्विचिकित्सा गुण की गाथा कहते हैं—:

गाथा २३१

अन्वयार्थः—[**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**सर्वेषां एव**] सभी [**धर्माणां**] धर्मों (वस्तुके स्वभावों) के प्रति [**जुगुप्सां**] जुगुप्सा (ग्लानि) [**न करोति**] नहीं करता [**सः**] उसको [**खलु**] निश्चय से [**निर्विचिकित्सः**] निर्विचिकित्स (–विचिकित्सा दोषसे रहित) [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये ।

टीका:—क्योकि सम्यक्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी वस्तु-धर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से, निर्विचिकित्स (–जुगुप्सारहित—ग्लानिरहित) है इसलिये उसे विचिकित्सा कृत बंध नही किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थ:—सम्यक्दृष्टि वस्तु के धर्मों के प्रति (अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि भावों के प्रति तथा विष्टा आदि मलिन द्रव्योंके प्रति) जुगुप्सा नहीं करता । यद्यपि उसके जुगुप्सा नामक कर्म प्रकृति का उदय आता है तथापि वह स्वयं उसका कर्ता नहीं होता, इसलिये उसे जुगुप्साकृत वन्ध नही होता, परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है, इसलिये निर्जरा ही होती है ॥ २३१ ॥

अब, अमूढ़दृष्टि अंग की गाथा कहते हैं.—

सब वस्तुधर्मविषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता ।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना ॥ २३१ ॥

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३२ ॥

यो भवति असंमूढः चेतयिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु ।
स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३२ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावादमूढदृष्टिः ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥ २३२ ॥

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३३ ॥

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणाम् ।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३३ ॥

गाथा २३२

अन्वयार्थः—[**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**सर्वभावेषु**] समस्त भावों में [**असंमूढः**] अमूढ़ है—[**सद्दृष्टिः**] यथार्थ दृष्टि वाला [**भवति**] है [**सः**] उसको [**खलु**] निश्चयसे [**अमूढदृष्टिः**] अमूढदृष्टि [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये ।

टीका:—क्यों कि सम्यग्दृष्टि. टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी भावो मे मोह का अभाव होने से, अमूढ़दृष्टि है. इसलिये उसे मूढदृष्टि कृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थ:—सम्यक्दृष्टि समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है; उसे राग द्वेष मोह का अभाव होने से किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नही पड़ती । चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हो तथापि उसे उदय की प्रबलता जानकर वह उन भावो का स्वयं कर्ता नहीं होता इसलिये उसे मूढदृष्टिकृत बंध नही होता. परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है इसलिये निर्जरा ही होती है ॥ २३२ ॥

अब. उपगूहन गुण की गाथा कहते है. —

संमूढ़ नहि सब भावमें जो सत्यदृष्टी धारता ।
वो मूढ़दृष्टिविहीन सम्यक्दृष्टि निश्चय जानना ॥ २३२ ॥
जो सिद्ध भक्तीसहित है, गोपन करें सब धर्मका ।
चिन्मूर्ति वो उपगुहनकर सम्यक्तदृष्टी जानना ॥ २३३ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहकः, ततोऽस्य जीवशक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३३॥

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३४ ॥

गाथा २३३

अन्वयार्थः—[**यः**] जो (चेतयिता) [**सिद्धभक्तियुक्तः**] सिद्धों की शुद्धात्माकी भक्ति से युक्त है [**तु**] और [**सर्वधर्माणां उपगूहनकः**] परवस्तुओ के सर्व धर्मों को गोपनेवाला है (अर्थात् रागादि परभावों में युक्त नहीं होता) [**सः**] उसको [**उपगूहनकारी**] उपगूहन करने वाला [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये ।

टीका:—क्योकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण समस्त आत्मशक्तियो की वृद्धि करता है, इसलिये उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति वढ़ाने वाला है इसलिये उसे जीव की शक्ति की दुर्वलता से (मन्दता से) होने वाला वंध नहीं किंतु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि उपगूहन गुणयुक्त है । उपगूहन का अर्थ छिपाना है । यहाँ निश्चय नय को प्रधान करके कहा है कि सम्यक्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धभक्ति मे लगाया हुआ है, और जहाँ उपयोग सिद्धभक्ति मे लगाया वहाँ अन्य धर्मो पर दृष्टि ही नहीं रही इसलिये वह समस्त अन्य धर्मो का गोपनेवाला और आत्मशक्ति का वढ़ाने वाला है ।

इस गुण का दूसरा नाम 'उपवृंहण' भी है । उपवृंहण का अर्थ है वढ़ाना । सम्यक्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धो के स्वरूप मे लगाया है, इसलिये उसके आत्मा की समस्त शक्तियों वढ़ती है—आत्मा पुष्ट होता है इसलिये वह उपवृंहणगुणवाला है ।

इस प्रकार सम्यक्दृष्टि के आत्मशक्ति की वृद्धि होती है इसलिये उसे दुर्वलता से जो वंध होता था वह नही होता, निर्जरा ही होती है । यद्यपि जवतक अंतराय का उदय है तव तक निर्वलता है, तथापि उसके अभिप्राय मे निर्वलता नही है. किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार कर्मोदय को जीतने का महान उद्यम वर्तता है ॥ २३३ ॥

उन्मार्ग जाते स्वात्मको भी, मार्गमें जो स्थापता ।
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्तदृष्टी जानना ॥ २३४ ॥

उन्मार्गं गच्छंतं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता ।
स स्थितीकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३४ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्ग एव स्थितिकरणात् स्थितिकारी ततोऽस्य मार्गच्यवनकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥ २३४ ॥

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३५ ॥

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।
स वत्सलभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३५ ॥

अब, स्थितिकरण गुण की गाथा कहते हैं:—

गाथा २३४

अन्वयार्थः—[**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**उन्मार्गं गच्छंतं**] उन्मार्ग में जाते हुये [**स्वकं अपि**] अपने आत्मा को भी [**मार्गे**] मार्ग में [**स्थापयति**] स्थापित करता है [**सः**] वह [**स्थितिकरणयुक्तः**] स्थितिकरणयुक्त [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये ।

टीका:—क्योंकि सम्यक्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण, यदि अपना आत्मा मार्ग से (सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्गसे) च्युत हो तो उसे मार्ग मे ही स्थित कर देता है इसलिये स्थितिकारी (स्थिति करनेवाला) है, अतः उसे मार्गसे च्युत होनेके कारण होने वाला बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थ—जो, अपने स्वरूपरूपी मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए अपने आत्माको मार्ग मे (मोक्षमार्ग मे) स्थित करता है वह स्थितिकरण गुणयुक्त है । उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होने वाला बंध नहीं होता, किन्तु उदयागत कर्म रस देकर खिर जाते हैं इसलिये निर्जरा ही होती है ॥ २३४ ॥

अब वात्सल्य गुण की गाथा कहते हैं —

जो मोक्षपथमें साधु त्रयका वत्सलत्व करे अहा ।
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टी जानना ॥ २३५ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वस्मादभेदबुद्ध्या सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः, ततोऽस्य मार्गानुपलंभकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥ २३५ ॥

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३६ ॥

विद्यारथमारूढः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता ।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३६ ॥

गाथा २३५

अन्वयार्थः—[**यः**] जो (चेतयिता) [**मोक्षमार्गे**] मोक्षमार्ग में स्थित [**त्रयाणां साधूनां**] सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों—साधनोंके प्रति अथवा व्यवहारसे आचार्य, उपाध्याय और मुनि—इन तीन साधुओंके प्रति [**वत्सलत्वं करोति**] वात्सल्य करता है [**सः**] वह [**वत्सलभावयुतः**] वात्सल्यभाव से युक्त [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यक्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यक्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता (—अनुभवन करता) है, इसलिये मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीति वाला है, इसलिये उसे मार्ग की अनुपलब्धि[1] से होने वाला बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—वत्सलत्व का अर्थ है प्रीतिभाव । जो जीव मोक्षमार्गरूपी अपने स्वरूप के प्रति प्रीतिवाला—अनुरागवाला हो उसे मार्ग की अप्राप्ति से होनेवाला बन्ध नहीं होता, परन्तु कर्म रस देकर खिर जाते है, इसलिये निर्जरा ही होती है ।

अब प्रभावना गुण की गाथा कहते हैः—

गाथा २३६

अन्वयार्थः—[**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**विद्यारथं आरूढः**]

---

१ अनुपलब्धि=प्रत्यक्ष नहीं होना वह, अज्ञान, अप्राप्ति ।

चिन्मूर्ति मन-रथपंथमें, विद्यारथारूढ़ घूमता ।
जिनराज ज्ञान प्रभावकर सम्यक्तदृष्टी जानना ॥ २३६ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबो-

---

विद्यारूपी रथ पर आरूढ हुआ (चढ़ा हुआ) [**मनोरथपथेषु**] मनरूपी रथ के पथ में (ज्ञानरूपी रथ के चलनेके मार्ग में) [**भ्रमति**] भ्रमण करता है [**सः**] वह [**जिन ज्ञानप्रभावी**] जिनेन्द्रभगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यक्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण ज्ञानकी समस्त शक्ति को प्रगट करने–विकसित करने–फैलानेके द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है इसलिये प्रभावना करनेवाला है, अतः उसे ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष से (ज्ञानकी प्रभावना न वढ़ाने से) होने वाला बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थ—प्रभावना का अर्थ है, प्रगट करना, उद्योत करना इत्यादि; इसलिये जो अपने ज्ञान को निरंतर अभ्यास के द्वारा प्रगट करता है—वढ़ाता है, उसके प्रभावना अंग होता है । उसे अप्रभावनाकृत कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु कर्म रस देकर खिर जाता है इस-लिये उसके निर्जरा ही है ।

इस गाथामे निश्चय प्रभावनाका स्वरूप कहा है । जैसे जिनविम्बको रथारूढ़ करके नगर, वन इत्यादिमे फिराकर व्यवहार प्रभावना की जाती है, इसीप्रकार जो विद्यारूपी (ज्ञान-रूपी) रथमे आत्माको विराजमान करके, मनरूपी (ज्ञानरूपी) मार्गमे भ्रमण करता है वह ज्ञानकी प्रभावनायुक्त सम्यक्दृष्टि है, वह निश्चय प्रभावना करनेवाला है ।

इसप्रकार ऊपरकी गाथाओमे यह कहा है कि सम्यक्दृष्टि ज्ञानीको निःशंकित आदि आठगुण निर्जराके कारण है । इसीप्रकार सम्यक्त्वके अन्य गुण भी निर्जराके कारण जानना चाहिये ।

इस ग्रन्थमे निश्चयनयप्रधान कथन होनेसे यहाँ नि.शंकितादि गुणोंका निश्चयस्वरूप (स्वाश्रितस्वरूप) वताया गया है । उसका सारांश इसप्रकार है.—जो सम्यक्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान–श्रद्धानमे नि शंक हो, भयके निमित्तसे स्वरूपसे चलित न हो अथवा सन्देहयुक्त न हो उसके नि शंकितगुण होता है । १ । जो कर्मफलकी वांछा न करे तथा अन्य वस्तुके धर्मोंकी वांछा न करे उसके नि कांक्षित गुण होता है । २ । जो वस्तु के धर्मोंके प्रति ग्लानि न करे उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है । ३ । जो स्वरूपमें मूढ़ न हो, स्वरूपको यथार्थ जाने उसके अमूढदृष्टि गुण होते है । ४ । जो आत्माको शुद्धस्वरूपमें युक्त करे, आत्माकी शक्ति वढ़ाये और अन्य धर्मोंको गौण करे उसके उपगूहन गुण होता है । ५ । जो स्वरूपसे च्युत होने हुए आत्माको स्वरूपमे स्थापित करे उसके स्थितिकरण गुण होता है । ६ ।

धेन प्रभावजननात्प्रभावनाकरः ततोस्य ज्ञानप्रभावनाप्रकर्षकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ।

जो अपने स्वरूपके प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्यगुण होता है। ७। जो आत्माके ज्ञानगुणको प्रकाशित कर,—प्रगट करे उसके प्रभावनागुण होता है । ८।

ये सभी गुण, उनके प्रतिपक्षी दोषोंके द्वारा जो कर्मबन्ध होता था उसे नहीं होने देते। और इन गुणोंके सद्भावमें चारित्रमोहके उदयरूप शंकादि प्रवर्ते तो भी उनकी (शंकादिकी) निर्जरा ही हो जाती है, नवीन बंध नहीं होता, क्योंकि बंध तो प्रधानतासे मिथ्यात्वके अस्तित्वमें ही कहा है।

सिद्धान्तमें गुणस्थानोंकी परिपाटीमें चारित्रमोहके उदय निमित्तसे सम्यक्दृष्टिके जो बन्ध कहा है वह भी निर्जरारूप ही (निर्जराके समान ही) समझना चाहिये । क्योंकि सम्यक्दृष्टिके, जैसे पूर्वमें मिथ्यात्वके उदयके समय बँधा हुआ कर्म खिर जाता है, उसी प्रकार नवीन बँधा हुआ कर्म भी खिर जाता है; उसके उस कर्मके स्वामित्वका अभाव होनेसे वह आगामी बंधरूप नहीं किन्तु निर्जरारूप ही है। जैसे -कोई पुरुष दूसरेका द्रव्य उधार लाया हो तो उसमें उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती, वर्तमानमें उस द्रव्यसे कुछ कार्य कर लेना हो तो वह करके पूर्व निश्चयानुसार नियत समय पर उसके मालिकको दे देता है; नियत समयके आने तक वह द्रव्य उसके घरमें पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होनेसे उस पुरुषको उस द्रव्यका बन्धन नहीं है. वह उसके स्वामीको दे देनेके बराबर ही है; इसीप्रकार ज्ञानी कर्म द्रव्यको पराया मानता है, इसलिये उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता, अत उसके रहते हुए भी वह निर्जरित हुएके समान ही है, ऐसा जानना चाहिये।

यह निःशंकितादि आठगुण व्यवहारनयसे व्यवहार मोक्षमार्गमें इसप्रकार लगाने चाहिये:

जिन वचनोंमें संदेह नहीं करना, भयके आने पर व्यवहारदर्शनज्ञानचारित्रसे नहीं डिगना, सो निःशंकितत्व है। १। संसार-देह-भोगकी वांछासे तथा परमतकी वांछासे व्यवहार मोक्षमार्गसे चलायमान न होना सो निःकांक्षितत्व है । २। अपवित्र, दुर्गंधित आदि वस्तुओंके निमित्तसे व्यवहार मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके प्रति ग्लानि न करना सो निर्विचिकित्सा है। ३। देव, गुरु, शास्त्र, लौकिक प्रवृत्ति, अन्यमतादिके तत्वार्थके स्वरूप इत्यादिमें मूढ़ता न रखना, यथार्थ जानकर प्रवृत्ति करना सो अमूढ़दृष्टि है। ४। धर्मात्मामें कर्मोदयसे दोष आ जाये तो उसे गौण करना और व्यवहार मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिको बढ़ाना सो उपगूहन अथवा उपबृंहण है। ५। व्यवहार मोक्षमार्गसे च्युत होते हुए आत्माको स्थिर करना सो स्थितिकरण है। ६। व्यवहार मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करने वाले पर विशेष अनुराग होना सो वात्स-

रुंधन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृंभणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ॥१६२॥ (मन्दाक्रान्ता)

ल्य है । ७ । व्यवहार मोक्षमार्गका अनेक उपायोसे उद्योत करना सो प्रभावना है । ८ । इसप्रकार आठ गुणोका स्वरूप व्यवहारनयको प्रधान करके कहा है । यहाँ निश्चय प्रधान कथनमें उस व्यवहार स्वरूपकी गौणता है सम्यक्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टिमे दोनो प्रधान है । स्याद्वाद मतमे कोई विरोध नहीं है ।

अब, निर्जराके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले और कर्मोके नवीन बंधको रोककर निर्जरा करने वाले सम्यक्दृष्टिकी महिमा करके निर्जरा अधिकार पूर्ण करते है: —

अर्थः—इसप्रकार नवीन बंधको रोकता हुआ, और (स्वयं) अपने आठ अंगोसे युक्त होनेके कारण निर्जरा प्रगट होनेसे पूर्वबद्ध कर्मोका नाश करता हुआ सम्यक्दृष्टि जीव स्वयं अति रससे (निजरसमे मस्त हुआ) आदि–मध्य–अंत रहित (सर्वव्यापक, एक प्रवाहरूप धारावाही) ज्ञानरूप होकर आकाशके विस्ताररूपी रंगभूमिमे अवगाहन करके (ज्ञानके द्वारा समस्त गगन मंडलमे व्याप्त होकर) नृत्य करता है ।

भावार्थः - सम्यक्दृष्टिको शंकादिकृत नवीन बंध नही होता, और स्वयं अष्टांगयुक्त होनेसे निर्जराका उदय होनेके कारण उसके पूर्व बंधका नाश होता है। इसलिये वह धारावाही ज्ञानरूपी रसका पान करके निर्मल आकाशरूपी रंगभूमिमे ऐसे नृत्य करता है जैसे कोई पुरुष मद्य पीकर मग्न हुआ नृत्यभूमिमे नाचता है ।

प्रश्नः—आप यह कह चुके है कि सम्यक्दृष्टिके निर्जरा होती है, बंध नहीं होता; किंतु सिद्धान्तमे गुणस्थानोकी परिपाटीमे अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादिके बंध कहा गया है । और घातिकर्मोका कार्य आत्माके गुणोका घात करना है, इसलिये दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य—इन गुणोंका घात भी विद्यमान है । चारित्रमोहका उदय नवीन बंध भी करता है । यदि मोहके उदयमे भी बन्ध न माना जाये तो यह भी क्यो न मान लिया जाये कि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व–अनन्तानुबन्धीका उदय होने पर भी बन्ध नहीं होता ?

उत्तरः—बंधके होनेमे मुख्य कारण मिथ्यात्व - अनन्तानुबंधीका उदय ही है, और सम्यक्दृष्टिके तो उनके उदयका अभाव है । चारित्रमोहके उदयमे यद्यपि सुखगुणका घात होता है, तथा मिथ्यात्व—अनन्तानुबन्धीके अतिरिक्त और उनके साथ रहनेवाली अन्य प्रकृतियोंके अतिरिक्त शेष घातिकर्मोकी प्रकृतियोका अल्प स्थिति—अनुभागवाला बंध तथा शेष अघाति

इति निर्जरा निष्क्रांता ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ निर्जरा प्ररूपकः षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥

कर्मोंकी प्रकृतियोंका बंध होता है, तथापि जैसा मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी सहित होता है वैसा नहीं होता। अनन्तसंसारका कारण तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी ही है, उनका अभाव हो जाने पर फिर उनका बंध नहीं होता; और जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ वहाँ अन्य बंधकी गणना कौन करता है? वृक्षकी जड़ कट जाने पर फिर हरे पत्ते रहनेकी अवधि कितनी होती है? इसलिये इस अध्यात्म शास्त्रमें सामान्यतया ज्ञानी-अज्ञानी होनेके सम्बन्धमे ही प्रधान कथन है। ज्ञानी होनेके बाद जो कुछ कर्म रहे हो वे सहज ही मिटते जायेंगे। निम्नलिखित दृष्टान्तके अनुसार ज्ञानीके संबंध मे समझ लेना चाहिये--कोई पुरुष दरिद्रताके कारण एक झोंपड़ेमे रहता था। भाग्योदयसे उसे धन-धान्यसे परिपूर्ण बड़े महलकी प्राप्ति हो गई, इसलिये वह उसमें रहनेको गया। यद्यपि उस महलमें बहुत दिनोका कूड़ा कचरा भरा हुआ था तथापि जिस दिन उसने आकर महलमें प्रवेश किया उस दिनसे ही वह उस महलका स्वामी हो गया, संपत्तिवान हो गया। अब वह कूड़ा कचरा साफ करना है सो वह क्रमशः अपनी शक्तिके अनुसार साफ करता है। जब सारा कचरा साफ हो जायेगा और महल उज्ज्वल हो जायेगा तब वह परमानन्दको भोगेगा। इसीप्रकार ज्ञानीके संबंधमें समझना चाहिये।

टीका:—इस प्रकार निर्जरा (रंगभूमि में से) बाहर निकल गई।

भावार्थ:—इस प्रकार, जिसने रंगभूमि में प्रवेश किया था वह निर्जरा अपना स्वरूप प्रगट बताकर रंगभूमि से बाहर निकल गई ॥ २३६ ॥

(सवैया)

सम्यक्‌वंत महंत सदा, समभाव रहै दुःख संकट आये,
कर्मनवीन बंधै न तवै, अर पूरव बंध झड़े बिन भाये।
पूरण अंग सुदर्शनरूप, धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये,
यो शिवमारग साधि निरंतर, आनंदरूप निजातम थाये ॥

❀ छट्ठा निर्जरा अधिकार समाप्त ❀

७ बंध अधिकार

अथ प्रविशति बंधः ।

> रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
> क्रीडंतं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत् ।
> आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्
> धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥१६३॥ (शार्दूल०)

❀ दोहा ❀

रागादिकतैं कर्म कौं, बंध जानि मुनिराय ।
तजैं तिनहिं समभाव करि नमूँ सदा तिन पाँय ॥

प्रथम टीकाकार कहते है कि 'अब बंध प्रवेश करता है'। जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है उसी प्रकार रंगभूमिमे बंध तत्वका स्वाँग प्रवेश करता है।

उसमे प्रथम ही, सर्व तत्वोको यथार्थ जानने वाला सम्यक्ज्ञान बंधको दूर करता हुआ प्रगट होता है, इस अर्थका मंगलरूप काव्य कहते है :—

अर्थः—जो (बंध) रागके उदयरूपी महारस (मदिरा) के द्वारा समस्त जगतको प्रमत्त (मतवाला) करके, रसके भावसे (रागरूपी मतवालेपनसे) भरे हुए महानृत्यके द्वारा खेल (नाच) रहा है ऐसे बंधको उड़ाता—दूर करता हुआ ज्ञान उदयको प्राप्त होता है। वह ज्ञान आनन्दरूपी अमृतका नित्य भोजन करने वाला है, अपनी ज्ञातृक्रियारूप सहज अवस्थाको प्रगट नचा रहा है, धीर है, उदार है (अर्थात् महान विस्तार वाला, निश्चल है), अनाकुल है (अर्थात् किञ्चित् भी आकुलताका कारण नहीं है), उपाधि रहित (परिग्रह रहित या जिसमें कोई परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है ऐसा) है।

भावार्थः—बंध तत्वने रंगभूमिमे प्रवेश किया है, उसे दूर करके जो ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा उस ज्ञानकी महिमा इस काव्यमें प्रगट की गई है। ऐसा अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहो।

जह णाम को वि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २३७ ॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २३८ ॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो दु रयबंधो ॥ २३९ ॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४० ॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रागाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥ २४१ ॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ।। २३७ ।।
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥ २३८ ॥

अब बन्ध तत्वके स्वरूपका विचार करते है; उसमे पहिले, बंधके कारणोको स्पष्टतया बतलाते है :—

गाथा २३७-२३८-२३९-२४०-२४१

अन्वयार्थः— [**यथा नाम**] जैसे —[**कोऽपि पुरुषः**] कोई पुरुष

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेलका ।
व्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक खड़ा ॥ २३७ ॥
अरु ताड़ कदली बांस आदी छिन्नभिन्न बहू करे ।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्योंका करे ॥ २३८ ॥
बहुभाँतिके करणादिसे उपघात करते उसहि को ।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों ॥ २३९ ॥
यों जानना निश्चयपनें, चिकनाइ जो उस नरविषें ।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥ २४० ॥
चेष्टा विविधमें वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो ।
उपयोगमें रागादि करता, रजहिसे लेपाय वो ॥ २४१ ॥

उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिकस्तु रजोबंधः ॥ २३९ ॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४० ॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥ २४१ ॥

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः स्वभावत एव रजोबहुलायां

[**स्नेहाभ्यक्तः तु**] (अपने शरीरमें) तेल आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर [**च**] और [**रेणुबहुले**] बहुतसी धूलि वाले [**स्थाने**] स्थानमें [**स्थित्वा**] रहकर [**शस्त्रैः**] शस्त्रोंके द्वारा [**व्यायामं करोति**] व्यायाम करता है, [**तथा**] तथा [**तालीतल-कदलीवंशपिंडीः**] ताड़, तमाल, केल, बाँस, अशोक इत्यादि वृक्षोंको [**छिनत्ति**] छेदता है [**भिनत्ति च**] भेदता है, [**सचित्ताचित्तानां**] सचित्त तथा अचित्त [**द्रव्याणां**] द्रव्योंका [**उपघातं**] उपघात (नाश) [**करोति**] करता है, [**नानाविधैः करणैः**] इसप्रकार नानाप्रकारके करणोंके द्वारा [**उपघातं कुर्वतः**] उपघात करते हुए [**तस्य**] उस पुरुषके [**रजोबंधः तु**] धूलिका बंध (चिपकना) [**खलु**] वास्तवमें [**किंप्रत्ययिकः**] किस कारणसे होता है, [**निश्चयतः**] यह निश्चयसे [**चिंत्यतां**] विचार करो। [**तस्मिन् नरे**] उस पुरुषमें [**यः सः स्नेहभावः तु**] जो वह तेल आदि की चिकनाहट है [**तेन**] उससे [**तस्य**] उसे [**रजोबंधः**] धूलिका बंध होता है (–चिपकती है) [**निश्चयतः विज्ञेयं**] ऐसा निश्चयसे जानना चाहिये, [**शेषाभिः कायचेष्टाभिः**] शेष शारीरिक चेष्टाओंसे [**न**] नहीं होता [**एवं**] इसीप्रकार—[**बहुविधासु चेष्टासु**] बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें [**वर्तमानः**] वर्तता हुआ [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि [**उपयोगे**] (अपने) उपयोगमें [**रागादीन् कुर्वाणः**] रागादि भावोंको करता हुआ [**रजसः**] कर्मरूपी रजसे [**लिप्यते**] लिप्त होता है—बंधता है।

टीका:—जैसे इस जगतमें वास्तवमें कोई पुरुष स्नेह (–तेल आदि चिकने पदार्थ) से मर्दनयुक्त हुआ, स्वभावतः ही बहुतसी धूलिमय भूमिमें रहा हुवा, शस्त्रोंके व्यायामरूपी

भूमौ स्थितः शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते। तस्य कतमो बंधहेतुः? न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्। न शस्त्रव्यायामकर्म, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसंगात्। नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभ्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसंगात्। न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मिंस्तत्प्रसंगात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायातं यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यंगकरणं स बंधहेतुः। एवं मिथ्यादृष्टिः आत्मनि रागादीन् कुर्वाणः स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणोऽनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा

कर्म (क्रिया) को करता हुआ अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, (उस भूमिकी) धूलिसे बद्ध होता है—लिप्त होता है। (यहाँ विचार करो कि) उसमें से उस पुरुषके बंधका कारण कौन है? पहले, जो स्वभावसे ही बहुत सी धूलिसे भरी हुई भूमि है वह, धूलिबंधका कारण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया है ऐसे उस भूमिमें रहे हुए पुरुषोंको भी धूलिबंधका प्रसंग आ जायेगा। शस्त्रोंका व्यायामरूपी कर्म भी धूलिबंधका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया है उनके भी शस्त्र व्यायामरूपी क्रियाके करनेसे धूलिबंधका प्रसंग आ जायेगा। अनेक प्रकारके करण भी धूलिबंधके कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया है उनके भी अनेक प्रकारके करणोंसे धूलिबंधका प्रसंग आ जायेगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात भी धूलिबंधका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया उन्हें भी सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करनेसे धूलिबंधका प्रसंग आ जायेगा।

इसलिये न्यायके बलसे ही यह फलित (सिद्ध) हुआ कि उस पुरुषमें तैलका मर्दन करना बंधका कारण है। इसीप्रकार—मिथ्यादृष्टि अपनेमें रागादिक करता हुआ, स्वभावसे ही जो बहुतसे कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ है ऐसे लोकमें काय,-वचन-मन का कर्म (क्रिया) करता हुआ, अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, कर्मरूपी रजसे बंधता है। (यहाँ विचार करो कि) इनमेंसे उस पुरुषके बंधका कारण कौन है? प्रथम, स्वभावसे ही जो बहुतसे कर्म योग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ है ऐसा लोक बंधका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धोंको भी—जो कि लोकमें रह रहे हैं उनके भी बंधका प्रसंग आ जायेगा। काय-वचन-मनका कर्म (अर्थात् काय-वचन-मनकी क्रिया स्वरूप योग) भी बंधका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यात संयमियोंके भी (काय-वचन-मनकी क्रिया होनेसे) बंधका प्रसंग आ जायेगा। अनेक प्रकारके करण भी बन्धके

बध्यते। तस्य कतमो बंधहेतुः? न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्। न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसंगात्। नानेकप्रकारकरणानि, केवलज्ञानिनामपि तत्प्रसंगात्। न सचित्ताचित्त-वस्तूपघातः समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायातं यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः।

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्।

कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियोंके भी बंधका प्रसंग आ जायेगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात भी बन्धका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जो समिति मे तत्पर हैं उनके भी (अर्थात् जो यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते है ऐसे साधुओंके भी सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंके घातसे) बंधका प्रसंग आ जायेगा। इसलिये न्यायबलसे ही यह फलित हुआ कि उपयोगमे रागादिकरण (अर्थात् उपयोगमे रागादिकका करना) बंधका कारण है।

भावार्थः—यहाँ निश्चयनयको प्रधान करके कथन है। जहाँ निर्बाध हेतुसे सिद्धि होती है वही निश्चय है। बन्धका कारण विचार करने पर निर्बाधतया यही सिद्ध हुआ कि—मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन रागद्वेषमोह भावोंको अपने उपयोगमे करता है वे रागादिक ही बंधके कारण हैं। उनके अतिरिक्त अन्य—बहुकर्म योग्य पुद्गलोंसे परिपूर्ण लोक, मनवचनकायके योग, अनेक करण तथा चेतन-अचेतनका घात—बंधके कारण नहीं हैं; यदि उनसे बंध होता हो तो सिद्धोंके, यथाख्यात चारित्रवानोंके, केवलज्ञानियोंके और समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियोंके बंधका प्रसंग आ जायेगा। परन्तु उनके तो बंध होता नहीं है। इसलिये इन हेतुओंमें (कारणोंमे) व्यभिचार (दोष) आया। इसलिये यह निश्चय है कि बंधके कारण रागादिक ही हैं।

यहाँ समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियोंका नाम लिया गया है और अविरत, देश-विरतका नाम नहीं लिया, इसका यह कारण है कि—अविरत तथा देशविरतके बाह्य समिति-रूप प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये चारित्र मोह संबंधी रागसे किंचित् बंध होता है; इसलिये सर्वथा बंधके अभावकी अपेक्षामे उनका नाम नहीं लिया। वैसे अंतरंगकी अपेक्षासे तो उन्हें भी निर्बंध ही जानना चाहिये।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ—कर्मबन्धको करनेवाला कारण न तो बहुकर्मयोग्य पुद्गलोसे भरा हुआ लोक है न चलनस्वरूप कर्म (मनवचनकायकी क्रियारूप योग) है, न अनेक प्रकारके करण हैं

यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणाम् ॥ १६४ ॥ (पृथ्वी)

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २४२ ॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सचित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २४३ ॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥ २४४ ॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४५ ॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाई ण लिप्पइ रयेण ॥ २४६ ॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।
रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥ २४२ ॥

और न चेतन अचेतनका घात है । किन्तु 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादिके साथ जो ऐक्यको प्राप्त होता है वही एकमात्र वास्तवमें पुरुषोंके बंध कारण है ।

भावार्थः—यहाँ निश्चयनयसे एकमात्र रागादिको ही बन्धका कारण कहा है ।२३७-२४१।

जिस रीत फिर वो ही पुरुष, उस तेल सबको दूर कर ।
व्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक ठहर ॥ २४२ ॥
अरु ताड़, कदली, बाँस आदी, छिन्न भिन्न बहू करे ।
उपघात आप सचित्त अवरु, अचित्त द्रव्योंका करे ॥ २४३ ॥
बहुभाँतिके करणादिसे, उपघात करते उनहि को ।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध नहिं किन कारणों ॥ २४४ ॥
यों जानना निश्चयपने, चिकनाइ जो उस नरविषैं ।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥ २४५ ॥
योगों विविधमें वर्तता, इसभाँति सम्यक्दृष्टि जो ।
उपयोगमें रागादि न करे, रजहि नहिं लेपाय वो ॥ २४६ ॥

छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥ २४३ ॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिको न रजोबंधः ॥ २४४ ॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४५ ॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥ २४६ ॥

सम्यक्दृष्टि उपयोगमें रागादि नहीं करता, उपयोगका और रागादिका भेद जानकर रागादिका स्वामी नहीं होता इसलिये उसे पूर्वोक्त चेष्टासे बंध नहीं होता,—यह कहते हैं:—

गाथा २४२-२४३-२४४-२४५-२४६

अन्वयार्थः—[**यथा पुनः**] और जैसे [**सः च एव नरः**] वही पुरुष [**सर्वस्मिन् स्नेहे**] समस्त तेल आदि स्निग्ध पदार्थको [**अपनीते सति**] दूर किये जाने पर [**रेणुबहुले**] बहुत धूलिवाले [**स्थाने**] स्थानमें [**शस्त्रैः**] शस्त्रोंके द्वारा [**व्यायामं करोति**] व्यायाम करता है, [**तथा**] और [**तालीतलकदलीवंशपिंडीः**] ताड़, तमाल, केल, बाँस और अशोक आदि वृक्षोंको [**छिनत्ति**] छेदता है, [**भिनत्ति च**] और भेदता है [**सचित्ताचित्तानां**] सचित्त तथा अचित्त [**द्रव्याणां**] द्रव्योंका [**उपघातं**] उपघात [**करोति**] करता है; [**नानाविधैः करणैः**] ऐसे नानाप्रकारके करणोंके द्वारा [**उपघातं कुर्वतः**] उपघात करते हुए [**तस्य**] उस पुरुषको [**रजोबन्धः**] धूलिका बन्ध [**खलु**] वास्तवमें [**किंप्रत्ययिकः**] किस कारणसे [**न**] नहीं होता [**निश्चयतः**] यह निश्चयसे [**चिंत्यतां**] विचार करो। [**तस्मिन् नरे**] उस पुरुषमें [**यः सः स्नेहभावः तु**] जो वह तेल आदिकी चिकनाई है [**तेन**] उससे [**तस्य**] उसके [**रजोबंधः**] धूलिका बंध होना [**निश्चयतः विज्ञेयं**] निश्चयसे जानना चाहिये, [**शेषाभिः कायचेष्टाभिः**] शेष कायकी चेष्टाओंसे [**न**] नहीं होता। (इसलिये उस पुरुषमें तेल आदिकी चिकनाहटका अभाव होनेसे ही, धूलि इत्यादि नहीं चिपकती।) [**एवं**]

यथा स एव पुरुषः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणस्तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा न बध्यते स्नेहाभ्यंगस्य बंधहेतोरभावात्। तथा सम्यग्दृष्टिः, आत्मनि रागादीनकुर्वाणः सन् तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैः, तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा न बध्यते रागयोगस्य बंधहेतोरभावात्।

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु न परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।

इसप्रकार **[बहुविधेषुयोगेषु]** बहुत प्रकारके योगोंमें **[वर्तमानः]** वर्तता हुआ **[सम्यक्दृष्टिः]** सम्यक्दृष्टि **[उपयोगे]** उपयोगमें **[रागादीन् अकुर्वन्]** रागादिको न करता हुआ **[रजसा]** कर्मरजसे **[न लिप्यते]** लिप्त नहीं होता।

टीका:—जैसे वही पुरुष, सम्पूर्ण चिकनाहटको दूर कर देने पर, उसी स्वभावसे ही अत्यधिक धूलिसे भरी हुई उसी भूमिमें वही शस्त्रव्यायामरूपी क्रियाको करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, धूलिसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके धूलिके लिप्त होनेका कारण जो तैलादिका मर्दन है उसका अभाव है; इसीप्रकार सम्यक्दृष्टि, अपनेमें रागादिको न करता हुआ, उसी स्वभावसे बहुकर्म योग्य पुद्गलों से भरे हुए लोकमें वही मन, वचन, कायकी क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा उन्हीं सचिताचित्त वस्तुओका घात करता हुआ, कर्मरूपीरजसे नहीं बंधता, क्योंकि उसके बंधके कारणभूत रागके योगका अभाव है।

भावार्थ:—सम्यक्दृष्टिके पूर्वोक्त सर्व सम्बन्ध होने पर भी रागके सम्बन्धका अभाव होनेसे कर्मबन्ध नही होता। इसके समर्थनमे पहले कहा जा चुका है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते है:—

अर्थ:—इसलिये वह (पूर्वोक्त) बहुकर्मोसे (कर्मयोग्य पुद्गलोसे) भरा हुआ लोक है सो भले रहो, वह मनवचनकायका चलनस्वरूप कर्म (योग) है सो भी भले रहो, वे (पूर्वोक्त) करण भी उसके भले रहें और चेतन–अचेतनका घात भी भले हो, परन्तु अहो! यह सम्यक्दृष्टि आत्मा, रागादिको उपयोग भूमिमे न लाता हुआ केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ किसी भी कारणसे निश्चयतः बंधको प्राप्त नहीं होता। (अहो! देखो! यह सम्यक्दर्शनकी अद्भुत महिमा है।)

रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
वंधं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥ १६५ ॥ (शार्दूल०)

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां।
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥ १६६ ॥ (पृथ्वी)

भावार्थः— यहाँ सम्यक्दृष्टिकी अद्‌भुत महिमा बताई है, और यह कहा है कि लोक, योग, करण, चैतन्य-अचैतन्यका घात—वे बंधके कारण नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि परजीवकी हिंसासे बंधका होना नही कहा इसलिये स्वच्छन्द होकर हिसा करनी, किन्तु यहाँ यह आशय है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् पर जीवका घात भी हो जाये तो उससे वन्ध नहीं होता। किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवोको मारनेके भाव होगे वहाँ अपने उपयोगमे रागादिका अस्तित्व होगा और उससे वहाँ हिसाजन्य बंध होगा ही। जहाँ जीवको जिलानेका अभिप्राय हो वहाँ भी अर्थात् उस अभिप्रायको भी निश्चयनयमे मिथ्यात्व कहा है तब फिर जीवको मारनेका अभिप्राय मिथ्यात्व क्यो न होगा? अवश्य होगा, इसलिये कथनको नय विभागसे यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिये। सर्वथा एकान्त मानना मिथ्यात्व है।

अव, उपरोक्त भावार्थमे कथित आशयको प्रगट करनेके लिये, व्यवहारनयकी प्रवृत्ति करानेके लिये, काव्य कहते हैं:—

अर्थः—तथापि (अर्थात् लोक आदि कारणोसे बंध नहीं कहा और रागादिकसे ही वन्ध कहा है तथापि) ज्ञानियोको निरर्गल (स्वच्छन्दतापूर्वक) प्रवर्तना योग्य नहीं है, क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्तन वास्तवमे वन्धका ही स्थान है। ज्ञानियोके वांछारहित कर्म (कार्य) होता है वह बंधका कारण नहीं कहा है, क्योकि जानता भी है और (कर्मको) करता भी है - यह दोनो क्रियाएं क्या विरोधरूप नही हैं? (करना और जानना निश्चयसे विरोधरूप ही है।)

भावार्थः—पहले काव्यमे लोक आदिको वंधका कारण नही कहा, इसलिये वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि वाह्य व्यवहार प्रवृत्तिका वंधके कारणोमे सर्वथा ही निषेध किया है; वाह्य व्यवहार प्रवृत्ति रागादिपरिणामकी-वंधके कारणकी निमित्तभूत है, उस निमित्तताका यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिये। ज्ञानियोके अबुद्धिपूर्वक-वांछा रहित प्रवृत्ति होती है, इसलिये वंध नहीं कहा है, उन्हे कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तनेको नहीं कहा है; क्योकि मर्यादा-रहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो वंधका ही कारण है। जाननेमे और करनेमे तो परस्पर विरोध है; ज्ञाता रहेगा तो वंध नही होगा, कर्ता होगा तो अवश्य वंध होगा।

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधहेतुः ॥ १६७ ॥ (वसंततिलका)

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७ ॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २४७ ॥

परजीवानहं हिनस्मि परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु

"जो जानता है सो करता नही और जो करता है सो जानता नहीं; करना तो कर्मका राग है, और जो राग है सो अज्ञान है तथा अज्ञान बंधका कारण है"—इस अर्थका काव्य कहते है :—

अर्थः—जो जानता है सो करता नहीं और जो करता है सो जानता नहीं। करना तो वास्तवमें कर्म राग है और रागको (मुनियो ने) अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; जो कि नियमसे मिथ्यादृष्टिके होता है और वह बंधका कारण है ॥ २४२–२४६ ॥

अब मिथ्यादृष्टिके आशयको गाथामें स्पष्ट कहते है :—

गाथा २४७

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**मन्यते**] यह मानता है कि [**हिनस्मि च**] 'मै पर जीवोको मारता हूँ [**परैः सत्त्वैः हिंस्ये च**] और पर जीव मुझे मारते हैं' [**सः**] वह [**मूढः**] मूढ़ (मोही) है, [**अज्ञानी**] अज्ञानी है, [**तु**] और [**अतः विपरीतः**] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता वह) [**ज्ञानी**] ज्ञानी है।

टीकाः—'मै पर जीवोको मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं'–ऐसा अध्यवसाय[1] ध्रुवरूपसे (नियमसे, निश्चयत) अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है वह अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपनेके कारण सम्यक्दृष्टि है।

---

१ अध्यवसाय=मिथ्या अभिप्राय; आशय।

जो मानता मैं मारुं पर अरु घात पर मेरा करे।
वो मूढ़ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥ २४७ ॥

यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः। यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः ॥२४७॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानं ? इति चेत्—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥ २४८ ॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥ २४९ ॥

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम् ॥ २४८ ॥

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ॥ २४९ ॥

भावार्थ:—'पर जीवोंको मैं मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं' ऐसा अभिप्राय अज्ञान है, इसलिये जिसका ऐसा आशय है वह अज्ञानी है—मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय नहीं है वह ज्ञानी है—सम्यक्दृष्टि है।

निश्चयनयसे कर्ताका स्वरूप यह है—स्वयं स्वाधीनतया जिस भावरूप परिणमित हो उस भावका स्वयं कर्ता कहलाता है। इसलिये परमार्थतः कोई किसीका मरण नहीं करता। जो पर से पर का मरण मानता है, वह अज्ञानी है। निमित्त-नैमित्तिक भावसे कर्ता कहना सो व्यवहारनयका कथन है; उसे यथार्थतया (अपेक्षाको समझ कर) मानना सो सम्यक्ज्ञान है ॥ २४७ ॥

अब, यह प्रश्न होता है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उसके उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं :—

गाथा २४८–२४९

अन्वयार्थः—(हे भाई ! तू जो यह मानता है कि 'मैं पर जीवोंको मारता हूँ'

है आयुक्षयसे मरण जिवका ये हि जिनवरने कहा।
तू आयु तो हरता नहीं, तैंने मरण कैसे किया ॥ २४८ ॥

है आयुक्षयसे मरण जिवका ये हि जिनवरने कहा।
वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया ॥ २४९ ॥

मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात् स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात्। ततो न कथंचनापि, अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात्। ततो हिनस्मि हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ॥ २४८। २४९ ॥

सो यह तेरा अज्ञान है।) [**जीवानां**] जीवोंका [**मरणं**] मरण [**आयुःक्षयेण**] आयु कर्मके क्षयसे होता है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनेन्द्रदेव ने [**प्रज्ञप्तं**] कहा है; [**त्वं**] तू [**आयुः**] पर जीवोंके आयुकर्मको तो [**न हरसि**] हरता नहीं है, [**त्वया**] तो तूने [**तेषां मरणं**] उनका मरण [**कथं**] कैसे [**कृतं**] किया ?

(हे भाई ! तू जो यह मानता है कि 'पर जीव मुझे मारते हैं' सो यह तेरा अज्ञान है।) [**जीवानां**] जीवोंका [**मरणं**] मरण [**आयुःक्षयेण**] आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनेन्द्रदेवने [**प्रज्ञप्तं**] कहा है; पर जीव [**तव आयुः**] तेरे आयुकर्मको तो [**न हरंति**] हरते नहीं हैं, [**तैः**] तो उन्होंने [**ते मरणं**] तेरा मरण [**कथं**] कैसे [**कृतं**] किया ?

टीका:— प्रथम तो, जीवोंका मरण वास्तवमें अपने आयुकर्मके क्षयसे ही होता है, क्योंकि अपने आयुकर्मके क्षयके अभावमें मरण होना अशक्य है; और दूसरेसे दूसरेका स्व-आयुकर्म हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (स्व-आयुकर्म) अपने उपभोगसे ही क्षयको प्राप्त होता है; इसलिये किसी भी प्रकारसे कोई दूसरा किसी दूसरेका मरण नहीं कर सकता। इसलिये 'मैं परजीवोंको मारता हूँ, और पर जीव मुझे मारते हैं' ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (नियमसे) अज्ञान है।

भावार्थ:—जीवकी जो मान्यता हो तदनुसार जगतमें नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है। अपने द्वारा दूसरेका तथा दूसरेसे अपना मरण नहीं किया जा सकता, तथापि यह प्राणी व्यर्थ ही ऐसा मानता है सो अज्ञान है। यह कथन निश्चयनयकी प्रधानतासे है।

व्यवहार इसप्रकार है:—परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे पर्यायका जो उत्पाद-व्यय हो उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्तसे मरण (पर्यायका व्यय) हो उसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि "इसने इसे मारा", यह व्यवहार है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि व्यवहारका सर्वथा निषेध है। जो निश्चयको नहीं जानने,

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्ता ? इति चेत्—

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५० ॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५० ॥

परजीवानहं जीवयामि परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ॥ २५०

उनका अज्ञान मिटानेके लिये यहाँ कथन किया है । उसे जाननेके बाद दोनो नयोको अविरोधरूपसे जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिये ॥ २४८–२४९ ॥

अब पुनः प्रश्न होता है कि "(मरणका अध्यवसाय अज्ञान है, यह कहा सो जान लिया; किन्तु अब) मरणके अध्यवसायका प्रतिपक्षी जो जीवनका अध्यवसाय है उसका क्या हाल है ?" उसका उत्तर कहते है :—

गाथा २५०

अन्वयार्थः—[**यः**] जो जीव [**मन्यते**] यह मानता है कि [**जीवयामि**] मै पर जीवोको जिलाता हूँ [**च**] और [**परैः सत्त्वैः**] पर जीव [**जीव्ये च**] मुझे जिलाते हैं. [**सः**] वह [**मूढः**] मूढ (मोही) है, [**अज्ञानी**] अज्ञानी है [**तु**] और [**अतः विपरीतः**] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता किन्तु इससे उल्टा मानता है) वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी है ।

टीका:—'पर जीवोको मै जिलाता हूँ, और परजीव मुझे जिलाते हैं' इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (अत्यंत निश्चितरूपसे) अज्ञान है । यह अध्यवसाय जिसके है वह जीव अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपनेके कारण सम्यक्दृष्टि है ।

भावार्थ:—यह मानना अज्ञान है कि 'परजीव मुझे जिलाता है और मैं परको जिलाता हूँ' । जिसके यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है वह सम्यक्दृष्टि है ॥ २५० ॥

जो मानता मैं पर जिलावूं, मुझ जिवन परसे रहे ।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥ २५० ॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् ?—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥ २५१ ॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥ २५२ ॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम् ॥ २५१ ॥
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददति तव कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥ २५२ ॥

अब यह प्रश्न होता है कि यह (जीवनका) अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २५१-२५२

अन्वयार्थः—[**जीवः**] जीव [**आयुरुदयेन**] आयुकर्मके उदयसे [**जीवति**] जीता है; [**एवं**] ऐसा [**सर्वज्ञाः**] सर्वज्ञदेव [**भणंति**] कहते हैं; [**त्वं**] तू [**आयुः च**] पर जीवोंको आयुकर्म तो [**न ददासि**] नहीं देता [**त्वया**] तो (हे भाई !) तूने [**तेषां जीवितं**] उनका जीवन (जीवित रहना) [**कथं कृतं**] कैसे किया ?

[**जीवः**] जीव [**आयुरुदयेन**] आयुकर्मके उदयसे [**जीवति**] जीता है [**एवं**] ऐसा [**सर्वज्ञाः**] सर्वज्ञदेव [**भणंति**] कहते हैं; परजीव [**तव**] तुझे [**आयुः च**] आयुकर्म तो [**न ददति**] देते नहीं हैं [**तैः**] तो (हे भाई !) उन्होंने [**ते जीवितं**] तेरा जीवन (जीवित रहना) [**कथं नु कृतं**] कैसे किया ?

जीतव्य जिवका आयुदयसे, ये हि जिनवर ने कहा ।
तू आयु तो देता नहीं, तैंने जिवन कैसे किया ॥ २५१ ॥
जीतव्य जिवका आयुदयसे, ये हि जिनवरने कहा ।
वो आयु तुझ देते नहीं, तो जिवन तुझ कैसे किया ॥ २५२ ॥

जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्। स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्। ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात्। अतो जीवयामि जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ॥ २५१। २५२ ॥

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एषैव गतिः—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५३ ॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५३ ॥

टीका:—प्रथम तो, जीवोंका जीवित (जीवन) वास्तवमें अपने आयुकर्मके उदयसे ही है, क्योंकि अपने आयुकर्मके उदयके अभावमें जीवित रहना अशक्य है; और अपना आयुकर्म दूसरेसे दूसरेको नहीं दिया जा सकता; क्योंकि वह (अपना आयुकर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिये किसी भी प्रकारसे कोई, दूसरेका जीवन नहीं कर सकता। इसलिये 'मैं परको जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाता है' इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (नियतरूपसे) अज्ञान है।

भावार्थ:—पहले मरणके अध्यवसायके संबंधमें कहा था इसीप्रकार यहाँ भी जानना ॥ २५१–२५२ ॥

अब यह कहते हैं कि दुःख–सुख करनेके अध्यवसायकी भी यही गति है:—

गाथा २५३

अन्वयार्थ:—[**यः**] जो [**इति मन्यते**] यह मानता है कि [**आत्मना तु**] अपने द्वारा [**सत्वान्**] मैं (पर) जीवोंको [**दुःखितसुखितान्**] दुखी-सुखी [**करोमि**] करता हूँ, [**सः**] वह [**मूढः**] मूढ़ (मोही) है, [**अज्ञानी**] अज्ञानी है [**तु**] और [**अतः विपरीतः**] जो इससे विपरीत है वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी है।

जो आपसे माने दुखी सुखि, मैं करूं परजीवको।
वो मूढ़ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥ २५३ ॥

परजीवानहं दुःखितान् सुखितांश्च करोमि । परजीवैर्दुःखितः सुखितश्च क्रियेहं, इत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं । स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ॥ २५३ ॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते ॥ २५४ ॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥ २५५ ॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥ २५६ ॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥ २५४ ॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कृतोऽसि कथं दुःखितस्तैः ॥ २५५ ॥

टीका:—'परजीवोंको मैं दुखी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुखी तथा सुखी करते हैं' इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे अज्ञान है । वह अध्यवसाय जिसके है वह जीव अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है, और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपनेके कारण सम्यक्दृष्टि है ।

भावार्थ—यह मानना अज्ञान है कि 'मैं परजीवोंको दुखी या सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुखी या सुखी करते हैं' । जिसे यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अज्ञान नहीं है वह ज्ञानी है—सम्यक्दृष्टि है ॥ २५३ ॥

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २५४-२५५-२५६

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**सर्वे जीवाः**] सभी जीव [**कर्मोदयेन**]

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें ।
तू कर्म तो देता नहीं, कैसे तु दुखित सुखी करे ॥ २५४ ॥
जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें ।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो दुखित तुझ कैसे करें ॥ २५५ ॥
जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें ।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें ॥ २५६ ॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः ॥ २५६ ॥

सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात् । स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्य तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि अन्योन्यस्य सुखदुःखे कुर्यात् । अतः सुखितदुःखितान् करोमि, सुखित-दुःखितः क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ।

कर्मके उदयसे [**दुःखितसुखिताः**] दुखी-सुखी [**भवंति**] होते हैं [**च**] और [**त्वं**] तू [**कर्म**] उन्हे कर्म तो [**न ददासि**] देता नहीं है, तो (हे भाई !) तूने [**ते**] उन्हे [**दुःखितसुखिताः**] दुखी-सुखी [**कथंकृताः**] कैसे किया ?

[**यदि**] यदि [**सर्वे जीवाः**] सभी जीव [**कर्मोदयेन**] कर्मके उदयसे [**दुःखितसुखिताः**] दुखी-सुखी [**भवंति**] होते हैं [**च**] और वे [**तव**] तुझे [**कर्म**] कर्म तो [**न ददति**] नहीं देते, तो (हे भाई !) [**तैः**] उन्होंने [**दुःखितः**] तुझको दुखी [**कथं कृतः असि**] कैसे किया ?

[**यदि**] यदि [**सर्वेजीवाः**] सभी जीव [**कर्मोदयेन**] कर्मके उदयसे [**दुःखितसुखिताः**] दुखी-सुखी [**भवंति**] होते हैं [**च**] और वे [**तव**] तुझे [**कर्म**] कर्म तो [**न ददाति**] नहीं देते, तो (हे भाई !) [**तैः**] उन्होंने [**त्वं**] तुझको [**सुःखितः**] सुखी [**कथं कृतः**] कैसे किया ?

टीका:—प्रथम तो, जीवोंको सुख-दुःख वास्तवमें अपने कर्मोदयसे ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदयके अभावमें सुख-दुःख होना अशक्य है; और अपना कर्म दूसरे द्वारा दूसरेको नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना कर्म) अपने परिणामसे ही उपार्जित होता है; इसलिये किसी भी प्रकारसे एक, दूसरेको सुख-दुःख नहीं कर सकता। इसलिये यह अध्यव-साय ध्रुवरूपसे अज्ञान है कि 'मैं परजीवोंको सुखी-दुःखी करता हूँ और पर जीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं'।

भावार्थ:—जीवका जैसा आशय हो तदनुसार जगतमें कार्य न होते हों तो वह आशय अज्ञान है। इसलिये, सभी जीव अपने अपने कर्मोदयसे सुखी - दुःखी होते हैं वहाँ यह मानना कि 'मैं परको सुखी-दुःखी करता हूँ और पर मुझे सुखी-दुःखी करता है', सो अज्ञान है। निमित्तनैमित्तिक भावके आश्रयमें (किसीको किसीके) सुख दुःखका करनेवाला कहना सो व्यवहार है, जो कि निश्चयकी दृष्टिमें गौण है।

"सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥ १६८ ॥ (वसंततिलका)
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥ १६९ ॥ (वसंततिलका)

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ २५७ ॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ २५८ ॥

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस जगतमें जीवोंके मरण, जीवित, दुःख, सुख–सब सदैव नियमसे (निश्चित रूपसे) अपने कर्मोदयसे होता है; यह मानना तो अज्ञान है कि 'दूसरा पुरुष दूसरेके मरण–जीवन, दुःख–सुखको करता है'।

पुनः इसी अर्थको दृढ़ करनेवाला और आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञानको प्राप्त करके जो पुरुष परसे परके मरण, जीवन, दुःख, सुखको देखते है अर्थात् मानते है, वे पुरुष –जो कि इसप्रकार अहंकार—रससे कर्मोंको करनेके इच्छुक है (अर्थात् 'मै इन कर्मोंको करता हूँ' ऐसे अहंकाररूपी रससे जो कर्म करनेकी—मारने-जिलानेकी, सुखी–दुःखी करनेकी वांछा करनेवाले है) वे–नियमसे मिथ्यादृष्टि है, अपने आत्माका घात करनेवाले है ।

भावार्थः—जो परको मारने–जिलानेका तथा सुख–दुःख करनेका अभिप्राय रखते है वे मिथ्यादृष्टि है । वे अपने स्वरूपसे च्युत होने हुए रागी, द्वेषी, मोही होकर स्वतः ही अपना घात करते हैं, इसलिये वे हिंसक है ॥ २५४–२५६ ॥

मरता दुखी होता जु जिव सब कर्म उदयोंसे बनें ।
मुझसे मरा अरु दुखि हुआ क्या मत न तुझ मिथ्या अरे ॥ २५७ ॥
अरु नहिं मरे, नहिं दुखि बने, वे कर्म उदयोंसे बने ।
"मैंने न मारा दुखि करा" क्या मत न तुझ मिथ्या अरे ॥ २५८ ॥

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५७ ॥
यो न म्रियते न च दुःखितः सोऽपि च कर्मोदयेन चैव खलु ।
तस्माच्च मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५८ ॥

यो हि म्रियते जीवति वा दुःखितो भवति सुखितो भवति वा स खलु स्वकर्मोदयेनैव तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात् । ततः मयायं मारितः, अयं जीवितः, अयं दुःखितः कृतः, अयं सुखितः कृतः इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः ।

अब इसी अर्थको गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

गाथा २५७-२५८

अन्वयार्थः—[**यः म्रियते**] जो मरता है [**च यः दुःखितः जायते**] और जो दुःखी होता है [**सः सर्वः**] वह सब [**कर्मोदयेन**] कर्मोदयसे होता है; [**तस्मात् तु**] इसलिये [**मारितः च दुःखितः**] 'मैंने मारा, मैंने दुखी किया' [**इति ते**] ऐसा तेरा अभिप्राय [**न खलु मिथ्या**] क्या वास्तवमें मिथ्या नहीं है ?

[**च**] और [**यः न म्रियते**] जो न मरता है [**च न दुःखितः**] और न दुखी होता है [**सः अपि**] वह भी [**खलु**] वास्तवमें [**कर्मोदयेन च एव**] कर्मोदयसे ही होता है, [**तस्मात्**] इसलिये [**न मारितः च न दुःखितः**] 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुखी नहीं किया' [**इति**] ऐसा तेरा अभिप्राय [**न खलु मिथ्या**] क्या वास्तवमें मिथ्या नहीं है ?

टीकाः—जो मरता है या जीता है, दुखी होता है या सुखी होता है, यह वास्तवमें अपने कर्मोदयसे ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदयके अभावमें उसका वैसा होना (मरना, जीना, दुखी या सुखी होना) अशक्य है । इसलिये ऐसा देखनेवाला अर्थात् माननेवाला मिथ्यादृष्टि है कि—'मैंने इसे मारा, इसे जिलाया, इसे दुखी किया, इसे सुखी किया' ।

भावार्थः—कोई किसीके मारे नहीं मरता और जिलाये नहीं जीता, तथा किसीके सुखी-दुखी किये सुखी-दुखी नहीं होता; इसलिये जो मारने, जिलाने आदिका अभिप्राय करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है.—यह निश्चयका वचन है । यहाँ व्यवहारनय गौण है ।

अब, आगेके कथनका सूचक श्लोक कहते हैं —

"मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात्।
स एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते॥ १७०॥ (अनुष्टुप्)

एसा दु जा मई दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं॥ २५९॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्वानिति।
एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म॥ २५९॥

परजीवानहं हिनस्मि न हिनस्मि दुःखयामि सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यवसायो मिथ्यादृष्टेः स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधहेतुः॥२५९॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टिके जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय* दिखाई देता है वही, विपर्ययस्वरूप (मिथ्या) होनेसे, उस मिथ्यादृष्टिके बंधका कारण है।

भावार्थः—मिथ्या अभिप्राय ही मिथ्यात्व है और वही बंधका कारण है—ऐसा जानना चाहिये॥ २५७–२५८॥

अब, यह कहते है कि यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंधका कारण है:—

गाथा २५९

अन्वयार्थः—[ते] तेरी [**एषा या मतिः तु**] यह जो बुद्धि है कि मै [**सत्वान्**] जीवोंको [**दुःखितसुखितान्**] दुखी–सुखी [**करोमि इति**] करता हूँ, [**एषा ते मूढ मतिः**] यह तेरी मूढ़बुद्धि ही (मोहस्वरूप बुद्धि ही) [**शुभाशुभं कर्म**] शुभाशुभकर्मको [**बध्नाति**] बांधती है।

टीकाः—'मैं पर जीवोंको मारता हूँ, नहीं मारता, दुखी करता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टिके है, वही स्वयं रागादिरूप होनेसे उसे (मिथ्यादृष्टिको) शुभाशुभ बन्धका कारण है।

भावार्थः—मिथ्या अध्यवसाय बन्धका कारण है॥ २५९॥

---

* जो परिणाम मिथ्या अभिप्राय सहित हो (स्व–परके एकत्वके अभिप्रायसे युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणामके लिये 'अध्यवसाय' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्रायके अर्थमें भी अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त होता है।

ये बुद्धि तेरी "दुखित अवरु सुखी करूं हूं जीवको"।
वो मूढ़मति तेरी अरे, शुभ अशुभ बांधे कर्मको॥ २५९॥

अथाध्यवसायं बंधहेतुत्वेनावधारयति—

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६० ॥
मारेमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६१ ॥

दुःखितसुखितान् सत्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥ २६० ॥
मारयामि जीवयामि च सत्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥ २६१ ॥

अब, अध्यवसायको बंधके कारणके रूपमे भलीभाँति निश्चित करते है (अर्थात् मिथ्या अध्यवसाय ही बंधका कारण है ऐसा नियमसे कहते है).—

गाथा २६०-२६१

अन्वयार्थः—'[**सत्वान्**] जीवोंको मै [**दुःखितसुखितान्**] दुखी-सुखी [**करोमि**] करता हूँ' [**एवं**] ऐसा [**यद् ते अध्यवसितं**] जो तेरा *अध्यवसान, [**तद्**] वही [**पापबन्धकं वा**] पापका बन्धक [**पुण्यस्य बंधकं वा**] अथवा पुण्यका बन्धक [**भवति**] होता है ।

[**सत्वान्**] जीवोंको मै [**मारयामि वा जीवयामि**] मारता हूँ और जिलाता हूँ [**एवं**] ऐसा [**यद् ते अध्यवसितं**] जो तेरा अध्यवसान, [**तद्**] वही [**पापबन्धकं वा**] पापका बन्धक [**पुण्यस्य बंधकं वा**] अथवा पुण्यका बन्धक [**भवति**] होता है ।

---

* जो परिणमन मिथ्या अभिप्राय सहित है । (स्व-परके एकत्वके अभिप्रायसे युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणमनके लिये 'अध्यवसान' शब्द प्रयुक्त किया जाता है । (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्राय करनेके अर्थमें भी अध्यवसान शब्द प्रयुक्त होता है ।

करता तु अध्यवसान "दुखित सुखी करूं हूँ जीवको" ।
वो बांधता है पापको वा बांधता है पुण्यको ॥ २६० ॥
करता तु अध्यवसान "मैं मारूँ जिवाऊँ जीवको" ।
वो बांधता है पापको वा बांधता है पुण्य को ॥ २६१ ॥

य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोऽध्यवसायः स एव बंधहेतुः, इत्यवधारणीयं न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बंधस्य तद्धेत्वंतरमन्वेष्टव्यं। एकेनैवानेनाध्यवसायेन दुःखयामि, मारयामि इति, सुखयामि, जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बंधहेतुत्वस्याविरोधात् ॥ २६० । २६१ ॥

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥

अध्यवसितेन बंधः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु।
एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥ २६२ ॥

टीका:—मिथ्यादृष्टिके इस अज्ञानसे उत्पन्न होने वाला रागमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है यह भलीभाँति निश्चित करना चाहिये। और पुण्य-पापरूपसे बन्धका द्वित्व (दोपनाँ) होनेसे वन्धके कारणका भेद नही ढूंढना चाहिये (अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि पुण्यवन्ध का कारण दूसरा है और पापवन्ध का कारण कोई दूसरा है), क्योंकि यह एक ही अध्यवसाय 'दुखी करता हूँ, मारता हूँ' इस प्रकार और 'सुखी करता हूँ, जिलाता हूँ' यों दो प्रकार से शुभ-अशुभ अहंकार रस से परिपूर्णता के द्वारा पुण्य और पाप-दोनों के वन्ध के कारण होने मे अविरोध है (अर्थात् एक ही अध्यवसाय से पुण्य और पाप - दोनों का बन्ध होनेमे कोई विरोध नहीं है।

भावार्थ:—यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्धका कारण है। उसमे, 'मै जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसे शुभ अहंकारसे भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है, और 'मै मारता हूँ, दुखी करता हूँ' ऐसे अशुभ अहंकारसे भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है। अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनोंमे है; इसलिये अज्ञानमयतासे दोनो अध्यवसाय एक ही है। अतः यह न मानना चाहिये कि पुण्यका कारण दूसरा है और पापका कारण कोई अन्य। अज्ञानमय अध्यवसान ही दोनोंका कारण है ॥ २६०—२६१ ॥

'इस प्रकार वास्तवमे हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है यह फलित हुआ' - यह कहते हैं: -

---

मारो न मारो जीवको, है बंध अध्यवसानसे।
यह आतमाके बंधका, संक्षेप निश्चयनयविषैं ॥ २६२ ॥

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद् भवतु, कदाचिन्मा भवतु । य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य बंधहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात् ॥ २६२ ॥

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बंधहेतुत्वेन दर्शयति—

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ॥ २६३ ॥

गाथा २६२

अन्वयार्थः—[**सत्वान्**] जीवोंको [**मारयतु**] मारो [**वा मा मारयतु**] अथवा न मारो-[**बंधः**] कर्म बन्ध [**अध्यवसितेन**] अध्यवसानसे ही होता है । [**एषः**] यह, [**निश्चयनयस्य**] निश्चयनयसे, [**जीवानां**] जीवोंके [**बन्धसमासः**] बन्धका संक्षेप है ।

टीका:—परजीवोंको अपने कर्मोदयकी विचित्रतावश प्राणोंका व्यपरोप (—उच्छेद, वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न हो,—किन्तु 'मैं मारता हूँ' ऐसा अहंकार रससे भरा हुआ हिंसाका अध्यवसाय ही निश्चयसे उसके (हिंसाका अध्यवसाय करने वाले जीवको) बंधका कारण है, क्योंकि निश्चयसे परका भाव जो प्राणोंका व्यपरोप वह दूसरेसे किया जाना अशक्य है ।

भावार्थ:—निश्चयनयसे दूसरेके प्राणोंका वियोग दूसरेसे नहीं किया जा सकता; वह उसके अपने कर्मों के उदयकी विचित्रताके कारण कभी होता है और कभी नहीं होता । इसलिये जो यह मानता है—अहंकार करता है कि —'मैं पर जीवको मारता हूँ', उसका यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है । वह अध्यवसाय ही हिंसा है—अपने विशुद्ध चैतन्य प्राणका घात है, और वही बंधका कारण है । यह निश्चयनयका मत है ।

यहाँ व्यवहारनयको गौण करके कहा है ऐसा जानना चाहिये । इसलिये वह कथन कथंचित् (अपेक्षा पूर्वक) है ऐसा समझना चाहिये; सर्वथा एकान्त पक्ष मिथ्यात्व है ॥२६२॥

अब, (हिंसा-अहिंसाकी भाँति सर्व कार्योंमे) अध्यवसायको ही पाप पुण्यके बन्धके कारणरूपसे दिखाते हैं —

यों झूठ मांहिं, अदत्तमें, अब्रह्म अरु परिग्रहविषैं ।
जो होय अध्यवसान उससे पापबंधन होय है ॥ २६३ ॥

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥ २६४ ॥

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापम् ॥ २६३ ॥

तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यम् ॥ २६४ ॥

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबंधहेतुः । यस्तु अहिंसायां यथा

गाथा २६३–२६४

अन्वयार्थः—[एवं] इसी प्रकार (जैसा कि पहले हिंसाके अध्यवसायके संबंधमें कहा गया है उसी प्रकार) **[अलीके]** असत्यमें, **[अदत्ते]** चोरीमें, **[अब्रह्मचर्ये]** अब्रह्मचर्यमें **[च एव]** और **[परिग्रहे]** परिग्रहमें **[यद्]** जो **[अध्यवसानं]** अध्यवसान **[क्रियते]** किया जाता है **[तेन तु]** उससे **[पापं बध्यते]** पापका बंध होता है; **[तथापि च]** और इसी प्रकार **[सत्ये]** सत्यमें, **[दत्ते]** अचौर्यमें, **[ब्रह्मणि]** ब्रह्मचर्यमें **[च एव]** और **[अपरिग्रहत्वे]** अपरिग्रहमें **[यद्]** जो **[अध्यवसानं]** अध्यवसान **[क्रियते]** किया जाता है **[तेन तु]** उससे **[पुण्यं बध्यते]** पुण्यका बध होता है ।

टीकाः—इस प्रकार अज्ञानसे यह जो हिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसी प्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहमे भी जो (अध्यवसाय) किया जाता है, वह सब पाप बन्धका एकमात्र कारण है; और जो अहिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमे भी (अध्यवसाय) किया जाये, वह सब पुण्यबंधका एकमात्र कारण है ।

भावार्थः—जैसे हिंसामें अध्यवसाय पापबन्धका कारण है, उसी प्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका अध्यवसाय भी पापवन्धका कारण है । और जैसे अहिंसामें

इस रीत सत्य रु दत्तमें, त्यों ब्रह्म अनपरिग्रहविषैं ।
जो होय अध्यवसान उससे पुण्यबंधन होय है ॥ २६४ ॥

विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबंधहेतुः ॥ २६३ । २६४ ॥

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बंधहेतुरिति शक्यं वक्तुं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥ २६५ ॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानाम् ।
न च वस्तुतस्तु बंधोऽध्यवसानेन बंधोस्ति ॥ २६५ ॥

अध्यवसानमेव बंधहेतुर्न तु बाह्यवस्तु तस्य बंधहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव

अध्यवसाय पुण्यबंधका कारण है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमे अध्यवसाय भी पुण्यबन्धका कारण है। इस प्रकार, पॉच पापोमे (अव्रतोमे) अध्यवसाय किया जाये सो पापबंधका कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) व्रतोमे अध्यवसाय किया जाये सो पुण्यबंधका कारण है। पाप और पुण्य दोनोके बन्धनमे, अध्यवसाय ही एकमात्र बन्धका कारण है ॥ २६३–२६४ ॥

और भी यह कहना शक्य नही है कि बाह्य वस्तु दूसरा भी बन्धका कारण है। (अध्यवसाय बंधका एक कारण है और बाह्य वस्तु बन्धका दूसरा कारण है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अध्यवसाय ही एक मात्र बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु नही।) इसी अर्थकी गाथा अब कहते है :—

गाथा २६५

अन्वयार्थः—[**पुनः**] और, [**जीवानां**] जीवोंके [**यद्**] जो [**अध्यवसानं तु**] अध्यवसान [**भवति**] होता है वह [**वस्तु**] वस्तुको [**प्रतीत्य**] अवलम्बकर होता है [**च तु**] तथापि [**वस्तुनः**] वस्तुसे [**न बंधः**] बंध नहीं होता, [**अध्यवसानेन**] अध्यवसानसे ही [**बंधः अस्ति**] बंध होता है।

टीका—अध्यवसान ही बंधका कारण है, बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्धका कारण जो अध्यवसान है उसके कारणत्वसे ही बाह्य वस्तुकी चलितार्थता है (अर्थात् बंधके कारणभूत

जो होय अध्यवसान जिवके, वस्तुआश्रित वो बने ।
पर वस्तुसे नहिं बंध अध्यवसान से ही बंध है ॥ २६५ ॥

चरितार्थत्वात्। तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु, आश्रयभूतं। न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते। यदि बाह्यवस्त्वनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत तदा यथा वीरसूसुतस्याश्रयभूतस्य सद्भावे वीरसूसूनुं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा वंध्यासुतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपिवंध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत। नच जायते। ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति नियमः। तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः, हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात्। नच बंधहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यवस्तु बंधहेतुः स्यात् ईर्यासमितिपरिणतयतींद्रपदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिंगवत् बाह्यवस्तुनो बंधहेतुहेतोर-

---

अध्यवसानका कारण होनेमें ही बाह्य वस्तुका कार्य क्षेत्र पूरा हो जाता है, वह वस्तु वन्धका कारण नहीं होती।) यहाँ प्रश्न होता है कि—यदि बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है तो ('बाह्य वस्तुका प्रसंग मत करो' किन्तु त्याग करो, इसप्रकार) बाह्य वस्तुका निषेध किस लिये किया जाता है ? इसका समाधान इसप्रकार है:—अध्यवसानके निषेधके लिये बाह्य वस्तुका निषेध किया जाता है। अध्यवसानको बाह्य वस्तु आश्रयभूत है; बाह्य वस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् उत्पन्न नहीं होता। यदि बाह्य वस्तुके आश्रयके बिना भी अध्यवसान उत्पन्न होता हो तो, जैसे आश्रयभूत वीर जननीके पुत्रके सद्भावमें (किसीको) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि 'मैं वीर जननीके पुत्रको मारता हूँ' इसी प्रकार आश्रयभूत वंध्यापुत्रके असद्भावमें भी (किसीको) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिये कि 'मैं बंध्यापुत्रको मारता हूँ'! परन्तु ऐसा अध्यवसाय तो (किसीको) उत्पन्न नहीं होता। (जहाँ वन्ध्याका पुत्र ही नहीं होता वहाँ मारनेका अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा ?) इसलिये यह नियम है कि (बाह्य वस्तुरूप) आश्रयके बिना अध्यवसान नहीं होता। और इसीलिये अध्यवसानको आश्रयभूत बाह्य वस्तुका अत्यंत निषेध किया है, क्योंकि कारणके प्रतिषेधसे ही कार्यका प्रतिषेध होता है। (बाह्य वस्तु अध्यवसानका कारण है, इसलिये उसके प्रतिषेधसे अध्यवसानका प्रतिषेध होता है।) परन्तु, यद्यपि बाह्य वस्तु बंधके कारणका (अर्थात् अध्यवसानका) कारण है, तथापि वह (बाह्यवस्तु) बंधका कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमितिमें परिणमित मुनींद्रके चरणसे मर जानेवाले—ऐसे किसी वेगसे आपतित कालप्रेरित उड़ते हुए जीवकी भाँति, बाह्य वस्तु—जो कि बंधके कारणका कारण है वह—बधका कारण न होनेसे, बाह्यवस्तुको बंधका कारणत्व माननेमें अनैकान्तिक हेत्वाभासत्व है—व्यभिचार आता है। (इसप्रकार निश्चयसे बाह्यवस्तुको बंध कारणत्व निर्बाधतया सिद्ध नहीं होता।) इसलिये बाह्यवस्तु जो कि जीवको अतद्भावरूप है वह बंधका कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसान जो कि जीवको तद्भावरूप है वही बंधका कारण है।

बंधहेतुत्वेन बंधहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात् । अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बंधहेतुः । अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बंधहेतुः ॥ २६५ ॥

एवं बंधहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वं दर्शयति —

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥ २६६ ॥

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि ।
या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ॥ २६६ ॥

भावार्थः—बंधका कारण निश्चयसे अध्यवसान ही है, और जो बाह्य वस्तुऐं हैं वे अध्यवसानका आलम्बन है—उनको अवलम्बकर अध्यवसान उत्पन्न होता है, इसलिये उन्हें अध्यवसानका कारण कहा जाता है । बाह्यवस्तुके बिना निराश्रयतया अध्यवसान उत्पन्न नहीं होते इसलिये बाह्यवस्तुओंका त्याग कराया जाता है । यदि बाह्यवस्तुओंको बन्धका कारण कहा जाये तो उसमें व्यभिचार (दोष) आता है । (कारण होने पर भी कहीं कार्य दिखाई देता है और कहीं नहीं दिखाई देता, उसे व्यभिचार कहते हैं; और ऐसे कारणको व्यभिचारी—अनैकान्तिक—कारणाभास कहते हैं ।) कोई मुनि ईर्यासमिति पूर्वक यत्नसे गमन करते हों और उनके पैरके नीचे कोई उड़ता हुआ जीव वेगपूर्वक आ गिरे तथा मर जाये तो मुनिको उसकी हिंसा नहीं लगती । यहाँ यदि बाह्यदृष्टिसे देखा जाये तो हिंसा हुई है, परन्तु मुनिके हिंसाका अध्यवसाय नहीं होनेसे उन्हें बन्ध नहीं होता । जैसे पैरके नीचे आकर मर जाने वाला जीव मुनिके बन्धका कारण नहीं है उसीप्रकार अन्य बाह्यवस्तुओंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये इसप्रकार बाह्यवस्तुको बंधका कारण माननेमें व्यभिचार आता है, इसलिये बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है यह सिद्ध हुआ । और बाह्यवस्तु बिना निराश्रयसे अध्यवसान नहीं होता, इसलिये बाह्यवस्तुका निषेध भी है ही । २६५ ।

इसप्रकार बन्धके कारणरूपसे निश्चित किया गया अध्यवसान अपनी अर्थ क्रिया करनेवाला न होनेसे मिथ्या है—यह अब बतलाते हैं:—

गाथा २६६

अन्वयार्थः— हे भाई ! [जीवान्] मैं जीवोंको [दुःखितसुखितान्]

करता दुखी सुखि जीवको, अरु बद्ध मुक्त करूँ अरे ।
ये मूढमति तुझ है निरर्थक, इस हि से मिथ्या हि है ॥ २६६ ॥

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि बंधयामि मोचयामीत्यादि वा यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं केवलमात्मनोऽनर्थायैव ॥ २६६ ॥

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ? इति चेत्—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुचंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं ॥ २६७ ॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि ।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वम् ॥ २६७ ॥

दुःखी-सुखी [**करोमि**] करता हूं, [**बंधयामि**] बंधाता हूँ, [**तथा विमोचयामि**] तथा छुड़ाता हूँ' [**या एषा ते मूढमतिः**] ऐसी जो यह तेरी मूढमति (मोहित-बुद्धि) है [**सा**] वह [**निरर्थिका**] निरर्थक होनेसे [**खलु**] वास्तवमें [**मिथ्या**] मिथ्या है ।

टीका:—मै पर जीवोंको दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि तथा बंधाता हूँ, छुड़ाता हूँ, इत्यादि जो यह अध्यवसान है वह सब, परभावका परमें व्यापार न होनेके कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है, इसलिये 'मै आकाशपुष्पको तोड़ता हूँ' ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप है, मात्र अपने अनर्थके लिये ही है, (अर्थात् मात्र अपने लिये ही हानिका कारण होता है, परका तो कुछ कर नहीं सकता ।)

भावार्थ:—जो अपनी अर्थक्रिया (प्रयोजनभूत क्रिया) नही कर सकता वह निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है । जीव पर जीवोंको दुःखी-सुखी आदि करनेकी बुद्धि करता है, परन्तु पर जीव अपने किये दुखी-सुखी नही होते; इसलिये वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होनेसे मिथ्या है ॥ २६६ ॥

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला कैसे नहीं है ? इसका उत्तर कहते है:—

गाथा २६७

अन्वयार्थः—हे भाई ! [**यदि हि**] यदि वास्तवमें [**अध्यवसान-**

सब जीव अध्यवसान कारण, कर्मसे बँधते जहाँ ।
अरु मोक्षमग थित जीव छूटें, तू हि क्या करता भला ॥ २६७ ॥

यत्किल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्बंधनं मोचनं जीवानां। जीवस्तु अस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः अभावान्न बध्यते न मुच्यते। सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावात्तस्याध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यते मुच्यते च, ततः परत्राकिंचित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ततश्च मिथ्यैवेति भावः।

"अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥ १७१ ॥ (अनुष्टुप्)

निमित्तं] अध्यवसानके निमित्तसे [**जीवाः**] जीव [**कर्मणा बध्यंते**] कर्मसे बधते हैं, [**च**] और [**मोक्षमार्गे स्थिताः**] मोक्षमार्गमें स्थित [**मुच्यंते**] छूटते हैं [**तद्**] तो [**त्वं किं करोषि**] तू क्या करता है ? (तेरा बांधने - छोड़नेका अभिप्राय व्यर्थ गया।)

टीकाः—'मैं बधाता हूँ, छुड़ाता हूँ' ऐसा जो अध्यवसान उसकी अपनी अर्थक्रिया जीवोंको बांधना, छोड़ना है। किन्तु जीव तो, इस अध्यवसायका सद्भाव होने पर भी, अपने सराग–वीतराग परिणामके अभावसे नहीं बंधता और मुक्त नहीं होता; तथा अपने सराग–वीतराग परिणामके सद्भावसे, उस अध्यवसायका अभाव होने पर भी, बंधता है, छूटता है इसलिये परमें अकिंचित्कर होनेसे (अर्थात् कुछ नहीं कर सकता होनेसे) यह अध्यवसान अपनी अर्थ क्रिया करनेवाला नहीं है; और इसलिये मिथ्या ही है। ऐसा भाव (आशय) है।

भावार्थः—जो हेतु कुछ भी नहीं करता वह अकिंचित्कर कहलाता है। यह बांधने-छोडनेका अध्यवसान भी परमें कुछ नहीं करता; क्योंकि यदि वह अध्यवसान न हो तो भी जीव अपने सराग–वीतराग परिणामसे बंध-मोक्षको प्राप्त होता है, और वह अध्यवसान हो तो भी अपने सराग-वीतराग परिणामके अभावसे बंध–मोक्षको प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार अध्यवसान परमें अकिंचित्कर होनेसे स्व–अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है, इसलिये मिथ्या है।

अब, इस अर्थका कलशरूप और आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैः—

अर्थः—इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसायसे मोहित होता हुआ आत्मा अपनेको सर्वरूप करता है,—ऐसा कुछ भी नहीं है जिसरूप अपनेको न करता हो।

भावार्थः—यह आत्मा मिथ्या अभिप्रायमें भूला हुआ चतुर्गति–संसारमें जितनी अवस्थाएं हैं जितने पदार्थ हैं उन सर्वरूप अपनेको हुआ मानता है; अपने शुद्ध स्वरूपको नहीं पहिचानता ॥ २६७ ॥

अब, इस अर्थको स्पष्टतया गाथामें कहते हैं —

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥ २६८ ॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च ।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥ २६९ ॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान् ।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधम् ॥ २६८ ॥
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च ।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानम् ॥ २६९ ॥

यथायमेव क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकं, इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमानतिर्यगध्यवसानेन

गाथा २६८-२६९

अन्वयार्थः—[**जीवः**] जीव [**अध्यवसानेन**] अध्यवसानसे [**तिर्यङ्नैरयिकान्**] तिर्यंच, नारक, [**देवमनुजान् च**] देव और मनुष्य [**सर्वान्**] इन सर्व पर्यायों, [**च**] तथा [**नैकविधं**] अनेक प्रकारके [**पुण्य पापं**] पुण्य और पाप– [**सर्वान्**] इन सब रूप [**करोति**] अपनेको करता है। [**तथा च**] और उसीप्रकार [**जीवः**] जीव [**अध्यवसानेन**] अध्यवसानसे [**धर्माधर्म**] धर्म–अधर्म, [**जीवाजीवौ**] जीव-अजीव [**च**] और [**अलोकलोकं**] लोक–अलोक–[**सर्वान्**] इन सब रूप [**आत्मानं करोति**] अपनेको करता है।

टीका:– जैसे यह आत्मा क्रिया* जिसका गर्भ है ऐसे हिंसाके अध्यवसानसे अपने को हिंसक करता है, (अहिंसाके अध्यवसानसे अपने को अहिंसक करता है।) और अन्य

---

* हिंसा आदिके अध्यवसान राग द्वेषके उदयमय हनन आदि की क्रियाओंसे परिपूर्ण हैं, अर्थात् उन क्रियाओंके साथ आत्माकी तन्मयता होने की मान्यतारूप हैं।

तिर्यंच, नारक, देव, मानव, पुण्यपाप अनेक जे।
उन सर्वरूप करै जु निजको, जीव अध्यवसानसे ॥ २६८ ॥
अरु त्यों हि धर्म अधर्म, जीव अजीव, लोक अलोक जे।
उन सर्वरूप करै जु निजको, जीव अध्यवसानसे ॥ २६९ ॥

तिर्यंचं, विपच्यमानमनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदुःखादिपापाध्यवसानेन पापमात्मानं कुर्यात् । तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं, ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं, ज्ञायमानालोकाकाशाध्यवसानेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात् ।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककंदोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १७२ ॥ (इन्द्रवज्रा)

अध्यवसानोसे अपने को अन्य करता है, इसी प्रकार उदयमे आते हुवे नारकके अध्यवसानसे अपने को नारकी करता है, उदयमे आते हुवे तिर्यंचके अध्यवसानसे अपने को तिर्यंच करता है, उदयमे आते हुवे मनुष्यके अध्यवसानसे अपने को मनुष्य करता है, उदयमे आते हुवे देव के अध्यवसानसे अपने को देव करता है, उदयमे आते हुवे सुख आदि पुण्यके अध्यवसानसे अपने को पुण्यरूप करता है, और उदयमे आते हुवे दु:ख आदि पापके अध्यवसानसे अपने को पापरूप करता है; और इसी प्रकार जाननेमे आता हुवा जो धर्म (धर्मास्तिकाय) है उसके अध्यवसानसे अपने को धर्मरूप करता है, जाननेमे आते हुवे अधर्मके (अधर्मास्तिकायके) अध्यवसानसे अपनेको अधर्मरूप करता है, जाननेमे आते हुवे अन्य जीवके अध्यवसानोसे अपने को अन्य जीवरूप करता है, जाननेमें आते हुवे पुद्गलके अध्यवसानोसे अपनेको पुद्गलरूप करता है, जाननेमे आते हुवे लोकाकाशके अध्यवसानसे अपने को लोकाकाशरूप करता है, और जानने मे आते हुवे अलोकाकाशके अध्यवसानसे अपने को अलोकाकाशरूप करता है। (इस प्रकार आत्मा अध्यवसानसे अपने को सर्वरूप करता है ।)

भावार्थः—यह अध्यवसान अज्ञानरूप है इसलिये उसे अपना परमार्थस्वरूप नहीं जानना चाहिये । उस अध्यवसानसे ही आत्मा अपने को अनेक अवस्थारूप करता है अर्थात उनमें अपनापन मानकर प्रवर्तता है ।

अब इस अर्थका कलशरूप तथा आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं :—

अर्थः—विश्वसे (समस्त द्रव्योंसे) भिन्न होने पर भी आत्मा जिसके प्रभावसे अपने को विश्वरूप करता है ऐसा यह अध्यवसान—कि जिसका मोह ही एक मूल है वह—जिनके नहीं है वे ही मुनि हैं ॥ २६८–२६९ ॥

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥ २७० ॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि ।
ते अशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते ॥ २७० ॥

एतानि किल यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि तानि समस्तान्यपि शुभाशुभकर्मबंधनिमित्तानि स्वयमज्ञानादिरूपत्वात् । तथाहि, यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तत्त्वज्ञानमयत्वेन आत्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं । * * * यत्पुनरेषधर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदप्यज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति

यह अध्यवसाय जिनके नहीं है वे मुनि कर्मसे लिप्त नहीं होते—यह अब गाथा द्वारा कहते हैं :—

गाथा २७०

अन्वयार्थः—[**एतानि**] यह (पूर्व कथित) [**एवमादीनि**] तथा ऐसे और भी [**अध्यवसानानि**] अध्यवसान [**एषां**] जिनके [**न संति**] नहीं हैं, [**ते मुनयः**] वे मुनि [**अशुभेन**] अशुभ [**वा शुभेन**] या शुभ [**कर्मणा**] कर्मसे [**न लिप्यंते**] लिप्त नहीं होते ।

टीका:—यह जो तीनों प्रकारके अध्यवसान हैं वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप (अर्थात् अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्ररूप) होनेसे शुभाशुभ कर्मबन्धके निमित्त हैं । इसे विशेष समझाते हैं:—'मै (पर जीवोंको) मारता हूँ' इत्यादि अध्यवसान अज्ञानमय है; इसलिये

---

* संस्कृत टीकामें इस स्थान पर एक वाक्य छूट गया है; वह प्रायः निम्नप्रकार होगा ऐसा प्रतीत होता है ।

यत्पुनर्नारकोहमित्याद्यध्यवसानं तदप्यज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञायकैकभावस्य कर्मोदयजनितनारकादिभावानां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं ।

इन आदि अध्यवसान विध विध वर्तते नहिं जिनहि को ।
शुभ-अशुभ कर्म अनेकसे, मुनिराज वे नहिं लिप्त हों ॥ २७० ॥

च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं । ततो बंधनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि । येषामेवैतानि न विद्यंते त एव मुनिकुंजराः केचन सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियं सदहेतुकज्ञायकैकभावं सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तात्मानं जानंतः

(उस अध्यवसान वाले जीवके) सत्‌रूप[1], अहेतुक[2], ज्ञप्ति[3] ही जिसकी एक क्रिया है ऐसे आत्माको और रागद्वेषके उदयमय हनन[4] आदि क्रियाओंका विशेष (अन्तर - भिन्न - लक्षण) नहीं जाननेके कारण भिन्न आत्माका अज्ञान होनेसे वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्माका अदर्शन (अश्रद्धान) होनेसे मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्माका अनाचरण होनेसे अचारित्र है। XXXX और यह 'धर्मद्रव्य ज्ञात होता है' इत्यादि जो अध्यवसान है सो भी अज्ञानमय है; इसलिये (उस अध्यवसान वाले जीवको) सत्‌रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एकरूप है ऐसे आत्माका और ज्ञेयमय धर्मादिक रूपोंका विशेष न जाननेके कारण भिन्न आत्माका अज्ञान होनेसे वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्माका अदर्शन होनेसे मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्माका अनाचरण होनेसे अचारित्र है। इसलिये यह समस्त अध्यवसान बंधके ही निमित्त हैं।

मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं है वे ही कोई (विरले) मुनिकुंजर, सत्‌रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, सत्‌रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसके एक भाव है और सत्‌रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एकरूप है ऐसे भिन्न आत्माको (सर्व अन्य द्रव्यभावोंसे भिन्न आत्माको) जानते हुए, सम्यक्‌प्रकारसे देखते (श्रद्धा करते) हुए और आचरण करते हुए, स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान (स्वाधीनतया प्रकाशमान) ऐसी अमंद अन्तर्ज्योति को अज्ञानादिरूपताका अत्यन्त अभाव होनेसे (अन्तरंगमें प्रकाशित होती हुई ज्ञान ज्योति किंचित् मात्र भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शनरूप और अचारित्ररूप नहीं होती इसलिये), शुभ या अशुभ कर्मसे वास्तवमें लिप्त नहीं होते।

इसका हिन्दी-अनुवाद इसप्रकार है :—

और 'मैं नारक हूँ' इत्यादि अध्यवसान अज्ञानमय है; इसलिये (उस अध्यवसान वाले जीवको) सत्‌रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है ऐसे आत्माका और कर्मोदय जनित नारक आदि भावोंका विशेष न जाननेके कारण भिन्न आत्माका अज्ञान होनेसे वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्माका अदर्शन होनेसे मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्माका अनाचरण होनेसे अचारित्र है।

१–सत्‌रूप = सत्तास्वरूप, अस्तित्वरूप। २–अहेतुक = जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी, अकारण, स्वतःसिद्ध, सहज। ३–ज्ञप्ति = जानना, जाननेरूपक्रिया (ज्ञप्ति क्रिया सत्‌रूप है, और सत्‌रूप होनेसे अहेतुक है।) ४–हनन = घात करना, घातकरनेरूप क्रिया, (घात करना आदि क्रियायें रागद्वेषके उदयमय हैं।)

सम्यक्पश्यंतोऽनुचरंतश्च स्वच्छस्वच्छंदोद्यदमंदांतर्ज्योतिषोऽत्यंतमज्ञानादिरूपत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा कर्मणा न खलु लिप्येरन् ॥ २७० ॥

किमेतदध्यवसाननामेति चेत्—

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ ॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम् ।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥ २७१ ॥

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं । तदेव च बोधनमात्र-

---

भावार्थः—यह जो अध्यवसान है वे 'मै परका हनन करता हूँ' इस प्रकारके है; 'मै नारक हूँ', इस प्रकारके है, तथा 'मैं परद्रव्यको जानता हूँ' इस प्रकारके हैं । वे, जबतक आत्मा का और रागादिका, आत्माका और नारकादि कर्मोदय जनित भावोंका तथा आत्माका और ज्ञेयरूप अन्यद्रव्योंका भेद न जाना हो, तबतक रहते हैं। वे भेदज्ञानके अभावके कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं, मिथ्यादर्शनरूप है और मिथ्याचारित्ररूप है; यों तीन प्रकारके होते है। वे अध्यवसान जिनके नही है वे मुनिकुंजर है। वे आत्माको सम्यक् जानते हैं, सम्यक्श्रद्धा करते है और सम्यक् आचरण करते हैं इसलिये अज्ञानके अभावसे सम्यक्दर्शन - ज्ञान - चारित्ररूप होते हुये कर्मो से लिप्त नहीं होते ॥ २७० ॥

"यहाँ वारम्बार अध्यवसान शब्द कहा गया है, वह अध्यवसान क्या है? उसका स्वरूप भलीभाँति समझमे नहीं आया" । ऐसा प्रश्न होने पर, अध्यवसानका स्वरूप गाथा द्वारा कहते है :—

गाथा २७१

अन्वयार्थः—[**बुद्धिः**] बुद्धि, [**व्यवसायः अपि च**] व्यवसाय, [**अध्यवसानं**] अध्यवसान, [**मतिः च**] मति, [**विज्ञानं**] विज्ञान, [**चित्तं**] चित्त, [**भावः**] भाव [**च**] और [**परिणामः**] परिणाम—[**सर्वं**] ये सब [**एकार्थ एव**] एकार्थ ही हैं(अर्थात् नाम अलग २ हैं किन्तु अर्थ भिन्न नहीं हैं) ।

टीका:—स्व-परका अविवेक हो (स्व-परका भेदज्ञान न हो) तब जीवकी अध्य-

---

जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान अरु विज्ञान है ।
परिणाम चित्तरु भाव शब्दहि सर्व ये एकार्थ हैं ॥ २७१ ॥

त्वाद्बुद्धिः। व्यवसानमात्रत्वात् व्यवसायः। मननमात्रत्वान्मतिः। विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानं। चेतनामात्रत्वाच्चित्तं। चितो भवनमात्रत्वाद् भावः। चितः परिणमनमात्रत्वात् परिणामः।

"सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम्॥ १७३॥" (शार्दूल०)

वसितिमात्र[1] अध्यवसान है, और वही (जिसे अध्यवसान कहा है वही) बोधन मात्रत्वसे बुद्धि है, व्यवसानमात्रत्व[2] से व्यवसाय है, मननमात्रत्व[3] से मति है, विज्ञप्तिमात्रत्वसे विज्ञान है, चेतनामात्रत्वसे चित्त है, चेतनके भवनमात्रत्वसे भाव है, चेतनके परिणमन मात्रत्वसे परिणाम है। (इस प्रकार यह सब शब्द एकार्थवाची हैं।)

भावार्थः—यह जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे गये है वे सब चेतन आत्माके परिणाम हैं। जब तक स्वपरका भेदज्ञान न हो तब तक जीवके जो अपने और परके एकत्वकी निश्चयरूप परिणति पाई जाती है, उसे बुद्धि आदि आठ नामोसे कहा जाता है।

'अध्यवसान त्यागने योग्य कहे है इससे ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहारका त्याग और निश्चयका ग्रहण कराया है'—इस अर्थका, एवं आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—आचार्य देव कहते है कि—सर्व वस्तुओंमें जो अध्यवसान होते है वे सब (अध्यवसान) जिनेन्द्र भगवान ने पूर्वोक्त रीतिसे त्यागने योग्य कहे है, इसलिये हम यह मानते हैं कि 'पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है।' तब फिर, यह सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चयको ही निश्चलतया अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप निज महिमामे (आत्मस्वरूपमे) स्थिरता क्यो धारण नहीं करते?

भावार्थः—जिनेन्द्रदेव ने अन्य पदार्थों मे आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाये हैं, इससे यह समझना चाहिये कि यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है। इसलिये आचार्य देव ने शुद्ध निश्चयके ग्रहणका ऐसा उपदेश दिया है कि—'शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपने आत्मामें स्थिरता रखो'। और, "जब कि भगवानने अध्यवसान छुड़ाये हैं तब फिर सत्पुरुष निश्चयको निश्चलता पूर्वक अंगीकार करके स्वरूपमे स्थिर क्यों नहीं होते?—यह हमे आश्चर्य होता है", यह कहकर आचार्यदेवने आश्चर्य प्रगट किया है॥ २७१॥

१—अध्यवसिति = (एकमें दूसरे की मान्यता पूर्वक) परिणति, (मिथ्या) निश्चिति; (मिथ्या) निश्चय होना। २—व्यवसान = काममें लगे रहना; उद्यमी होना, निश्चय होना। ३—मनन = मानना, जानना।

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ २७२ ॥

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन ।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम् ॥ २७२ ॥

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः । तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रति-

---

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २७२

अन्वयार्थः—[**एवं**] इसप्रकार [**व्यवहारनयः**] (पराश्रित) व्यवहारनय [**निश्चयनयेन**] निश्चयनयके द्वारा [**प्रतिषिद्धः जानीहि**] निषिद्ध जान; [**पुनः निश्चयनयाश्रिताः**] निश्चयनयके आश्रित [**मुनयः**] मुनि [**निर्वाणं**] निर्वाण को [**प्राप्नुवंति**] प्राप्त होते हैं ।

टीका:—आत्माश्रित (अर्थात् स्व-आश्रित) निश्चयनय है, पराश्रित (अर्थात् परके आश्रित) व्यवहारनय है । वहाँ, पूर्वोक्त प्रकारसे पराश्रित समस्त अध्यवसान (अर्थात् अपने और परके एकत्वकी मान्यता पूर्वक परिणमन) बंधका कारण होनेसे मुमुक्षुओंको उसका (–अध्यवसानका) निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनयके द्वारा वास्तवमें व्यवहारनयका ही निषेध कराया है, क्योंकि व्यवहारनयके भी पराश्रितता समान ही है (जैसे अध्यवसान पराश्रित है उसी प्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है, उसमे अन्तर नहीं है)। और इसप्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योकि आत्माश्रित निश्चयनयका आश्रय करने वाले ही (कर्मोंसे) मुक्त होते है, और पराश्रित व्यवहारनयका आश्रय तो एकांततः मुक्त नहीं होने वाला अभव्य भी करता है ।

भावार्थ:—आत्माके परके निमित्तसे जो अनेक भाव होते है वे सब व्यवहारनयके विषय है इसलिये व्यवहारनय पराश्रित है, और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है वही निश्चयनयका विषय है इसलिये निश्चयनय आत्माश्रित है । अध्यवसान भी व्यवहारनयका ही विषय है इसलिये अध्यवसानका त्याग व्यवहारनयका ही त्याग है, और जो पूर्वोक्त गाथाओंमे

व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चयनयहिसे ।
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्षकी प्राप्ती करे ॥ २७२ ॥

पिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात् । प्रतिषेध्य एव चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यैकांतेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वाच्च ॥२७२॥

कथमभव्येनाप्याश्रियते व्यवहारनयः ? इति चेत्—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥ २७३ ॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥ २७३ ॥

शीलतपःपरिपूर्णं त्रिगुप्तिपंचसमितिपरिकलितमहिंसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहार-

---

अध्यवसानके त्यागका उपदेश है वह व्यवहारनयके ही त्यागका उपदेश है। इसप्रकार निश्चयनयको प्रधान करके व्यवहार नयके त्यागका उपदेश किया है उसका कारण यह है कि-जो निश्चयनयके आश्रयसे प्रवर्तते हैं वे ही कर्मोंसे मुक्त होते हैं और जो एकान्तसे व्यवहारनयके ही आश्रयसे प्रवर्तते हैं वे कर्मोंसे कभी मुक्त नहीं होते ॥ २७२ ॥

अब प्रश्न होता है कि अभव्य जीव व्यवहारनयका आश्रय कैसे करते हैं ? उसका उत्तर गाथा द्वारा कहते हैं :—

गाथा २७३

अन्वयार्थः—[**जिनवरैः**] जिनेन्द्रदेवके द्वारा [**प्रज्ञप्तं**] कथित [**व्रतसमितिगुप्तयः**] व्रत, समिति, गुप्ति, [**शीलतपः**] शील और तप [**कुर्वन् अपि**] करता हुआ भी [**अभव्यः**] अभव्य जीव [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**मिथ्यादृष्टिः तु**] और मिथ्यादृष्टि है ।

टीका—शील और तपसे परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियोंके प्रति सावधानीसे युक्त, अहिंसादि पाँचमहाव्रतरूप व्यवहार चारित्र (का पालन) अभव्य भी करता है, तथापि वह (अभव्य) निश्चारित्र (–चारित्र रहित), अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि (वह) निश्चयचारित्रके कारणरूप ज्ञान–श्रद्धानसे शून्य है ।

भावार्थ—अभव्य जीव महाव्रत–समिति–गुप्तिरूप चारित्रका पालन करे, तथापि

जिनवरप्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ती अवरु तप शीलको ।
करता हुआ भि अभव्य जिव, अज्ञानि मिथ्यादृष्टि है ॥ २७३ ॥

चारित्रं, अभव्योऽपि कुर्यात् तथापि स निश्चारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात् ।। २७३ ।।

तस्यैकादशांगज्ञानमस्ति इति चेत्—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ।। २७४ ।।

मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत ।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ।। २७४ ।।

मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात् । ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धत्ते, ज्ञानमश्रद्दधानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात् स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्म-

---

निश्चय सम्यकज्ञान–श्रद्धानके बिना वह चारित्र 'सम्यक्चारित्र' नामको प्राप्त नही होता; इसलिये वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है ।। २७३ ।।

अब, शिष्य पूछता है कि–उसे (अभव्यको) ग्यारह अंगका ज्ञान तो होता है; फिर भी उसको अज्ञानी क्यों कहा है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २७४

अन्वयार्थः—[मोक्षं अश्रद्दधानः] मोक्षकी श्रद्धा न करता हुआ **[यः अभव्यसत्वः]** जो अभव्य जीव है वह **[तु अधीयीत]** शास्त्र तो पढ़ता है, **[तु]** परन्तु **[ज्ञानं अश्रद्दधानस्य]** ज्ञानकी श्रद्धा न करनेवाले उसको **[पाठो]** शास्त्रपठन **[गुणं न करोति]** गुण नहीं करता ।

टीका:—प्रथम तो अभव्य जीव (स्वयं) शुद्ध ज्ञानमय आत्माके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण मोक्षकी ही श्रद्धा नहीं करता । इसलिये वह ज्ञानकी भी श्रद्धा नहीं करता । और ज्ञानकी श्रद्धा न करता हुआ वह (अभव्य) आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुतको (शास्त्रोंको) पढ़ता हुआ भी, शास्त्रपठनके जो गुण उसके अभावके कारण ज्ञानी नही है । जो भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्माका ज्ञान वह शास्त्र पठनका गुण है; और वह तो (ऐसा शुद्धात्म ज्ञान तो), भिन्न वस्तुभूत ज्ञानकी श्रद्धा न करनेवाले अभव्यके शास्त्रपठनके द्वारा नहीं किया जा

मोक्षकी श्रद्धाविहीन, अभव्य जिव शास्त्रों पढ़े ।
पर ज्ञानकी श्रद्धारहितको, पठन ये नहिं गुण करै ।। २७४ ।।

ज्ञानं तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्दधानस्याभव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत ततस्तस्य तद्गुणाभावः, ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः ॥ २७४ ॥

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत् ।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ २७५ ॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ॥ २७५ ॥

अभव्यो हि नित्यकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं नतु

सकता (अर्थात् शास्त्रपठन उसको शुद्धात्मज्ञान नहीं कर सकता); इसलिये उसके शास्त्रपठनके गुणका अभाव है, और इसलिये ज्ञान-श्रद्धानके अभावके कारण वह अज्ञानी सिद्ध हुआ ।

भावार्थः—अभव्य जीव ग्यारह अंगोंको पढ़े तथापि उसे शुद्ध आत्माका ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता; इसलिये उसे शास्त्रपठनने गुण नहीं किया; और इसलिये वह अज्ञानी ही है ॥ २७४ ॥

शिष्य पुनः पूछता है कि-अभव्यको धर्मका श्रद्धान तो होता है; फिर भी यह क्यों कहा है कि 'उसके श्रद्धान नहीं है' ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २७५

अन्वयार्थः—[**सः**] वह (अभव्य जीव) [**भोगनिमित्तं धर्मं**] भोगके निमित्तरूप धर्मकी ही [**श्रद्दधाति च**] श्रद्धा करता है, [**प्रत्येति च**] उसीकी प्रतीति करता है, [**रोचयति च**] उसीकी रुचि करता है [**तथा पुनः स्पृशति च**] और उसीका स्पर्श करता है, [**न तु कर्मक्षयनिमित्तं**] परंतु कर्मक्षयके निमित्तरूप धर्मको नहीं । (अर्थात् कर्मक्षयके निमित्तरूप धर्मकी न तो श्रद्धा करता है, न उसकी प्रतीति करता है, न रुचि करता है और न उसका स्पर्श करता है ।)

टीकाः—अभव्य जीव नित्यकर्मफलचेतनारूप वस्तुकी श्रद्धा करता है । किन्तु नित्य ज्ञान चेतनामात्र वस्तुकी श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा (स्व - परके) भेद विज्ञानके अयोग्य है । इसलिये वह कर्मोंसे छूटनेके निमित्तरूप ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्मकी

वो धर्मको श्रद्धे, प्रतीत, रुची अरु स्पर्शन करे ।
वो भोगहेतू धर्मको, नहिं कर्मक्षयके हेतुको ॥ २७५ ॥

श्रद्धत्ते नित्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात्। ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेवश्रद्धत्ते। तत एवासौ अभूतार्थधर्म-श्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्कंदेन्न पुनः कदाचनापि विमु-च्येत, ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति। एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव ॥ २७५ ॥

कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

श्रद्धा नहीं करता, (किन्तु) भोगके निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्मकी ही श्रद्धा करता है; इसीलिये वह अभूतार्थ धर्मकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, और स्पर्शनसे ऊपरके ग्रैवेयक तकके भोगमात्रको प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मोंसे मुक्त नहीं होता। इसलिये उसे भूतार्थ धर्मके श्रद्धानका अभाव होनेसे (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है।

ऐसा होनेसे निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनयका निषेध योग्य ही है।

भावार्थः—अभव्य जीवके, भेदज्ञान होनेकी योग्यता न होनेसे वह कर्मफल चेतनाको जानता है, किन्तु ज्ञानचेतनाको नहीं जानता; इसलिये उसे शुद्ध आत्मिक धर्मकी श्रद्धा नहीं है। वह शुभकर्मको ही धर्म समझकर उसकी श्रद्धा करता है इसलिये उसके फलस्वरूप ग्रैवे-यक तकके भोगोंको प्राप्त होता है किन्तु कर्मोंका क्षय नहीं होता। इसप्रकार सत्यार्थधर्मका श्रद्धान न होनेसे उसके श्रद्धान ही नहीं कहा जा सकता।

इसप्रकार व्यवहारनयके आश्रित, अभव्य जीवको ज्ञान-श्रद्धान न होनेसे निश्चयनय द्वारा किया जानेवाला, व्यवहारका निषेध योग्य ही है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि-यह हेतुवादरूप अनुभव प्रधान ग्रन्थ है, इस-लिये इसमें अनुभवकी अपेक्षासे भव्य-अभव्यका निर्णय है। अब यदि इसे अहेतुवाद आगम के साथ मिलायें तो-अभव्यको व्यवहारनयके पक्षका सूक्ष्म, केवली गम्य आशय रह जाता है जो कि छद्मस्थको अनुभवगोचर नहीं भी होता, मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं; इसप्रकार केवल व्यवहारका पक्ष रहनेसे उसके सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यात्व रहता है। इस व्यवहारनयके पक्ष का आशय अभव्यके सर्वथा कभी भी मिटता ही नहीं है ॥ २७५ ॥

अब, यह प्रश्न होता है कि "निश्चयनयके द्वारा निषेध्य व्यवहारनय और व्यवहार-नयका निषेधक निश्चयनय कैसा है ?" अतः व्यवहार और निश्चयनयका स्वरूप कहते हैं:—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥ २७६ ॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥ २७७ ॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयम्।
षट्जीवनिकायं च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥ २७६ ॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योगः ॥ २७७ ॥

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वात् ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्या-

---

गाथा २७६-२७७

अन्वयार्थः—[**आचारादि**] आचारांगादि शास्त्र [**ज्ञानं**] ज्ञान है, [**जीवादि**] जीवादि तत्व [**दर्शनं विज्ञेयं च**] दर्शन जानना चाहिये, [**च**] तथा [**षट्जीवनिकायं**] छह जीव-निकाय [**चरित्रं**] चारित्र है- [**तथा तु**] ऐसा तो [**व्यवहारः भणति**] व्यवहारनय कहता है।

[**खलु**] निश्चयसे [**मम आत्मा**] मेरा आत्मा ही [**ज्ञानं**] ज्ञान है, [**मे आत्मा**] मेरा आत्मा ही [**दर्शनं चारित्रं च**] दर्शन और चारित्र है, [**आत्मा**] मेरा आत्मा ही [**प्रत्याख्यानं**] प्रत्याख्यान है, [**मे आत्मा**] मेरा आत्मा ही [**संवरः योगः**] संवर और योग (समाधि, ध्यान) है।

टीकाः—आचारांगादि शब्द श्रुत ज्ञान है, क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञानका आश्रय है; जीवादि नवपदार्थ दर्शन हैं क्योंकि वे दर्शनके आश्रय हैं, और छहजीव-निकाय चारित्र है

"आचार" आदिक ज्ञान है, जीवादि दर्शन जानना।
षट् जीवकाय चरित्र है, ये कथन नय व्यवहारका ॥ २७६ ॥
मुझ आत्मनिश्चय ज्ञान है, मुझ आत्मदर्शन चरित है।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है ॥ २७७ ॥

श्रयत्वाद्दर्शनं षट्जीवनिकायश्चारित्रस्याश्रयत्वात् चारित्रमिति, व्यवहारः। शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाद् ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः। तत्राचारादीनां ज्ञानाश्रयत्वस्यानैकांतिकत्वाद् व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकांतिकत्वात् तत्प्रतिषेधकः। तथाहि—नाचारादिशब्दश्रुतं, एकांतेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्। न च जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयाः तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्। न च षट्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयस्तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्। शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्। शुद्ध आत्मैव दर्शनस्याश्रयः, जीवादिपदार्थसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात्। शुद्ध

क्योंकि वह चारित्रका आश्रय है; इसप्रकार व्यवहार है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञानका आश्रय है शुद्ध आत्मा दर्शन है क्योंकि वह दर्शनका आश्रय है, और शुद्ध आत्मा चारित्र है क्योंकि वह चारित्रका आश्रय है; इसप्रकार निश्चय है। इनमें, व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है, क्योंकि आचारांगादिको ज्ञानादिका आश्रयत्व अनैकान्तिक है—व्यभिचारयुक्त है. (शब्दश्रुतादिको ज्ञानादिका आश्रयस्वरूप माननेमें व्यभिचार आता है क्योंकि शब्दश्रुतादिके होने पर भी ज्ञानादि नहीं भी होते, इसलिये व्यवहारनय प्रतिषेध्य है.); और निश्चयनय व्यवहारनयका प्रतिषेधक है. क्योंकि शुद्ध आत्माके ज्ञानादिका आश्रयत्व ऐकान्तिक है। (शुद्ध आत्माको ज्ञानादिका आश्रय माननेमें व्यभिचार नहीं है क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता ही है।) यही बात हेतुपूर्वक समझाई जाती है:—

भात्मैव चारित्रस्याश्रयः, षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात्।

रागादयो बंधनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥ १७४ ॥ (उपजाति)

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥ २७८ ॥

भावार्थः—आचारांगादि शब्दश्रुतका ज्ञान, जीवादि नव पदार्थोंका श्रद्धान, तथा छह कायके जीवोंकी रक्षा—इत्यादिके होते हुये भी अभव्यके ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते, इसलिये व्यवहारनय तो निषेध्य है; और जहाँ शुद्धात्मा होता है वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र होता ही है, इसलिये निश्चयनय व्यवहारका निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है।

अब आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—रागादिको बंधका कारण कहा और उन्हें शुद्ध चैतन्यमात्र ज्योतिसे (आत्मासे) भिन्न कहा; तब फिर उस रागादिका निमित्त आत्मा है या कोई अन्य ?; इस प्रश्नसे प्रेरित होते हुये आचार्य भगवान पुनः इसप्रकार (निम्नप्रकारसे) कहते हैं ॥ २७६–२७७ ॥

उपरोक्त प्रश्नके उत्तररूपमें आचार्यदेव कहते हैं:—

गाथा २७८-२७९

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [स्फटिकमणिः] स्फटिकमणि [शुद्धः]

ज्यों फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्तरूप जु परिणमे।
पर अन्य रक्त पदार्थसे, रक्तादिरूप जु परिणमे ॥ २७८ ॥
त्यों ज्ञानि भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे।
पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे वो रागी बने ॥ २७९ ॥

एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥ २७९ ॥

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते । तथा केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव स्वयं

शुद्ध होनेसे [रागाद्यैः] रागादिरूपसे (ललाई आदिरूपसे) [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परंतु [अन्यैःरागादिभिः द्रव्यैः] अन्य रक्तादि द्रव्योंसे [सः] वह [रज्यते] रक्त (लाल) आदि किया जाता है, [एवं] इसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [शुद्धः] शुद्ध होनेसे [रागाद्यैः] रागादि रूप [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परंतु [अन्यैः रागादिभिः दोषैः] अन्य रागादि दोषोंसे [सः] वह [रज्यते] रागी आदि किया जाता है ।

टीका:—जैसे वास्तवमें केवल (अकेला) स्फटिकमणि, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपनेको शुद्ध स्वभावत्वके कारण रागादिका निमित्तत्व न होनेसे (स्वयं अपनेमें ललाई आदिरूप परिणमनका निमित्त न होनेसे) अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु जो अपने आप रागादिभावको प्राप्त होनेसे स्फटिकमणिके रागादिका निमित्त होता है ऐसे परद्रव्यके द्वारा ही, शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ, रागादिरूप परिणमित किया जाता है; इसीप्रकार वास्तवमें केवल (अकेला) आत्मा, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपने शुद्ध स्वभावत्वके कारण रागादिका निमित्तत्व न होनेसे (स्वयं अपनेको रागादिरूप परिणमनका, निमित्त न होनेसे) अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता परन्तु जो अपने आप रागादिभावको प्राप्त होनेसे आत्माको रागादिका निमित्त होता है ऐसे परद्रव्यके द्वारा ही, शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ ही, रागादिरूप परिणमित किया जाता है ।—ऐसा वस्तु स्वभाव है ।

भावार्थ:—स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप ललाई आदिरूप नहीं परिणमता किन्तु लाल आदि

रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते, इति तावद्वस्तुस्वभावः ।

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मनो याति यथार्ककांतः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥ (उपजाति)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १७६ ॥ (अनुष्टुप्)

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥ २८० ॥

परद्रव्यके निमित्तसे (स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते ऐसे परद्रव्यके निमित्तसे) ललाई आदिरूप परिणमता है । इसीप्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है, वह परिणमन स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता परन्तु रागादिरूप परद्रव्यके निमित्तसे (स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले परद्रव्यके निमित्तसे) रागादिरूप परिणमता है । ऐसा वस्तुका ही स्वभाव है, उसमे अन्य किसी तर्कको अवकाश नहीं है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—सूर्यकान्तमणिकी भाँति (जैसे सूर्यकान्तमणि स्वतःसे ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता उसके अग्निरूप परिणमनमे सूर्य बिम्ब निमित्त है, उसीप्रकार) आत्मा अपनेको रागादिका निमित्त कभी भी नहीं होता, उसमे निमित्त पर संग ही (परद्रव्यका संग ही) है ।—ऐसा वस्तुभाव प्रकाशमान है । (सदा वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसीने बनाया नहीं है ।)

"ऐसे वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी रागादिको निजरूप नहीं करता" इस अर्थका तथा आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञानी ऐसे अपने वस्तु स्वभावको जानता है, इसलिये वह रागादिको निजरूप नहीं करता, अतः वह (रागादिका) कर्ता नहीं है ॥ २७८–२७९ ॥

कभि रागद्वेषविमोह अगर कषायभाव जु निजविषैं ।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने ॥ २८० ॥

न च रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।
स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम् ॥ २८० ॥

यथोक्तवस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति नियमः ॥

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १७७ ॥ (अनुष्टुप्)

अब इसीप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २८०

अन्वयार्थः—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**रागद्वेषमोहं**] रागद्वेषमोहको [**वा कषायभावं**] अथवा कषायभावको [**स्वयं**] अपने आप [**आत्मनः**] अपनेमें [**न च करोति**] नहीं करता [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह, [**तेषां भावानां**] उन भावोंका [**कारकः न**] कर्ता नहीं है ।

टीका:—यथोक्त वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी (अपने) शुद्ध स्वभावसे ही च्युत नहीं होता इसलिये वह रागद्वेषमोहादि भावरूप स्वतः परिणमित नहीं होता, और दूसरेके द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता, इसलिये टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी रागद्वेषमोह आदि भावोंका अकर्ता ही है—ऐसा नियम है ।

भावार्थ:—आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तुका ऐसा स्वभाव जाना कि 'आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है—द्रव्यदृष्टिसे अपरिणमनस्वरूप है, पर्यायदृष्टिसे परद्रव्यके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित होता है'; इसलिये अब ज्ञानी स्वयं उन भावोंका कर्ता नहीं होता, जो उदय आते हैं उनका ज्ञाता ही होता है ।

'अज्ञानी ऐसे वस्तु स्वभावको नहीं जानता, इसलिये वह रागादि भावोंका कर्ता होता है' इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं :—

अर्थ:—अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता, इसलिये वह रागादिको (रागादि भावोंको) अपना करता है, अतः वह उनका कर्ता होता है ॥ २८० ॥

अब इसी अर्थकी गाथा कहते हैं :—

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणो वि ॥ २८१ ॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥ २८१ ॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव। ततः कर्मविपाकप्रभवै रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः ॥ २८१ ॥

ततः स्थितमेतत्—

गाथा २८१

अन्वयार्थः—[रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव] राग द्वेष और कषाय कर्मोंके होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) **[ये भावाः]** जो भाव होते हैं **[तैः तु]** उन-रूप **[परिणममानः]** परिणमत होता हुआ (अज्ञानी) **[रागादीन्]** रागादिको **[पुनरपि]** पुनः पुनः **[बध्नाति]** बाँधता है।

टीका:—यथोक्त वस्तु स्वभावको न जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसारसे लेकर (अपने) शुद्ध स्वभावसे च्युत ही है इसलिये कर्मोदयसे उत्पन्न होने वाले रागद्वेषमोहादि-भावरूप परिणमता हुआ अज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावोंका कर्ता होता हुआ (कर्मोंसे) बद्ध होता ही है—ऐसा नियम है।

भावार्थ:—अज्ञानी वस्तुस्वभावको यथार्थ नहीं जानता और कर्मोदयसे जो भाव होते हैं, उन्हें अपना समझ कर परिणमता है, इसलिये वह उनका कर्ता होता हुआ पुनः पुनः आगामी कर्मोंको बांधता है—ऐसा नियम है ॥ २८१ ॥

'अत यह सिद्ध हुआ (पूर्वोक्त कारणसे निम्नप्रकार निश्चित हुआ)' ऐसा अब कहते हैं :—

पर रागद्वेषकषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उनरूप जो जिव परिणमें फिर बाँधता रागादि को॥ २८१ ॥

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥ २८२ ॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥ २८२ ॥

य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेषमोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बंधहेतुरिति ॥ २८२ ॥

कथमात्मा रागादीनामकारक एव इति चेत्—

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया॥ २८३ ॥

गाथा २८२

अन्वयार्थः—[**रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव**] राग, द्वेष और कषाय कर्मोंके होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [**ये भावाः**] जो भाव होते हैं [**तैः तु**] उनरूप [**परिणममानः**] परिणमता हुआ [**चेतयिता**] आत्मा [**रागादीन्**] रागादिको [**बध्नाति**] बांधता है।

टीकाः—निश्चयसे अज्ञानीको, पुद्गलकर्म जिनका निमित्त है ऐसे जो यह रागद्वेष-मोहादि परिणाम हैं, वे ही पुनः रागद्वेषमोहादि परिणामके निमित्त जो पुद्गलकर्म उसके बंधके कारण हैं।

भावार्थः—अज्ञानीके कर्मके निमित्तसे जो रागद्वेषमोहादि परिणाम होते हैं वे ही पुनः आगामी कर्म बन्धके कारण होते है ॥ २८२ ॥

अब प्रश्न होता है कि आत्मा रागादिका अकारक ही कैसे है? इसका समाधान (आगम प्रमाण देकर) करते हैं :—

यों रागद्वेषकषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उनरूप आत्मा परिणमें वो बांधता रागादिको ॥ २८२ ॥
अनप्रतिक्रमण दो भाँति अनपचखाण भी दो भाँति है।
जिवको अकारक है कहा इस रीतके उपदेशसे ॥ २८३ ॥

अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चखाणं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥ २८४ ॥
जावं अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥ २८५ ॥

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम् ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८३ ॥
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाप्रत्याख्यानम् ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८४ ॥
यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः ।
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥ २८५ ॥

गाथा २८३-२८४-२८५

अन्वयार्थः—[**अप्रतिक्रमणं**] अप्रतिक्रमण [**द्विविधं**] दो प्रकारका [**तथा एव**] उसी तरह [**अप्रत्याख्यानं**] अप्रत्याख्यान दो प्रकारका [**विज्ञेयं**] जानना चाहिये, [**एतेन उपदेशेन च**] इस उपदेशसे [**चेतयिता**] आत्मा [**अकारकः वर्णितः**] अकारक कहा गया है ।

[**अप्रतिक्रमणं**] अप्रतिक्रमण [**द्विविधं**] दो प्रकारका है–[**द्रव्ये भावे**] द्रव्य सम्बन्धी तथा भाव सम्बन्धी; [**तथा अप्रत्याख्यानं**] इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका है–द्रव्य सम्बन्धी और भाव सम्बन्धी;–[**एतेन उपदेशेन च**] इस उपदेशसे [**चेतयिता**] आत्मा [**अकारकः वर्णितः**] अकारक कहा गया है ।

[**यावत्**] जबतक [**आत्मा**] आत्मा [**द्रव्यभावयोः**] द्रव्यका और भावका [**अप्रतिक्रमणं च अप्रत्याख्यानं**] अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान

अनप्रतिक्रमण दो द्रव्यभाव जु यौंहि अनपचखाण है ।
जिवको अकारक है कहा इस रीतके उपदेशसे ॥ २८४ ॥
अनप्रतिक्रमण अरु त्यौंहि अनपचखाण द्रव्य रु भावका ।
जबतक करै है आतमा, कर्ता बनै है जानना ॥ २८५ ॥

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः। यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात् तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः

[**करोति**] करता है [**तावत्**] तबतक [**सः**] वह [**कर्ता भवति**] कर्ता होता है [**ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिये।

टीका:—आत्मा स्वतः रागादिका अकारक ही है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादि भावोंका कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानकी द्विविधताका उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानका जो वास्तवमें द्रव्य और भावके भेदसे द्विविध (दो प्रकारका) उपदेश है वह, द्रव्य और भावके निमित्त-नैमित्तकत्वको प्रगट करता हुआ, आत्माके अकर्तृत्वको ही बतलाता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्माके रागादिभाव नैमित्तिक है। यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यानका कर्तृत्वके निमित्तरूपका उपदेश निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्माको रागादिभावोंका निमित्तत्व आ जायेगा, जिससे नित्य-कर्तृत्वका प्रसंग आजायेगा, जिससे मोक्षका अभाव सिद्ध होगा। इसलिये परद्रव्य ही आत्माके रागादि भावोंका निमित्त हो। और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिका अकारक ही है। (इस प्रकार यद्यपि आत्मा रागादिका अकारक ही है) तथापि जबतक वह निमित्तभूत द्रव्यका (परद्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक नैमित्तिकभूत भावो का (रागादि भावोंका) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, और जबतक इन भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नही करता तब तक वह उनका कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत द्रव्यका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है तभी नैमित्तिकभूत भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है, और जब इन भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ:—अतीतकालमें जिन परद्रव्योंका ग्रहण किया था उन्हें वर्तमानमें अच्छा समझना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना द्रव्य अप्रतिक्रमण है और उन परद्रव्योंके निमित्तसे जो रागादिभाव हुए थे उन्हें वर्तमानमें अच्छा जानना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना भाव अप्रतिक्रमण है। इसीप्रकार आगामी काल संबंधी परद्रव्योंकी

परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु । तथासति तु रागादीनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्कर्तैव स्यात् । यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च । यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात् ॥ २८३ ॥ २८४ ॥ २८५ ॥

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत्—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥ २८६ ॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥ २८७ ॥

इच्छा रखना, ममत्व रखना द्रव्य अप्रत्याख्यान है । और उन पर द्रव्योंके निमित्तसे आगामी कालमें होनेवाले रागादि भावोंकी इच्छा रखना, ममत्व रखना भाव अप्रत्याख्यान है । इसप्रकार द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान–ऐसा जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानका दो प्रकारका उपदेश है वह द्रव्य–भावके निमित्त–नैमित्तिक भावको बतलाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि–परद्रव्य तो निमित्त है और रागादिभाव नैमित्तिक हैं । इस प्रकार आत्मा रागादिभावोंको स्वयमेव न करनेसे रागादिभावोंका अकर्ता ही है ऐसा सिद्ध हुआ । इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा रागादिभावोंका अकर्ता ही है तथापि जबतक उसके निमित्तभूत परद्रव्यके अप्रतिक्रमण–अप्रत्याख्यान है तबतक उसके रागादिभावोंका अप्रतिक्रमण–अप्रत्याख्यान है; और जबतक रागादिभावोंका अप्रतिक्रमण–अप्रत्याख्यान है तबतक वह रागादिभावोंका कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत परद्रव्यका प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान करता है तब उसके नैमित्तिक रागादिभावोंका भी प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान हो जाता है, और जब रागादिभावोंका प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान होजाता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है ॥२८३-२८५॥

अब द्रव्य और भावकी निमित्त–नैमित्तिकताका उदाहरण देते हैं:—

हैं अधःकर्मादिक जु पुद्गलद्रव्यके ही दोष ये ।
कैसे करे ज्ञानी, सदा परद्रव्यके जो गुणहि हैं ॥ २८६ ॥
उद्देशि त्योंही अधःकर्मी पौद्गलिक यह द्रव्य जो ।
कैसे हि मुझकृत होय नित्य अजीव वर्णा जिसहिको ॥ २८७ ॥

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य य इमे दोषाः।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम् ॥ २८६ ॥
अधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यं।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तम् ॥ २८७ ॥

यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे। यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा

गाथा २८६-२८७

अन्वयार्थः—[**अधःकर्माद्याः ये इमे**] अधःकर्म आदि जो यह [**पुद्गलद्रव्यस्य दोषाः**] पुद्गलद्रव्यके दोष हैं (उनको ज्ञानी अर्थात् आत्मा करता नहीं है;) [**तान्**] उनको [**ज्ञानी**] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [**कथं करोति**] कैसे करे [**ये तु**] कि जो [**नित्यं**] सदा [**परद्रव्य गुणाः**] परद्रव्यके गुण हैं ?

इसलिये [**अधःकर्म उद्देशिकं च**] अधःकर्म और उद्देशिक [**इदं**] ऐसा यह [**पुद्गलमय द्रव्यं**] पुद्गलमय द्रव्य है (जो मेरा किया नहीं होता;) [**तद्**] वह [**ममकृतं**] मेरा किया [**कथं भवति**] कैसे हो [**यद्**] कि जो [**नित्यं**] सदा [**अचेतनं उक्तं**] अचेतन कहा गया है ?

टीकाः—जैसे अधःकर्मसे उत्पन्न और उद्देशसे उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (मुनि) नैमित्तिकभूत बंधसाधक भावका प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करता, इसीप्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होने वाले भावको नहीं त्यागता। और, "अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्यके दोषोंको आत्मा वास्तवमें नहीं करता क्योंकि वे परद्रव्यके परिणाम हैं इसलिये उन्हें आत्माके कार्यत्वका अभाव है; इसलिये अधःकर्म और उद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं है क्योंकि वह नित्य अचेतन है इसलिये उसको मेरे कार्यत्वका अभाव है;"—इसप्रकार तत्वज्ञान पूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा (मुनि) जैसे नैमित्तिकभूत बंधसाधक-भावका प्रत्याख्यान करता है, उसी प्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होने वाले भावका प्रत्याख्यान करता है। इसप्रकार द्रव्य और भावको निमित्त-नैमित्तिकता है।

परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात् । ततोऽधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात् इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे । एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्त-नैमित्तिकभावः ।

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥ १७८ ॥ (शार्दूल०)

भावार्थ- यहाँ अध.कर्म और उद्देशिक आहारके दृष्टान्तसे द्रव्य और भावकी निमित्त-नैमित्तिकता दृढ़ की है ।

जिस पापकर्मसे आहार उत्पन्न हो उसे अधःकर्म कहते है, तथा उस आहारको भी अधःकर्म कहते हैं । जो आहार, ग्रहण करने वालेके निमित्तसे ही बनाया गया हो उसे उद्देशिक कहते हैं, ऐसे (अध.कर्म और उद्देशिक) आहारका जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया उसने उसके निमित्तसे होने वाले भावका प्रत्याख्यान नहीं किया और जिसने तत्वज्ञानपूर्वक उस आहारका प्रत्याख्यान किया है उसने उसके निमित्तसे होने वाले भावका प्रत्याख्यान किया है । इसप्रकार समस्त द्रव्य और भावको निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना चाहिये । जो परद्रव्यको ग्रहण करता है उसे रागादिभाव भी होते है, वह उनका कर्ता भी होता है, और इसलिये कर्मका बन्ध भी करता है; जब आत्मा ज्ञानी होता है तब उसे कुछ ग्रहण करनेका राग नहीं होता, इसलिये रागादिरूप परिणमन भी नहीं होता और इसलिये आगामी बंध भी नहीं होता । इस प्रकार ज्ञानी परद्रव्यका कर्ता नही है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसमें परद्रव्यके त्यागनेका उपदेश है:—

अर्थ.—इसप्रकार (परद्रव्य और अपने भावकी निमित्त-नैमित्तिकताको) विचार करके, परद्रव्यमूलक बहुभावोंकी सन्ततिको एक ही साथ उखाड़ फेंकनेका इच्छुक पुरुष, उस समस्त परद्रव्यको बलपूर्वक (उद्यमपूर्वक, पराक्रमपूर्वक) भिन्न करके (त्याग करके) अतिशयतासे बहते हुए (धारावाही) पूर्ण एक संवेदनसे युक्त अपने आत्माको प्राप्त करता है, कि जिससे जिसने कर्मबन्धनको मूलसे ही उखाड़ फेंका है ऐसा यह भगवान आत्मा अपनेमें ही (आत्मामें ही) स्फुरायमान होता है ।

भावार्थ:—जब परद्रव्यकी और अपने भावकी निमित्त-नैमित्तिकता जानकर समस्त

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ।। १७९ ।। (मन्दाक्रान्ता)

इति बंधो निष्क्रांतः—

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ बंध-
प्ररूपकः सप्तमोऽङ्कः ।। ७ ।।

परद्रव्यका त्याग किया जाता है तब समस्त रागादिभावोंकी संतति कट जाती है और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ कर्म बन्धनको काटकर अपनेमें ही प्रकाशित होता है। इसलिये जो अपना हित चाहते हैं वे ऐसा ही करें।

अब बंध अधिकारको पूर्ण करते हुए उसके अन्तिम मंगलके रूपमें ज्ञानकी महिमाके अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—बंधके कारणरूप रागादिके उदयको निर्दयतापूर्वक (उग्रपुरुषार्थसे) विदारण करती हुई, उस रागादिके कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेक प्रकारके बंधको अब तत्काल ही दूर करके, यह ज्ञान ज्योति–कि जिसने अज्ञानरूपी अंधकारका नाश किया है–भलीभाँति ऐसी सज्ज हुई है कि उसके विस्तारको अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता।

भावार्थः—जब ज्ञान प्रगट होता है, रागादिक नहीं रहते, उनका कार्य - बंध भी नहीं रहता, तब फिर उस ज्ञानको आवृत करनेवाला कोई नहीं रहता, वह सदा प्रकाशमान ही रहता है।

टीकाः—इसप्रकार बंध (रंगभूमिसे) बाहर निकल गया।

भावार्थः—रंगभूमिमें बंधके स्वांगने प्रवेश किया था, जब ज्ञानज्योति प्रगट हुई कि तब वह बंध स्वांगको अलग करके बाहर निकल गया ।। २८६–२८७ ।।

❀ सवैया तेईसा ❀

जो नर कोय परै रजमाहि सचिक्कण अंग लगै वह गाढै,
त्यों मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरै तब बंधन बाढै;
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै,
नाहि बंधै तब कर्मसमूह जु आप गहै पर भावनि काटै।

❀ सातवाँ बंध अधिकार समाप्त ❀

८

मोक्ष अधिकार

अथ प्रविशति मोक्षः—

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बंधपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानंदसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥ १८०॥ (शिखरिणी)

❀ दोहा ❀

कर्मबंध सब काटिके, पहुँचे मोक्ष सुथान।
नमूं सिद्ध परमातमा, करूं ध्यान अमलान॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि "अब मोक्ष प्रवेश करता है।"

जैसे नृत्यमंच पर स्वांग प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ मोक्ष तत्वका स्वांग प्रवेश करता है। वहां ज्ञान सर्वस्वांगका ज्ञाता है, इसलिये अधिकारके प्रारम्भमे आचार्यदेव सम्यक्ज्ञानकी महिमाके रूपमें मंगलाचरण करते है:—

अर्थः—अब (बध पदार्थके पश्चात्) प्रज्ञारूपी करवतसे विदारण द्वारा बंध और पुरुषको द्विधा (भिन्न–भिन्न–दो) करके, पुरुपको - कि जो पुरुषमात्र [1]अनुभूतिके द्वारा ही निश्चित है उसे - साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ पूर्णज्ञान जयवंत प्रवर्तता है। वह ज्ञान प्रगट होनेवाले सहज परमानन्दके द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, उत्कृष्ट है, और जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं (जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है।

भावार्थ—ज्ञान बंध और पुरुपको पृथक करके, पुरुपको मोक्ष पहुँचाता हुआ, अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवंत प्रवर्तता है। इसप्रकार ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टताका कथन ही मंगलवचन है।

अब, मोक्षकी प्राप्ति कैसे होती है सो कहते हैं। उसमें प्रथम तो, यह कहते हैं कि, जो जीव बन्धका छेद नहीं करता किन्तु मात्र बन्धके स्वरूपको जाननेसे ही संतुष्ट है वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता:—

---

१. जितना स्वरूप–अनुभवन है इतना ही आत्मा है।

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयम्मि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥ २८८ ॥
जइ णवि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥ २८९ ॥
इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभावं ।
जाणंतो वि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥ २९० ॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः ।
तीव्रमंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥ २८८ ॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बंधनवशः सन् ।
कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २८९ ॥
इति कर्मबंधनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागम् ।
जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ॥ २९० ॥

गाथा २८८-२८९-२९०

अन्वयार्थः—[**यथा नाम**] जैसे [**बंधनके**] बन्धनमें [**चिरकाल-प्रतिबद्धः**] बहुत समयसे बँधा हुआ [**कश्चित् पुरुषः**] कोई पुरुष [**तस्य**] उस बन्धनके [**तीव्रमंदस्वभावं**] तीव्र-मंद स्वभावको [**कालं च**] और कालको (अर्थात् यह बन्धन इतने कालसे है इसप्रकार) [**विजानाति**] जानता है, [**यदि**] किंतु यदि [**न अपि छेदं करोति**] उस बन्धनको स्वयं नहीं काटता [**तेन न मुच्यते**] तो वह उससे मुक्त नहीं होता [**तु**] और [**बंधनवशः सन्**] बन्धन-वश रहता हुआ [**बहुकेन अपि कालेन**] बहुत कालमें भी [**सः नरः**] वह पुरुष

ज्यों पुरुष कोई बंधनों, प्रतिबद्ध है चिरकालका ।
वो तीव्र-मंद स्वभाव त्यों ही काल जाने बंधका ॥ २८८ ॥
पर जो करे नहिं छेद तो छूटे न, बंधनवश रहे ।
अरु काल बहुतहि जाय तो भी मुक्त वो नर नहिं बने ॥ २८९ ॥
त्यों कर्मबंधनके प्रकृति, परदेश, स्थिति, अनुभागको ।
जाने भले छूटे न जिव, जो शुद्ध तो ही मुक्त हो ॥ २९० ॥

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणं मोक्षः, बंधस्वरूपज्ञानमात्रं तद्धेतुरित्येके तदसत्, न कर्मबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रवत्। एतेन कर्मबंधप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यंते ॥ २८८।२८९।२९०॥

जह बंधे चिंततो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंततो जीवो वि ण पावइ विमोक्खं ॥ २९१ ॥
यथा बंधांश्चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बंधांश्चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २९१ ॥

[**विमोक्षं न प्राप्नोति**] बन्धनसे छूटनेरूप मुक्तिको प्राप्त नहीं करता; [**इति**] इसीप्रकार जीव [**कर्मबंधनानाम्**] कर्म—बन्धनोंके [**प्रदेशस्थितिप्रकृतिं एवं अनुभागं**] प्रदेश, स्थिति, प्रकृति और अनुभागको [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**न मुच्यते**] (कर्मबन्धसे) नहीं छूटता, [**च यदि सः एव शुद्धः**] किंतु यदि वह स्वयं (रागादिको दूर करके) शुद्ध होता है [**मुच्यते**] तभी छूटता है—मुक्त होता है।

टीका:—आत्मा और बंधको द्विधाकरण (अलग अलग कर देना) सो मोक्ष है। कितने ही लोग कहते है कि 'बंधके स्वरूपका ज्ञानमात्र मोक्षका कारण है', किन्तु यह असत् है; कर्मसे बंधे हुए (जीव) को बंधके स्वरूपका ज्ञानमात्र मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेडी आदिसे बंधे हुए (जीव) को बंधके स्वरूपका ज्ञानमात्र बंधसे मुक्त होनेका कारण नहीं है। उसीप्रकार कर्मसे बँधेहुवे (जीव) को कर्मबन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र कर्मबन्धसे मुक्त होनेका कारण नहीं है। इस कथनसे, उनका उत्थापन (खंडन) किया गया है जो कर्मबन्धके प्रपंचका (विस्तारकी) रचनाके ज्ञानमात्रसे संतुष्ट हो रहे हैं।

भावार्थ:—कोई अन्यमती यह मानते है कि बन्धके स्वरूपको जान लेनेसे ही मोक्ष हो जाता है। उनकी इस मान्यताका इस कथनसे निराकरण कर दिया गया है। जानने मात्रसे ही बंध नहीं कट जाता, किन्तु वह काटनेसे ही कटता है ॥ २८८–२९० ॥

अब, यह कहते हैं कि बंधका विचार करते रहनेसे भी बन्ध नहीं कटता :—

गाथा २९१

अन्वयार्थ:—[**यथा**] जैसे [**बन्धनबद्धः**] बन्धनोंसे बंधा हुआ पुरुष

जो बंधनोंसे बद्ध वो नहिं बंधचिंतासे छुटे।
त्यों जीव भी इन बंधकी चिंता करे से नहिं छुटे ॥ २९१ ॥

बंधचिंताप्रबंधो मोक्षहेतुरित्यन्ये तदप्यसत्, न कर्मबद्धस्य बंधचिंताप्रबंधो मोक्ष-हेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधचिंताप्रबंधवत् । एतेन कर्मबंधविषयचिंताप्रबंधात्मक-विशुद्धधर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यंते ॥ २९१ ॥

कस्तर्हि मोक्षहेतुः ? इति चेत्—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥ २९२ ॥

यथा बंधांश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम् ।
तथा बंधांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २९२ ॥

[**बंधान् चिंतयन्**] बन्धनोका विचार करनेसे [**विमोक्षं न प्राप्नोति**] मुक्तिको प्राप्त नहीं करता (अर्थात् बंधनसे नहीं छूटता), [**तथा**] इसी प्रकार [**जीवः अपि**] जीव भी [**बंधान् चिंतयन्**] बन्धोंका विचार करनेसे [**विमोक्षं न प्राप्नोति**] मोक्षको प्राप्त नहीं करता ।

टीका:—अन्य कितने ही लोग यह कहते है कि 'बंध सम्बन्धी विचारश्रृंखला मोक्षका कारण है', किन्तु यह भी असत् है, कर्मसे वंधे हुए (जीव) को बंध सम्बन्धी विचारकी श्रृंखला मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदिसे बंधे हुए (पुरुष) को उस बंध सम्बन्धी विचारश्रृंखला (—विचारकी परंपरा) बंधसे छूटनेका कारण नहीं है उसी प्रकार कर्मसे बंधे हुए (पुरुष) की कर्मबन्ध सम्बन्धी विचारश्रृंखला कर्मबंधसे मुक्त होनेका कारण नहीं है । इस (कथन) से, कर्मबन्ध सम्बन्धी विचारश्रृंखलात्मक विशुद्ध (—शुभ) धर्म-ध्यानसे जिनकी बुद्धि अंध है, उन्हें समझाया जाता है ।

भावार्थः—कर्मबन्धकी चिन्तामे मन लगा रहे तो भी मोक्ष नहीं होता । यह तो धर्म-ध्यानरूप शुभपरिणाम है । जो केवल (मात्र) शुभपरिणामसे ही मोक्ष मानते है उन्हें यहाँ उपदेश दिया गया है कि शुभ परिणामसे मोक्ष नहीं होता ॥ २९१ ॥

"(यदि वन्धके स्वरूपके ज्ञानमात्रसे भी मोक्ष नहीं होता और बंधके विचार करनेसे से भी मोक्ष नही होता) तव फिर मोक्षका कारण क्या है ?" ऐसा प्रश्न होने पर अब मोक्षका उपाय बतलाते है :—

जो बंधनोंसे बद्ध वो नर बंधछेदनसे छुटे ।
त्यों जीव भी इन बंधनोंका छेद कर मुक्ती वरे ॥ २९२ ॥

कर्मबद्धस्य बंधच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधच्छेदवत् । एतेन उभयेऽपि पूर्वं आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे व्यापार्येते ॥ २९२ ॥

किमयमेव मोक्षहेतुः ? इतिचेत्—

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥ २९३ ॥

बंधानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।
बंधेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥ २९३ ॥

गाथा २९२

अन्वयार्थः—[**यथा च**] जैसे [**बंधनबद्धः तु**] बंधनबद्ध पुरुष [**बंधान् छित्वा**] बंधनोंको छेद कर [**विमोक्षं प्राप्नोति**] मुक्तिको प्राप्त हो जाता है, [**तथा च**] इसी प्रकार [**जीवः**] जीव [**बंधान् छित्वा**] बन्धोंको छेदकर [**विमोक्षं संप्राप्नोति**] मोक्षको प्राप्त करता है ।

टीकाः—कर्मसे बंधे हुए (पुरुष) को बंधका छेद मोक्षका कारण है क्योंकि जैसे बेड़ी आदिसे बद्धको बंधका छेद बंधनसे छूटनेका कारण है उसीप्रकार कर्मबंधको कर्मबद्धका छेद कर्मबंधसे छूटनेका कारण है । इस (कथन) से, पूर्वकथित दोनोंको (जो बंधके स्वरूपके ज्ञानमात्रसे संतुष्ट है तथा जो बंधका विचार किया करते है उनको) आत्मा और बंधके द्विधाकरणमें व्यापार कराया जाता है (अर्थात् आत्मा और बंधको भिन्न भिन्न करनेके प्रति लगाया जाता है—उद्यम कराया जाता है–) ॥ २९२ ॥

मात्र यही (बंधच्छेद ही) मोक्षका कारण क्यों है ?' ऐसा प्रश्न होने पर अब उसका उत्तर देते हैं :—

गाथा २९३

अन्वयार्थः—[**बंधानां स्वभावं च**] बन्धोंके स्वभावको [**आत्मनः स्वभावं च**] और आत्माके स्वभावको [**विज्ञाय**] जानकर [**बंधेषु**] बन्धोंके प्रति [**यः**] जो [**विरज्यते**] विरक्त होता है, [**सः**] वह [**कर्मविमोक्षणं करोति**] कर्मोंसे मुक्त होता है ।

रे जानकर बंधन स्वभाव स्वभाव जान जु आत्मका ।
जो बंधमें हि विरक्त होवें, कर्म मोक्ष करें अहा ॥ २९३ ॥

य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बंधानां च स्वभावं विज्ञाय बंधेभ्यो विरमति स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात्। एतेनात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते ॥ २९३ ॥

केनात्मबंधौ द्विधा क्रियेते ? इतिचेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ २९४ ॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम्।
प्रज्ञाछेदनकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥ २९४ ॥

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणं। तया हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमेवापद्येते ततः प्रज्ञयैवात्मबंधयोर्द्विधाकरणं। ननु कथमात्मबंधौ चेत्यचेतक-

---

टीकाः—जो, निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभावको और उस (आत्मा) के विकार करने वाले बंधके स्वभावको जानकर, बंधोंसे विरक्त होता है, वही समस्त कर्मोंसे मुक्त होता है। इस (कथन) से, ऐसा नियम किया जाता है कि आत्मा और बंधका द्विधाकरण (पृथक्करण) ही मोक्षका कारण है ॥ २९३ ॥

'आत्मा और बंध किस (साधन) के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं ?' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं :—

गाथा २९४

अन्वयार्थः—[जीवः च तथा बंधः] जीव तथा बंध **[नियताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां]** नियत स्वलक्षणोंसे (अपने–अपने निश्चित लक्षणोंसे) **[छिद्येते]** छेदे जाते हैं; **[प्रज्ञाछेदनकेन]** प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा **[छिन्नौ तु]** छेदे जाने पर **[नानात्वं आपन्नौ]** वे नानापनको प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं।

टीकाः—आत्मा और बंधके द्विधा करनेरूप कार्यमें कर्ता जो आत्मा उसके करण[1] संबंधी मीमांसा[2] करने पर, निश्चयतः अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे भगवती प्रज्ञा (ज्ञानस्वरूप बुद्धि) ही छेदनात्मक (छेदनके स्वभाववाला) करण है। उस प्रज्ञाके द्वारा

---

१. करण=साधन, करण नामका कारक। २ मीमांसा=गहरी विचारना; समालोचना।

छेदन करो जिव बंधका तुम नियतनिज निज चिह्न से।
प्रज्ञा छैनीसे छेदते दोनों पृथक् हो जाय हैं ॥ २९४ ॥

भावेनात्यंतप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ भेदविज्ञानाभावादेकचेतकवद्व्यवह्रियमाणौ प्रज्ञया छेत्तुं शक्येते ? नियतस्वलक्षणसूक्ष्मांतःसंधिसावधाननिपातनादिति बुध्येमहि। आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयं तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्, समस्तसहक्रमप्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति यावत्। बंधस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणा रागादयः स्वलक्षणं। न च रागादय आत्मद्रव्यसाधारणतां बिभ्राणाः

उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्वको प्राप्त होते हैं, इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बंधका द्विधा किया जाता है।

(यहाँ प्रश्न होता है कि —) आत्मा और बध जो कि चेत्यचेतकभाव* के द्वारा अत्यन्त निकटताके कारण (एक जैसे) हो रहे है, और भेदविज्ञानके अभावके कारण, मानो वे एक चेतक ही हो, -- ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है, (अर्थात् जिन्हें एक आत्माके रूपमे ही व्यवहारमे माना जाता है) उन्हे प्रज्ञाके द्वारा वास्तवमे कैसे छेदा जा सकता है ?

(इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते है . —) आत्मा और बंधके नियत स्वलक्षणोकी सूक्ष्म अन्त संधिमे (अन्तरंगकी संधिमे) प्रज्ञाछैनीको सावधान होकर पटकने से (डालनेसे, मारनेसे) उनको छेदा जा सकता है—अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है; ऐसा हम जानते हैं।

आत्माका स्वलक्षण चैतन्य है क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्योसे असाधारण है (वह अन्य द्रव्योमे नही है)। वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्यायको व्याप्त होकर प्रवर्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्यायको ग्रहण करके निवर्तता है वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं इसप्रकार लक्षित करना (लक्षणसे पहचानना) चाहिये (अर्थात् जिन जिन गुण–पर्यायोमे चैतन्यलक्षण व्याप्त होता है वे सब आत्मा हैं, ऐसा जानना चाहिये) क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षणसे लक्ष्य है (अर्थात चैतन्यलक्षणसे ही पहिचाना जाता है)। और समस्त सहवर्ती तथा क्रमवर्ती अनन्त पर्यायोके साथ चैतन्यका अविनाभावी भाव होनेसे चिन्मात्र ही आत्मा है ऐसा निश्चय करना चाहिये। इतना आत्मा के स्वलक्षणके संबंधमे है)।

---

* आत्मा चेतक है और बंध चेत्य है, वे दोनों अज्ञान दशामें एकमे अनुभवमें आते हैं।

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽतःसंधिबंधे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ १८१ ॥ (स्रग्धरा)

आत्मबंधौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यं ? इति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधो छेएयव्वो सुद्धो अप्पा य घित्तव्वो ॥ २९५ ॥

ज्ञानभावमें ही और बंधको अज्ञानभावमें रखना चाहिये । इसप्रकार दोनोंको भिन्न करना चाहिये ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी प्रवीण पुरुषोंके द्वारा किसी भी प्रकारसे (यत्नपूर्वक) सावधानतया , निष्प्रमादतया) पटकने पर, आत्मा और कर्म–दोनोंके सूक्ष्म अंतरंग सन्धिके बंधमें शीघ्र पड़ती है । किसप्रकार पड़ती है ? वह आत्माको तो, जिसका तेज अंतरंगमें स्थिर और निर्मलतया दैदीप्यमान है ऐसे चैतन्य प्रवाहमें मग्न करती हुई और बंधको अज्ञानभावमें निश्चल करती हुई - इसप्रकार आत्मा और बंधको सर्वतः भिन्न भिन्न करती हुई पड़ती है ।

भावार्थः—यहाँ आत्मा और बंधको भिन्न भिन्न करनेरूप कार्य है । उसका कर्ता आत्मा है, वहाँ करणके विना कर्ता किसके द्वारा कार्य करेगा ? इसलिये करण भी आवश्यक है । निश्चयनयसे कर्तासे करण भिन्न नहीं होता, इसलिये आत्मासे अभिन्न ऐसी यह बुद्धि ही इस कार्यमें करण है, आत्माके अनादि बंध ज्ञानावरणादिकर्म है, उसका कार्य भावबन्ध तो रागादिक है तथा नोकर्म शरीरादिक है । इसलिये बुद्धिके द्वारा आत्माको शरीरसे, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मसे तथा रागादिक भावकर्मसे भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभवी ज्ञानमें ही लीन रखना सो यही (आत्मा और बंधको दूर करना है इसीसे सर्व कर्मोंका नाश होता है और सिद्धपदकी प्राप्ति होती है ऐसा जानना चाहिये ॥ २९४ ॥

'आत्मा और बंधका द्विधा करके क्या करना चाहिये' ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं:—

छेदन होवे जिव बंधका जहँ नियत निज २ चिह्न से ।
वह छोड़ना इस बंधको, जिव ग्रहण करना शुद्धको ॥ २९५ ॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम् ।
बंधश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥ २९५ ॥

आत्मबंधौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ ततो रागादिलक्षणसमस्त एव बंधो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणशुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः । एतदेव किलात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बंधत्यागेन शुद्धात्मोपादानं ॥ २९५ ॥

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥ २९६ ॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ २९६ ॥

गाथा २९५

अन्वयार्थः—[**तथा**] इसप्रकार [**जीवः बन्धः च**] जीव और बंध [**नियताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां**] अपने निश्चित स्वलक्षणोंसे [**छिद्येते**] छेदे जाते हैं, [**बंधः**] वहाँ बंधको [**छेत्तव्यः**] छेदना चाहिये अर्थात् छोड़ना चाहिये [**च**] और [**शुद्धः आत्मा**] शुद्ध आत्माको [**गृहीतव्यः**] ग्रहण करना चाहिये ।

टीका:-आत्मा और बंधको प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणोंके ज्ञानसे सर्वथा ही छेद अर्थात् भिन्न करना चाहिये; तत्पश्चात्, रागादिक जिसका लक्षण है ऐसे समस्त बन्धको तो छोड़ना चाहिये तथा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसे शुद्ध आत्माको ही ग्रहण करना चाहिये । वास्तवमें यही आत्मा और बंधके द्विधा करनेका प्रयोजन है कि बंधके त्यागसे शुद्ध आत्माको ग्रहण करना ।

भावार्थ:—शिष्यने प्रश्न किया था कि आत्मा और बंधको द्विधा करके क्या करना चाहिये ? उसका यह उत्तर दिया है कि बंधका तो त्याग करना और शुद्ध आत्माका ग्रहण करना ॥ २९५ ॥

('आत्मा और बंधको प्रज्ञाके द्वारा भिन्न तो किया परन्तु आत्माको किसके द्वारा ग्रहण किया जाये' ?—इस प्रश्नकी तथा उसके उत्तरकी गाथा कहते है :—)

यह जीव कैसे ग्रहण हो ? जिवका ग्रहण प्रज्ञाहि से ।
ज्यों अलग प्रज्ञासे किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञाहि से ॥ २९६ ॥

ननु केन शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः, शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतो विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात् । अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ २९६ ॥

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्यः ? इति चेत्—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥ २९७ ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९७ ॥

गाथा २९६

अन्वयार्थः—(शिष्य पूछता है कि–) [**सः आत्मा**] वह (शुद्ध) आत्मा [**कथं**] कैसे [**गृह्यते**] ग्रहण किया जाय ? (आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि–) [**प्रज्ञया तु**] प्रज्ञाके द्वारा [**सः आत्मा**] वह (शुद्ध) आत्मा [**गृह्यते**] ग्रहण किया जाता है । [**यथा**] जैसे [**प्रज्ञया**] प्रज्ञाके द्वारा [**विभक्तः**] भिन्न किया, [**तथा**] उसीप्रकार [**प्रज्ञया एव**] प्रज्ञाके द्वारा ही [**गृहीतव्यः**] ग्रहण करना चाहिये ।

टीकाः—(प्रश्न) यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिये ? (उत्तर) प्रज्ञाके द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि शुद्ध आत्माको, स्वयं निजको ग्रहण करनेमें प्रज्ञा ही एक करण है—जैसे भिन्न करनेमे प्रज्ञा ही एक करण था । इसलिये जैसे प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया था उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये ।

भावार्थः—भिन्न करने और ग्रहण करनेमे करण अलग - अलग नहीं हैं; इसलिये प्रज्ञाके द्वारा ही आत्माको भिन्न किया और प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये । २९६ ।

अब प्रश्न होता है कि–इस आत्माको प्रज्ञाके द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिये ? इसका उत्तर कहते हैं:—

कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, चेतक है सो ही मैं हि हूँ ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥ २९७ ॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं। ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः। ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न

गाथा २९७

अन्वयार्थः—[**प्रज्ञया**] प्रज्ञाके द्वारा [**गृहीतव्यः**] (आत्माको) इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—[**यः चेतयिता**] जो चेतनेवाला (चेतनस्वरूप आत्मा) है [**सः तु**] वह [**निश्चयतः**] निश्चयसे [**अहं**] मै हूँ, [**अवशेषाः**] शेष [**ये भावाः**] जो भाव हैं [**ते**] वे [**मम पराः**] मुझसे पर हैं [**इति ज्ञातव्याः**] ऐसा जानना चाहिये।

टीकाः—नियत स्वलक्षणका अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतनेवाला, चैतन्यस्वरूप आत्मा) है सो यह मै हूँ; और अन्य स्वलक्षणोंसे लक्ष्य (अर्थात् चैतन्यलक्षणके अतिरिक्त अन्य लक्षणोंसे जानने योग्य) जो यह शेष व्यवहाररूप भाव है, वे सभी चेतकत्वरूपी व्यापकके व्याप्य नहीं होते इसलिये मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिये ही, अपनेमें से ही, अपनेमें ही, अपनेको ही ग्रहण करता हूँ। आत्माकी, चेतना ही एक क्रिया है, इसलिये 'मै ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'मैं चेतता ही हूँ'; चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुये द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुयेके लिये ही चेतता हूँ, चेतते हुयेसे ही चेतता हूँ, चेततेमे ही चेतता हूँ, चेततेको ही चेतता हूँ। अथवा—न तो चेतता हूँ; न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुयेके द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुयेके लिये चेतता हूँ, न चेतते हुयेसे चेतता हूँ, न चेतते हुयेमे चेतता हूँ, न चेतते हुयेको चेतता हूँ; किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (—चैतन्यमात्र) भाव हूँ।

भावार्थः—प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया वह चेतक मैं हूँ, और शेषभाव मुझसे पर हैं; इसलिये (अभिन्न छह कारकोंसे) मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझे ही ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'चेतता हूँ' क्योंकि चेतना ही आत्माकी एक क्रिया है। इसलिये मैं चेतता ही हूँ; चेतनेवाला ही, चेतनेवालेके द्वारा ही, चेतनेवालेके लिये ही, चेतनेवालेसे ही, चेतनेवालेमें ही, चेतनेवालेको ही चेतता हूँ। अथवा द्रव्यदृष्टिसे

चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये। किंतु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि।

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं (हि) यच्छक्यते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥ (शार्दूलविक्रीड़ित)

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा॥ २९८॥

तो—मुझमे छह कारकोके भेद भी नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ।—इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् अपनेको चेतयिताके रूपमें अनुभव करना चाहिये।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैः—

अर्थः—जो कुछ भी भेदा जा सकता है उस सबको स्वलक्षणके बलसे भेदकर, जिसकी चिन्मुद्रासे अंकित निर्विभाग महिमा है ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। यदि कारकके अथवा धर्मोंके या गुणोंके भेद हो तो भले हो; किन्तु शुद्ध (—समस्त विभावोंसे रहित—) *विभु, ऐसा चैतन्यभावमे तो कोई भेद नहीं है। (इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण किया जाता है।)

भावार्थः—जिनका स्वलक्षण चैतन्य नहीं है ऐसे परभाव तो मुझसे भिन्न हैं; मै तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरणरूप कारकभेद, सत्व असत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व आदि धर्मभेद और ज्ञान, दर्शन आदि गुणभेद यदि कथंचित् हो तो भले हो, परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भावमें तो कोई भेद नहीं है। —इसप्रकार शुद्धनयसे अभेदरूप आत्माको ग्रहण करना चाहिये॥ २९७॥

(आत्माको शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया। अब, सामान्य चेतना दर्शनज्ञानसामान्यमय है, इसलिये अनुभव में दर्शनज्ञानस्वरूप आत्माको इसप्रकार अनुभव करना चाहिये—सो कहते हैं:—)

---

* विभु=दृढ़, अचल, नित्य, समर्थ; सर्व गुणपर्यायोंमें व्यापक।

कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, दृष्टा है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना॥ २९८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥ २९९ ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९८ ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९९ ॥

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव। ततोहं द्रष्टारमात्मानं गृण्हामि यत्किल गृण्हामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि,

---

गाथा २९८-२९९

अन्वयार्थः—[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा **[गृहीतव्यः]** इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—**[यः द्रष्टा]** जो देखने वाला है **[सः तु]** वह **[निश्चयतः]** निश्चयसे **[अहं]** मैं हूँ, **[अवशेषाः]** शेष **[ये भावाः]** जो भाव हैं **[ते]** वे **[मम पराः]** मुझसे पर हैं; **[इति ज्ञातव्याः]** ऐसा जानना चाहिये ।

[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा **[गृहीतव्यः]** इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—**[यः ज्ञाता]** जो जानने वाला है **[सः तु]** वह **[निश्चयतः]** निश्चयसे **[अहं]** मै हूँ, **[अवशेषाः]** शेष **[ये भावाः]** जो भाव हैं **[ते]** वे **[मम पराः]** मुझसे पर हैं **[इति ज्ञातव्याः]** ऐसा जानना चाहिये ।

टीका:—चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदोंका उल्लंघन नहीं करती है। इसलिये चेतकत्वकी भाँति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व आत्माका स्वलक्षण ही है। इसलिये मै देखनेवाला आत्माको ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'देखता ही हूँ'। देखता हुआ ही देखता हूँ; देखते हुये के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुये के लिये ही देखता हूँ, देखते हुये से ही देखता हूँ, देखते हुये में ही देखता हूँ; देखते हुये को ही देखता हूँ। अथवा—नहीं देखता, न देखते हुए को देखता हूँ न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिये देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न

कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, ज्ञाता है सो ही मैं हि हूँ ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥ २९९ ॥

पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि। अथवा–न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि। किंतु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि। अपि च–ज्ञातारमात्मानं गृण्हामि यत्किल गृण्हामि तज्जा नाम्येव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि। अथवा–न जानामि, न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि न जानंतं जानामि। किंतु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो

देखते हुएमे देखता हूँ, न देखते हुए को देखता हूँ; किन्तु मैं सर्व विशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। और इसी प्रकार–मैं जानने वाले आत्माको ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् जानता ही हूँ'; जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिये ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ, जानते हुए मे ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा—नहीं जानता, न जानते हुए को जानता हूँ, नहीं जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिये जानता हूँ, न जानते हुये से जानता हूँ, न जानते हुए मे जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ; किन्तु मै सर्वविशुद्ध ज्ञप्ति (–जानन क्रिया) मात्र भाव हूँ। (इस-प्रकार देखने वाले आत्माको तथा जानने वाले आत्माको कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण रूप कारकोंके भेद पूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारक भेदोंका निपेध करके आत्माको अर्थात् अपने को दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिये, अर्थात् अभेदरूपसे अनुभव करना चाहिये।)

भावार्थः—इन तीन गाथाओंमे, प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करनेको कहा गया है। 'ग्रहण करना' अर्थात् किसी अन्य वस्तुको ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतनाका अनुभव करना ही आत्माका 'ग्रहण करना' है। पहली गाथामे सामान्य चेतनाका अनुभव कराया गया है। वहाँ, अनुभव करने वाला, जिसका अनुभव किया जाता है वह, और जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह–इत्यादि कारक भेदरूपसे आत्माको कहकर, अभेद विवक्षामें कारकभेदका निपेध करके, आत्माको एक शुद्ध चैतन्यमात्र कहा गया है।

अब इन दो गाथाओंमें दृष्टा तथा ज्ञाताका अनुभव कराया है, क्योंकि चेतनासामान्य दर्शनज्ञानविशेषोंका उलंघन नहीं करती। यहाँ भी, छहकारकरूप भेद अनुभवन कराके, और तत्पश्चात् अभेद अनुभवनकी अपेक्षासे कारक भेदको दूर कराके, दृष्टा–ज्ञाता मात्रका अनुभव कराया है।)

टीकाः—यहाँ प्रश्न होता है कि—चेतना दर्शन ज्ञान भेदोंका उलंघन क्यो नहीं करती

भावोऽस्मि। ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात्? उच्यते—चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात् द्वैरूप्यं नातिक्रामति। ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, ततः सा ते नातिक्रामति। यद्यतिक्रामति? सामान्यविशेषातिक्रांतत्वाच्चेतनैव न भवति। तदभावे द्वौ दोषौ—स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा। ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगंतव्या।

> अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्।
> तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
> तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
> दात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्।।१८३। (शार्दूलविक्रीड़ित)

कि जिससे चेतनेवाला द्रष्टा तथा ज्ञाता होता है? इसका उत्तर कहते है:—प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है। वह चेतना द्विरूपताका उलंघन नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुऐं सामान्य–विशेषात्मक है। (सभी वस्तुये सामान्यविशेषस्वरूप है। चेतना भी वस्तु है। इसलिये वह भी सामान्यविशेषस्वरूप है अर्थात् वह द्विरूपताका उलंघन नहीं करती) उसके जो दो रूप है वे—दर्शन और ज्ञान है। इसलिये वह उनका (—दर्शन ज्ञानका) उलंघन नहीं करती। यदि चेतना दर्शन ज्ञानका उलंघन करे तो सामान्य विशेषका उलंघन करनेसे चेतना ही न रहे (अर्थात् चेतनाका अभाव हो जायेगा।) उसके अभावमे दो दोष आते है—(१) अपने गुण का नाश होनेसे चेतनको अचेतनत्व आ जायगा, अथवा (२) व्यापक (चेतना) के अभाव मे व्याप्य ऐसा चेतन (आत्मा) का अभाव हो जायेगा। इसलिये उन दोषोके भयसे चेतना को दर्शन ज्ञानस्वरूप ही अंगीकार करना चाहिये।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते है:—

अर्थः—जगत में निश्चयतः चेतना अद्वैत है, तथापि यदि वह दर्शनज्ञानरूपको छोड़ दे तो सामान्य विशेषरूपके अभावसे (वह चेतना) अपने अस्तित्वको ही छोड़ देगी; और इस-प्रकार चेतना अपने अस्तित्वको छोड़ने पर, (१) चेतनके जड़त्व आजायेगा, और (२) व्यापक (चेतना) के विना व्याप्य जो आत्मा वह नष्ट हो जायेगा (—इस प्रकार दो दोष आते हैं) इसलिये चेतना नियमसे दर्शनज्ञानरूप ही हो।

भावार्थः—वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषरूप है। चेतना भी वस्तु है; इसलिये यदि वह सामान्यविशेपरूप ऐसा दर्शनज्ञानरूपत्वको छोड़ दे तो उसके वस्तुत्वका ही नाश हो जायेगा, अर्थात् चेतनाका अभाव ही हो जायेगा। चेतनाका अभाव होने पर, या तो चेतन

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥ १८४ ॥ (इन्द्रवज्रा)

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३०० ॥

को नाम भणेद् बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् ।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धम् ॥ ३०० ॥

आत्माको (अपना चेतना गुणका अभाव होने पर) जड़त्व आ जायेगा, अथवा व्यापकके अभावसे व्याप्य ऐसा आत्माका अभाव हो जायेगा। (चेतना आत्माकी सर्व अवस्थाओंमे व्याप्त होनेसे व्यापक है और आत्मा चेतन होनेसे चेतनाका व्याप्य है। इसलिये चेतनाका अभाव होने पर आत्माका भी अभाव हो जायेगा।) इसलिये चेतनाको दर्शनज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिये।

यहाँ तात्पर्य यह है कि—सांख्य मतावलम्बी आदि कितने ही लोग सामान्य चेतनाको ही मानकर एकान्त कथन करते हैं, उनका निषेध करनेके लिये यहाँ यह बताया गया है कि 'वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेपरूप है इसलिये चेतनाको सामान्यविशेपरूप अंगीकार करना चाहिये'।

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं :—

अर्थः—चैतन्यका (आत्माका) तो एक चिन्मय ही भाव है, और जो अन्यभाव हैं वे वास्तवमें दूसरोंके भाव हैं; इसलिये (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है, अन्यभाव सर्वथा त्याज्य हैं ॥ २९८–२९९ ॥

अब, इस उपदेशकी गाथा कहते हैं :—

गाथा ३००

अन्वयार्थः—[**सर्वान् भावान्**] सर्व भावोंको [**परकीयान्**] दूसरेका [**ज्ञात्वा**] जानकर [**कः नाम बुधः**] कौन ज्ञानी, [**आत्मानं**] अपनेको [**शुद्धं**] शुद्ध [**जानन्**] जानता हुआ, [**इदं मम**] 'यह मेरा है' (—'यह भाव मेरे हैं') [**इति च वचनं**] ऐसा वचन [**भणेत्**] बोलेगा ?

सब भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्मको ।
वह कौन ज्ञानी "मेरा है यह" यों वचन बोले अहो ॥ ३०० ॥

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति। एवं च जानन् कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात् ? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसंबंधस्यासंभवात्। अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः शेषाः सर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः।

सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥ (शार्दूलविक्रीडित)

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥ १८६ ॥ (अनुष्टुप्)

टीका:—जो (पुरुष) परके और आत्माके नियत स्वलक्षणोंके विभागमें पड़ने वाली प्रज्ञाके द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तवमें एक चिन्मात्र भावको अपना जानता है और शेष सर्व भावोंको दूसरोंका जानता है। ऐसा जानता हुआ (वह पुरुष) परभावोंको 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा ? क्योंकि परमें और अपनेमें निश्चयसे स्वस्वामि सम्बन्धका असम्भव है। इसलिये, सर्वथा चिद्भाव ही (एकमात्र) ग्रहण करने योग्य है, शेष समस्तभाव छोड़ने योग्य हैं—ऐसा सिद्धान्त है।

भावार्थ:—लोकमें भी यह न्याय है कि—जो सुबुद्धि और न्यायवान होता है वह दूसरेके धनादिको अपना नहीं कहता। इसीप्रकार जो सम्यक्ज्ञानी है, वह समस्त परद्रव्योंको अपना नहीं मानता। किंतु अपने—निज भावको ही अपना जानकर ही ग्रहण करता है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते है :—

अर्थ:—जिनके चित्तका चरित्र उदात्त—(उदार, उच्च, उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्तका सेवन करें कि—'मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ; और जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकारके भाव प्रगट होते है वे मै नहीं हूं, क्योंकि वे सभी मेरे लिये परद्रव्य है।'

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:—जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराधी है, इसलिये बंधमें पड़ता है, और जो स्वद्रव्यमें ही संवृत है (अर्थात् जो अपने द्रव्यमें ही गुप्त—मग्न है—संतुष्ट है परद्रव्य का ग्रहण नहीं करता) ऐसा यति निरपराधी है इसलिये बंधता नहीं है ॥ ३०० ॥

थेयाई अवराहे जो कुव्वइ सो उ संकिदो भमई।
मा वज्झेजं केणवि चोरोत्ति जणह्मि वियरंतो ॥ ३०१ ॥

जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको उ जणवए भमई।
ण वि तस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जइ कयाइ ॥ ३०२ ॥

एवह्मि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥ ३०३ ॥

स्तेयादीनपराधान् यः करोति स तु शंकितो भ्रमति।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ॥ ३०१ ॥

यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जनपदे भ्रमति।
नापि तस्य बद्धुं यच्चिंतोत्पद्यते कदाचित् ॥ ३०२ ॥

एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता।
यदि पुनर्निरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये ॥ ३०३ ॥

अब इस कथनको दृष्टान्तपूर्वक गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ३०१-३०२-३०३

अन्वयार्थः—[**यः**] जो पुरुष [**स्तेयादीन् अपराधान्**] चोरी आदि के अपराध [**करोति**] करता है, [**सः तु**] वह '[**जने विचरन्**] लोकमें घूमता हुआ [**केन अपि**] मुझे कोई [**चौरः इति**] चोर समझकर [**मा बध्ये**] पकड़ न ले,' इसप्रकार [**शंकितः भ्रमति**] शंकित होता हुआ घूमता है; [**यः**] जो पुरुष [**अपराधान्**] अपराध [**न करोति**] नहीं करता [**सः तु**] वह [**जनपदे**] लोकमें [**निश्शंकः भ्रमति**] निःशंक घूमता है, [**यद्**] क्योंकि

अपराध चौर्यादिक करै जो पुरुष वो शंकित फिरै।
को लोकमें फिरते हुएको, चोर जान जु बांध ले ॥ ३०१ ॥

अपराध जो करता नहीं, निःशंक लोकविषैं फिरै।
"बँध जाऊँगा" ऐसी कभी, चिंता न उसको होय है ॥ ३०२ ॥

त्यों आतमा अपराधी "मैं बँधता हुँ" यों हि सशंक है।
अरु निरपराधी आतमा, "नांही बँधूँ" निःशंक है ॥ ३०३ ॥

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति। यस्तु तं न करोति तस्य सा न संभवति। तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवति, इति नियमः। अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात् ॥ ३०१ ॥ ३०२ ॥ ३०३ ॥

को हि नामायमपराधः?—

[तस्य] उसे [बद्धुं चिन्ता] बँधनेकी चिंता [कदाचित् अपि] कभी भी [न उत्पद्यते] उत्पन्न नहीं होती। [एवं] इसीप्रकार [चेतयिता] (अपराधीधी) आत्मा '[सापराधः अस्मि]' मै अपराधी हूँ [बध्ये तु अहं] इसलिये मैं बँधूँगा' इसप्रकार [शंकितः] शंकित होता है, [यदि पुनः] और यदि [निरपराधः] अपराध रहित (आत्मा) हो तो '[अहं न बध्ये] 'मै नहीं बँधूँगा' इसप्रकार [निश्शंकः] निःशंक होता है।

टीका:—जैसे इस जगतमें जो पुरुष, पद्रव्यका ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है, उसीको बंधकी शंका होती है और जो अपराध नहीं करता उसे बंधकी शंका नहीं होती, इसी प्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ परद्रव्यग्रहणात्मक अपराध करता है उसीको बंधकी शंका होती है तथा जो शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता उसे बंधकी शंका नहीं होती,— ऐसा नियम है। इसलिये सर्वथा समस्त परकीय भावोंके परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्यके सर्व भावोको छोड़कर) शुद्ध आत्माको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है।

भावार्थ:—यदि मनुष्य चोरी आदि अपराध करे तो उसे बन्धनकी शंका हो; निरपराधको शंका क्यो होगी? इसी प्रकार यदि आत्मा परद्रव्यका ग्रहणरूप अपराध करे तो उसे बन्धकी शंका अवश्य होगी; यदि अपनेको शुद्ध अनुभव करे, परका ग्रहण न करे, तो बंधकी शंका क्यो होगी? इसलिये परद्रव्यको छोड़कर शुद्ध आत्माका ग्रहण करना चाहिये। तभी निरपराध हुआ जाता है ॥ ३०१–३०३ ॥

अब प्रश्न होता है कि यह 'अपराध' क्या है? उसके उत्तरमे अपराधका स्वरूप कहते हैं:—

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥ ३०४ ॥
जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणए णिच्चं वट्टेइ अहंति जाणंतो ॥ ३०५ ॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थम् ।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥ ३०४ ॥
यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शंकितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्तते अहमिति जानन् ॥ ३०५ ॥

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः। अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः । अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधस्तेन सह्य-

---

गाथा ३०४-३०५

अन्वयार्थः—[**संसिद्धिराधसिद्धं**] संसिद्धि, राध*, सिद्ध, [**साधितं आराधितं च**] साधित और आराधित—[**एकार्थं**] ये एकार्थवाची शब्द है; [**यः खलुचेतयिता**] जो आत्मा [**अपगतराधः**] 'अपगतराध' अर्थात्–राधसे रहित है [**सः**] वह आत्मा [**अपराधः**] अपराध [**भवति**] है ।

[**पुनः**] और [**यः चेतयिता**] जो आत्मा [**निरपराधः**] निरपराध है [**सः तु**] वह [**निशंकितः भवति**] निःशंक होता है; [**अहं इति जानन्**] 'जो शुद्ध आत्मा है सो ही मै हूँ' ऐसा जानता हुआ [**आराधनया**] आराधनासे [**नित्यं वर्तते**] सदा वर्तता है ।

टीका:–परद्रव्यके परिहारसे शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधन सो राध है। जो आत्मा 'अपगतराध' अर्थात् राधरहित हो वह आत्मा अपराध है। अथवा (दूसरा समास विग्रह

---

* राध = अराधना, प्रसन्नता, कृपा, पूर्णता, सिद्ध करना, पूर्ण करना ।

संसिद्धि, सिद्धि जु राध, अरु साधित अराधित एक है ।
ये राधसे जो रहित है, वो आतमा अपराध है ॥ ३०४ ॥
अरु आतमा जो निरपराधी, होय है निःशङ्क वो ।
वर्ते सदा आराधनासे, जानना "मैं" आतमको ॥ ३०५ ॥

श्चेतयिता वर्तते स सापराधः स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद्बंधशंकासंभवे सति, स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्यात्। यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बंधशंकाया असंभवे सति, उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादाराधक एव स्यात्।

अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥ १८७ ॥ (मालिनी)

इसप्रकार है) जो भाव राधरहित हो वह भाव अपराध है; उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो वह आत्मा सापराध है। वह आत्मा, परद्रव्यके ग्रहणके सद्भाव द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धिके अभावके कारण बंधकी शंका होती है इसलिये स्वयं अशुद्ध होनेसे, अनाराधक ही है। और जो आत्मा निरपराध है वह, समग्र परद्रव्यके परिहारसे शुद्ध आत्माकी सिद्धिके सद्भावके कारण बंधकी शंका नहीं होती इसलिये 'उपयोग ही जिसका एक लक्षण है ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' इसप्रकार निश्चय करता हुआ शुद्ध आत्माकी सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसी आराधना पूर्वक सदा वर्तता है इसलिये आराधक ही है।

भावार्थ:—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित—इन शव्दोंका एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधनका नाम 'राध' है। जिसके वह राध नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है वह आत्मा निरपराध है। जो सापराध है उसे बंधकी शंका होती है इसलिये वह स्वयं अशुद्ध होनेसे अनाराधक है; और जो निरपराध है वह निःशंक होता हुआ अपने उपयोगमें लीन होता है इसलिये उसे बंधकी शंका नहीं होती, इसलिये 'जो शुद्ध आत्मा है वही मै हूँ' ऐसे निश्चय पूर्वक वर्तता हुआ सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके एकभावरूप निश्चय आराधनाका आराधक ही है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—सापराध आत्मा निरंतर अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मोंसे बंधता है; निरपराध आत्मा बंधनको कदापि स्पर्श नहीं करता। जो सापराध आत्मा है वह तो नियमसे अपनेको अशुद्ध सेवन करता हुआ सापराध है; निरपराध आत्मा तो भलीभाँति शुद्ध आत्माका सेवन करने वाला होता है। ३०४–३०५।

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा सापराधस्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुंभत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदपोहकत्वेनामृतकुंभत्वात्। उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे—

अप्पडिक्कमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुंभो ॥ १ ॥

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥ २ ॥ अत्रोच्यते—

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥ ३०६ ॥

(यहाँ व्यवहारनयावलम्वी अर्थात् व्यवहारनयको अवलंबन करनेवाला तर्क करता है कि:—)" शुद्ध आत्माकी उपासनाका प्रयास करनेका क्या काम है? क्योंकि प्रतिक्रमण आदिसे ही आत्मा निरपराध होता है; क्योंकि सापराधके जो अप्रतिक्रमण आदि हैं वे, अपराधको दूर करनेवाले न होनेसे विषकुम्भ हैं,इसलिये प्रतिक्रमणादि हैं वे, अपराधको दूर करने वाले होनेसे अमृतकुम्भ है। व्यवहार का कथन करने वाले आचारसूत्र में भी कहा है कि:—

अर्थ—"अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि—(इन आठ प्रकारसे लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित् न करना) सो विषकुम्भ है।* प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि—(इन आठ प्रकारसे लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित् करना) सो अमृतकुम्भ है।"

उपरोक्त तर्कका समाधान करते हुए आचार्यदेव (निश्चयनयकी प्रधानतासे) गाथा द्वारा करते हैं:—

---

* प्रतिक्रमण = कृत दोषोंका निराकरण। प्रतिसरण = सम्यक्त्वादि गुणोंमें प्रेरणा। परिहार = मिथ्यात्व–रागादि दोषोंका निवारण। धारणा = पंचनमस्कारादि मंत्र, प्रतिमा इत्यादि बाह्य द्रव्योंके आलम्बन द्वारा चित्तको स्थिर करना। निवृत्ति = बाह्य विषय कषायादि इच्छामें प्रवर्तमान चित्तको हटा लेना। निन्दा = आत्मसाक्षी पूर्वक दोषोंका प्रगट करना। गर्हा = गुरु साक्षीमें दोषोंका प्रगट करना। शुद्धि=दोष होने पर प्रायश्चित लेकर विशुद्धि करना।

प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण त्यों परिहरण, निवृत्ति धारणा।
अरु शुद्धि, निंदा, गर्हणा, ये अष्टविध विषकुंभ है ॥ ३०६ ॥

अप्पडिक्कमणमप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही अमयकुंभो ॥ ३०७ ॥

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।
निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुंभः ॥ ३०६ ॥

अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।
अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुंभः ॥ ३०७ ॥

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विषकुंभ एव किं तस्य विचारेण । यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुंभोऽपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविल-

---

गाथा ३०६-३०७

अन्वयार्थः—[**प्रतिक्रमणं**] प्रतिक्रमण, [**प्रतिसरणं**] प्रतिसरण, [**परिहारः**] परिहार, [**धारणा**] धारणा, [**निवृत्तिः**] निवृत्ति, [**निन्दा**] निन्दा, [**गर्हा**] गर्हा [**च शुद्धिः**] और शुद्धि–[**अष्टविधः**] यह आठ प्रकारका [**विषकुम्भः**] विषकुम्भ [**भवति**] है (क्योंकि इसमें कर्तृत्वकी बुद्धि सम्भवित है)।

[**अप्रतिक्रमणं**] अप्रतिक्रमण, [**अप्रतिसरणं**] अप्रतिसरण, [**अपरिहारः**] अपरिहार, [**अधारणा**] अधारणा, [**अनिवृत्तिः च**] अनिवृत्ति, [**अनिन्दा**] अनिन्दा, [**अगर्हा**] अगर्हा [**च एव**] और [**अशुद्धिः**] अशुद्धि–[**अमृतकुम्भः**] यह अमृतकुम्भ है (क्योंकि इससे कर्तृत्वका निषेध है–कुछ करना ही नहीं है, इसलिये बन्ध नहीं होता)।

टीकाः—प्रथम तो जो अज्ञानीजन साधारण (अज्ञानी लोगोंको साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि है वे तो शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावरूप स्वभाववाले है इसलिये स्वयमेव अपराधरूप होनेसे विषकुम्भ ही है; उनका विचार करनेका क्या प्रयोजन है ? (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य है।) और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि है वे सब अपराधरूपी

अनप्रतिक्रमण अनप्रतिसरण, अनपरिहरण अनधारणा।
अनिवृत्ति, अनगर्हा, अनिंद, अशुद्धि अमृतकुंभ है॥ ३०७ ॥

चाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयिकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणासमर्थत्वेन विपक्षकार्यकारित्वाद्विषकुंभ एव स्यात्। अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीयभूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुंभो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि, अमृतकुंभत्वं साधयति। तयैव च निरपराधो भवति चेतयिता। तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव। अतस्तृतीयभूमिकयैव निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते, तत्प्राप्त्यर्थ एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः, ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुंचति अन्यदपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणमतिदुष्करं किमपि कारयति। वक्ष्यते चात्रैव—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थर विसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिकमणं॥ इत्यादि। (देखो गाथा ३८३-३८५)

विपके दोपको (क्रमशः) कम करनेमें समर्थ होनेसे अमृतकुम्भ हैं (ऐसा व्यवहार आचार सूत्रमें कहा है) तथापि प्रतिक्रमण–अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण ऐसी–अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिकाको न देखनेवाले पुरुपको वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करनेको असमर्थ होनेसे विपक्ष (अर्थात् बंधका) कार्य करते होनेसे विषकुम्भ ही है। जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है वह, स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिरूप होनेके कारण समस्त अपराधरूपी विपके दोपोको सर्वथा नष्ट करनेवाली होनेसे, साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है और इसप्रकार (वह तीसरी भूमि) व्यवहारसे द्रव्य प्रतिक्रमणादिको भी अमृतकुम्भत्व साधती है। उस तीसरी भूमिसे ही आत्मा निरपराध होता है। उस (तीसरी भूमि) के अभावमें द्रव्य प्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है। इसलिये, तीसरी भूमिसे ही निरपराधत्व है ऐसा सिद्ध होता है। उसकी प्राप्तिके लिये ही यह द्रव्य प्रतिक्रमणादि हैं। ऐसा होनेसे यह नहीं मानना चाहिये कि (निश्चयनयका) शास्त्र द्रव्य प्रतिक्रमणादिको छुड़ाता है। तब फिर क्या करता है? द्रव्यप्रतिक्रमणादिसे छुड़ा नहीं देता (-अटका नहीं देता, संतोप नहीं मनवा देता); इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण–अप्रतिक्रमणादिसे अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप, शुद्ध आत्माकी सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा, अति दुष्कर कुछ करवाता है। इस ग्रन्थमें ही आगे कहेंगे कि—

अर्थः—अनेकप्रकार के विस्तार वाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे जो अपने आत्माको निवृत्त कराता है वह आत्मा प्रतिक्रमण है।

भावार्थः—व्यवहार नयावलम्बी ने कहा था कि—"लगे हुए दोपों का प्रतिक्रमणादि करने से ही आत्मा शुद्ध होता है, तब फिर पहले से ही शुद्धात्मा के आलंबन का खेद करनेका

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां ।
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालंबनम् ।
आत्मन्येवालानितं च चित्त-
मासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ १८८ ॥
यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।

क्या प्रयोजन है ? शुद्ध होनेके बाद उसका आलम्बन होगा; पहले से ही आलम्बन का खेद निष्फल है" । उसे आचार्य समझाते है कि:—जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि हैं वे दोषों के मिटानेवाले हैं, तथापि शुद्ध आत्मा स्वरूप जो कि प्रतिक्रमणादि से रहित हैं, उसके अवलम्बन के बिना तो द्रव्य प्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही है, वे दोषों के मिटाने में समर्थ नहीं है; क्योंकि निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्गमे है, केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है, बन्ध का ही मार्ग है । इसलिये यह कहा है कि—अज्ञानीके जो अप्रतिक्रमणादिक हैं सो तो विषकुम्भ है ही; उसका तो कहना ही क्या है ? किन्तु व्यवहार चारित्रमें जो प्रतिक्रमणादिक कहे है वे भी निश्चनय से विषकुम्भ ही है, क्योकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादि से रहित, शुद्ध, अप्रतिक्रमणादि स्वरूप ही है ।

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः— इस कथन से सुखासीन (सुखसे बैठे हुए) प्रमादी जीवों को हत कहा है (अर्थात् उन्हें मोक्ष का सर्वथा अनधिकारी कहा है), चापल्य का (अविचारित कार्य का) प्रलय किया है (अर्थात् आत्मप्रतीति से रहित क्रियाओं को मोक्ष के कारण में नहीं माना), आलंबन को उखाड़ फेंका है (अर्थात् सम्यक्दृष्टि के द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि को भी निश्चय से बंध का कारण मानकर हेय कहा है), जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो तब-तक (शुद्ध) आत्मारूपी स्तंभ से ही चित्त को बांध रखा है (अर्थात् व्यवहार के आलम्बन से अनेक प्रवृत्तियों में चित्त भ्रमण करता था उसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में ही लगानेको कहा है क्योंकि वही मोक्ष का कारण है) ।

यहाँ निश्चयनय से प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादि को अमृत-कुम्भ कहा इसलिये यदि कोई विपरीत समझकर प्रतिक्रमणादिको छोड़कर प्रमादी हो जाये तो उसे समझाने के लिये कलशरूप काव्य कहते है:—

अर्थः—(हे भाई !) जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता) तब फिर मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है ? निष्प्रमाद होता हुआ ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता ?

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १८९ ॥ (वसंततिलका)

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥ १९० ॥ (पृथ्वी)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।

भावार्थः—अज्ञानावस्था मे जो अप्रतिक्रमणादि होते है उनकी तो बात ही क्या ? किन्तु यहाँ तो, शुभप्रवृत्तिरूप द्रव्य प्रतिक्रमणादि का पक्ष छुड़ाने के लिये उन्हें (द्रव्य प्रतिक्रमणादि को निश्चयनयकी प्रधानता से विषकुम्भ कहा है क्योंकि वे कर्मबन्ध के ही कारण हैं, और प्रतिक्रमण- अप्रतिक्रमणादि से रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादि से रहित होने से अप्रतिक्रमणादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् वहाँ के अप्रतिक्रमणादिको अमृत कुम्भ कहा है । तृतीय भूमि पर चढ़ानेके लिये आचार्यदेवने यह उपदेश दिया है । प्रतिक्रमणादिको विषकुम्भ कहनेकी बात सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं, उनके सम्बन्धमे आचार्य कहते है कि—' यह लोग नीचे ही नीचे क्यो गिरते हैं ? तृतीय भूमिमें ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते ?' जहाँ प्रतिक्रमणको विषकुम्भ कहा है वहाँ उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानीका नहीं । इसलिये जो अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं वे अज्ञानीके अप्रतिक्रमणादि नहीं जानना चाहिये, किन्तु तीसरी भूमिके शुद्ध आत्मामय जानना चाहिये ।

अब इस अर्थको दृढ़ करता हुआ काव्य कहते हैं—

अर्थः—कषायके भारसे भारी होनेसे आलस्यका होना सो प्रमाद है, इसलिये यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? इसलिये निजरससे परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होनेवाला मुनि परमशुद्धताको प्राप्त होता है अथवा अल्पकालमे ही (कर्मबन्धसे) छूट जाता है ।

भावार्थः—प्रमाद तो कषायके गौरवसे होता है इसलिये प्रमादीके शुद्धभाव नहीं होता । जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभावमें प्रवृत्त होता है वह शुद्ध होकर मोक्षको प्राप्त करता है ।

अब, मुक्त होनेका अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो पुरुष वास्तवमें अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्यको छोड़कर स्वयं

बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १९१ ॥ (शार्दूलविक्रीडित)

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९२॥ (मन्दाक्रान्ता)

इति मोक्षो निष्क्रांतः—

स्वद्रव्यमें लीन होता है, वह पुरुष नियमसे सर्व अपराधोंसे रहित होता हुआ, बंधके नाशको प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) होता हुआ, अपनी ज्योतिसे (आत्मस्वरूपके प्रकाशसे) निर्मलतया उछलता हुआ चैतन्यरूपी अमृतके प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा शुद्ध होता हुआ, कर्मोंसे मुक्त होता है।

भावार्थः—जो पुरुष पहले समस्त परद्रव्यका त्याग करके निज द्रव्यमें (आत्मस्वरूपमें) लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधोंसे रहित होकर आगामी बंधका नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञानको प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मोंका नाश करके, मोक्षको प्राप्त करता है। यह, मोक्ष होनेका अनुक्रम है।

अब मोक्ष अधिकारको पूर्ण करते हुए उसके अन्तिम मंगलरूप पूर्णज्ञानकी महिमाका (सर्वथा शुद्ध हुए आत्मद्रव्यकी महिमाका) कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कर्मबन्धके छेदनेसे अतुल, अक्षय (-अविनाशी) मोक्षका अनुभव करता हुआ, नित्य उद्योतवाली (-जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा, एकांत शुद्ध (कर्ममलके न रहनेसे अत्यंत शुद्ध), और एकाकार (एकज्ञानमात्र आकारमें परिणमित) निजरसकी अतिशयतासे जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा यह पूर्णज्ञान प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ है), और अपनी अचल महिमामें लीन हुआ है।

भावार्थः—कर्मका नाश करके मोक्षका अनुभव करता हुआ, अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयाकारोंको गौण करता हुआ, अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार नहीं है ऐसा) और धीर (आकुलतारहित)-ऐसा पूर्णज्ञान प्रगट दैदीप्यमान होता हुआ, अपनी महिमामें लीन होगया।

टीकाः—इसप्रकार मोक्ष (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ मोक्ष-प्ररूपकः अष्टमोऽङ्कः ॥ ८ ॥

भावार्थः—रंगभूमिमें मोक्ष तत्वका स्वांग आया था। जहाँ ज्ञान प्रगट हुआ वहाँ उस मोक्षका स्वांग रंगभूमिसे बाहर गया ॥ ३०६-३०७ ॥

❀ सवैया ❀

ज्यो नर कोय परयो दृढबंधन बंधस्वरूप लखै दुखकारी,
चिंत करै निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी।
छेदन कूं गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुयधारी,
यो बुध बुद्धि धसाय दुधाकरि कर्म रु आतम आप गहारी ॥

❀ आठवां मोक्ष अधिकार समाप्त ❀

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानं—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥ १९३ ॥ (मन्दाक्रान्ता)

❀ दोहा ❀

सर्व विशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम ।
परकूं करै न भोगवै, जानै जपि* तसु नाम ॥

प्रथम, टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि "अब सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है" ।

मोक्ष तत्वके स्वांगके निकल जानेके बाद सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है । रंगभूमि में जीव-अजीव, कर्ता कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, और मोक्ष-ये आठ स्वांग आये, उनका नृत्य हुआ और वे अपना अपना स्वरूप बताकर निकल गये । अब सर्व स्वाँगोके दूर होने पर एकाकार सर्व विशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है ।

उसमें प्रथम ही, मंगलरूपसे ज्ञानपुञ्ज आत्माकी महिमाका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावोंको सम्यक् प्रकारसे (भली भाँति) नाश को प्राप्त कराके पद पद पर (अर्थात् कर्मोंके क्षयोपशमके निमित्तसे होनेवाली प्रत्येक पर्यायमें) बंध-मोक्षकी रचनासे दूर वर्तता हुआ, शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादिमल तथा आवरणसे रहित), जिसका पवित्र अचल तेज निजरसके (-ज्ञान रसके, ज्ञानचेतनारूपी रसके) विस्तारसे परिपूर्ण है ऐसा, और जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रगट है ऐसा ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होता है ।

भावार्थः—शुद्धनयका विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कर्तृत्व-भोक्तृत्वके

---

* जपि = यद्यपि ।

कर्तृत्वं न स्वभावोस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥ १९४ ॥ (अनुष्टुप्)

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टांतपुरस्सरमाख्याति—

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० ॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पंज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ ॥

भावोंसे रहित है, बंध मोक्षकी रचनासे रहित है, परद्रव्यसे और परद्रव्यके समस्त भावोंसे रहित होनेसे शुद्ध है, निजरसके प्रवाहसे पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है। ऐसा ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होता है।

अब सर्वविशुद्ध ज्ञानको प्रगट करते है, उसमे प्रथम, 'आत्मा कर्ता-भोक्ताभावसे रहित है' इस अर्थका, आगामी गाथाओंका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—जैसे भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है, उसी प्रकार कर्तृत्व भी इस चित्स्वरूप आत्माका स्वभाव नहीं है, वह अज्ञानसे ही कर्ता है, अज्ञानका अभाव होने पर अकर्ता है।

अब, आत्माका अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :—

जो द्रव्य उपजे जिन गुणोंसे, उनसे जान अनन्य वो ।
है जगतमें कटकादि, पर्यायोंसे कनक अनन्य ज्यों ॥ ३०८ ॥

जिव-अजिवके परिणाम जो, शास्त्रोंविषैं जिनवर कहे ।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणामसे ॥ ३०९ ॥

उपजै न आत्मा कोइसे, इससे न आत्मा कार्य है ।
उपजावता नहिं कोइको, इससे न कारण भी बने ॥ ३१० ॥

रे ! कर्मआश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतारके ।
आश्रित हुवे उपजे नियमसे, अन्य नहिं सिद्धी दिखे ॥ ३११ ॥

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत् ।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।
ते जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥ ३०९ ॥
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।
उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति ॥ ३१० ॥
कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।
उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥ ३११ ॥

गाथा ३०८-३०९-३१०-३११

अन्वयार्थः—[**यद् द्रव्यं**] जो द्रव्य [**गुणैः**] जिन गुणोंसे [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता है [**तैः**] उन गुणोंसे [**तद्**] उसे [**अनन्यत् जानीहि**] अनन्य जानो; [**यथा**] जैसे [**इह**] जगतमें [**कटकादिभिः पर्यायैः तु**] कड़ा इत्यादि पर्यायोंसे [**कनकं**] सुवर्ण [**अनन्यत्**] अनन्य है वैसे ।

[**जीवस्य अजीवस्य तु**] जीव और अजीवके [**ये परिणामाः तु**] जो परिणाम [**सूत्रे दर्शिताः**] सूत्रमें बताये हैं, [**तैः**] उन परिणामोंसे [**तं जीवं अजीवं वा**] उस जीव अथवा अजीवको [**अनन्यं विजानीहि**] अनन्य जानो ।

[**यस्मात्**] क्योंकि [**कुतश्चिदं अपि**] किसीसे भी [**न उत्पन्नः**] उत्पन्न नहीं हुआ [**तेन**] इसलिये [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**कार्यं न**] (किसीका) कार्य नहीं है, [**किंचिदं अपि**] और किसीको [**न उत्पादयति**] उत्पन्न नहीं करता [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह [**कारणं अपि**] (किसीका) कारण भी [**न भवति**] नहीं है ।

[**नियमात्**] नियमसे [**कर्म प्रतीत्य**] कर्मके आश्रयसे (—कर्मका अवलम्बन लेकर) [**कर्ता**] कर्ता होता है, [**तथा च**] और [**कर्तारं प्रतीत्य**] कर्ताके आश्रयसे [**कर्माणि उत्पद्यंते**] कर्म उत्पन्न होते हैं; [**अन्या तु**] अन्य किसी प्रकारसे [**सिद्धिः**] कर्ताकर्मकी सिद्धि [**न दृश्यते**] नहीं देखी जाती ।

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्धयति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् । तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्धयति तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्धयति, अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ।

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभुवनः ।

टीका:— प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामोसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं, इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामोसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामोसे उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्णका कंकण आदि परिणामोंके साथ तादात्म्य है उसीप्रकार सर्व द्रव्योका उपने परिणामोके साथ तादात्म्य है । इस प्रकार जीव अपने परिणामो से उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं होता, क्योकि सर्वद्रव्यो का अन्यद्रव्य के साथ उत्पाद्य—उत्पादक भाव का अभाव है; उसके (कार्यकारण भाव के) सिद्ध न होने पर अजीवके जीवका कर्मत्व सिद्ध नहीं होता, और उसके (—अजीवके जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर कर्ता—कर्म की अन्य किसी अपेक्षा से सिद्धि न होने से, जीव के अजीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता । इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है ।

भावार्थ—सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न भिन्न है । सभी द्रव्य अपने अपने परिणामो के कर्ता हैं; वे उन परिणामो के कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं । निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्ता-कर्म संबंध नही है इसलिये जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं । इसी प्रकार अजीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं । इसी प्रकार जीव दूसरे के परिणामो का अकर्ता है ।

'इस प्रकार जीव अकर्ता है तथापि उसे बंध होता है यह अज्ञान की महिमा है', इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

अर्थ:—जो निजरस से विशुद्ध है. और जिसकी स्फुरायमान होती हुई चैतन्य ज्योतियों के द्वारा लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है—ऐसा जिसका स्वभाव है, ऐसा यह जीव पूर्वोक्त प्रकार से (परद्रव्य का तथा परभावों का) अकर्ता सिद्ध हुआ, तथापि उसे इस जगतमें

तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥ १९५ ॥ (शिखरिणी)

चेया उ पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥ ३१२ ॥
एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥ ३१३ ॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥ ३१२ ॥
एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत् ।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥ ३१३ ॥

कर्म प्रकृतियों के साथ यह (प्रगट) बंध होता है, सो वह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा स्फुरायमान है ।

भावार्थ:—जिसका ज्ञान सर्व ज्ञेयों मे व्याप्त होने वाला है ऐसा यह जीव शुद्धनय से परद्रव्यका कर्ता नहीं है, तथापि उसे कर्मका बन्ध होता है यह अज्ञानकी कोई गहन महिमा है–जिसका पार नहीं पाया जाता ॥ ३०८–३११ ॥

अब अज्ञानकी इस महिमाको प्रगट करते हैं:—

गाथा ३१२-३१३

अन्वयार्थः—[**चेतयिता तु**] चेतक अर्थात् आत्मा [**प्रकृत्यर्थं**] प्रकृति के निमित्तसे [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता है [**विनश्यति**] और नष्ट होता है, [**प्रकृतिः अपि**] तथा प्रकृति भी [**चेतकार्थं**] चेतक अर्थात् आत्माके निमित्तसे [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होती है [**विनश्यति**] तथा नष्ट होती है । [**एवं**] इसप्रकार [**अन्योन्यप्रत्ययात्**] परस्पर निमित्तसे [**द्वयोः अपि**] दोनों ही– [**आत्मनः**

पर जीव प्रकृतीके निमित्त जु, उपजता नशता अरे ।
अरु प्रकृतिका जिवके निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है ॥ ३१२ ॥
अन्योन्यके जु निमित्त से यों, बंध दोनोंका बने ।
इस जीव प्रकृती उभयका, संसार इससे होय है ॥ ३१३ ॥

अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति। प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति। एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बंधो दृष्टः, ततः संसारः तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः ॥ ३१२। ३१३ ॥

जा एस पयडीअट्ठं चेया णेव विमुंचए।
अयाणओ भवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥ ३१४ ॥
जया विमुंचए चेया कम्मफलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥ ३१५ ॥

प्रकृतेः च] आत्माका और प्रकृतिका–**[बंधः तु भवेत्]** बन्ध होता है, **[तेन]** और इससे **[संसारः]** संसार **[जायते]** उत्पन्न होता है।

टीका:—यह आत्मा, (उसे) अनादि संसारसे ही (अपने और परके भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंका ज्ञान (भेदज्ञान) न होनेसे दूसरेका और अपना एकत्वका अध्यास करनेसे कर्ता होता हुआ, प्रकृतिके निमित्तसे उत्पत्ति-विनाशको प्राप्त होता है, प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पत्ति-विनाशको प्राप्त होती है (अर्थात् आत्माके परिणामानुसार परिणमित होती है)। इसप्रकार–यद्यपि वे आत्मा और प्रकृतिके कर्ता-कर्मभावका अभाव है तथापि–परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे दोनोके बन्ध देखा जाता है, इससे संसार है, और उनके (आत्मा और प्रकृतिके) कर्ता-कर्मका व्यवहार है।

भावार्थ:—आत्माके और ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतिओंके परमार्थसे कर्ता-कर्म भावका अभाव है, तथापि परस्पर निमित्त नैमित्तिक भावके कारण बंध होता है, इससे संसार है और कर्ता-कर्मपनका व्यवहार है ॥ ३१२–३१३ ॥

(अब यह कहते हैं कि–'जब तक आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उपजना विनाशना न छोड़े तबतक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असंयत है।—)

उत्पादव्यय प्रकृती निमित्त जु, जब हि तक नहिं परितजे।
अज्ञानि, मिथ्यात्वी, असंयत, तब हि तक वो जिव रहे ॥ ३१४ ॥
ये आतमा जब ही करमका, फल अनंता परितजे।
ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि वो हि कर्मविमुक्त है ॥ ३१५ ॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुंचति ।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥ ३१४ ॥
यदा विमुंचति चेतयिता कर्मफलमनंतकम् ।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥ ३१५ ॥

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं न मुंचति तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या चासंयतो भवति । तावदेव परात्मनोरेक-

---

गाथा ३१४-३१५

अन्वयार्थः—[**यावत्**] जबतक [**एषः चेतयिता**] यह आत्मा [**प्रकृत्यर्थं**] प्रकृतिके निमित्तसे उपजना—विनशना [**न एव विमुंचति**] नहीं छोड़ता [**तावत्**] तबतक वह [**अज्ञायकः**] अज्ञायक (अज्ञानी) है, [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि है, [**असंयतः भवेत्**] असंयत है ।

[**यदा**] जब [**चेतयिता**] आत्मा [**अनन्तकं कर्मफलं**] अनन्त कर्मफलको [**विमुंचति**] छोड़ता है, [**तदा**] तब वह [**ज्ञायकः**] ज्ञायक है, [**दर्शकः**] दर्शक है, [**मुनिः**] मुनि है, [**विमुक्तः भवति**] विमुक्त अर्थात् बन्धसे रहित है ।

टीका:—जबतक यह आत्मा, (स्व-परके भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंका ज्ञान (भेदज्ञान) न होनेसे, प्रकृतिके स्वभावको—जो कि अपनेको बंधका निमित्त है उसको नहीं छोड़ता, तबतक स्व-परके एकत्व ज्ञानसे अज्ञायक (-अज्ञानी) है, स्वपरके एकत्व दर्शनसे (एकत्वरूप श्रद्धानसे) मिथ्यादृष्टि है और स्वपरकी एकत्व परिणतिसे असंयत है; और तभी तक परके तथा अपने एकत्वका अध्यास करनेसे कर्ता है । और जब यही आत्मा (अपने और परके भिन्न भिन्न) निश्चित् स्वलक्षणोंके ज्ञानके (भेदज्ञानके) कारण प्रकृतिके स्वभावको —जो कि अपनेको बंधका निमित्त है उसको—छोड़ता है, तब स्वपरके विभागज्ञानसे—भेदज्ञानसे ज्ञायक है, स्वपरके विभाग दर्शनसे —(भेददर्शनसे) दर्शक है और स्व परकी विभाग परिणतिसे (भेद परिणतिसे) संयत है; और तभी स्व-परके एकत्वका अध्यास न करनेसे अकर्ता है ।

भावार्थ:—जबतक यह आत्मा स्व-परके लक्षणको नहीं जानता तबतक वह भेदज्ञानके अभावके कारण कर्मप्रकृतिके उदयको अपना समझकर परिणमित होता है; इसप्रकार

त्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति। यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं मुंचति तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति। तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति।

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ॥ १९६ ॥ (अनुष्टुप्)

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ ॥ ३१६ ॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥ ३१६ ॥

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन,

---

मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी होकर, कर्ता होकर, कर्मका बन्ध करता है। और जब आत्माको भेदज्ञान होता है तब वह कर्ता नहीं होता, इसलिये कर्मका बंध नहीं करता, ज्ञाता-द्रष्टारूपसे परिणमित होता है।

"इसीप्रकार भोक्तृत्व भी आत्माका स्वभाव नहीं है" इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—कर्तृत्वकी भाँति भोक्तृत्व भी इस चैतन्यका (चित्स्वरूप आत्माका) स्वभाव नहीं कहा है। यह अज्ञानसे ही भोक्ता है, अज्ञानका अभाव होने पर अभोक्ता है ॥ ३१४–३१५ ॥

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ३१६

अन्वयार्थः—[**अज्ञानी**] अज्ञानी [**प्रकृतिस्वभावस्थितः तु**] प्रकृतिके स्वभावमें स्थित रहता हुआ [**कर्मफलं**] कर्मफलको [**वेदयते**] वेदता (भोगता) है, [**पुनः ज्ञानी**] और ज्ञानी [**उदितं कर्मफलं**] उदितमें आये हुए (उदयागत) कर्मफलको [**जानाति**] जानता है [**न वेदयते**] भोगता नहीं है।

टीकाः—अज्ञानी शुद्ध आत्माके ज्ञानके अभावके कारण स्वपरके एकत्व ज्ञानसे, स्व-

---

अज्ञानि स्थित प्रकृती स्वभाव सु, कर्मफलको वेदता।
अरु ज्ञानि तो जाने उदयगत कर्मफल, नहिं भोगता ॥ ३१६ ॥

स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते। ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन स्वपरयोर्विभागदर्शनेन स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतयानुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव न पुनस्तस्याहंतयाऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेदयते।

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥ १९७ ॥ (शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते—

परके एकत्व दर्शनसे और स्वपरकी एकत्व परिणतिसे प्रकृतिके स्वभावमें स्थित होनेसे प्रकृतिके स्वभावको भी 'अहं' रूपसे अनुभव करता हुआ कर्मफलको वेदता-भोगता है; और ज्ञानी तो शुद्धात्माके ज्ञानके सद्भावके कारण स्वपरके विभाग ज्ञानसे, स्वपरके विभाग दर्शनसे, और स्वपरकी विभाग परिणतिसे प्रकृतिके स्वभावसे निवृत्त (–दूरवर्ती) होनेसे शुद्ध आत्माके स्वभावको एकको ही 'अहं' रूपसे अनुभव करता हुआ उदित कर्मफलको, उसके ज्ञेयमात्रताके कारण, जानता ही है, किंतु उसका 'अहं' रूपसे अनुभवमें आना अशक्य होनेसे (उसे) नहीं भोगता।

भावार्थः—अज्ञानीको तो शुद्धात्माका ज्ञान नहीं है इसलिये जो कर्म उदयमें आता है उसीको वह निजरूप जानकर भोगता है; और ज्ञानीको शुद्ध आत्माका अनुभव होगया है इसलिये वह उस प्रकृतिके उदयको अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है, भोक्ता नहीं होता।

अब, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—अज्ञानी प्रकृति स्वभावमें लीन होनेसे (–उसीको अपना स्वभाव जानता है इसलिये–) सदा वेदक है, और ज्ञानी तो प्रकृति स्वभावसे विरक्त होनेसे (–उसे परका स्वभाव जानता है इसलिए–) कदापि वेदक नहीं है। इसप्रकारके नियमको भलीभाँति विचार करके–निश्चय करके निपुण पुरुषों! अज्ञानीपनको छोड़ दो और शुद्ध-एक-आत्मामय तेजमें निश्चल होकर ज्ञानीपनका सेवन करो ॥ १९७ ॥

अब, यह नियम बताया जाता है कि 'अज्ञानी वेदक ही है' (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता ही है):—

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥ ३१७ ॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठ्वपि अधीत्य शास्त्राणि ।
गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति ॥ ३१७ ॥

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुंचति, विषभावमोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुंचति । तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुंचति, प्रकृतिस्वभावमोचनसमर्थद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुंचति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात् । अतो नियम्यतेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे सुस्थितत्वाद्वेदक एव ॥ ३१७ ॥

गाथा ३१७

अन्वयार्थः—[**सुष्ठु**] भली भाँति [**शास्त्राणि**] शास्त्रोंको [**अधीत्य अपि**] पढ़कर भी [**अभव्यः**] अभव्य जीव [**प्रकृतिं**] प्रकृतिको (-अर्थात् प्रकृतिके स्वभावको) [**न मुंचति**] नहीं छोड़ता, [**गुड़दुग्ध**] जैसे मीठे दूधको [**पिबंतः अपि**] पीते हुए भी [**पन्नगाः**] सर्प [**निर्विषाः**] निर्विष [**न भवंति**] नहीं होते।

टीका:—जैसे इस जगतमें सर्प विषभावको अपने आप नहीं छोड़ता, और विष भावके मिटानेमें समर्थ-मिश्री सहित दुग्धपानसे भी नहीं छोड़ता, इसीप्रकार वास्तवमें अभव्य जीव प्रकृति स्वभावको अपने आप नहीं छोड़ता, और प्रकृति स्वभावको छुड़ानेमें समर्थभूत द्रव्यश्रुतके ज्ञानसे भी नहीं छोड़ता; क्योंकि उसे सदा ही भावश्रुत ज्ञानस्वरूप शुद्धात्म ज्ञानके अभावके कारण अज्ञानीपन है। इसलिये यह नियम किया जाता है (ऐसा नियम सिद्ध होता है) कि अज्ञानी प्रकृति स्वभावमें स्थिर होनेसे वेदक (भोक्ता) ही है।

भावार्थ—इस गाथामें, यह नियम बताया है कि अज्ञानी कर्मफलका भोक्ता ही है। यहाँ अभव्यका उदाहरण युक्त है। जैसे—अभव्यका स्वयमेव यह स्वभाव होता है कि द्रव्यश्रुतका ज्ञान आदि बाह्य कारणोंके मिलने पर भी अभव्य जीव, शुद्ध आत्माके ज्ञानके अभावके कारण कर्मोदयको भोगनेके स्वभावको नहीं बदलता, इसलिये इस उदाहरणसे स्पष्ट हुआ कि

सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृती अभव्य नहीं तजे।
ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी सर्प नहिं निर्विष बने ॥ ३१७ ॥

ज्ञानी त्ववेदक एवेति नियम्यते—

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई॥ ३१८॥

निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदकस्तेन स भवति॥ ३१८॥

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यंतविरक्तत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मुंचति ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात्

शास्त्रोंका ज्ञान इत्यादि होने पर भी जबतक जीवको शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं है अर्थात् अज्ञान भाव है तबतक वह नियमसे भोक्ता ही है॥ ३१७॥

अब, यह नियम करते हैं कि—ज्ञानी तो कर्मफलका अवेदक ही है:—

गाथा ३१८

अन्वयार्थः—[**निर्वेद समापन्नः**] निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**मधुरं कटुकं**] मीठे - कड़वे [**बहुविधं**] अनेक प्रकारके [**कर्मफलं**] कर्मफलको [**विजानाति**] जानता है [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह [**अवेदकः भवति**] अवेदक है।

टीका:—ज्ञानी तो जिसमेंसे भेद दूर हो गये हैं ऐसा भावश्रुत ज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्धात्म ज्ञानके सद्भावके कारण, परसे अत्यंत विरक्त होनेसे प्रकृति (कर्मोदय) के स्वभावको स्वयमेव छोड़ देता है इसलिये उदयमें आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफलको ज्ञातृत्वके कारण मात्र जानता ही है, किन्तु ज्ञानके होने पर (—ज्ञान हो तब) परद्रव्यको 'अहं' रूपसे अनुभव करनेकी अयोग्यता होनेसे (उस कर्मफलको) नहीं वेदता। इसलिये, ज्ञानी प्रकृति स्वभावसे विरक्त होनेसे अवेदक ही है।

भावार्थ:—जो जिससे विरक्त होता है उसे वह अपने वश तो भोगता नहीं है, और यदि परवश होकर भोगता है तो वह परमार्थसे भोक्ता नहीं कहलाता। इस न्यायसे ज्ञानी—जो कि प्रकृति स्वभाव (कर्मोदय) को अपना न जाननेसे उससे विरक्त है वह—स्वयमेव तो प्रकृति स्वभावको नहीं भोगता, और उदयकी बलवत्तासे परवश होता हुआ निर्बलतासे भोगता है तो उसे परमार्थसे भोक्ता नहीं कहा जा सकता, व्यवहारसे भोक्ता कहलाता है।

वैराग्यप्राप्त जु ज्ञानिजन है, कर्मफल को जानता।
कड़वे-मधुर बहुभाँतिको, इससे अवेदक है अहा॥ ३१८॥

केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञाने सति परद्रव्यस्याहंतयाऽनुभवितुमयोग्यत्वाद्वेदयते। अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्तत्वादवेदक एव।

"ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव॥ १९८॥" (वसंततिलका)

णवि कुव्वइ णवि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च॥ ३१९॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि।
जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च॥ ३१९॥

किन्तु व्यवहारका तो यहाँ–शुद्धनयके कथनमें अधिकार ही नहीं है; इसलिये ज्ञानी अभोक्ता ही है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञानी कर्मको न तो करता है और न भोगता है, वह कर्मके स्वभावको मात्र जानता ही है। इसप्रकार मात्र जानता हुआ, करने और भोगनेके अभावके कारण शुद्ध स्वभावमें निश्चल ऐसा वह वास्तवमें मुक्त ही है।

भावार्थः—ज्ञानी कर्मका स्वाधीनतया कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है; इसलिये वह मात्र शुद्धस्वभावरूप होता हुआ मुक्त ही है। कर्म उदयमें आता भी है फिर भी वह ज्ञानीका क्या कर सकता है? जबतक निर्बलता रहती है तबतक कर्म जोर चला ले, किन्तु ज्ञानी क्रमशः शक्ति बढ़ाकर अन्तमें कर्मका समूल नाश करेगा ही॥ ३१८॥

अब इसी अर्थको पुनः दृढ़ करते हैं:—

गाथा ३१९

अन्वयार्थः—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**बहुप्रकाराणि**] बहुत प्रकारके [**कर्माणि**] कर्मोंको [**न अपि करोति**] न तो करता है [**न अपि वेदयते**] और न भोगता ही है; [**पुनः**] किन्तु [**पुण्यं च पापं च**] पुण्य और पापरूप [**बंधं**] कर्मबन्धको [**कर्मफलं**] तथा कर्मफलको [**जानाति**] जानता है।

करता नहीं, नहिं वेदता, ज्ञानी करम बहुभाँतिको।
बस जानता ये बंध त्यों ही कर्मफल शुभ अशुभको॥ ३१९॥

ज्ञानी हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वादवेद-यितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च। किंतु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबंधं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति ॥ ३१९ ॥

कुत एतत् ?—

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥ ३२० ॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव।
जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥ ३२० ॥

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिंड-

---

टीका:—ज्ञानी कर्म चेतना रहित होनेसे स्वयं अकर्ता है, और कर्मफलचेतना रहित होनेसे स्वयं अभोक्ता है, इसलिये वह कर्मको न तो करता है और न भोगता है; किन्तु ज्ञानचेतनामय होनेसे मात्र ज्ञाता ही है इसलिये वह शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्धको तथा कर्मफलको मात्र जानता ही है ॥ ३१९ ॥

अब प्रश्न होता है कि—(ज्ञानी कर्ता - भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है) यह कैसे है ? इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

गाथा ३२०

अन्वयार्थ:—[**यथा एव दृष्टिः**] जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थोंको करता - भोगता नहीं है, किन्तु देखता ही है), [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञानं**] ज्ञान—[**अकारकं**] अकारक [**अवेदकं च एव**] तथा अवेदक है, [**च**] और [**बंधमोक्षं**] बंध, मोक्ष, [**कर्मोदयं**] कर्मोदय [**निर्जरां च एव**] तथा निर्जराको [**जानाति**] जानता ही है।

टीका:—जैसे इस जगतमें नेत्र दृश्य पदार्थसे अत्यंत भिन्नताके कारण उसे करने-भोगनेमें असमर्थ होनेसे, दृश्य पदार्थको न तो करता है और न भोगता है—यदि ऐसा न हो तो अग्निको देखनेसे, अग्निको जलानेवालेकी भाँति, अपनेको (—नेत्रको) अग्निका कर्तृत्व

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्षको ॥ ३२० ॥

वत्स्वयमेवौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्। किंतु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात्-तत्सर्वं केवलमेव पश्यति। तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यंतविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च। किंतु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबंधं मोक्षं वा-कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति।

(जलाना), और लोहेके गोलेकी भाँति अपनेको-(-नेत्रको) अग्निका अनुभव दुर्निवार होना चाहिये (अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थको करता और भोगता हो तो नेत्रके द्वारा अग्नि जलनी चाहिये और नेत्रको अग्निकी उष्णताका अनुभव अवश्य होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये नेत्र दृश्य पदार्थका कर्ता - भोक्ता नहीं है) —किन्तु केवल दर्शन-मात्रस्वभाववाला होनेसे वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है, इसीप्रकार ज्ञान भी, स्वयं (नेत्रकी भाँति) देखनेवाला होनेसे, कर्मसे अत्यन्त भिन्नताके कारण निश्चयसे उसके करने-भोगनेमें असमर्थ होनेसे, कर्मको न तो करता है और न भोगता है, किन्तु केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला होनेसे कर्मके बंधको तथा मोक्षको, और कर्मके उदयको तथा निर्जराको मात्र जानता ही है।

भावार्थः—ज्ञानका स्वभाव नेत्रकी भाँति दूरसे जानना है, इसलिये ज्ञानके कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व - भोक्तृत्व मानना अज्ञान है। यहाँ कोई पूछता है कि-"ऐसा तो केवलज्ञान है। और शेष तो जबतक मोहकर्मका उदय है तबतक सुखदुःखरागादिरूप परिणमन होता ही है, तथा जबतक दर्शनावरण, ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायका उदय है तबतक अदर्शन, अज्ञान तथा असमर्थता होती ही है, तब फिर केवलज्ञान होनेसे पूर्व ज्ञाताद्रष्टापन कैसे कहा जा सकता है ?" उसका समाधान पहलेसे ही यह कहा जा रहा है कि जो स्वतंत्रतया करता - भोगता है, वह परमार्थसे कर्ता - भोक्ता कहलाता है। इसलिये जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञानका अभाव हुआ वहाँ परद्रव्यके स्वामित्वका अभाव हो जाता है और तब जीव ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया किसीका कर्ता - भोक्ता नहीं होता, तथा अपनी निर्बलतासे कर्मके उदयकी बलवत्तासे जो कार्य होता है वह परमार्थदृष्टिसे उसका कर्ता - भोक्ता नहीं कहा जाता। और उस कार्यके निमित्तसे कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो भी उसे यहाँ बंधमें नहीं गिना जाता। मिथ्यात्व है सो ही संसार है। मिथ्यात्वके जानेके बाद संसारका अभाव ही होता है। समुद्रमें एक बूंदकी गिनती ही क्या है ?

और इतना विशेष जानना चाहिये कि—केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही हैं और श्रुतज्ञानी भी शुद्धनयके अवलम्बनसे आत्माको ऐसा ही अनुभव करते हैं; प्रत्यक्ष और परोक्षका ही भेद है। इसलिये श्रुतज्ञानीको ज्ञान - श्रद्धानकी अपेक्षासे ज्ञाता - द्रष्टापन ही है, और चारित्रकी अपेक्षासे प्रतिपक्षी कर्मका जितना उदय है उतना घात है और उसे नष्ट करनेका उद्यम भी है। जब कर्मका अभाव हो जायेगा तब साक्षात् यथाख्यातचारित्र प्रगट होगा, और

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम्॥ १९९॥ (अनुष्टुभ्)

लोयस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये॥ ३२१॥

लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणइ॥ ३२२॥

एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए॥ ३२३॥

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्।
श्रमणानामपि चात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान्॥ ३२१॥

लोकश्रमणानामेकः सिद्धांतो यदि न दृश्यते विशेषः ।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥ ३२२ ॥

एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि ।
नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान् ॥ ३२३ ॥

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तंते। लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि

गाथा ३२१-३२२-३२३

अन्वयार्थः—[**लोकस्य**] लोकके (लौकिक जनोंके) मतमें [**सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान्**] देव, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य—प्राणियोंको [**विष्णुः**] विष्णु [**करोति**] करता है, [**च**] और [**यदि**] यदि [**श्रमणानां अपि**] श्रमणों (मुनियों) के मन्तव्यमें भी [**षड्विधान् कायान्**] छहकायके जीवोंको [**आत्मा**] आत्मा [**करोति**] करता हो [**यदि लोकश्रमणानाम्**] तो लोक और श्रमणोंका [**एकः सिद्धान्तः**] एक ही सिद्धान्त हो गया, [**विशेषः न दृश्यते**] उनमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, (क्यों कि) [**लोकस्य**] लोकके मतमें [**विष्णुः**] विष्णु [**करोति**] करता है [**श्रमणानां अपि**] और श्रमणोंके मतमें भी [**आत्मा**] आत्मा [**करोति**] करता है (इसलिये कर्तृत्वकी मान्यतामें दोनों समान हुए)। [**एवं**] इसप्रकार, [**सदेवमनुजासुरान् लोकान्**] देव, मनुष्य और असुर लोकको [**नित्यं कुर्वताम्**] सदा करते हुए (अर्थात् तीनों लोकके कर्ताभावसे निरन्तर प्रवर्तमान) ऐसे [**लोकश्रमणानां द्वयेषां अपि**] वे लोक और श्रमण—दोनोंका भी [**कोऽपि मोक्षः**] कोई मोक्ष [**न दृश्यते**] दिखाई नहीं देता।

टीका—जो आत्माको कर्ता ही देखते-मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता को अतिक्रमण नहीं करते, क्योंकि, लौकिक जनोंके मतमें परमात्मा विष्णु देवनारकादि कार्य करता है, और उन (लोकोत्तर भी मुनियों) के मतमें अपना आत्मा वे कार्य करता है—इसप्रकार (दोनोंमें) अपसिद्धान्तकी समानता है। इसलिये आत्माके नित्य कर्तृत्वकी उनकी

---

१ [illegible]

करोति इत्यपसिद्धांतस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात्–लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः।

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः॥ २००॥ (अनुष्टुप्)

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमिच्चमवि किंचि॥३२४॥
जह कोवि णरो जंपइ अह्मं गामविसयणयररट्ठं।
ण य हुंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा॥३२५॥

मान्यताके कारण, लौकिक जनोंकी भाँति, लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों) का भी मोक्ष नहीं होता।

भावार्थः—जो आत्माको कर्ता मानते है, वे भले ही मुनि हो गये हों तथापि वे लौकिक जन जैसे ही हैं; क्योंकि लोक ईश्वरको कर्ता मानता है और उन मुनियोंने आत्माको कर्ता माना है–इसप्रकार दोनोंकी मान्यता समान हुई। इसलिये जैसे लौकिक जनोंकी मोक्ष नहीं होती उसीप्रकार उन मुनियोंकी भी मुक्ति नही है। जो कर्ता होगा वह कार्यके फलको भी अवश्य भोगेगा और जो फलको भोगेगा उसकी मुक्ति कैसी ?

अब आगेके श्लोकमें यह कहते है कि–'परद्रव्य और आत्माका कोई भी संबंध नही है इसलिये उनमें कर्ता-कर्म संबंध भी नहीं है':—

अर्थः—परद्रव्य और आत्मतत्वका समस्त (कोई भी) संबंध नहीं है; इसप्रकार कर्तृत्व-कर्मत्वके संबंधका अभाव होनेसे, आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कहाँसे हो सकता है ?

भावार्थः—परद्रव्य और आत्माका कोई भी संबंध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ताकर्म संबंध कैसे हो सकता है ? इसप्रकार जहाँ कर्ताकर्म संबंध नहीं है, वहाँ आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कैसे हो सकता है ? ॥ ३२१–३२३ ॥

अब, "जो व्यवहारनयके कथनको ग्रहण करके यह कहते है कि 'परद्रव्य मेरा है,' और इसप्रकार व्यवहारको ही निश्चय मानकर आत्माको परद्रव्यका कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि है," इत्यादि अर्थकी सूचक गाथायें दृष्टान्त सहित कहते है:—

व्यवहारमूढ़ अतत्त्वविद् परद्रव्यको मेरा कहे।
"अणुमात्र भी मेरा न" ज्ञानी जानता निश्चय हि से॥ ३२४॥
ज्यों पुरुष कोइ कहे "हमारा ग्राम, पुर अरु देश है"।
पर वो नहीं उसका अरे ! जिव मोहसे "मेरा" कहे॥ ३२५॥

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥ ३२६ ॥
तह्मा ण मेत्ति णिच्चा दोण्ह वि एयाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥ ३२७ ॥

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥ ३२४ ॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥ ३२५ ॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥ ३२६ ॥
तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम्।
परद्रव्ये जानन् जानीयात् दृष्टिरहितानाम् ॥ ३२७ ॥

गाथा ३२४-३२७

अन्वयार्थः—[**अविदितार्थाः**] जिन्होंने पदार्थके स्वरूपको नहीं जाना है ऐसे पुरुष [**व्यवहारभाषितेन तु**] व्यवहारके वचनोंको ग्रहण करके [**परद्रव्यं मम**] 'परद्रव्य मेरा है' [**भणंति**] ऐसा कहते हैं, [**तु**] परन्तु ज्ञानी जन [**निश्चयेन जानंति**] निश्चयसे जानते हैं कि [**किंचित्**] 'कोई [**परमाणुमात्रं अपि**] परमाणुमात्र भी [**न च मम**] मेरा नहीं है'।

[**यथा**] जैसे [**कोऽपि नरः**] कोई मनुष्य [**अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रं**] 'हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर, हमारा राष्ट्र' [**जल्पति**] इसप्रकार कहता है, [**तु**] किन्तु [**तानि**] वे [**तस्य**] उसके [**न च भवंति**] नहीं हैं, [**मोहेन च**] मोहसे [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**भणति**] 'मेरे हैं'

इस रीत ही जो ज्ञानि भी 'मुझ' जानता परद्रव्यको।
वो जरुर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्यको ॥ ३२६ ॥
इससे "न मेरा" जान जिव, परद्रव्यमें इन उभयकी।
कर्तृत्वबुद्धी जानता, जाने सुदृष्टीरहितकी ॥ ३२७ ॥

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढा परद्रव्यं ममेदमिति पश्यंति। ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यंति। ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः। तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरेव स्यात्। अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात्।

इसप्रकार कहता है; [**एवं एव**] इसीप्रकार [**यः ज्ञानी**] जो ज्ञानी भी [**परद्रव्यं मम**] 'परद्रव्य मेरा है' [**इति जानन्**] ऐसा जानता हुआ [**आत्मानं करोति**] परद्रव्य सो निजरूप करता है, [**एषः**] वह [**निःसंशयं**] निःसंदेह [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि [**भवति**] होता है।

[**तस्मात्**] इसलिये तत्वज्ञ [**न मे इति ज्ञात्वा**] 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, [**एतेषां द्वयेषां अपि**] इन दोनोका (-लोकका और श्रमणका)- [**परद्रव्ये**] परद्रव्यमें [**कर्तृव्यवसायं जानन्**] कर्तृत्वके व्यवसायको जानते हुए, [**जानीयात्**] यह जानते हैं कि [**दृष्टिरहितानाम्**] यह व्यवसाय सम्यक्दर्शनसे रहित पुरुषोंका है।

टीकाः—अज्ञानीजन ही व्यवहार विमूढ़ (-व्यवहारमे ही विमूढ) होनेसे परद्रव्यको ऐसा देखते-मानते है कि 'यह मेरा है;' और ज्ञानीजन निश्चयप्रतिबुद्ध (निश्चयके ज्ञाता) होने से परद्रव्यकी कणिका मात्रको भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते मानते। इसलिये, जैसे इस जगतमें कोई व्यवहार विमूढ़ ऐसा दूसरेके गाँवमें रहनेवाला मनुष्य 'यह ग्राम मेरा है' इसप्रकार मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (विपरीत दृष्टिवाला है, उसी प्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकारसे व्यवहार निमूढ होकर परद्रव्यको 'यह मेरा है' इसप्रकार देखे-माने तो उस समय वह भी निःसंशयतः अर्थात् निश्चयतः, परद्रव्यको निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है। इसलिये तत्वज्ञ पुरुप 'समस्त परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, यह सुनिश्चिततया जानता है कि-'लोक और श्रमण-दोनोके जो यह परद्रव्यमे कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनकी सम्यक्दर्शन रहितताके कारण ही है'।

भावार्थः—जो व्यवहारसे मोही होकर परद्रव्यके कर्तृत्वको मानते है, वे लौकिकजन

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं
संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥ २०१ ॥ (वसंततिलका)

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो वत ते वराकाः ।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥ २०२ ॥ (वसंततिलका)

हो या मुनिजन हो–मिथ्यादृष्टि ही है। यदि ज्ञानी भी व्यवहार मूढ होकर परद्रव्यको अपना मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसलिये जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएं हैं वहाँ कर्ताकर्मघटना नहीं होती—इसप्रकार मुनिजन और लौकिकजन तत्वको (–वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो, (यह श्रद्धामें लाओ कि कोई किसीका कर्ता नहीं है, परद्रव्य परका अकर्ता ही है)।

"जो पुरुष ऐसा वस्तु स्वभावका नियम नहीं जानते वे अज्ञानी होते हुए कर्मको करते हैं; इसप्रकार भावकर्मका कर्ता अज्ञानसे चेतन ही होता है।"—इस अर्थका, एवं आगामी गाथाओंका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—(आचार्यदेव खेदपूर्वक कहते हैं कि) जो इस वस्तुस्वभावके नियमको नहीं जानते वे बेचारे, जिनका (–पुरुषार्थरूप–पराक्रमरूप) तेज अज्ञानमें डूब गया है ऐसे कर्मको करते हैं, इसलिये भावकर्मका कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, अन्य कोई नहीं।

भावार्थ:— वस्तुके स्वरूपके नियमको नहीं जानता इसलिये परद्रव्यका कर्ता होता हुआ अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) जीव स्वयं ही अज्ञानभावमें परिणमित होता है, इसप्रकार अपने भावकर्मका कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, अन्य नहीं ॥ ३२४-३२७ ॥

अब, '(जीवके) जो मिथ्यात्व भाव होता है उसका कर्ता कौन है'?—इस बातकी भलीभाँति चर्चा करके, 'भावकर्मका कर्ता (अज्ञानी) जीव ही है' यह युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हैं:—

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं ।
तह्मा अचेयणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो ॥ ३२८ ॥
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ॥ ३२९ ॥
अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तह्मा दोहि कयं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं ॥ ३३० ॥
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥ ३३१ ॥

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानम् ।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता ॥ ३२८ ॥
अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वम् ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥ ३२९ ॥
अथ जीवस्प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम् ।
तस्मात् द्वाभ्यां कृतं द्वावपि भुंजाते तस्य फलम् ॥ ३३० ॥
अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम् ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥ ३३१ ॥

गाथा ३२८-३३१

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**मिथ्यात्वं प्रकृतिः**] मिथ्यात्व नामक (मोहनीय कर्मकी) प्रकृति [**आत्मानं**] आत्माको [**मिथ्यादृष्टिं**] मिथ्यादृष्टि

मिथ्यात्व प्रकृती ही अगर, मिथ्यात्वि जो जिवको करे ।
तो तो अचेतन प्रकृति ही कारक बने तुझ मतविषे ॥ ३२८ ॥
अथवा करे जो जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको ।
तो तो बने मिथ्यात्वि पुद्गल द्रव्य आत्मा नहिं बने ॥ ३२९ ॥
जो जीव अरु प्रकृती करे मिथ्यात्व पुद्गल द्रव्यको ।
तो उभयकृत जो होय तत्फल भोग भी हो उभयको ॥ ३३० ॥
जो प्रकृति नहिं नहिं जिव करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्यको ।
पुद्गलदरव मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो ॥ ३३१ ॥

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषंगात्। स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाणे पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषंगात्। न च जीवश्च प्रकृतिश्च

[**करोति**] करती है ऐसा माना जाये, [**तस्मात्**] तो [**ते**] तुम्हारे मतमें [**अचेतना प्रकृतिः**] अचेतन प्रकृति [**ननु कारका प्राप्ता**] (मिथ्यात्व भावकी) कर्ता हो गई ! (इसलिये मिथ्यात्व भाव अचेतन सिद्ध हुआ ।)

[**अथवा**] अथवा, [**एषः जीवः**] यह जीव [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्यके [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्वको [**करोति**] करता है ऐसा माना जाये, [**तस्मात्**] तो [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः**] पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा— [**न पुनः जीवः**] जीव नहीं !

[**अथ**] अथवा यदि [**जीवः तथा प्रकृतिः**] जीव और प्रकृति दोनों [**पुद्गल द्रव्यं**] पुद्गलद्रव्यको [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्वभावरूप [**कुरुते**] करते हैं ऐसा माना जाये, [**तस्मात्**] तो [**द्वाभ्यां कृतं**] जो दोनोंके द्वारा किया गया [**तस्य फलं**] उसका फल [**द्वौ अपि भुंजाते**] दोनो भोगेंगे !

[**अथ**] अथवा यदि [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्यको [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्वभावरूप [**न प्रकृतिः कुरुते**] न तो प्रकृति करती है [**न जीवः**] और न जीव करता है (-दोनोमें से कोई नहीं करता) ऐसा माना जाय, [**तस्मात्**] तो [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं**] पुद्गलद्रव्य स्वभावसे ही मिथ्यात्वभावरूप सिद्ध होगा, [**तद् तु न खलु मिथ्या**] क्या यह वास्तवमें मिथ्या नहीं है ?

(इससे यह सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभावका—भावकर्मका कर्ता जीव ही है ।)

टीका:—जीव ही मिथ्यात्वादि भाव कर्मका कर्ता है; क्योंकि यदि वह (भावकर्म) अचेतन प्रकृतिका कार्य हो तो उसे (—भावकर्मको) अचेतनत्वका प्रसंग आ जायेगा । जीव अपने ही मिथ्यात्वादिभाव कर्मका कर्ता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वादि भावकर्मको करे तो पुद्गलद्रव्यको चेतनत्वका प्रसंग आ जायेगा । और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्मके कर्ता हैं ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनो कर्ता हों तो जीवकी भाँति अचेतन प्रकृतिको भी उस (भावकर्म) का फल भोगनेका प्रसंग आ जायेगा । और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्मके अकर्ता हों सो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि

मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषंगात्। न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषंगात्। ततो जीवः कर्ता स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धं।

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥२०३॥ (शार्दूलविक्रीडित)

वे दोनों अकर्ता हों तो स्वभावसे ही पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्वादि भावका प्रसंग आ जायेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि—जीव कर्ता है और अपना कर्म कार्य है (अर्थात् जीव अपने मिथ्यात्वादिभावकर्मका कर्ता है और अपना भावकर्म अपना कार्य है)।

भावार्थः—इन गाथाओंमें यह सिद्ध किया है कि भावकर्मका कर्ता जीव ही है। यहाँ यह जानना चाहिये कि—परमार्थसे अन्यद्रव्य अन्य द्रव्यके भावका कर्ता नहीं होता, इसलिये जो चेतनके भाव हैं उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। इस जीवके अज्ञानसे जो मिथ्यात्वादि भावरूप जो परिणाम हैं वे चेतन हैं, जड़ नहीं; अशुद्ध निश्चयनयसे उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। इसप्रकार वे परिणाम चेतन हैं इसलिये उनका कर्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतनकर्मका कर्ता चेतन ही होता है—यह परमार्थ है। अभेद दृष्टिमें तो जीव शुद्ध चेतनामात्र ही है, किन्तु जब वह कर्मके निमित्तसे परिणमित होता है तब वह उन उन परिणामोंसे युक्त होता है और तब परिणाम—परिणामीकी भेददृष्टिमें अपने अज्ञानभावरूप परिणामोंका कर्ता जीव ही है। अभेद दृष्टिमें तो कर्ता-कर्म भाव ही नहीं है, शुद्ध चेतनामात्र जीव वस्तु है। इसप्रकार यथार्थतया समझना चाहिये कि चेतनकर्मका कर्ता चेतन ही है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो कर्म (अर्थात् भावकर्म) है वह कार्य है, इसलिये वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसीके द्वारा किये बिना नहीं हो सकता और ऐसा भी नहीं है कि वह (भावकर्म) जीव और प्रकृति दोनोंकी कृति हो, क्योंकि यदि वह दोनोंका कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृतिको भी अपने कार्यका फल भोगनेका प्रसंग आ जायेगा। और वह (भावकर्म) एक प्रकृतिकी कृति (—अकेली प्रकृतिका कार्य—) भी नहीं है, क्योंकि प्रकृतिका तो अचेतनत्व प्रगट है (अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है)। इसलिये उस भावकर्मका कर्ता जीव ही है और चेतनका अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतनके साथ अन्वयरूप (चेतनके परिणामरूप) ऐसा वह भावकर्म जीवका ही कर्म है, क्योंकि पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है (इसलिये वह भावकर्म पुद्गलका कर्म नहीं हो सकता)।

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैव कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता ।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०४॥ (शार्दूलविक्रीडित)

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥ ३३२ ॥

भावार्थः—चेतनकर्म चेतनके ही होता है; पुद्गल जड़ है, इसलिये उसके चेतनकर्म कैसे हो सकता है ?

अब आगेकी गाथाओंमें, जो भावकर्मका कर्ता भी कर्मको ही मानते हैं उन्हें समझानेके लिये स्याद्वादके अनुसार वस्तुस्थिति कहेंगे, पहले उसका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कोई आत्माके घातक (सर्वथा एकान्तवादी) कर्मको ही कर्ता विचार कर आत्माके कर्तृत्वको उड़ाकर, 'यह आत्मा कथचित् कर्ता है' ऐसा कहनेवाली अचलिचत श्रुतिको कोपित करते हैं (–निर्बाध जिनवाणीकी विराधना करते हैं), जिनकी बुद्धि तीव्र मोहसे मुद्रित होगई है ऐसे उन आत्मघातकोंके ज्ञानकी संशुद्धिके लिये (निम्नलिखित गाथाओं द्वारा) वस्तुस्थिति कही जाती है—जिस वस्तुस्थितिने स्याद्वादके प्रतिबन्धसे विजय प्राप्त की है (अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियमसे निर्बाधतया सिद्ध होती है ।

भावार्थः—कोई एकान्तवादी सर्वथा एकान्ततः भावकर्मका कर्त्ता कर्मको ही कहते हैं और आमाको अकर्ता ही कहते हैं; वे आत्माके घातक हैं । उनपर जिनवाणीका कोप है, क्योंकि स्याद्वादसे वस्तुस्थितिको निर्बाधतया सिद्ध करनेवाली जिनवाणी तो आत्माको कथंचित कर्ता कहती है । आत्माको अकर्ता ही कहनेवाले एकांतवादियोंकी बुद्धि उत्कट मिथ्यात्वसे ढक गई है; उनके मिथ्यात्वको दूर करनेके लिये आचार्यदेव स्याद्वादानुसार जैसी वस्तुस्थिति है वह, निम्नलिखित गाथाओंमें कहते हैं ॥ ३२८–३३१ ॥

'आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है' इस अर्थ की गाथाएं अब कहते हैं:—

कर्महि करें अज्ञानि त्योंही ज्ञानि भी कर्महिं करें ।
कर्महि सुलावें जीवको, त्यों कर्म ही जाग्रत करें ॥ ३३२ ॥

कम्मेहि सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥ ३३३ ॥

कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च ।
कम्मेहि चेव किज्जइ सुहासुहं जित्ति यं किंचि ॥ ३३४ ॥

जह्मा कम्मं कुव्वइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि ।
तह्मा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥ ३३५ ॥

पुरुसिच्छियाहिलासी इच्छीकम्मं च पुरिसमहिलसइ ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई ॥ ३३६ ॥

तह्मा ण कोवि जीवो अवंभचारी उ अह्म उवएसे ।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥ ३३७ ॥

जह्मा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी ।
एएणच्छेण किर भण्णइ परघायणामित्ति ॥ ३३८ ॥

तह्मा ण कोवि जीवो वघायओ अत्थि अह्म उवएसे ।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं ॥ ३३९ ॥

अरु कर्महो करते सुखी, कर्महि दुखी जिवको करे ।
कर्महि करे मिथ्यात्वि त्योंहि, असंयमी कर्महि करें ॥ ३३३ ॥
कर्महि भ्रमावे ऊर्ध्व लोक रु, अधः अरु तिर्यक् विषैं ।
अरु कुछ भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्वको कर्महि करे ॥ ३३४ ॥
करता करम देता करम, हरता करम—सब कुछ करे ।
इस हेतुसे यह है सुनिश्चित जिव अकारक सर्व है ॥ ३३५ ॥
पुंकर्म इच्छे नारिको स्त्रीकर्म इच्छे पुरुषको ।
ऐसी श्रुती आचार्य्यदेव परंपरा अवतीर्ण है ॥ ३३६ ॥
इस रीत "कर्महि कर्मको इच्छे" कहा है शास्त्रमें ।
अब्रह्मचारी यों नहीं को जीव हम उपदेशमें ॥ ३३७ ॥
अरु जो हने परको, हनन हो परसे, वोह प्रकृत्ति है ।
इस अर्थमें परघात नामक कर्मका निर्देश है ॥ ३३८ ॥
इस रीत "कर्महि कर्मको हनता" कहा है शास्त्रमें ।
इससे न को भी जीव है हिंसक जु हम उपदेशमें ॥ ३३९ ॥

एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥ ३४० ॥

अहवा मण्णसि मज्झ अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई ।
एसो मिच्छसहावो तुह्मं एयं मुणंतस्स ॥ ३४१ ॥

अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयह्मि ।
ण वि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे ॥ ३४२ ॥

जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं खु ।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणइ दव्वं ॥ ३४३ ॥

अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं ।
तह्मा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥ ३४४ ॥

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥ ३३२ ॥
कर्मभिः सुखी क्रियते दुःखी क्रियते तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥ ३३३ ॥
कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च ।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावद्यत्किंचित् ॥ ३३४ ॥
यस्मात्कर्म करोति कर्म ददाति हरतीति यत्किंचित् ।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवंत्यापन्नाः ॥ ३३५ ॥

यों सांख्यका उपदेश ऐसा जो श्रमण वर्णन करे ।
उस मतसे सब प्रकृती करे जिव तो अकारक सर्व है ॥ ३४० ॥
अथवा तु माने "आतमा मेरा स्वआत्मा को करे" ।
तो ये जो तुझ मंतव्य भी मिथ्या स्वभाव हि तुझ अरे ॥ ३४१ ॥
जिव नित्य है त्यों, है असंख्यप्रदेशि दर्शित समयमें ।
उससे न उसको हीन, त्योंहि न अधिक कोई कर सके ॥ ३४२ ॥
विस्तारसे जिवरूप जिवका, लोकमात्र प्रमाण है ।
क्या उससे हीन रु अधिक बनता द्रव्यको कैसे करे ॥ ३४३ ॥
माने तु 'ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव स्थित रहे' ।
तो यों भि यह आत्मा स्वयं निज आतमाको नहिं करे ॥ ३४४ ॥

पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।
एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ॥ ३३६ ॥
तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितम् ॥ ३३७ ॥
यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति ॥ ३३८ ॥

गाथा ३३२ से ३४४

अन्वयार्थः—"[**कर्मभिः तु**] कर्म [**अज्ञानी क्रियते**] (जीवको) अज्ञानी करते हैं [**तथा एव**] उसी तरह-[**कर्मभिः ज्ञानी**] कर्म (जीवको) ज्ञानी करते हैं, [**कर्मभिः स्वाप्यते**] कर्म सुलाते हैं [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्मभिः जागर्यते**] कर्म जगाते हैं, [**कर्मभिः सुखी क्रियते**] कर्म सुखी करते हैं [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्मभिः दुःखी क्रियते**] कर्म दुःखी करते हैं, [**कर्मभिः च मिथ्यात्वं नीयते**] कर्म मिथ्यात्वको प्राप्त कराते हैं [**च एव**] और [**असंयमं नीयते**] कर्म असंयमको प्राप्त कराते हैं, [**कर्मभिः**] कर्म [**ऊर्ध्वं अधः च अपि तिर्यग्लोकं च**] ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोकमें [**भ्राम्यते**] भ्रमण कराते है, [**यत्किंचित् यावत् शुभाशुभं**] जो कुछ भी जितना शुभ और अशुभ है वह सब [**कर्मभिः चैव क्रियते**] कर्म ही करते हैं । [**यस्मात्**] इसलिये [**कर्म करोति**] कर्म करता है, [**कर्म ददाति**] कर्म देता है, [**हरति**] कर्म हर लेता है-[**इति यत्किंचित्**] इसप्रकार जो कुछ भी करता है वह कर्म ही करता है, [**तस्मात् तु**] इसलिये [**सर्वे जीवाः**] सभी जीव [**अकारकाः आपन्नाः भवंति**] अकारक (अकर्ता) सिद्ध होते हैं ।

और, [**पुरुषः**] पुरुषवेद कर्म [**स्त्र्यभिलाषी**] स्त्रीका अभिलाषी है, [**च**] और [**स्त्रीकर्म**] स्त्रीवेद कर्म [**पुरुषं अभिलसति**] पुरुषकी अभिलाषा करता है,—[**एषा आचार्यपरम्परागता ईदृशी तु श्रुतिः**] ऐसी यह आचार्यकी परम्परासे आई हुई श्रुति है; [**तस्मात्**] इसलिये [**अस्माकं उपदेशे तु**] हमारे उपदेशमें तो

तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हंतीति भणितम् ॥ ३३९ ॥

एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः ।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥ ३४० ॥

अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।
एष मिथ्यास्वभावस्तवैतज्जानतः ॥ ३४१ ॥

आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये ।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥ ३४२ ॥

[**कोऽपि जीवः**] कोई भी जीव [**अब्रह्मचारी न**] अब्रह्मचारी नहीं है, [**यस्मात्**] क्योंकि [**कर्म चैव हि**] कर्म ही [**कर्म अभिलषति**] कर्मकी अभिलाषा करता है [**इति भणितं**] ऐसा कहा है ।

और, [**यस्मात् परं हंति**] जो परको मारता है [**च**] और [**परेण हण्यते**] जो परके द्वारा मारा जाता है [**सा प्रकृतिः**] वह प्रकृति है–[**एतेन अर्थेन किल**] इस अर्थमें [**परघातनामेति भण्यते**] परघात नामकर्म कहा जाता है, [**तस्मात्**] इसलिये [**अस्माकं उपदेशे**] हमारे उपदेशमें [**कोऽपि जीवः**] कोई भी जीव [**उपघातकः न अस्ति**] उपघातक (मारनेवाला) नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**कर्म चैव हि**] कर्म ही [**कर्म हंति**] कर्मको मारता है [**इति भणितं**] ऐसा कहा है ।"

(आचार्यदेव कहते हैं कि.—) [**एवं तु**] इसप्रकार [**ईदृशं सांख्योपदेशं**] ऐसा सांख्यमतका उपदेश [**ये श्रमणाः**] जो श्रमण (जैनमुनि) [**प्ररूपयंति**] प्ररूपित करते हैं [**तेषां**] उनके मतमें [**प्रकृतिः करोति**] प्रकृति ही करती है [**आत्मनः च सर्वे**] और आत्मा तो सब [**अकारकाः**] अकारक हैं ऐसा सिद्ध होता है !

[**अथवा**] अथवा (कर्तृत्वका पक्ष सिद्ध करनेके लिये) [**मन्यसे**] यदि तुम यह मानते हो कि '[**मम आत्मा**] मेरा आत्मा [**आत्मनः**] अपने [**आत्मानं**] (अपने) आत्माको [**करोति**] करता है, [**एतद् जानतः तव**] तो ऐसा जानने

जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु ।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यं ॥ ३४३ ॥

अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम् ।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥ ३४४ ॥

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव ज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव स्वापयति

वालेका—तुम्हारा [**एषः मिथ्या स्वभावः**] यह मिथ्या स्वभाव है; [**यद्**] क्योंकि—[**समये**] सिद्धान्तमें [**आत्मा**] आत्माको [**नित्यः**] नित्य [**असंख्य-प्रदेशः**] असंख्यात-प्रदेशी [**दर्शितः तु**] बताया गया है, [**ततः**] उससे [**सः**] वह [**हीनः अधिकः च**] हीन या अधिक [**कर्तुं न अपि शक्यते**] नहीं किया जा सकता; [**विस्तरतः**] और विस्तारसे भी [**जीवस्य जीवरूपं**] जीवका जीवरूप [**खलु**] निश्चयसे [**लोकमात्रं**] लोकमात्र [**जानीहि**] जानो; [**ततः**] उससे [**किं सः हीनः अधिकः वा**] क्या वह हीन अथवा अधिक होता है ? [**द्रव्यं कथं करोति**] तब फिर (आत्मा) द्रव्यको (अर्थात् द्रव्यरूप आत्माको) कैसे करता है ?

[**अथ**] अथवा यदि '[**ज्ञायकः भावः तु**] ज्ञायक भाव तो [**ज्ञानस्व-भावेन तिष्ठति**] ज्ञान स्वभावसे स्थित रहता है' [**इति मतं**] ऐसा माना जाये, [**तस्मात् अपि**] तो इससे भी [**आत्मा स्वयं**] आत्मा स्वयं [**आत्मनः आत्मानं तु**] अपने आत्माको [**न करोति**] नहीं करता, यह कहलायेगा !

(इसप्रकार कर्तृत्वको सिद्ध करनेके लिये विवक्षाको बदलकर जो पक्ष कहा है वह घटित नहीं होता)।

(इसप्रकार, यदि कर्मका कर्ता कर्म ही माना जाये तो स्याद्वादके साथ विरोध आता है; इसलिये आत्माको अज्ञान अवस्थामें कथंचित् अपने अज्ञानभावरूप कर्मका कर्ता मानना चाहिये, जिससे स्याद्वादके साथ विरोध नहीं आता)।

टीका:—(यहाँ पूर्व पक्ष इसप्रकार है:—) "कर्म ही आत्माको अज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावर्ण नामक कर्मके उदयके बिना उसकी (अज्ञानकी) अनुपपत्ति है; कर्म ही

निद्राख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव जागरयति निद्राख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव सुखयति सद्वेदाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव दुःखयति असद्वेदाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति मिथ्यात्वकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवासंयतं करोति चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। अपरमपि यद्यावत्किंचिच्छुभाशुभं तत्तावत्सकलमपि कर्मैव करोति प्रशस्ताप्रशस्तरागाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। यत एवं समस्तमपि स्वतंत्रं कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरति च ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकांतेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः। किंच—श्रुतिरप्येनमर्थमाह, पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति स्त्रीवेदाख्यं

(आत्माको) ज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्मके क्षयोपशमके विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुलाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है, कर्म ही जगाता है; क्योंकि निद्रा नामक कर्मके क्षयोपशमके विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुखी करता है क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही दुखी करता है, क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही मिथ्यादृष्टि करता है, क्योंकि मिथ्यात्व कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही असंयमी करता है, क्योंकि चारित्र मोह नामक कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है, कर्म ही ऊर्ध्व लोकमें, अधोलोकमें और तिर्यग्लोकमें भ्रमण कराता है, क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है; दूसरा भी जो कुछ जितना शुभ-अशुभ है वह सब कर्म ही करता है, क्योंकि प्रशस्त-अप्रशस्त राग नामक कर्मके उदयके विना उनकी अनुपपत्ति है। इसप्रकार सब कुछ स्वतंत्रतया कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है, इसलिये हम यह निश्चय करते हैं कि-सभी जीव सदा एकांतसे अकर्ता ही है। और श्रुति (भगवानकी वाणी, शास्त्र) भी इसी अर्थको कहती है, क्योंकि, (वह श्रुति) 'पुरुषवेद नामक कर्म स्त्रीकी अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुषकी अभिलाषा करता है' इस वाक्यसे कर्मको ही कर्मकी अभिलाषाके कर्तृत्वके समर्थन द्वारा जीवके अब्रह्मचर्यके कर्तृत्वका निषेध करती है, तथा 'जो परको हनता है और परके द्वारा हना जाता है वह परघात कर्म है' इस वाक्यसे कर्मको ही कर्मके घातका कर्तृत्व होनेके समर्थन द्वारा जीवके घातके कर्तृत्वका निषेध करती है, और इसप्रकार (अब्रह्मचर्यके तथा घातके कर्तृत्वके निषेध द्वारा) जीवका सर्वथा ही अकर्तृत्व बतलाती है।"

(आचार्यदेव कहते हैं कि—) इसप्रकार ऐसे सांख्यमतको, अपनी प्रज्ञा (बुद्धि)

कर्म पुमांसमभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वासमर्थनेन च जीवस्याब्रह्मकर्तृत्व प्रतिषेधात्। तथा यत्परं हंति, येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात्। एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयंति तेषां प्रकृतेरेकांतेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकांतेनाकर्तृत्वापत्तेः जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुं। यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव। जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च। तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात्। न चावस्थिताऽसंख्येयप्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कंधस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात्। न चापि सकललोकवास्तुविस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेश-

---

के अपराधसे सूत्रके अर्थको न जाननेवाले कुछ *श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं; उनकी, एकान्तसे प्रकृतिके कर्तृत्वकी मान्यतासे, समस्त जीवोंके एकान्तसे अकर्तृत्व आ जाता है इसलिये 'जीव कर्ता है' ऐसी जो श्रुति है उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है (अर्थात् भगवानको वाणीकी विराधना होती है)। और, 'कर्म आत्माके अज्ञानादि सर्व भावोंको—जो कि पर्यायरूप है उन्हें करता है, और आत्मा तो आत्माको ही एकको द्रव्यरूपको करता है इसलिये जीव कर्ता है; इसप्रकार श्रुतिका कोप नहीं होता'—ऐसा जो अभिप्राय है सो मिथ्या है।

(इसीको समझाते है:—) जीव तो द्रव्यरूपसे नित्य है, असंख्यात-प्रदेशी है और लोक परिमाण है। उसमें प्रथम, नित्यका कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि कृतकत्वके और नित्यत्वके एकत्वका विरोध है। (आत्मा नित्य है इसलिये वह कृतक अर्थात् किसीके द्वारा किया गया नहीं हो सकता)। और अवस्थित असंख्य-प्रदेशवाले एक (आत्मा) को, पुद्गल-स्कन्धकी भाँति, प्रदेशोंके प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशोका प्रक्षेपण तथा आकर्षण हो तो उसके एकत्वका व्याघात हो जायेगा। (स्कन्ध अनेक परमाणुओंका बना हुआ है, इसलिये उसमे से परमाणु निकल जाते है तथा उसमे आते भी हैं; परन्तु आत्मा निश्चित् असंख्यातप्रदेशवाला एक ही द्रव्य है इसलिये वह अपने प्रदेशोंको निकाल नहीं सकता तथा अधिक प्रदेशोंको ले नहीं सकता।) और सकल लोकरूपी घरके विस्तारसे

---

* श्रमणाभास—मुनिके गुण नहीं होने पर भी अपने को मुनि कहलाने वाले।

संकोचविकाशयोरपि शुष्कार्द्रचर्मवत्प्रतिनियतनिजविस्ताराद्धीनाधिकस्य तस्य कर्तुमशक्यत्वात्। यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापोढुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यंतविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादिभावानां न कर्ता भवति। भवंति च मिथ्यात्वादिभावाः ततस्तेषां कर्मैव कर्तृ प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः स तु नितरामात्मात्मानं करोतीत्यभ्युपगममुपहंत्येव ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभावावस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादिभावानां

परिमित जिसका निश्चित् निजविस्तार-संग्रह है (अर्थात् जिसका लोक जितना निश्चित् माप है) उसके (आत्माके) प्रदेशोके संकोच-विकास द्वारा भी कार्यत्व नहीं वन सकता, क्योंकि प्रदेशोके संकोच-विस्तार होने पर भी, सूखे-गीले चमड़ेकी भाँति, निश्चित् निज विस्तारके कारण उसे (आत्माको) हीनाधिक नहीं किया जा सकता। (इसप्रकार आत्माके द्रव्यरूप आत्माका कर्तृत्व नहीं वन सकता।) और, "वस्तुस्वभावका सर्वथा मिटना अशक्य होनेसे ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभावसे ही सदा स्थित रहता है और इसप्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व और कर्तृत्वके अत्यन्त विरुद्धता होनेसे, मिथ्यात्वादि भावोका कर्ता नहीं होता; और मिथ्यात्वादिभाव तो होते है; इसलिये उनका कर्ता कर्म ही है, इसप्रकार प्ररूपित किया जाता है"— ऐसी जो वासना (अभिप्राय) प्रगट की जाती है, वह भी 'आत्मा आत्माको करता है' इस (पूर्वोक्त) मान्यताका अतिशयता पूर्वक घात करती है (क्योकि सदा ज्ञायक माननेसे आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ)।

इसलिये, ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षासे ज्ञानस्वभावसे अवस्थित होने पर भी, कर्मसे उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावोंके ज्ञानके समय, अनादिकालसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञान से शून्य होनेसे, परको आत्माके रूपमे जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षासे अज्ञान रूप ज्ञान परिणामको करता है (—अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञानका परिणमन उसको करता है), इसलिये, उसके कर्तृत्वको स्वीकार करना चाहिये; वह भी तबतक कि जबतक भेदविज्ञानके प्रारम्भसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानसे पूर्ण (भेद विज्ञान सहित) होनेके कारण आत्माको ही आत्माके रूपमे जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षासे भी ज्ञानरूप ही ज्ञान परिणामसे परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञातृत्वके कारण साक्षात् अकर्ता हो।

भावार्थः—कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वाद-वाणी को भली भाँति न समझ कर सर्वथा एकान्तका अभिप्राय करते हैं और विवक्षाको बदलकर यह कहते हैं कि—"आत्मा तो भावकर्मका अकर्ता ही है, कर्म प्रकृतिका उदय ही भावकर्मको करता है; अज्ञान, ज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियोंमे भ्रमण—इन सबको, तथा जो कुछ भी

ज्ञानसमयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्व-ज्ञानरूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमंतव्यं तावद्यावत्तदादिज्ञेयज्ञानभेदवि-ज्ञानपूर्णत्वादात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात् ।

माकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः ।

शुभ–अशुभ भाव हैं उन सबको कर्म ही करता है; जीव तो अकर्ता है।" और वे मुनि शास्त्र का भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि—"वेदके उदयसे स्त्री–पुरुषका विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृतिके उदयसे परस्पर घात होता है"। इसप्रकार, जैसे सांख्यमतावलम्बी सब कुछ प्रकृतिका ही कार्य मानते हैं और पुरुषको अकर्ता मानते हैं उसी प्रकार, अपनी बुद्धिके दोषसे इन मुनियोंकी भी ऐसी ही ऐकान्तिक मान्यता हुई। इसलिये जिनवाणी तो स्याद्वाद रूप है अतः सर्वथा एकान्तको मानने वाले उन मुनियों पर जिनवाणीका कोप अवश्य होता है। जिनवाणीके कोपके भयसे यदि वे विवक्षाको बदलकर यह कहें कि—"भावकर्मका कर्ता कर्म है और अपने आत्माका (अर्थात् अपनेको) कर्ता आत्मा है; इसप्रकार हम आत्माको कथंचित् कर्ता कहते हैं, इसलिये वाणीका कोप नहीं होता;" तो उनका यह कथन भी मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्यसे नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोक परिमाण है, इसलिये उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है; और जो भावकर्म रूप पर्यायें हैं उनका कर्ता तो वे मुनि कर्मको ही कहते हैं; इसलिये आत्मा तो अकर्ता ही रहा! तब फिर वाणीका कोप कैसे मिट गया? इस-लिये आत्माके कर्तृत्व और अकर्तृत्वकी विवक्षाको यथार्थ मानना ही स्याद्वादको यथार्थ मानना है। आत्माके कर्तृत्व अकर्तृत्वके संबंधमें सत्यार्थ स्याद्वाद–प्ररूपण इसप्रकार है:—

आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञानस्वभावमें ही स्थित है; परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय, अनादि कालसे ज्ञेय और ज्ञानके भेद विज्ञानके अभावके कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावोंको आत्माके रूपमें जानता है, इसलिये इसप्रकार विशेष अपेक्षासे अज्ञान रूप ज्ञान परिणामको करनेसे कर्ता है; और जब भेद विज्ञान होनेसे आत्माको ही आत्माके रूपमें जानता है तब विशेष अपेक्षासे भी ज्ञानरूप परिणाममें ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहनेसे साक्षात् अकर्ता है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह आर्हत् मतके अनुयायी अर्थात् जैन भी आत्माको, सांख्यमतियोंकी भाँति, (सर्वथा) अकर्ता मत मानो; भेदज्ञान होनेसे पूर्व उसे निरन्तर कर्ता मानो, और भेदज्ञान

ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यंतु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥ २०५ ॥ (शार्दूलविक्रीडित)
क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।

होनेके बाद उद्धत ज्ञानधाम (ज्ञानमंदिर, ज्ञान प्रकाश) मे निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्माको कर्तृत्व रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो ।

भावार्थः—सांख्यमतावलम्बी पुरुषको सर्वथा एकान्तसे अकर्ता, शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं । ऐसा माननेसे पुरुषको संसारके अभावका प्रसंग आता है; और यदि प्रकृतिको संसार माना जाये तो वह भी घटित नही होता, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है, उसे सुख-दुःखादिका संवेदन नहीं है, तो उसे संसार कैसा ? ऐसे अनेक दोष एकान्त मान्यतामे आते हैं । सर्वथा एकान्त वस्तुका स्वरूप ही नहीं है । इसलिये सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं; और यदि जैन भी ऐसा माने तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं । इसलिये आचार्य देव उपदेश देते हैं कि—सांख्यमतियो की भाँति जैन आत्माको सर्वथा अकर्ता न माने; जब तक स्व-परका भेद विज्ञान न हो तब तक तो उसे रागादिका—अपने चेतनरूप भावकर्मोंका—कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होनेके बाद शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्वके भावसे रहित, एक ज्ञाता ही मानो । इसप्रकार एक ही आत्मामें कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं । ऐसा स्याद्वाद मत जैनोंका है; और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है । ऐसा (स्याद्वादानुसार) माननेसे पुरुषको संसार-मोक्ष आदि की सिद्धि होती है; और सर्वथा एकान्त माननेसे सर्व निश्चय-व्यवहारका लोप होता है ।

आगेकी गाथाओंमे, 'कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है' ऐसा मानने वाले क्षणिकवादी बौद्धमतियोंकी सर्वथा एकान्त मान्यतामे दूषण बतायेंगे । और स्याद्वादानुसार जिस प्रकार वस्तुस्वरूप अर्थात् कर्ता-भोक्तापन है उस प्रकार कहेंगे । उन गाथाओंका सूचक काव्य प्रथम कहते हैं :—

अर्थः—इस जगतमें कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती) इस आत्मतत्वको क्षणिक कल्पित करके अपने मनमें कर्ता और भोक्ताका भेद करते हैं (—कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, ऐसा मानते हैं); उनके मोहको (अज्ञानको) यह चैतन्य चमत्कार ही स्वयं, नित्यतारूप अमृतके ओघ (समूह) के द्वारा अभिसिंचन करता हुआ, दूर करता है ।

भावार्थः—क्षणिकवादी कर्ता-भोक्तामें भेद मानते हैं, अर्थात् वे यह मानते हैं कि प्रथम क्षणमें जो आत्मा था वह दूसरे क्षणमें नहीं है । आचार्य देव कहते हैं कि—हम उसे

अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिंचंश्चिच्चमत्कार एव ॥ २०६ ॥ (मालिनी)

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥ २०७ ॥ (अनुष्टुप्)

क्या समझायें ? यह चैतन्य ही उसका अज्ञान दूर कर देगा जो कि अनुभव गोचर, नित्य है। प्रथम क्षणमें जो आत्मा था वही द्वितीय क्षणमें कहता है कि 'मैं जो पहले था वही हूँ'; इस प्रकारका स्मरण पूर्वक प्रत्यभिज्ञान आत्माकी नित्यता बतलाता है। यहाँ बौद्धमती कहता है कि—'जो प्रथम क्षणमें था वही मैं दूसरे क्षणमें हूँ' ऐसा मानना सो तो अनादिकालीन अविद्या से भ्रम है; यह भ्रम दूर हो तो तत्व सिद्ध हो, और समस्त क्लेश मिटे। उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—"हे बौद्ध ! तू यह जो तर्क करता है उस सम्पूर्ण तर्कको करने वाला एक ही आत्मा है या अनेक आत्मा हैं ? और तेरे सम्पूर्ण तर्कको एक ही आत्मा सुनता है ऐसा मान कर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मा बदल जाते हैं, ऐसा मानकर तर्क करता है ? यदि अनेक आत्मा बदल जाते हों तो तेरे सम्पूर्ण तर्कको तो कोई आत्मा सुनता नहीं है; तब फिर तर्क करनेका क्या प्रयोजन है* ? यों अनेक प्रकारसे विचार करने पर तुझे ज्ञात होगा कि आत्माको क्षणिक मानकर प्रत्यभिज्ञानको भ्रम कह देना यथार्थ नहीं है। इसलिये यह समझना चाहिये कि—आत्माको एकान्ततः नित्य या एकान्ततः अनित्य मानना - दोनों भ्रम हैं, वस्तु स्वरूप नहीं; हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहते हैं वही सत्यार्थ है।"

पुनः क्षणिकवादका युक्ति द्वारा निषेध करता हुआ, और आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं :—

अर्थः—वृत्यंशोंके अर्थात् पर्यायके भेदके कारण 'वृत्तिमान् अर्थात् द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है' ऐसी कल्पनाके द्वारा ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो कि—'अन्य करता है और अन्य भोगता है।

भावार्थः—द्रव्यकी पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं इसलिये बौद्ध यह मानते हैं कि 'द्रव्य

केहिचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४५ ॥

केहिचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४६ ॥

जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४७ ॥

अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४८ ॥

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४५ ॥

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४६ ॥

यश्चैव करोति स चैव न वेदयते यस्य एष सिद्धांतः ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४७ ॥

ही सर्वथा नष्ट होता है।' ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्या है। यदि पर्यायवान पदार्थका ही नाश हो जाये तो पर्याय किसके आश्रयसे होगी ? इसप्रकार दोनोंके नाशका प्रसंग आनेसे शून्यका प्रसंग आता है ॥ ३४२–३४४ ॥

अब निम्नलिखित गाथाओंमें अनेकान्तको प्रगट करके क्षणिकवादका स्पष्टतया निषेध करते हैं:—

पर्याय कुछसे नष्ट जिव, कुछसे न जीव विनष्ट है ।
इससे करै है वो हि या को अन्य नहिं एकान्त है ॥ ३४५ ॥

पर्याय कुछसे नष्ट जिव, कुछसे न जीव विनष्ट है ।
यों जीव वेदे वो हि या को अन्य नहिं एकान्त है ॥ ३४६ ॥

जिव जो करै वह भोगता नहिं—जिसका यह सिद्धान्त है ।
अर्हंतके मतका नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है ॥ ३४७ ॥

जिव अन्य करता अन्य वेदे जिसका यह सिद्धांत है ।
अर्हंतके मतका नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है ॥ ३४८ ॥

अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४८ ॥

यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलितचैतन्यान्वयगुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चित्तु न विनश्य-

---

गाथा ३४५ से ३४८

अन्वयार्थः—[**यस्मात्**] क्योंकि [**जीवः**] जीव [**कैश्चित् पर्यायैः तु**] कितनी ही पर्यायोंसे [**विनश्यति**] नष्ट होता है [**तु**] और [**कैश्चित्**] कितनी ही पर्यायोंसे [**नैव**] नष्ट नहीं होता, [**तस्मात्**] इसलिये [**सः वा करोति**] '(जो भोगता है) वही करता है' [**अन्यः वा**] अथवा 'दूसरा ही करता है' [**न एकान्तः**] ऐसा एकान्त नहीं है (—स्याद्वाद है)।

[**यस्मात्**] क्योंकि [**जीवः**] जीव [**कैश्चित् पर्यायैः तु**] कितनी ही पर्यायोंसे [**विनश्यति**] नष्ट होता है [**तु**] और [**कैश्चित्**] कितनी ही पर्यायोंसे [**नैव**] नष्ट नहीं होता, [**तस्मात्**] इसलिये [**सः वा वेदयते**] '(जो करता है) वही भोगता है' [**अन्यः वा**] अथवा 'दूसरा ही भोगता है' [**न एकान्तः**] ऐसा एकान्त नहीं है (—स्याद्वाद है)।

'[**यः च एव करोति**] जो करता है [**सः च एव न वेदयते**] वही नहीं भोगता' [**एषः यस्य सिद्धान्तः**] ऐसा जिसका सिद्धान्त है, [**सः जीवः**] वह जीव [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि, [**अनार्हतः**] अनार्हत (अर्हंतके मतको न माननेवाला) [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

'[**अन्यः करोति**] दूसरा करता है [**अन्यः परिभुंक्ते**] और दूसरा भोगता है' [**एषः यस्य सिद्धान्तः**] ऐसा जिसका सिद्धान्त है, [**सः जीवः**] वह जीव [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि, [**अनार्हतः**] अनार्हत (—अजैन) [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

टीका:—जीव, प्रति समय संभवते (-होनेवाले) अगुरुलघु गुणके परिणाम द्वारा क्षणिक होनेसे और अचलित चैतन्यके अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य होनेसे, कितनी ही पर्यायों

तीति द्विस्वभावो जीवस्वभावः। ततो य एव करोति स एवान्यो वा वेदयते। य एव वेदयते स एवान्यो वा करोतीति नास्त्येकांतः। एवमनेकांतेऽपि यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्त्वंशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभादृजुसूत्रैकांते स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते। अन्यः करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्यः। क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टंकोत्कीर्णस्यैवांतःप्रतिभासमानत्वात्।

से विनाशको प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायोंसे नहीं विनाशको प्राप्त होता है;—इसप्रकार दो स्वभाववाला जीव स्वभाव है; इसलिये 'जो करता है वही भोगता है' अथवा 'दूसरा ही भोगता है,' 'जो भोगता है वही करता है' अथवा 'दूसरा ही करता है'—ऐसा एकान्त नहीं है। इसप्रकार अनेकान्त होने पर भी, 'जो (पर्याय) उस समय होती है, उसीको परमार्थ सत्त्व है, इसलिये वही वस्तु है' इसप्रकार वस्तुके अंशमे वस्तुत्वका अध्यास करके शुद्धनयके लोभसे ऋजुसूत्रनयके एकान्तमे रहकर जो यह देखता–मानता है कि "जो करता है वही नहीं भोगता, दूसरा करता है और दूसरा भोगता है", उस जीवको मिथ्यादृष्टि ही देखना-मानना चाहिये; क्योंकि, वृत्त्यंशों (–पर्यायो) का क्षणिकत्व होने पर भी, वृत्तिमान (–पर्यायमान) जो चैतन्यचमत्कार (आत्मा) है वह तो टंकोत्कीर्ण (नित्य) ही अन्तरंगमे प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—वस्तुका स्वभाव जिनवाणीमे द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है; इसलिये स्याद्वादमे ऐसा अनेकान्त सिद्ध होता है कि पर्यायकी अपेक्षासे तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है। जीव भी वस्तु होनेसे द्रव्यपर्यायस्वरूप है, इसलिये पर्यायदृष्टिसे देखा जाये तो कार्यको करती है एक पर्याय, और भोगती है दूसरी पर्याय; जैसे मनुष्य पर्यायमें शुभाशुभ कर्म किये और उनका फल देवपर्यायमे भोगा। यदि द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो जो, करता है वही भोगता है; जैसे—मनुष्य पर्यायमे जिस जीवद्रव्यने शुभाशुभ कर्म किये, उसी जीव द्रव्यने देवादि पर्यायमे स्वयं किये गये कर्मके फलको भोगा।

इसप्रकार वस्तुस्वरूप अनेकान्तरूप सिद्ध होने पर भी, जो जीव शुद्धनयको समझे बिना शुद्धनयके लोभमे वस्तुके एक अंशको (वर्तमान कालमें वर्तती पर्यायको) ही वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनयके विषयका एकान्त पकड़कर यह मानता है कि 'जो करता है वही नहीं भोगता—अन्य भोगता है, और जो भोगता है वही नहीं करता—अन्य करता है', वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अरहंतके मतका नहीं है, क्योंकि पर्यायोंका क्षणिकत्व होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्य चमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है; प्रत्यभिज्ञानसे ज्ञात होता है कि 'जो मैं बालक

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरतै-
रात्मा व्युज्झित एव हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ।।२०८।। (शार्दूलविक्रीडित)

अवस्थामें था वही मै तरुण अवस्थामे था और वही मै वृद्ध अवस्थामें हूँ'। इसप्रकार जो कथंचित नित्यरूपसे अनुभवगोचर है—स्वसंवेदनमे आता है और जिसे जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है, उसे जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है ऐसा समझना चाहिये ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते है:—

अर्थः—आत्माको सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धबौद्धोंने कालकी उपाधिके कारण भी आत्मामें अधिक अशुद्धि मानकर अतिव्याप्तिको प्राप्त होकर, शुद्ध ऋजुसूत्र नयमें रत होते हुए चैतन्यको क्षणिक कल्पित करके, इस आत्माको छोड़ दिया; जैसे हारके सूत्र (डोरे) को न देखकर मात्र मोतियोंको ही देखनेवाले हारको छोड़ देते है ।

भावार्थः—आत्माको सम्पूर्णतया शुद्ध माननेके इच्छुक बौद्धोने विचार किया कि—"यदि आत्माको नित्य माना जाये तो नित्यमें कालकी अपेक्षा होती है इसलिये उपाधि लग जायेगी; इसप्रकार कालकी उपाधि लगनेसे आत्माको बहुत बड़ी अशुद्धि आ जायेगी, और इससे अतिव्याप्ति दोष लगेगा।" इस दोषके भयसे उन्होने शुद्ध ऋजुसूत्र नयका विषय जो वर्तमान समय है, उतना मात्र (क्षणिक) ही आत्माको माना और उसे (आत्माको) नित्यानित्यस्वरूप नहीं माना । इसप्रकार आत्माको सर्वथा क्षणिक माननेसे उन्हें नित्यानित्य स्वरूप-द्रव्य पर्यायस्वरूप सत्यार्थ आत्माकी प्राप्ति नहीं हुई; मात्र क्षणिक पर्यायमें आत्माकी कल्पना हुई; किन्तु वह आत्मा सत्यार्थ नहीं है ।

मोतियोंके हारमें, डोरेमें अनेक मोती पिराये होते है; जो मनुष्य उस हार नामक वस्तुको मोतियों तथा डोरे सहित नहीं देखता—मात्र मोतियोको ही देखता है, वह पृथक् पृथक् मोतियोंको ही ग्रहण करता है, हारको छोड़ देता है; अर्थात् उसे हारकी प्राप्ति नहीं होती । इसीप्रकार जो जीव आत्माके एक चैतन्यभावको ग्रहण नहीं करते और समय समय पर वर्तना परिणामरूप उपयोगकी प्रवृत्तिको देखकर आत्माको अनित्य कल्पित करके ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान-समयमात्र क्षणिकत्व है उतना मात्र ही आत्माको मानते हैं (अर्थात् जो जीव आत्माको द्रव्य-पर्याय स्वरूप नही मानते-मात्र क्षणिक पर्यायरूप ही मानते है), वे आत्माको छोड़ देते है; अर्थात् उन्हे आत्माकी प्राप्ति नहीं होती ।

अब इस काव्यमे आत्मानुभव करनेको कहते है:—

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिंत्यताम् ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥२०९॥ (शार्दूल०)

व्यावहारिकदृशैव केवलं
कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते
कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥ २१० ॥ (रथोद्धता)

अर्थः—कर्ताका और भोक्ताका युक्तिके वशसे भेद हो या अभेद हो, अथवा कर्ता और भोक्ता दोनों न हों; वस्तुका ही अनुभव करो। जैसे चतुर पुरुषोंके द्वारा डोरेमें पिरोयी गई मणियोंकी माला भेदी नहीं जा सकती, इसी प्रकार आत्मामें पिरोई गई चैतन्यरूप चिन्तामणिकी माला भी कभी किसीसे भेदी नहीं जा सकती; ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही, हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो (अर्थात् नित्यत्व, अनित्यत्व आदिके विकल्प छूटकर हमें आत्माका निर्विकल्प अनुभव हो)।

भावार्थः—वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक अनन्त-धर्मवाली है। उसमे विवक्षा वश कर्तृत्व-भोक्तृत्वका भेद है और नहीं भी है। अथवा कर्ता-भोक्ताका भेदाभेद किसलिये कहना चाहिये? केवल शुद्ध वस्तुमात्रका उसके असाधारण धर्म द्वारा अनुभव करना चाहिये। इसी प्रकार आत्मा भी वस्तु होनेसे द्रव्य पर्यायात्मक है, इसलिये उसमे चैतन्यके परिणमन स्वरूप पर्यायके भेदोंकी अपेक्षासे तो कर्ता-भोक्ताका भेद है और चिन्मात्र द्रव्यकी अपेक्षासे भेद नहीं है; इसप्रकार भेद-अभेद हो। अथवा चिन्मात्र अनुभवनमे भेद-अभेद क्यों कहना चाहिये? (आत्माको) कर्ता-भोक्ता ही न कहना चाहिये, वस्तुमात्रका अनुभव करना चाहिये। जैसे मणियोंकी मालामें मणियोंकी और डोरेकी विवक्षासे भेद-अभेद है परन्तु माला मात्रके ग्रहण करने पर भेदाभेद विकल्प नहीं है, इसीप्रकार आत्मामे पर्यायोंकी और द्रव्यकी विवक्षासे भेद-अभेद है परन्तु आत्मवस्तुमात्रका अनुभव करने पर विकल्प नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि—ऐसा निर्विकल्प आत्माका अनुभव हमें प्रकाशमान हो।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—केवल व्यावहारिक दृष्टिसे ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं; यदि निश्चयसे वस्तुका विचार किया जाये, तो कर्ता और कर्म सदा एक माना जाता है।

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३४९ ॥

जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५० ॥

जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५१ ॥

जह सिप्पि उ कम्मफलं भुंजइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५२ ॥

एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥ ३५३ ॥

जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥ ३५४ ॥

भावार्थ:—मात्र व्यवहार-दृष्टिसे ही भिन्न द्रव्योंमें कर्तृत्व-कर्मत्व माना जाता है; निश्चय-दृष्टिसे तो एक ही द्रव्यमें कर्तृत्व-कर्मत्व घटित होता है ॥ ३४५-३४८ ॥

अब इस कथनको दृष्टान्त द्वारा गाथामें कहते हैं:—

ज्यों शिल्पि कर्म करे परंतू वो नहीं तन्मय बने।
त्यों कर्मको आत्मा करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३४९ ॥

ज्यों शिल्पि करणोंसे करे पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणोंसे करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३५० ॥

ज्यों शिल्पि करण ग्रहे परंतू वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणोंको ग्रहे पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३५१ ॥

शिल्पी करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जिव करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३५२ ॥

इस भाँति मत व्यवहारका संक्षेपसे वक्तव्य है।
सुनलो वचन परमार्थका, परिणामविषयक जो हि है ॥ ३५३ ॥

शिल्पी करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पि अनन्य है।
त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है ॥ ३५४ ॥

जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होई।
तत्तो सिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥ ३५५ ॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३४९ ॥

यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३५० ॥

यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥ ३५१ ॥

गाथा ३४९-३५५

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**कर्म**] कुण्डल आदि कर्म (कार्य) [**करोति**] करता है [**सः तु**] परन्तु वह [**तन्मयः न च भवति**] तन्मय (कुण्डलादिमय) नहीं होता, [**तथा**] उसी प्रकार [**जीवः अपि च**] जीव भी [**कर्म**] पुण्य-पापादि पुद्गल कर्म [**करोति**] करता है [**न च तन्मयः भवति**] परन्तु तन्मय (पुद्गलकर्ममय) नहीं होता। [**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**करणैः**] हथौड़ा आदि करणों (साधनों) के द्वारा [**करोति**] (कर्म) करता है [**सः तु**] परन्तु वह [**तन्मयः न भवति**] तन्मय (हथौड़ा आदि करणमय) नहीं होता, [**तथा**] उसी प्रकार [**जीवः**] जीव [**करणैः**] (मनवचनकायरूप) करणोंके द्वारा [**करोति**] (कर्म) करता है [**न च तन्मयः भवति**] परन्तु तन्मय (मनवचनकायरूप करणमय) नहीं होता। [**यथा**] जसे [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**करणानि**] करणोंको [**गृह्णाति**] ग्रहण करता है [**सः तु**] परन्तु वह [**तन्मयः न भवति**] तन्मय नहीं होता, [**तथा**] उसी प्रकार [**जीवः**] जीव [**करणानि तु**] करणोंको [**गृह्णाति**]

चेष्टित हुआ शिल्पी निरंतर दुखित जैसे होय है।
अरु दुखसे शिल्पि अनन्य, त्यों जिव चेष्टमान दुखी बने ॥ ३५५ ॥

यथा शिल्पी तु कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ॥ ३५२ ॥
एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥ ३५३ ॥
यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥ ३५४ ॥
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥ ३५५ ॥

ग्रहण करता है [**न च तन्मयः भवति**] परन्तु तन्मय (करणमय) नहीं होता। [**यथा**] जैसे [**शिल्पी तु**] शिल्पी [**कर्मफलं**] कुण्डल आदि कर्मके फलको (खान-पानादिको) [**भुंक्ते**] भोगता है [**सः तु**] परन्तु वह [**तन्मयः न च भवति**] तन्मय (खान-पानादिमय) नहीं होता, [**तथा**] उसी प्रकार [**जीवः**] जीव [**कर्मफलं**] पुण्य-पापादि पुद्गल कर्मके फलको (पुद्गलपरिणामरूप सुख दुःखादिको) [**भुंक्ते**] भोगता है [**न च तन्मयः भवति**] परन्तु तन्मय (पुद्गलपरिणामरूप सुखदुःखादिमय) नहीं होता।

[**एवं तु**] इसप्रकार तो [**व्यवहारस्य दर्शनं**] व्यवहारका मत [**समासेन**] संक्षेपसे [**वक्तव्यं**] कहने योग्य है। [**निश्चयस्य वचनं**] (अब) निश्चयका वचन [**शृणु**] सुनो [**यद्**] जो कि [**परिणामकृतं तु भवति**] परिणाम विषयक है।

[**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**चेष्टां करोति**] चेष्टारूप कर्म (अपने परिणामरूप कर्म) को करता है [**तथा च**] और [**तस्याः अनन्यः भवति**] उससे अनन्य है, [**तथा**] उसी प्रकार [**जीवः अपि च**] जीव भी [**कर्म करोति**] (अपने परिणामरूप) कर्मको करता है [**च**] और [**तस्मात् अनन्यः भवति**] उससे अनन्य है। [**यथा**] जैसे [**चेष्टां कुर्वाणः**] चेष्टारूप कर्म करता हुआ [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**नित्यदुःखितः भवति**] नित्य

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, हस्तकुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति। ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुंडलादिकर्मफलं भुंक्ते, नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति, ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। तथात्मापि पुण्यपापादि पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म करोति, कायवाङ्मनोभिः पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, सुखदुःखादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुंक्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततो-

---

दुखी होता है **[तस्मात् च]** और उससे (दुःखसे) **[अनन्यः स्यात्]** अनन्य है, **[तथा]** उसी प्रकार **[चेष्टमानः]** चेष्टा करता हुआ (अपने परिणामरूप कर्मको करता हुआ) **[जीवः]** जीव **[दुःखी]** दुखी होता है (और दुखसे अनन्य है)।

टीका:—जैसे–शिल्पी (स्वर्णकार आदि) कुण्डल आदि–परद्रव्यपरिणामात्मक कर्म करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यपरिणामात्मक करणोंके द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यपरिणामात्मक करणोंको ग्रहण करता है, और कुण्डल आदि कर्मका जो ग्रामादि परद्रव्यपरिणामात्मक फल उसको भोगता है, किन्तु अनेक द्रव्यत्वके कारण उनसे (कर्म, करण आदिसे) अन्य होनेसे तन्मय (कर्मकरणादिमय) नहीं होता; इसलिये निमित्तनैमित्तिक भाव मात्रसे ही वहाँ कर्तृ–कर्मत्वका और भोक्ता–भोग्यत्वका व्यवहार है; इसीप्रकार आत्मा भी पुण्य-पापादि जो पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक (–पुद्गल द्रव्यके परिणाम स्वरूप) कर्मको करता है, काय–वचन–मनरूप पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक करणोंके द्वारा करता है, काय–वचन–मनरूप पुद्गलद्रव्य परिणामात्मक करणोंको ग्रहण करता है और पुण्यपापादि कर्मके सुख दुःखादि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक फलको भोगता है, परन्तु अनेक द्रव्यत्वके कारण उनसे अन्य होनेसे तन्मय नहीं होता, इसलिये निमित्त–नैमित्तिकभावमात्रसे ही वहाँ कर्तृत्व–कर्मत्व और भोक्ता–भोग्यत्वका व्यवहार है।

और जैसे,–वही शिल्पी, करनेका इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (अर्थात् कुण्डलादि करनेके अपने परिणामरूप और हस्तादिके व्यापाररूप) जो स्वपरिणामात्मक कर्मको करता है तथा दुःखस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्मके स्वपरिणामात्मक फलको भोगता है, और एक -द्रव्यत्वके कारण उनसे (कर्म और कर्मफलसे) अनन्य होनेसे तन्मय (–कर्ममय और–कर्म-

ऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति, ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुः चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति, ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः। तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति, ततः परिणाम परिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः।

फलमय) है; इसलिये परिणाम–परिणामी भावसे वहीं कर्ता–कर्मपनका और भोक्ता–भोग्यपनका निश्चय है; उसीप्रकार—आत्मा भी, करने का इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (रागादि परिणामरूप और प्रदेशोंके व्यापाररूप) ऐसा जो आत्मपरिणामात्मक कर्मको करता है तथा दुःखस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्मके आत्मपरिणामात्मक फलको भोगता है और एक द्रव्यत्वके कारण उनसे अनन्य होनेसे तन्मय है, इसलिये परिणाम–परिणामीभावसे वहीं कर्ता–कर्मपनका और भोक्ता–भोग्यपनका निश्चय है।

अब, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—वास्तवमें परिणाम ही निश्चयसे कर्म है, और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्यका नहीं (क्योंकि परिणाम अपने अपने द्रव्यके आश्रित हैं, अन्यके परिणामका अन्य आश्रय नहीं होता); और कर्म कर्ताके बिना नहीं होता, तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्य पर्यायस्वरूप होनेसे सर्वथा नित्यत्व बाधा सहित है); इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्मकी कर्ता है (-यह निश्चित सिद्धान्त है)।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसकी स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है ऐसी वस्तु अन्य वस्तुके बाहर यद्यपि लोटती है तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तुके भीतर प्रवेश नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुएं अपने अपने स्वभावमें निश्चित हैं ऐसा माना जाता है। (आचार्यदेव कहते हैं कि—) ऐसा होने पर भी, मोहित जीव अपने स्वभावसे चलित होकर आकुल होता हुआ, क्यों क्लेश पाता है?

भावार्थः—वस्तुस्वभाव तो नियमसे ऐसा है कि किसी वस्तुमें कोई वस्तु नहीं मिलती। ऐसा होने पर भी यह मोही प्राणी, 'पर ज्ञेयोंके साथ अपनेको पारमार्थिक संबंध है'—ऐसा मान कर, क्लेश पाता है, यह महा अज्ञान है।

पुनः आगेकी गाथाओंका सूचक दूसरा काव्य कहते हैं:—

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२११॥ (नर्दटक)

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥२१२॥ (पृथ्वी)

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो
येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।

अर्थः—इस लोकमे एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है, इसलिये वास्तवमें वस्तु वस्तु ही है—यह निश्चय है। ऐसा होनेसे कोई अन्य वस्तु अन्य वस्तुके बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है?

भावार्थः—वस्तुका स्वभाव तो ऐसा है कि एक वस्तु अन्य वस्तुको नहीं बदला सकती। यदि ऐसा न हो तो वस्तुका वस्तुत्व ही न रहे। इसप्रकार जहाँ एक वस्तु अन्यको परिणमित नहीं कर सकती वहाँ एक वस्तु ने अन्यका क्या किया? कुछ नहीं। चेतन–वस्तुके साथ पुद्गल एकक्षेत्रावगाहरूपसे रह रहे हैं तथापि वे चेतनको जड़ बनाकर अपने रूप में परिणमित नहीं कर सके; तब फिर पुद्गलने चेतनका क्या किया? कुछ भी नहीं।

इससे यह समझना चाहिये कि—व्यवहारसे परद्रव्योंका और आत्माका ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी परद्रव्य ज्ञायकका कुछ भी नहीं कर सकते और ज्ञायक परद्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता।

अब, इसी अर्थको दृढ़ करनेवाला तीसरा काव्य कहते हैं:—

अर्थः—एक वस्तु स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तुका कुछ भी कर सकती है—ऐसा व्यवहारदृष्टिसे ही माना जाता है। निश्चयसे इस लोकमें अन्य वस्तुका अन्य वस्तुके साथ कोई भी संबंध नहीं है।

भावार्थः—एक द्रव्यके परिणमनमें अन्य द्रव्यको निमित्त देखकर यह कहना कि 'अन्य द्रव्यने यह किया', सो यह व्यवहारनयकी दृष्टिमे ही है; निश्चयसे तो उस द्रव्यमें अन्य द्रव्यने कुछ भी नहीं किया है। वस्तुके पर्यायस्वभावके कारण वस्तुका अपना ही एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप परिणमन होता है, उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।

निश्चयोऽयमपरो परस्य कः
किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥ २१३ ॥ (रथोद्धता)
यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः
किंचनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं
नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥ २१४ ॥ (रथोद्धता)

जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह जाणओ दु ण परस्स, जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह पासओ दु ण परस्स, पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया दु सा होइ ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥ ३५८ ॥

इससे यह समझना चाहिये कि–परद्रव्यरूप ज्ञेयपदार्थ उनके भावसे परिणमित होते हैं और ज्ञायक आत्मा अपने भावरूप परिणमन करता है; वे एक दूसरेका परस्पर कुछ नहीं कर सकते। इसलिये यह व्यवहारसे ही माना जाता है कि 'ज्ञायक परद्रव्योंको जानता है', निश्चय से ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है। ३४९–३५५

('खड़िया मिट्टी अर्थात् पोतनेका चूना या कलई तो खड़िया मिट्टी ही है'—यह निश्चय है; 'खड़िया–स्वभावरूपसे परिणमित खड़िया दीवाल–स्वभावरूप परिणमित दीवालको सफेद करती है' यह कहना भी व्यवहार कथन है। इसीप्रकार 'ज्ञायक तो ज्ञायक ही है'—यह निश्चय है; 'ज्ञायक - स्वभावरूप परिणमित ज्ञायक परद्रव्यस्वभावरूप परिणमित होने वाले परद्रव्योंको जानता है' यह कहना भी व्यवहार कथन है।) ऐसे निश्चय–व्यवहारकथनको अब गाथाओं द्वारा दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट कहते हैं.—

ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका ।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्यका, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा ॥ ३५६ ॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका ।
दर्शक नहीं त्यों अन्यका दर्शक अहो दर्शक तथा ॥ ३५७ ॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका ।
संयत नहीं त्यों अन्यका, संयत अहो संयत तथा ॥ ३५८ ॥

तह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥ ३५९ ॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥ ३६० ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥ ३६१ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सइ जीवो वि सयेण भावेण ॥ ३६२ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विजहइ णाया वि सयेण भावेण ॥ ३६३ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥ ३६४ ॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥ ३६५ ॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका ।
दर्शन नहीं त्यों अन्यका, दर्शन अहो दर्शन तथा ॥ ३५९ ॥
यों ज्ञानदर्शनचरितविषयक कथन नय परमार्थका ।
सुनलो वचन संक्षेपसे, इस विषयमें व्यवहारका ॥ ३६० ॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभावसे ।
ज्ञाता भि त्यों ही जानता, परद्रव्यको निज भावसे ॥ ३६१ ॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका परद्रव्य आप स्वभावसे ।
आत्मा भि त्यों ही देखता परद्रव्यको निजभावसे ॥ ३६२ ॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका परद्रव्य आप स्वभावसे ।
ज्ञाता भि त्यों ही त्यागता, परद्रव्य को निज भावसे ॥ ३६३ ॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभावसे ।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्यको निज भावसे ॥ ३६४ ॥
यों ज्ञानदर्शनचरितमें निर्णय कहा व्यवहारका ।
अरु अन्य पर्यय विषयमें भी इस प्रकार हि जानना ॥ ३६५ ॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥ ३५६ ॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥ ३५७ ॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा संयतस्तु न परस्य संययः संयतः स तु ॥ ३५८ ॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥ ३५९ ॥

गाथा ३५६ से ३६५

अन्वयार्थः—(यद्यपि व्यवहारसे परद्रव्योंका और आत्माका ज्ञेय–ज्ञायक, दृश्य–दर्शक, त्याज्य–त्याजक इत्यादि सम्बन्ध है, तथापि निश्चयसे तो इसप्रकार है:—) [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] खड़िया मिट्टी या पोतनेका चूना या कलई [**परस्य न**] परकी (दीवाल–आदिकी) नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसी प्रकार [**ज्ञायकः तु**] ज्ञायक (जाननेवाला, आत्मा) [**परस्य न**] परका (परद्रव्यका) नहीं है, [**ज्ञायकः**] ज्ञायक [**सः तु**] [**ज्ञायकः**] वह तो ज्ञायक ही है। [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] कलई [**परस्य न**] परकी नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**साच सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसी प्रकार [**दर्शकः तु**] दर्शक (देखनेवाला, आत्मा) [**परस्य न**] परका नहीं है, [**दर्शकः**] दर्शक [**सः तु दर्शकः**] वह तो दर्शक ही है। [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] कलई [**परस्य न**] परकी (दीवाल–आदि की) नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसी प्रकार [**संयतः तु**] संयत (त्याग करनेवाला आत्मा) [**परस्य न**] परका (परद्रव्यका) नहीं है, [**संयतः**] संयत [**सः तु संयतः**] यह तो संयत ही है। [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] कलई [**परस्य न**] परकी नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] यह तो कलई ही है, [**तथा**]

एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥ ३६० ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३६१ ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं पश्यति जिवोऽपि स्वकेन भावेन ॥ ३६२ ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३६३ ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन ॥ ३६४ ॥

उसी प्रकार [**दर्शनं तु**] दर्शन अर्थात् श्रद्धान [**परस्य न**] परका नहीं है, [**दर्शनंतद् तु दर्शनं**] दर्शन वह तो दर्शन ही है अर्थात् श्रद्धान वह तो श्रद्धान ही है ।

[**एवं तु**] इसप्रकार [**ज्ञानदर्शनचरित्रे**] ज्ञान-दर्शन-चारित्रमें [**निश्चयनययस्य भाषितं**] निश्चयनयका कथन है । [**तस्य च**] और उस संबधमें [**समासेन**] संक्षेपसे [**व्यवहारनयस्य**] व्यवहारनयका [**वक्तव्यं**] कथन [**शृणु**] सुनो ।

[**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभावसे [**परद्रव्यं**] (दीवाल आदि) परद्रव्यको [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसी प्रकार [**ज्ञाता अपि**] ज्ञाता भी [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वभावसे [**परद्रव्यं**] परद्रव्यको [**जानाति**] जानता है । [**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभावसे [**परद्रव्यं**] परद्रव्यको [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसी प्रकार [**जीवः अपि**] जीव भी [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वभावसे [**परद्रव्यं**] परद्रव्यको [**पश्यति**] देखता है । [**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभावसे [**परद्रव्यं**] परद्रव्यको [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसी प्रकार [**ज्ञाता अपि**]

एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥ ३६५ ॥

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यं। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्, एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति

ज्ञाता भी [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वभावसे [**परद्रव्यं**] परद्रव्यको [**विजहाति**] त्यागता है। [**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभावसे [**परद्रव्यं**] परद्रव्यको [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसी प्रकार [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यक्दृष्टि [**स्वभावेन**] अपने स्वभावसे [**परद्रव्यं**] परद्रव्यको [**श्रद्धत्ते**] श्रद्धान करता है। [**एवं तु**] इसप्रकार [**ज्ञानदर्शनचरित्रे**] ज्ञान-दर्शन-चारित्रमें [**व्यवहारनयस्य विनिश्चयः**] व्यवहारनयका निर्णय [**भणितः**] कहा है; [**अन्येष पर्यायेषु अपि**] अन्य पर्यायोंमें भी [**एवं एव ज्ञातव्यः**] इसीप्रकार जानना चाहिये।

टीका:—इस जगतमें कलई है वह श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार आदि पर द्रव्य व्यवहासे उस कलई का श्वैत्य है (अर्थात् कलई के द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है)। अब, श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार आदि पर द्रव्य की है या नहीं ?'—इसप्रकार उन दोनों के तात्विक (पारमार्थिक) सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है:- यदि कलई दीवार आदि पर द्रव्य की हो तो क्या हो—सो प्रथम विचार करते हैं:—जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है (प्रथक् द्रव्य नहीं')—ऐसा तात्विक सम्बन्ध जीवत (विद्यमान) होने से कलई यदि दीवार आदि की हो तो कलई वह दीवार आदि ही होगी (अर्थात् कलई दीवार आदि स्वरूप ही होनी चाहिये, दीवार आदि से पृथक् द्रव्य नहीं होना चाहिये); ऐसा होने पर, कलई के स्व-द्रव्य का उच्छेद (नाश) हो जायेगा। परन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्यद्रव्य रूपमें संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया

सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः । किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिकाः सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः । चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादिपरद्रव्यं । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते । यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो

है । इससे यह (सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार आदि की नहीं है ।

(अब आगे और विचार करते है:—) यदि कलई दीवार आदि की नही है, तो कलई किसकी है ? कलई की ही कलई है । (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है ? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, भिन्न भिन्न दो स्व-स्वाभिरूप अंश ही है । यहाँ स्व-स्वाभिरूप अंशो के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है । तब फिर यह निश्चय है (इसप्रकार दृष्टान्त कहा) । जैसे यह दृष्टान्त है, उसीप्रकार यहाँ यह दार्ष्टान्त है इस जगत मे चेतयिता है वह ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता आत्मा का ज्ञेय है । अब, 'ज्ञायक चेतयिता, ज्ञेय जो पुद्गलादि परद्रव्य उनका है या नहीं ? इस प्रकार यहाँ उन दोनोके तात्विक सम्बन्धका विचार करते हैं:—यदि चेतयिता पुद्गलादिका हो तो क्या हो इसका प्रथम विचार करते है जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है;'—ऐसा तात्विक सम्बन्ध जीवित (विद्यमान) होनेसे, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता वह पुद्गलादि ही होवे, (अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप ही होना चाहिये, पुद्गलादिसे भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिये,) ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायेगा । किन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध कर दिया है । इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता (अब आगे और विचार करते हैं;) पुद्गलादिका नहीं है । यदि चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है तो किसका है ? चेतयिताका ही चेतयिता है । इस चेतयितासे भिन्न ऐसा दूसरा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है ? (इस) चेतयितासे भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, भिन्न भिन्न दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं । यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है । तब फिर ज्ञायक किसीका नहीं है । ज्ञायक ज्ञायक ही है यह निश्चय है ।

ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्, एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। नच द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वा-द्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोन्य-श्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्व-स्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः। ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः। किंच सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुण-निर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यं। अथात्र कुड्यादेः

(इसप्रकार यहाँ यह बताया है कि 'आत्मा पर द्रव्यको जानता है'—यह व्यवहार-कथन है; 'आत्मा अपनेको जानता है'–इस कथनमें भी स्व–स्वामि–अंशरूप व्यवहार है; 'ज्ञायक ज्ञायक ही है'—यह निश्चय है।

और (जिसप्रकार ज्ञायकके सम्बन्धमें दृष्टान्त–दार्ष्टान्त पूर्वक कहा है) इसीप्रकार दर्शकके सम्बन्धमें कहा जाता है:–इस जगतमें कलई श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार आदि परद्रव्य व्यवहारसे उस कलईका श्वैत्य (कलईके द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ) है। अब, 'श्वेत करने वाली कलई, श्वेत करने योग्य दीवार आदि परद्रव्यकी है या नहीं ?'–इसप्रकार उन दोनोंके तात्विक सम्बन्धका यहाँ विचार किया जाता है:—यदि कलई दीवार आदि परद्रव्यकी हो तो क्या हो, यह प्रथम विचार करते हैं–'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है;'–ऐसा तात्विक सम्बन्ध जीवंत (–विद्यमान) होनेसे, कलई यदि दीवार आदिकी हो तो कलई उन दीवार आदि ही होनी चाहिये (अर्थात् कलई दीवार आदि स्वरूप ही होनी चाहिये); ऐसा होने पर, कलईके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा किन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया गया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार आदिकी नहीं है। (–आगे और विचार करते हैं) यदि कलई दीवार आदिकी नहीं है तो कलई किसकी है ? कलईकी ही कलई है। (इस) कलईसे भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है ? (इस) कलईसे भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व–स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व–स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है, तब फिर कलई किसीकी नहीं है, कलई कलई ही है यह निश्चय है। जैसे यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार यह दार्ष्टान्त है:—इस जगतमें चेतयिता दर्शन गुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिताका दृश्य है।

परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते । यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्, एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वा-द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्या-देस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किंतु स्वस्वाम्यं-शावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः—चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादि परद्रव्यं । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभय-

---

अब, 'दर्शक (–देखने वाला या श्रद्धान करने वाला) चेतयिता, दृश्य (–देखने योग्य या श्रद्धान करने योग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्योंका है या नहीं'–इसप्रकार उन दोनोंके तात्विक संबंध का यहाँ विचार करते हैं—यदि चेतयिता पुद्गलादिका हो तो क्या हो यह पहले विचार करते हैं 'जिसका जो होता है वह वही होता है जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्माही है;'–ऐसा तात्विक संबंध जीवत होनेसे, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता पुद्गलादि ही होना चाहिये । ऐसा होने पर, चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा । किंतु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमे संक्रमण होनेका तो पहलेही निषेध कर दिया है । इससे (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है । (आगे और विचार करते हैं) चेतयिता यदि पुद्गलादिका नहीं है तो चेतयिता किसका है ? चेतयिताका ही चेतयिता है । (इस) चेत-यितासे भिन्न दूसरा ऐसा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है ? (इस) चेत-यितासे भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, भिन्न भिन्न दो स्व–स्वामिरूप अंश ही हैं । यहाँ स्व–स्वामिरूप अंशोंके व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है । तब फिर दर्शक किसी का नहीं है, दर्शक दर्शक ही है—यह निश्चय है ।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि 'आत्मा परद्रव्यको देखता है अथवा श्रद्धा करता है'—यह व्यवहार कथन है, 'आत्मा अपने को देखता है अथवा श्रद्धा करता है'—इस कथनमें भी स्व - स्वामि अंशरूप व्यवहार है, 'दर्शक दर्शक ही है'—यह निश्चय है ।)

और (जिसप्रकार ज्ञायक तथा दर्शकके संबंध में दृष्टान्त - दार्ष्टान्तसे कहा है) इसी-प्रकार अपोहक (त्याग करनेवाले) के संबंधमें कहा जाता है:—इस जगत में कलई है वह

तत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्। एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः। अपि च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि परद्रव्यं। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न

श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार आदि परद्रव्य व्यवहारसे उस कलईका श्वैत्य (श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ) है। अब, 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार आदि परद्रव्यकी है या नहीं ?' इसप्रकार उन दोनोके तात्विक संबंधका यहाँ विचार किया जाता है.—यदि कलई दीवार आदि परद्रव्यकी हो तो क्या हो, सो पहले विचार करते है 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है;'— ऐसा तात्विक संबंध जीवत (विद्यमान) होनेसे, कलई यदि दीवार आदिकी हो तो कलई वह दीवार आदि ही होनी चाहिए, ऐसा होने पर, कलईके द्रव्यका उच्छेद हो जायेगा परन्तु द्रव्यका उच्छेद नहीं होता, क्योंकि, एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमे संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया गया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार आदिकी नहीं है (आगे और विचार करते है) यदि कलई दीवार आदिकी नही है तो कलई किसकी है ? कलई की ही कलई है। (इस) कलईसे भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है जिसकी (-यह) कलई है। (इस) कलईसे भिन्न अन्य कोइ कलई नहीं है, भिन्न भिन्न दो स्व - स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व - स्वामिरूप अंशोके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसीकी नहीं है, कलई कलई ही है,—यह निश्चय है। जैसे यह दृष्टान्त है उसी प्रकार यहाँ नीचे दार्ष्टान्त दिया जाता है:—

इस जगतमें जो चेतयिता है वह, ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण परके अपोहन स्वरूप (-त्याग रूप) स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिताका अपोहन (त्याज्य) है। अब, 'अपोहक (-त्याग करनेवाला) चेतयिता, अपोह्य (-त्याज्य) पुद्गलादि परद्रव्यका है या नहीं ?'—इसप्रकार उन दोनोंका तात्त्विक संबंध यहाँ विचार किया जाता है:- यदि चेतयिता

भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते। यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्। एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः ? ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण। न किमपि तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकःचेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यं। तस्य तु व्यवहारेणापोह्यं पुद्गलादिपरद्रव्यं। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते। यदि चेतयि-

---

पुद्गलादिका हो तो क्या हो यह पहले विचार करते है 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है,'—ऐसा तात्त्विक संबंध जीवंत होनेसे, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता उस पुद्गलादिरूप ही होना चाहिये; ऐसा होने पर, चेतयिताके स्व - द्रव्यका उच्छेद हो जायेगा। परन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्यद्रव्यरूपमे संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है। (आगे और विचार करते हैं;) यदि चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है तो चेतयिता किसका हे ? चेतयिताका ही चेतयिता है। (इस) चेतयितासे भिन्न ऐसा दूसरा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है ? (इस) चेतयितासे भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, भिन्न भिन्न दो स्व - स्वामिरूप अंश ही है। यहाँ स्व - स्वामिरूप अंशोके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर अपोहक (त्याग करनेवाला) किसीका नहीं है, अपोहक अपोहक ही है यह निश्चय है।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि 'आत्मा परद्रव्यको त्यागता है'—यह व्यवहार कथन है, आत्मा ज्ञानदर्शनमय ऐसा निजको ग्रहण करता है'—ऐसा कहने मे भी स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है, 'अपोहक अपोहक ही है'—यह निश्चय है।)

अब व्यवहारका विवेचन किया जाता है: – जिसप्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार आदि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई, दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त है—ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (दीवार आदिके) स्वभावके परिणाम

ता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्। एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः। अथ व्यवहारव्याख्यानम्। यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुडयादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुडयादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयंती कुडयादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुडयादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते तथा चेतयितापि ज्ञानगुण-

---

द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार आदि परद्रव्यको, अपने (-कलईके) स्वभावसे श्वेत करती है,—ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ पुद्गलादि परद्रव्य जिसमें निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (पुद्गलादिके) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको, अपने (-चेतयिताके-) स्वभावसे जानता है—ऐसा व्यवहार किया जाता है।

और जिसप्रकार ज्ञानगुणका व्यवहार कहा है) इसीप्रकार दर्शनगुणका व्यवहार कहा जाता है:—जिसप्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार आदि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (दीवार आदिके) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होनेवाले दीवार आदि परद्रव्यको अपने स्वभावसे श्वेत करती है—ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त है ऐसे अपने दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (–पुद्गलादिके–) स्वभावके

निर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते। किंच यथा च सैवसेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयंती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते। तथा चेतयि-

---

परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको अपने (–चेतयिताके–) स्वभावसे देखता है अथवा श्रद्धा करता है—ऐसा व्यवहार किया जाता है।

और (जिसप्रकार ज्ञान-दर्शनगुणका व्यवहार कहा है) इसीप्रकार चारित्रगुणका व्यवहार कहा जाता है:—जैसे श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार आदि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार अदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त है ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (–दीवार आदिके) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार आदि परद्रव्यको, अपने (–कलईके) स्वभावसे श्वेत करती है—ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार जिसका ज्ञान-दर्शनगुणसे परिपूर्ण और परके अपोहनस्वरूप स्वभाव है ऐसा चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञान-दर्शनगुणसे परिपूर्ण पर-अपोहनात्मक (परके त्यागस्वरूप) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (–पुद्गल आदिके) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको, अपने (–चेतयिताके–) स्वभावसे अपोहता है अर्थात् त्याग करता है—इसप्रकार व्यवहार किया जाता है।

इसप्रकार यह, आत्माके ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायोंका निश्चय-व्यवहार प्रकार है। इसीप्रकार अन्य समस्त पर्यायोंका भी निश्चय-व्यवहार प्रकार समझना चाहिये।

भावार्थ:—शुद्धनयसे आत्माका एक चेतनामात्र स्वभाव है। उसके परिणाम जानना, देखना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि हैं। वहाँ निश्चयनयसे विचार किया जाये तो आत्मा को परद्रव्यका ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, दर्शक नहीं कहा जा सकता, श्रद्धान करनेवाला

तापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनो स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मानः स्वभावेन पश्यतीति व्यवह्रियते। अपि च— यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयंती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते। तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावस्यपरिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेनापोहतीति व्यवह्रियते। एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः। एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः।

नहीं कहा जा सकता, त्याग करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परद्रव्यके और आत्माके निश्चयसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो ज्ञान, दर्शन श्रद्धान, त्याग इत्यादि भाव हैं, वे स्वयं ही हैं; भाव–भावकका भेद कहना वह भी व्यवहार है। निश्चयसे भाव और भाव करनेवालेका भेद नहीं है।

अब व्यवहारनयके सम्बन्धमे व्यवहारनयसे आत्माको परद्रव्यका ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि परद्रव्य और आत्माके निमित्त–नैमित्तिक भाव है। ज्ञानादि भावोंका परद्रव्य निमित्त होता है, इसलिये व्यवहारीजन कहते है कि—आत्मा परद्रव्यको जानता है, परद्रव्यको देखता है, परद्रव्यका श्रद्धान करता है, परद्रव्यका त्याग करता है।

अब, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते है:—

अर्थः—जिसने शुद्ध द्रव्यके निरूपणमें बुद्धिको लगाया है, और जो तत्वका अनुभव करता है, उस पुरुषको एकद्रव्यके भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि भाषित नहीं होता। ज्ञान ज्ञेयको जानता है सो तो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है। जब कि ऐसा है तब फिर लोग ज्ञानको अन्य द्रव्यके साथ स्पर्श होनेकी मान्यतासे आकुल बुद्धिवाले होते हुए तत्वसे (शुद्ध स्वरूपसे) क्यों च्युत होते हैं?

भावार्थः—शुद्धनयकी दृष्टिसे तत्वका स्वरूप विचार करनेपर अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंते जनाः ॥ २१५ ॥ (शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥ २१६ ॥ (मन्दाक्रान्ता)

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥ २१७ ॥ (मन्दाक्रान्ता)

मे प्रवेश दिखाई नहीं देता। ज्ञानमे अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं सो तो यह ज्ञानकी स्वच्छताका स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञानको स्पर्श नहीं करते। ऐसा होने पर भी, ज्ञानमे अन्य द्रव्योका प्रतिभास देखकर यह लोग ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूपसे च्युत होते हैं कि 'ज्ञानको पर ज्ञेयोके साथ परमार्थ संबंध है'; यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि—यह लोग तत्त्वसे क्यो च्युत हो रहे हैं ?

पुनः इसी अर्थको दृढ करते हुए कहते हैं —

अर्थः—शुद्ध द्रव्यका (आत्मा आदि द्रव्यका) निजरससरूप (-ज्ञानादि स्वभावमें) परिणमन होता है, इसलिये क्या शेष कोई अन्य द्रव्य उस (ज्ञानादि) स्वभावका हो सकता है ? (नहीं।) अथवा क्या वह (ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्य द्रव्यका हो सकता है ? (नहीं। परमार्थसे एक द्रव्यका अन्य द्रव्यके साथ सम्बन्ध नहीं है।) चाँदनीका रूप पृथ्वीको उज्वल करता है तथापि पृथ्वी चाँदनीकी कदापि नहीं होती; इसप्रकार ज्ञान ज्ञेयको सदा जानता है तथापि ज्ञेय ज्ञानका कदापि नहीं होता।

भावार्थः—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो किसी द्रव्यका स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। जैसे चाँदनी पृथ्वीको उज्वल करती है किन्तु पृथ्वी चाँदनीकी किंचितमात्र भी नहीं होती, इसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है किन्तु ज्ञान ज्ञेयका किंचित मात्र भी नहीं होता। आत्माका ज्ञानस्वभाव है इसलिये उसकी स्वच्छतामे ज्ञेय स्वयमेव झलकता है, किन्तु ज्ञानमें उन ज्ञेयका प्रवेश नहीं होता।

दंसणणाणचरित्तं, किंचि वि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥ ३६६ ॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्मि ॥ ३६७ ॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे काये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥ ३६८ ॥
णाणस्स दंसणस्स य, भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पुग्गलदव्वस्स, को वि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥ ३६९ ॥

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—रागद्वेषका द्वंद तबतक उदयको प्राप्त होता है कि जबतक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो और ज्ञेय ज्ञयत्वको प्राप्त न हो। इसलिये यह ज्ञान, अज्ञानभावको दूर करके, ज्ञानरूप हो—कि जिससे भाव-अभाव (राग-द्वेष) को रोकता हुआ पूर्ण स्वभाव (प्रगट) हो जाये।

भावार्थः—जबतक ज्ञान ज्ञानरूप न हो, ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो, तबतक राग-द्वेष उत्पन्न होता है; इसलिये इस ज्ञान, अज्ञानभावको दूर करके, ज्ञानरूप होओ, कि जिससे ज्ञानमें भाव और अभावरूप दो अवस्थाएे होती है वे मिट जाये और ज्ञान पूर्ण स्वभावको प्राप्त हो जाये। यह प्रार्थना है ॥ २५६-३६५ ॥

'ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न है, आत्माके दर्शन ज्ञान चारित्रादि कोई गुण परद्रव्योंमे नहीं है' ऐसा जाननेके कारण सम्यक्‌दृष्टिको विषयोंके प्रति राग नहीं होता, और रागद्वेषादि जड़ विषयोंमे भी नहीं होते; वे मात्र अज्ञानदशामे प्रवर्तमान जीवके परिणाम है। —इस अर्थ की गाथाएें कहते है:—

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन विषयमें।
इस हेतुसे यह आतमा क्या हन सके उन विषयमें ॥ ३६६ ॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन कर्ममें।
इस हेतुसे यह आतमा क्या हन सके उन कर्ममें ॥ ३६७ ॥
चारित्र दर्शन-ज्ञान किञ्चित् नहिं अचेतन कायमें।
इस हेतुसे यह आतमा क्या हन सके उन कायमें ॥ ३६८ ॥
है ज्ञानका, सम्यक्त्वका, उपघात चारितका कहा।
वहाँ और कुछ भी नहिं कहा उपघात पुद्गल द्रव्यका ॥ ३६९ ॥

जीवस्स जे गुणा केइ, णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तह्मा सम्माइट्ठिस्स, णत्थि रागो उ विसएसु ॥ ३७० ॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥ ३७१ ॥

दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु विषयेषु ॥ ३६६ ॥
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तत्र कर्मणि ॥ ३६७ ॥
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु कायेषु ॥ ३६८ ॥

गाथा ३६६ से ३७१

अन्वयार्थः—[**दर्शनज्ञानचारित्रं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [**अचेतने-विषयेतु**] अचेतन विषयमें [**किंचित् अपि**] किंचित् मात्र भी [**न अस्ति**] नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिये [**चेतयिता**] आत्मा [**तेषु विषयेषु**] उन विषयोंमें [**किं हंति**] क्या घात करेगा ?

[**दर्शनज्ञानचारित्रं**] दर्शन—ज्ञान—चारित्र [**अचेतने कर्मणि तु**] अचेतन कर्ममें [**किंचित् अपि**] किंचित् मात्र भी [**न अस्ति**] नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिये [**चेतयिता**] आत्मा [**तत्र कर्मणि**] उन कर्ममें [**किं हंति**] क्या घात करेगा ?) कुछ भी घात नहीं कर सकता ।)

[**दर्शनज्ञानचारित्रं**] दर्शन—ज्ञान—चारित्र [**अचेतने कायेतु**] अचेतन कायमें [**किंचित् अपि**] किंचित् मात्र भी [**न अस्ति**] नहीं है [**तस्मात्**] इसलिये [**चेतयिता**] आत्मा [**तेषु कायेषु**] उन कायोंमें [**किं हंति**] क्या

जो जीवके गुण हैं नियत वे कोइ नहिं परद्रव्यमें ।
इस हेतुसे सद्दृष्टि जिवको राग नहिं है विषयमें ॥ ३७० ॥
अरु राग, द्वेष, विमोह तो जिवके अनन्य परिणाम हैं ।
इस हेतुसे शब्दादि विषयोंमें नहीं रागादि हैं ॥ ३७१ ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य च भणितो घातस्तथा चारित्रस्य ।
नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः ॥ ३६९ ॥
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ॥ ३७० ॥
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ॥ ३७१ ॥

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते । यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यत एव यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते । यत्तु यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते । यत्र यन्न भवति

घात करेगा ? (कुछ भी घात नहीं कर सकता ।)

[**ज्ञानस्य**] ज्ञानका [**दर्शनस्य च**] और दर्शनका [**तथा चारित्रस्य**] तथा चारित्रका [**घातः भणितः**] घात कहा है, [**तत्र**] वहाँ [**पुद्गल द्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्यका [**घातः तु**] घात [**कः अपि**] किंचित् मात्र भी [**न अपि निर्दिष्टः**] नहीं कहा है । (अर्थात् दर्शन—ज्ञान—चारित्रके घात होने पर पुद्गलद्रव्यका घात नहीं होता ।)

(इसप्रकार) [**ये केचित्**] जो कोई [**जीवस्य गुणाः**] जीवके गुण हैं, [**ते खलु**] वे वास्तवमें [**परेषु द्रव्येषु**] परद्रव्यमें [**न संति**] नहीं हैं; [**तस्मात्**] इसलिये [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यक्दृष्टिके [**विषयेषु**] विषयोंके प्रति [**रागः तु**] राग [**न अस्ति**] नहीं है ।

[**च**] और [**रागः द्वेषः मोहः**] राग, द्वेष और मोह [**जीवस्य एव**] जीवके ही [**अनन्य परिणामाः**] अनन्य (एकरूप) परिणाम हैं, [**एतेन कारणेन तु**] इस कारणसे [**रागादयः**] रागादिक [**शब्दादिषु**] शब्दादि विषयोंमें (भी) [**न संति**] नहीं हैं ।

(राग द्वेषादि न तो सम्यक्दृष्टि आत्मामें है और न जड़ विषयोंमें, वे मात्र अज्ञान दशामें रहनेवाले जीवके परिणाम हैं ।)

टीकाः—वास्तवमें जो जिसमें होता है वह उसका घात होनेपर नष्ट होता ही है (अर्थात् आधारका घात होने पर आधेयका घात हो ही जाता है), जैसे दीपकके नष्ट होनेपर (उसमें

तद्घाते न हन्यते यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते। अथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यंते, न च दर्शनज्ञानचारित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते, एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवंतीत्यायाति अन्यथा [1]तद्घाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात्। यत एवं ततो ये यावन्तः केचनापि जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न संतीति सम्यक् पश्यामः। अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात्। यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु ? न कुतोऽपि। तर्हि रागस्य कतरा खानिः ? रागद्वेषमोहादि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामास्ततः परद्रव्यत्वाद्विषयेषु न संति, अज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवंति। एवं ते विषयेष्वसंतः सम्यग्दृष्टेर्न भवंतो न भवंत्येव।

रहनेवाला) प्रकाश नष्ट हो जाता है; तथा जिसमे जो होना है वह उसका नाश होने पर अवश्य नष्ट हो जाता है (अर्थात् आधेयका नाश होने पर आधारका नाश हो जाता ही है), जैसे प्रकाशका घात होने पर दीपकका घात हो जाता है। और जो जिसमे नहीं होता वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता, जैसे घडेका नाश होने पर घट-प्रदीप* का नाश नहीं होता, तथा जिसमे जो नहीं होता वह उसका घात होनेपर नष्ट नहीं होता जैसे घट-प्रदीपका घात होनेपर घटका नाश नहीं होता इसप्रकारसे न्याय कहा है। अब आत्माके धर्म-दर्शन, ज्ञान और चारित्र-पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर भी नष्ट नहीं होते और दर्शन ज्ञान चारित्रका घात होनेपर भी पुद्गलद्रव्यका नाश नहीं होता (यह तो स्पष्ट है); इसलिये इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि—'दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं', क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो दर्शन-ज्ञान-चारित्रका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात, और पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका अवश्य ही घात होना चाहिये। ऐसा होनेसे जीवके जो जितने गुण हैं वे सब परद्रव्योंमें नहीं हैं, यह हम भली भाँति देखते-मानते हैं, क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो, यहाँ भी जीवके गुणोंका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात और पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर जीवके गुणका घात होना अनिवार्य हो जाय। (किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध हुआ कि जीवके कोई गुण पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं।)

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो सम्यक्दृष्टिको विषयोंमें राग किस कारणसे होता है ?

---

१ आत्मधर्मघाते।

* घट-प्रदीप = घडेमें रखा हुआ दीपक (परमार्थतः दीपक घडेमें नहीं है, घडेमें तो घडेके ही गुण हैं।)

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः॥ २१८ ॥ (मंदाक्रांता)

उत्तर:—किसी भी कारणसे नहीं होता। (प्रश्नः—) तब फिर रागकी खान (उत्पत्ति स्थान) कौनसी है? (उत्तरः—) राग-द्वेष-मोहादि, जीवके अज्ञानमय परिणाम हैं (अर्थात् जीवका अज्ञान ही रागादिको उत्पन्न करनेकी खान है); इसलिये वे रागद्वेष मोहादिक, विषयोंमें नहीं है क्योंकि विषय परद्रव्य है, और वे सम्यक्दृष्टिमें भी नहीं हैं क्योंकि उसके अज्ञानका अभाव है; इसप्रकार रागद्वेषमोहादिक विषयोंमें न होनेसे और सम्यक्दृष्टिके (भी) न होनेसे (वे) है ही नहीं।

भावार्थ:—आत्माके अज्ञानमय परिणामरूप रागद्वेषमोहादि उत्पन्न होनेपर आत्माके दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणोंका घात होता है, किन्तु गुणोंके घात होनेपर भी अचेतन पुद्गलद्रव्यका घात नहीं होता; और पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिका घात नहीं होता; इसलिये जीवके कोई भी गुण पुद्गलद्रव्यमें नहीं है। ऐसा जानता हुआ सम्यक्दृष्टिको अचेतन विषयोंमें रागादिक नहीं होते। रागद्वेषमोहादिक पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं, वे जीवके ही अस्तित्वमें अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं; जब अज्ञानका अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यक्दृष्टि होता है, तब राग-द्वेषादि उत्पन्न नहीं होते। इसप्रकार रागद्वेषमोहादिक न तो पुद्गलद्रव्यमें हैं और न सम्यक्दृष्टिमें भी होते हैं, इसलिये शुद्ध द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर वे है ही नहीं। और पर्यायदृष्टिसे देखनेपर वे जीवकी अज्ञानअवस्थामें है। ऐसा जानना चाहिये।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस जगतमें ज्ञान ही अज्ञानभावसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है, वस्तुत्वमें स्थापित (—एकाग्र की गई) दृष्टिसे देखनेपर (अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर), वे रागद्वेष कुछ भी नहीं है (—द्रव्यरूप पृथक् वस्तु नहीं है)। इसलिये (आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि) सम्यक्दृष्टि पुरुष तत्वदृष्टिसे उन्हें (राग-द्वेषको) प्रगटतया क्षय करो, कि जिससे, पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी (—दैदीप्यमान) सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।

भावार्थ:—राग-द्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, वे (रागद्वेषरूप परिणाम) जीवके अज्ञानभावसे होते हैं. इसलिये सम्यक्दृष्टि होकर तत्वदृष्टिसे देखा जाये तो वे (रागद्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं है ऐसा दिखाई देता है, और घातिकर्मका नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरंतश्चकास्ति
व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् । २१९ ।।(शालिनी)

अण्णदविएण अण्णदवियस्स, ण कीरइ गुणुप्पाओ ।
तम्हा उ सव्वदव्वा, उप्पज्जंते सहावेण ।। ३७२ ।।

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः ।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन ।। ३७२ ।।

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शंक्यं—अन्यद्रव्येणान्यद्रव्य-गुणोत्पादकरणस्यायोगात् । सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात् । तथाहि—मृत्तिका

अब आगेकी गाथामे यह कहेंगे कि 'अन्यद्रव्य अन्यद्रव्यको गुण उत्पन्न नहीं कर सकता', इसका सूचक काव्य कहते है.—

अर्थ—तत्वदृष्टिसे देखा जाये तो, रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् मात्र भी दिखाई नहीं देता क्योंकि सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने स्वभावसे ही होती हुई अंतरंगमे अत्यत प्रगट (स्पष्ट) प्रकाशित होती है ।

भावार्थः— राग–द्वेष चेतनके ही परिणाम है । अन्य द्रव्य आत्माको राग–द्वेष उत्पन्न नही करा सकता; क्योंकि सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने अपने स्वभावसे ही होती है, अन्य द्रव्यमे अन्य द्रव्यके गुण पर्यायोंकी उत्पत्ति नहीं होती ।। ३६६–३७१ ।।

अब, इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते है.—

गाथा ३७२

अन्वयार्थः—[**अन्यद्रव्येण**] अन्यद्रव्यसे [**अन्यद्रव्यस्य**] अन्य द्रव्यके [**गुणोत्पादः**] गुणकी उत्पत्ति [**न क्रियते**] नहीं की जा सकती; [**तस्मात् तु**] इससे (यह सिद्धान्त हुआ कि) [**सर्व द्रव्याणि**] सर्वद्रव्य [**स्वभावेन**] अपने अपने स्वभावसे [**उत्पद्यंते**] उत्पन्न होते है ।

टीकाः—और भी ऐसी शंका नहीं करना चाहिये कि परद्रव्य जीवको रागादि उत्पन्न करते

को द्रव्य दूसरे द्रव्यमें उत्पाद नहिं गुणका करे ।
इस हेतुसे सब ही दरव उत्पन्न आप स्वभावसे ।। ३७२ ।।

कुंभभावेनोत्पद्यमाना किं कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते किं मृत्तिकास्वभावेन? यदि कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुंभकरणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकारः कुंभः स्यात्, न च तथास्ति द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुंभकारस्वभावेन नोत्पद्यते किंतु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। [1]एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुंभकारः कुंभस्योत्पादक एव, मृत्तिकैव कुंभकारस्वभावमस्पृशंती स्वस्वभावेन कुंभभावेनोत्पद्यते। एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यंते किं स्वस्वभावेन? यदि निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यंते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्, न च तथास्ति द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यंते किंतु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति न सर्वद्रव्याणां निमित्तभूतद्रव्यां-

---

है; क्योंकि अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंको उत्पन्न करनेकी अयोग्यता है, क्योंकि सर्व द्रव्योंका स्वभावसे ही उत्पाद होता है। यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझाई जा रही है:—

मिट्टी घटभावसे उत्पन्न होती हुई कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न होती है या मिट्टीके? यदि कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न होती हो तो जिसमें घटको बनानेके अहंकारसे भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ (घड़ा बनानेका) व्यापार करता है, ऐसे पुरुषके शरीराकार घट होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्यके स्वभावसे किसी द्रव्यके परिणामका उत्पाद देखनेमें नहीं आता। यदि ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होती, परन्तु मिट्टीके स्वभावसे ही उत्पन्न होती है क्योंकि (द्रव्यके) अपने स्वभावसे द्रव्यके परिणामका उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होनेसे, मिट्टी अपने स्वभावको उलंघन नहीं करती इसलिये, कुम्हार घड़ेका उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी ही, कुम्हारके स्वभावको स्पर्श न करती हुई अपने स्वभावसे कुम्भभावसे उत्पन्न होती है।

इसीप्रकार—सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्यायसे (अर्थात् अपने परिणाम-भावरूपसे) उत्पन्न होते हुए, निमित्तभूत अन्य द्रव्योंके स्वभावसे उत्पन्न होते है कि अपने स्वभावसे? यदि निमित्तभूत अन्य द्रव्योंके स्वभावसे उत्पन्न होते हो तो उनके परिणाम निमित्तभूत अन्य द्रव्योंके आकारके होने चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्यके स्वभावसे किसी द्रव्यके परिणामका उत्पाद दिखाई नहीं देता। जब कि ऐसा है तो सर्व द्रव्य निमित्तभूत अन्य द्रव्योंके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होते परन्तु अपने स्वभावसे ही उत्पन्न होते है क्योंकि (द्रव्यके) अपने

---

[1] एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावेन कुम्भभावो नोत्पद्यते इति ख. पुस्तके पाठोऽधिकः।

तराणि स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव, सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशंति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यंते । अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः ।

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
स्वयमयमपराधो तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ।। २२० ।। (मालिनी)

स्वभावसे द्रव्यके परिणामका उत्पाद देखनेमे आता है। ऐसा होनेसे, सर्व द्रव्योके निमित्तभूत अन्य द्रव्य, अपने (अर्थात् सर्व द्रव्योके) परिणामोके उत्पादक है ही नहीं, सर्व द्रव्य ही, निमित्तभूत अन्य द्रव्यके स्वभावको स्पर्श न करते हुए, अपने स्वभावसे अपने परिणाम भावसे उत्पन्न होते हैं।

इसलिये (आचार्यदेव कहते है कि) हम जीवके रागादि का उत्पादक परद्रव्यको नहीं देखते (मानते) कि जिस पर कोप करे।

भावार्थः—आत्मा को रागादि उत्पन्न होते हैं सो वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। यदि निश्चयनयसे विचार किया जाये तो अन्य द्रव्य रागादिका उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्य द्रव्य उनका निमित्तमात्र है; क्योकि अन्य द्रव्यके अन्य द्रव्य गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करता यह नियम है। जो यह मानते है—ऐसा एकात ग्रहण करते है कि 'परद्रव्य ही मुझमे रागादिक उत्पन्न करते हैं,' वे नयविभाग को नहीं समझते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। यह रागादिक जीवके सत्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानना सो सम्यक्ज्ञान है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—हम राग-द्वेप की उत्पत्तिमे अन्य द्रव्य पर क्यो कोप करे? राग-द्वेष का उत्पन्न होना तो अपना ही अपराध है।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते है:—

अर्थः इस आत्मामे जो रागद्वेप रूप दोपो की उत्पत्ति होती है उसमे पर द्रव्यका कोई भी दोप नहीं है, वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलता है; इस प्रकार विदित हो और अज्ञान अन्त हो जाये, मै तो ज्ञान हूँ।

भावार्थः— अज्ञानी जीव पर द्रव्यसे रागद्वेपकी उत्पत्ति होती हुई मानकर पर द्रव्यपर कोप करता है कि—'यह पर द्रव्य मुझे राग-द्वेप उत्पन्न कराता है, उसे दूर करू'। ऐसे अज्ञानी जीवको समझानेके लिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि— राग-द्वेपकी उत्पत्ति अज्ञान से आत्मा में ही होती है और वे आत्माके ही अशुद्ध परिणाम है। इसलिये इस अज्ञान को नाश करो, सम्यक्ज्ञान प्रगट करो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव करो, परद्रव्य को रागद्वेपका उत्पन्न करनेवाला मानकर उनपर कोप न करो।

रागजन्मनि निमित्ततां पर-
द्रव्यमेव कलयंति ये तु ते ।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं
शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ॥ २२१ ॥ (रथोद्धता)

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि ।
ताणि सुणिऊण रूसइ तूसइ य पुणो अहं भणिओ ॥ ३७३ ॥

अब इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये और आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो रागकी उत्पत्ति में परद्रव्यका ही निमित्तत्व (-कारणत्व) मानते हैं, (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते,) वे–जिनकी बुद्धि शुद्ध ज्ञानसे रहित अंध है ऐसे (अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्धनयके विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानसे रहित अंध है ऐसे) मोह नदीको पार नहीं कर सकते ।

भावार्थः—शुद्धनयका विषय आत्मा अनन्त शक्तिवान, चैतन्यचमत्कारमात्र, नित्य, अभेद, एक है । वह अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है । ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित कराता है उसी प्रकार आत्मा परिणमित होता है, और उसमें आत्माका कोई पुरुषार्थ ही नहीं है । जिन्हें आत्माके ऐसे स्वरूपका ज्ञान नहीं है वे यह मानते हैं कि परद्रव्य आत्माको जिसप्रकार परिणमन कराता है उसी प्रकार आत्मा परिणमित होता है । ऐसा माननेवाले मोहरूपी नदी को पार नहीं कर सकते (अथवा मोह-सैन्य को नहीं हरा सकते,) उनके रागद्वेष नहीं मिटते; क्योंकि राग-द्वेष करनेमें यदि अपना पुरुषार्थ हो तो वह उनके मिटाने मे भी हो सकता है, किन्तु यदि दूसरे के कराये ही राग-द्वेप होता हो तो पर तो राग-द्वेप कराया ही करे, तब आत्मा उन्हें कहाँ से मिटा सकेगा ? इसलिये, राग-द्वेष अपने किये होते हैं और अपने मिटाये मिटते है—इसप्रकार कथंचित् मानना सो सम्यक्ज्ञान है ॥ ३७२ ॥

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादि रूप परिणमते पुद्गल आत्मा से कहीं यह नहीं कहते कि 'तू हमें जान', और आत्मा भी अपने स्थानसे छूटकर उन्हें जाननेको नहीं जाता । दोनों सर्वथा स्वतंत्रतया अपने अपने स्वभाव से ही परिणमित होते है । इसप्रकार आत्मा परके प्रति उदासीन (-संबंधरहित, तटस्थ,) है, तथापि अज्ञानी जीव स्पर्शादि को अच्छे-बुरे मानकर रागी-द्वेषी होता है, यह उसका अज्ञान है ।

इस अर्थ की गाथा कहते है:—

पुद्गल दरब बहु भाँति निंदा-स्तुतिवचनरुप परिणमे ।
सुनकर उन्हें 'मुझको कहा' गिन रोप तोप जु जिव करे ॥ ३७३ ॥

पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो ।
तह्मा ण तुमं भणिओ किंचिवि किं रूससि अबुद्धो ।। ३७४ ।।
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्द ।। ३७५ ।।
असुहं सुहं व रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं तु रूवं ।। ३७६ ।।
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं तु गंधं ।। ३७७ ।।
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ।। ३७८ ।।
असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ।। ३७९ ।।
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ।। ३८० ।।

पुद्गलदरव शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है ।
तो नहिं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध ! रोष तूं क्यों करे ।। ३७४ ।।

शुभ या अशुभ जो शब्द वो 'तूँ सुन मुझे' न तुझे कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्द को ।। ३७५ ।।

शुभ या अशुभ जो रूप वो 'तू देख मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे चक्षुगोचर रूपको ।। ३७६ ।।

शुभ या अशुभ जो गंध वो 'तू सूंघ मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे घ्राणगोचर गंधको ।। ३७७ ।।

शुभ या अशुभ रस कोइ भी 'तू चाख मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे रसनगोचर स्वादको ।। ३७८ ।।

शुभ या अशुभ जो स्पर्श वो 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कायगोचर स्पर्शको ।। ३७९ ।।

शुभ या अशुभ गुण कोइ भी 'तू जान मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर गुण अरे ।। ३८० ।।

असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं ॥ ३८१ ॥

एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥ ३८२ ॥

निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि ।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥ ३७३ ॥

पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः ।
तस्मान्न त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ॥ ३७४ ॥

अशुभः शुभो वा शब्दो न त्वां भणति शृणु मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दम् ॥ ३७५ ॥

गाथा ३७३ से ३८२

अन्वयार्थः—[**बहुकानि**] बहुत प्रकारके [**निन्दितसंस्तुतवचनानि**] निन्दाके और स्तुतिके वचनरूपमें [**पुद्गलाः**] पुद्गल [**परिणमंति**] परिणमित होते हैं; [**तानि श्रुत्वा पुनः**] उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव [**अहं भणितः**] 'मुझसे कहा' ऐसा मानकर [**रुष्यति तुष्यति च**] रोष और संतोष करता है, (अर्थात् क्रोध करता है और प्रसन्न होता है।)

[**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गल द्रव्य [**शब्दत्वपरिणतं**] शब्दरूपसे परिणमित हुआ है; [**तस्य गुणः**] उसका गुण [**यदि अन्यः**] यदि (तुझसे) अन्य है, [**तस्मात्**] तो हे ! अज्ञानी जीव [**त्वं न किंचित् अपि भणितः**] तुझसे कुछ भी नहीं कहा है; [**अबुद्धः**] तू अज्ञानी होता हुआ [**किं रुष्यसि**] क्यों रोष करता है ?

शुभ या अशुभ जो द्रव्य वो 'तू जान मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर द्रव्य रे ॥ ३८१ ॥
यह जानकर भी मूढ जिव पावे नहिं उपशम अरे !
शिवबुद्धिको पाया नहीं वो परग्रहण करना चहे ॥ ३८२ ॥

अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपम् ॥ ३७६ ॥
अशुभः शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं घ्राणविषयमागतं गंधम् ॥ ३७७ ॥
अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं रसनविषयमागतं तु रसम् ॥ ३७८ ॥
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं कायविषयमागतं तु स्पर्शम् ॥ ३७९ ॥
अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणम् ॥ ३८० ॥

[अशुभः वा शुभः शब्दः] अशुभ अथवा शुभ शब्द **[त्वां न भणति]** तुझसे यह नहीं कहता कि **[मां श्रृणु इति]** 'तू मुझे सुन,' **[सः एव च]** और आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), **[श्रोत्रविषयं आगतं शब्दं]** श्रोत्र-इन्द्रियके विषयमें आये हुए शब्दको **[विनिर्ग्रहीतुं न एति]** ग्रहण करनेको नहीं जाता ।

[अशुभं वा शुभं रूपं] अशुभ अथवा शुभ रूप **[त्वां न भणति]** तुझसे यह नहीं कहता कि **[मां पश्य इति]** 'तू मुझे देख,' **[सः एव च]** और आत्मा भी (अपने स्थानसे छूटकर), **[चक्षुर्विषयं आगतं]** चक्षु-इन्द्रियके विषयमें आये हुए **[रूपं]** रूपको **[विनिर्ग्रहीतुं न एति]** ग्रहण करनेको नहीं जाता ।

[अशुभः वा शुभः गंधः] अशुभ अथवा शुभ गंध **[त्वां न भणति]** तुझसे यह नहीं कहती कि **[मां जिघ्र इति]** 'तू मुझे सूंघ,' **[सः एव च]** और आत्मा भी **[घ्राणविषयं आगतं गंधं]** घ्राण-इन्द्रियके विषयमें आई हुई गंधको **[विनिर्ग्रहीतुं न एति]** (अपने स्थानसे च्युत होकर), ग्रहण करने नहीं जाता ।

[अशुभः वा शुभः रसः] अशुभ अथवा शुभ रस **[त्वां न भणति]** तुझसे यह नहीं कहता कि **[मां रसय इति]** 'तू मुझे चख;' **[सः एव च]** और

अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यम् ॥ ३८१ ॥
एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः ।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ॥ ३८२ ॥

यथेह बहिरर्थो घटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा 'मां प्रकाशय'

आत्मा भी [**रसनविषयं आगतं तु रसं**] रसना–इन्द्रियके विषयमें आये हुए रसको (अपने स्थानसे च्युत होकर); [**विनिर्ग्रहीतुं न एति**] ग्रहण करने नहीं जाता ।

[**अशुभः वा शुभः स्पर्शः**] अशुभ अथवा शुभ स्पर्श [**त्वां न भणति**] तुझसे यह नहीं कहता कि [**मां स्पृश इति**] 'तू मुझे स्पर्श कर;' [**सः एव च**] और आत्मा भी [**कायविषयं आगतं स्पर्शं**] कायके (स्पर्शेन्द्रियके) विषयमें आये हुए स्पर्शको (अपने स्थानसे च्युत होकर); [**विनिर्ग्रहीतुं न एति**] ग्रहण करने नहीं जाता ।

[**अशुभः वा शुभः गुणः**] अशुभ अथवा शुभ गुण [**त्वां न भणति**] तुझसे यह नहीं कहता कि [**मां बुध्यस्व इति**] 'तू मुझे जान;' [**सः एव च**] और आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर) [**बुद्धिविषयं आगतं तु गुणं**] बुद्धिके विषयमें आये हुए गुणको [**विनिर्ग्रहीतुं न एति**] ग्रहण करने नहीं जाता ।

[**अशुभं वा शुभं द्रव्यं**] अशुभ अथवा शुभ द्रव्य [**त्वां न भणति**] तुझसे यह नहीं कहता कि [**मां बुध्यस्व इति**] 'तू मुझे जान;' [**सः एव च**] और आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), [**बुद्धिविषयं आगतं द्रव्यं**] बुद्धिके विषयमें आये हुए द्रव्यको [**विनिर्ग्रहीतुं न एति**] ग्रहण करने नहीं जाता ।

[**एतद् तु ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर भी [**मूढः**] मूढ जीव [**उपशमं न एव गच्छति**] उपशमको प्राप्त नहीं होता; [**च**] और [**शिवां बुद्धिं अप्राप्तः च स्वयं**] शिवबुद्धिको (कल्याणकारी बुद्धिको, सम्यक्ज्ञानको) न प्राप्त हुआ स्वयं [**परस्य विनिर्ग्रहमनाः**] परको ग्रहण करनेका मन करता है ।

टीका:—प्रथम दृष्टान्त कहते हैं इस जगत मे बाह्य पदार्थ–घटपटादि,–जैसे देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है इसीप्रकार, दीपक

इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजयति । नच प्रदीपोऽप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति । किं तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्संनिधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते । स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयोऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते । तथा बहिरर्थः शब्दो रूपं गंधो रसः स्पर्शो गुणद्रव्ये च देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मां शृणु मां पश्य मां जिघ्र मां रसय मां स्पर्श मां बुध्यस्व' इति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयति । नचात्माप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्था-

---

को स्वप्रकाशन मे (अर्थात् वाह्य पदार्थको प्रकाशित करने के कार्य मे) नही लगाता कि 'तू मुझे प्रकाशित कर', और दीपक भी लोह चुम्बक–पापाणसे खींची गई लोहे की सुई की भाँति अपने स्थानसे च्युत होकर उसे (वाह्य पदार्थ को) प्रकाशित करने नहीं जाता; परन्तु, वस्तुस्वभाव दूसरे से उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिये तथा वस्तुस्वभाव परको उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये, दीपक जैसे वाह्य पदार्थकी असमीपता मे (अपने स्वरूप से ही) प्रकाशित करता है उसीप्रकार वाह्य पदार्थ की समीपता मे भी अपने स्वरूपसे ही प्रकाशित करता है। (इसप्रकार) अपने स्वरूप से ही प्रकाशित करने वाले ऐसे दीपक को, वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त होता हुआ मनोहर या अमनोहर घटपटादि वाह्य पदार्थ किंचित् मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करता।

इसीप्रकार दार्ष्टान्त कहते है; वाह्य पदार्थ–शब्द रूप, गंध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्य,–जैसे देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड कर किसी कार्यमें लगाता है उसीप्रकार, आत्माको स्वज्ञान मे (वाह्य पदार्थों के जानने के कार्य मे) नहीं लगाते कि 'तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सूंघ, तू मुझे चख, तू मुझे स्पर्श कर, तू मुझे जान,' और आत्मा भी लोहचुम्बक–पाषाणसे खींची गई, लोहे की सुई की–भाँति अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें (वाह्य पदार्थों को) जानने को नहीं जाता; परन्तु, वस्तु स्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिये तथा वस्तुस्वभाव परको उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये, आत्मा जैसे वाह्य पदार्थोंकी असमीपता मे (अपने स्वरूपसे ही जानता है) उसी प्रकार वाह्य पदार्थोंकी समीपता में भी अपने स्वरूप से ही जानता है। (इस प्रकार) अपने स्वरूप से ही जानते हुए उस (आत्मा) को, वस्तु स्वभावसे ही विचित्र परणति को प्राप्त मनोहर अथवा अमनोहर शब्दादि वाह्य पदार्थ किंचित् मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

इस प्रकार आत्मा दीपक की भाँति परके प्रति सदा उदासीन (तटस्थ) है—ऐसी वस्तुस्थिति है, तथापि जो राग-द्वेष होता है सो अज्ञान है।

नात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति । किं तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथातत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते। स्वरूपेणैव जानतश्चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयंतः कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन् । एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थितिः, तथापि यद्रागद्वेषौ तदज्ञानं ।

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिबोधबंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवंति सहजां मुंचंत्युदासीनताम् ॥ २२२ ॥ (शार्दूल०)

भावार्थः—शब्दादिक जड़ पुद्गलद्रव्य के गुण हैं । वे आत्मा से कहीं यह नहीं कहते, कि 'तू हमें ग्रहण कर (अर्थात् तू हमें जान)'; और आत्मा भी अपने स्थानसे च्युत होकर उन्हें ग्रहण करने के लिये उनकी ओर नहीं जाता । जैसे शब्दादिक समीप न हों तब आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है, इसीप्रकार शब्दादिक समीप हों तब भी आत्मा अपने स्वरूपसे ही जानता है । इसप्रकार अपने स्वरूप से ही जानने वाले आत्माको अपने अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्मात्रभी विकार नहीं करते, जैसे कि अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होने वाले दीपकको घटपटादि पदार्थ विकार नहीं करते । ऐसा वस्तुस्वभाव है, तथापि जीव शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गंध को सूंघकर, रसका स्वाद लेकर, स्पर्श को छूकर, और गुण-द्रव्यको जानकर, उन्हें अच्छा बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, सो वह अज्ञान ही है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—पूर्ण, एक, अच्युत और शुद्ध (-निर्विकार) ज्ञान जिसकी महिमा है ऐसा यह ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थों से किंचित् मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता, जैसे दीपक प्रकाश्य (-प्रकाशित किये जाने योग्य घटपटादि) पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता । तब फिर जिनकी बुद्धि ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित है, ऐसे यह अज्ञानी जीव अपनी सहज उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं तथा राग-द्वेषमय क्यों होते हैं ? (इसप्रकार आचार्यदेव ने सोच किया है) ।

भावार्थः—जैसे दीपक का स्वभाव घटपटादि को प्रकाशित करनेका है उसी प्रकार ज्ञानका स्वभाव ज्ञेय को जानने का ही है । ऐसा वस्तुस्वभाव है । ज्ञेय को जानने मात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता । ज्ञेयों को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, आत्मा रागी द्वेषी-विकारी होता है, जो कि अज्ञान है । इसलिये आचार्य देवने सोच किया है कि-'वस्तुका स्वभाव तो

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चंचच्चिदर्चिर्मयीं
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥२२३॥ (शार्दूल०)

ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यो परिणमित होता है? अपनी स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यो नहीं रहता?' इस प्रकार आचार्यदेवने जो सोच किया है सो उचित ही है, क्यो कि जबतक शुभराग है तबतक प्राणियो को अज्ञान से दुःखी देखकर करुणा उत्पन्न होती है तब सोच भी होता है।

अब आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं.—

अर्थः—जिनका तेज राग-द्वेषरूपी विभाव से रहित है, जो सदा (अपने चैतन्य चमत्कारमात्र) स्वभाव को स्पर्श करने वाले हैं, जो भूतकाल के तथा भविष्यकाल के समस्त कर्मों से रहित हैं और जो वर्तमानकाल के कर्मोदयसे भिन्न हैं, वे (ऐसे ज्ञानी) अति प्रबल चारित्रके वैभवके बलसे ज्ञान की संचेतना का अनुभव करते हैं—जो ज्ञान-चेतना चमकती हुई चैतन्यज्योतिमय है और जिसने अपने (ज्ञानरूपी) रससे समस्त लोक को सींचा है।

भावार्थः—जिनका राग-द्वेष दूर हो गया, अपने चैतन्यस्वभावको जिन्होने अंगीकार किया और अतीत, अनागत तथा वर्तमान कर्मका ममत्व दूर होगया है ऐसे ज्ञानी सर्व परद्रव्यों से अलग होकर चारित्र अंगीकार करते हैं। उस चारित्रके बलसे, कर्म चेतना और कर्मफल चेतनासे भिन्न जो अपनी चैतन्यकी परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतना है उसका अनुभव करते हैं।

यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिये कि:—जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतनाका स्वरूप आगम-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और स्वसंवेदन प्रमाणसे जानता है और उसका श्रद्धान (-प्रतीति) दृढ़ करता है; यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्थामें भी होता है। और जब अप्रमत्त अवस्था होती है तब जीव अपने स्वरूपका ही ध्यान करता है; उस समय, उसने जिस ज्ञान-चेतनाका प्रथम श्रद्धान किया था उसमें वह लीन होता है और श्रेणी चढ़कर, केवल ज्ञान उत्पन्न करके, साक्षात् ज्ञानचेतनारूप* हो जाता है।३७३-३८२।

जो अतीत कर्मके प्रति ममत्व को छोड़ दे वह आत्मा प्रतिक्रमण है, जो अनागतकर्म न करने की प्रतिज्ञा करे (अर्थात् जिन भावोंसे आगामी कर्म बंधे उन भावोंका ममत्व छोड़े)

---

* केवलज्ञानी जीव के साक्षात् ज्ञान चेतना होती है। केवलज्ञान होनेसे पूर्व भी, निर्विकल्प अनुभव के समय जीवके उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है। यदि ज्ञानचेतनाके उपयोगात्मकत्वको मुख्य न किया जाये तो, सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना निरंतर होती है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं होती, क्योंकि उसके निरंतर ज्ञानके स्वामित्वभावसे परिणमन होता है, कर्मके और कर्मफलके स्वामित्वभावसे परिणमन नहीं होता।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥ ३८३ ॥

कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥ ३८४ ॥

जं सुहमसुहमुदिण्णं संपदि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥ ३८५ ॥

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं पडिक्कमदि यो य ।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥ ३८६ ॥

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषम् ।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम् ॥ ३८३ ॥

वह आत्मा प्रत्याख्यान है और जो उदय में आये हुए वर्तमान कर्मका ममत्व छोड़े वह आत्मा आलोचना है; सदा ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना पूर्वक प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है। ऐसे चारित्र का विधान इन गाथाओं द्वारा करते हैं:—

गाथा ३८३ से ३८६

अन्वयार्थः—[**पूर्वकृतं**] पूर्वकृत [**यद्**] जो [**अनेकविस्तरविशेषं**] अनेक प्रकारके विस्तार वाला [**शुभाशुभं कर्म**] (ज्ञानावरणीय आदि) शुभाशुभकर्म है, [**तस्मात्**] उससे [**यः**] जो आत्मा [**आत्मानं तु**] अपने को [**निवर्तयति**] दूर रखता है [**सः**] वह आत्मा [**प्रतिक्रमणं**] प्रतिक्रमण करता है।

शुभ और अशुभ अनेकविध, के कर्म पूरव जो किये ।
उनसे निवर्ते आत्मको, वो आतमा प्रतिक्रमण है ॥ ३८३ ॥

शुभ अरु अशुभ भावी करमका बंध हो जिन भावमें ।
उनसे निवर्तन जो करे वो आतमा पचखाण है ॥ ३८४ ॥

शुभ और अशुभ अनेकविध हैं उदित जो इस कालमें ।
उन दोषको जो चेतता, आलोचना वह जीव है ॥ ३८५ ॥

पचखाण नित्य करे अरु प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे ।
नित्यहि करे आलोचना वो आतमा चारित्र है ॥ ३८६ ॥

कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत् ।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥ ३८४ ॥
यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषम् ।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥ ३८५ ॥
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च ।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥ ३८६ ॥

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति स तत्कारणभूतं पूर्वकर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति । स एव तत्कार्यभूत-

---

[**भविष्यत्**] भविष्यकालका [**यद्**] जो [**शुभं अशुभं कर्म**] शुभअशुभ कर्म [**यस्मिन् भावे च**] जिस भावमें [**बध्यते**] बंधता है [**तस्मात्**] उस भावसे [**यः**] जो आत्मा [**निवर्तते**] निवृत्त होता है, [**सः चेतयिता**] वह आत्मा [**प्रत्याख्यानं भवति**] प्रत्याख्यान है ।

[**संप्रति च**] वर्तमान कालमें [**उदीर्णं**] उदयागत [**यद्**] जो [**अनेकविस्तरविशेषं**] अनेक प्रकार के विस्तार वाला [**शुभं अशुभं**] शुभ और अशुभ कर्म है [**तं दोषं**] उस दोष को [**यः**] जो आत्मा [**चेतयते**] चेतता है—अनुभव करता है—ज्ञाता भावसे जान लेता है (अर्थात् उसके स्वामित्व-कर्तृत्वको छोड़ देता है), [**सः चेतयिता**] वह आत्मा [**खलु**] वास्तव में [**आलोचनं**] आलोचना है ।

[**यः**] जो [**नित्यं**] सदा [**प्रत्याख्यानं करोति**] प्रत्याख्यान करता है, [**नित्यं प्रतिक्रामति च**] सदा प्रतिक्रमण करता है [**नित्यं आलोचयति**] और सदा आलोचना करता है, [**सः चेतयिता**] वह आत्मा [**खलु**] वास्तव में [**चरित्रं भवति**] चारित्र है ।

टीका:—जो आत्मा पुद्गलकर्मके विपाक (उदय) से हुये भावोंसे अपनेको छुड़ाता है (—दूर रखता है), वह आत्मा उन भावोंके कारणभूत पूर्वकर्मोंको (भूतकालके कर्मोंको) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है; वही आत्मा, उन भावोंके कार्यभूत उत्तर कर्मोंको (भविष्यकालके कर्मोंको) प्रत्याख्यानरूप करता हुआ प्रत्याख्यान है, वही आत्मा वर्तमान कर्मविपाक को अपनेसे (—आत्मासे) अत्यन्त भेद पूर्वक अनुभव करता हुआ, आलोचना है । इसप्रकार

मुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यानं भवति । स एव वर्तमानकर्मविपाकमात्मनो-ऽत्यंतभेदेनोपलभमानः आलोचना भवति । एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्, नित्यं प्रत्याचक्षाणो नित्यमालोचयंश्च पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तरकर्मकारणेभ्यो भावेभ्योऽत्यंतं निवृत्तः, वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरंतरचरणाच्चारित्रं भवति । चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः ।

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ॥ २२४ ॥ (उपजाति)

वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ और सदा आलोचना करता हुआ, पूर्व कर्मोंके कार्यरूप और उत्तर कर्मोंके कारणरूप भावोंसे अत्यन्त निवृत्त होता हुआ, वर्तमान कर्म विपाकको अपनेसे (–आत्मासे) अत्यंत भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, अपनेमें ही–ज्ञानस्वभावमें ही–निरंतर आचरण करनेसे चारित्र है (अर्थात् स्वयं ही चारित्र-स्वरूप है) । और चारित्र स्वरूप होता हुआ अपनेको–ज्ञानमात्रको चेतता–(अनुभव करता) है इसलिये (वह आत्मा) स्वयं ही ज्ञानचेतना है, ऐसा आशय है ।

भावार्थः—चारित्रमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका विधान है । उसमें, पहले लगे हुए दोषोंसे आत्माको निवृत्त करना सो प्रतिक्रमण है, भविष्यमें दोष लगानेका त्याग करना सो प्रत्याख्यान है, और वर्तमान दोषसे आत्माको पृथक् करना सो आलोचना है । यहाँ निश्चयचारित्रको प्रधान करके कथन है; इसलिये निश्चयसे विचार करने पर, जो आत्मा त्रिकालके कर्मोंसे अपनेको भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है । इसप्रकार प्रतिक्रमण स्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्माका निरंतर अनुभवन ही निश्चय चारित्र है । जो यह निश्चय चारित्र है, वही ज्ञान चेतना (ज्ञानका अनुभवन) है । उसी ज्ञानचेतनासे साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है ।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते है, जिसमें ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना (कर्मचेतना और कर्मफल चेतना) का फल प्रगट करते है —

अर्थः—निरन्तर ज्ञानकी संचेतनासे ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है; और अज्ञानकी संचेतनासे बंध दौड़ता हुआ ज्ञानकी शुद्धता को रोकता है, अर्थात् ज्ञानकी शुद्धता नहीं होने देता ।

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ३८७ ॥
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ३८८ ॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ३८९ ॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम् ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥ ३८७ ॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम् ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥ ३८८ ॥
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥ ३८९ ॥

भावार्थः—किसी (वस्तु) के प्रति एकाग्र होकर उसीका अनुभवरूप स्वाद लिया करना सो वह उसका संचेतन कहलाता है। ज्ञानके प्रति ही एकाग्र उपयुक्त होकर उस ओर ही ध्यान रखना सो ज्ञानका संचेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है। उससे ज्ञान अत्यन्त [शुद्ध] होकर प्रकाशित होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण ज्ञान-चेतना कहलाती है।

अज्ञानरूप (अर्थात् कर्मरूप और कर्मफलरूप) उपयोगको करना, उसीकी ओर (—कर्म और कर्मफलकी ओर ही—) एकाग्र होकर उसीका अनुभव करना, सो अज्ञानचेतना है। इससे कर्मका बन्ध होता है, जो बन्ध ज्ञानकी शुद्धताको रोकता है ॥ ३८३–३८६ ॥

अब इसीको गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

जो कर्मफलको वेदता जिव कर्मफल निजरुप करे ।
वो पुनः बांधे अष्टविधके कर्मको-दुखबीज को ॥ ३८७ ॥
जो कर्मफलको वेदता जाने करमफल मैं किया ।
वो पुनः बांधे अष्टविधके कर्मको-दुखबीज को ॥ ३८८ ॥
जो कर्मफलको वेदता जिव सुखी दुःखी होय है ।
वो पुनः बांधे अष्टविधके कर्मको-दुखबीज को । ३८९ ॥

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना। सा द्विधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना। ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना। सा तु समस्तापि संसारबीजं। संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्। ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या। तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति—

गाथा ३८७ से ३८९

अन्वयार्थः—[**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्मके फलका वेदन करता हुआ [**यः तु**] जो आत्मा [**कर्मफलं**] कर्मफलको [**आत्मानं करोति**] निजरूप करता (–मानता) है, [**सः**] वह [**पुनरपि**] फिरसे [**अष्टविधं तद्**] आठ प्रकारके कर्मको– [**दुःखस्य बीजं**] दुःखके बीजको–[**बध्नाति**] बांधता है।

[**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्मके फलका वेदन करता हुआ [**यः तु**] जो आत्मा [**कर्मफलं मयाकृतं जानाति**] यह जानता (मानता) है कि 'कर्मफल मैंने किया है,' [**सः**] वह [**पुनरपि**] फिरसे [**अष्टविधं तद्**] आठ प्रकारके कर्मको–[**दुःखस्य बीजं**] दुःखके बीजको– [**बध्नाति**] बांधता है।

[**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्मफलको वेदन करता हुआ [**यः चेतयिता**] जो आत्मा [**सुखितः दुःखितः च**] सुखी और दुःखी [**भवति**] होता है, [**सः**] वह [**पुनरपि**] फिरसे [**अष्टविधं तद्**] आठ प्रकारके कर्मको–[**दुःखस्य बीजं**] दुःखके बीजको–[**बध्नाति**] बांधता है।

टीकाः—ज्ञानसे अन्य (–भावों) में ऐसा चेतना (–अनुभव करना) कि 'यह मैं हूँ,' सो अज्ञानचेतना है। वह दो प्रकारकी है—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उसमें, ज्ञानसे अन्य (–भावों) में ऐसा चेतना कि 'इसको मैं करता हूँ,' सो कर्मचेतना है; और ज्ञानसे अन्य में ऐसा चेतना कि 'इसे मैं भोगता हूँ,' सो कर्मफलचेतना है। वह समस्त अज्ञान चेतना संसार का बीज है,; क्योंकि संसारके बीजभूत आठ प्रकारके (–ज्ञानावरणादि) कर्म, उनका बीज वह अज्ञानचेतना है (अर्थात् उससे कर्मोंका बंध होता है)। इसलिये मोक्षार्थी पुरुषको अज्ञानचेतनाका प्रलय करनेके लिये सकल कर्मोंके संन्यास (–त्याग) की भावनाको तथा सकल कर्मफलके संन्यास की भावनाको नचाकर, स्वभावभूत ऐसी भगवतीचेतनाको ही एक को सदा नचाना चाहिये।

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलंबे ॥ २२५ ॥ (आर्या)

यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । १ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ५ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ६ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वं-

---

इसमें पहले, सकलकर्मोंके संन्यासकी भावनाको नचाते है.—

(वहाँ प्रथम. काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—त्रिकालके (–अर्थात्, अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी) समस्त कर्मको कृत–कारित–अनुमोदनासे और मन–वचन–कायसे त्याग करके मैं परम नैष्कर्म्यका (–उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्थाका) अवलम्बन करता हूँ। (इसप्रकार, समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।) (अब टीकामें प्रथम, प्रतिक्रमण–कल्प अर्थात् प्रतिक्रमणकी विधि कहते हैं.—)

(प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि —)

जो मैंने (अतीतकालमें कर्म) किया कराया और दूसरे करते हुए का अनुमोदन किया. मनसे वचनसे. तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। (कर्म करना, कराना और अन्य करनेवालेका अनुमोदन करना संसारका बीज है, यह जानकर उस दुष्कृतके प्रति हेय-बुद्धि आई तब जीवने उसके प्रतिका ममत्व छोडा, सो यही उसका मिथ्या करना है।) । १ ।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया. कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । २ । जो मैंने किया. कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया. मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३ । जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचनसे तथा कायसे. वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४ ।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया. कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मनसे. वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ५ । जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनु-

तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ७ । यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ८ । यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृत-मिति । ९ । यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । १० । यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ११ । यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं सम-न्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । १२ । यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।१३। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति। १४ । यदह-मकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । १५ । यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च तन्मि-थ्या मे दुष्कृतमिति । १६ । यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । १७ । यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । १८ । यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं

मोदन किया, वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ६ । जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ७ ।

जो मैंने किया और कराया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ८ । जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मनसे, वचनसे और कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ९ । जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, बचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १० ।

जो मैंने (अतीत काल में) किया और कराया मन से तथा बचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ११ । जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १२ । जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १३ । जो मैंने किया और कराया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १४ । जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १५ । जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काया से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १६ । जो मैंने किया और कराया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १७ । जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा

वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । १९ । यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २० । यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २१ । यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २२ । यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २३ । यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २४ । यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २५ । यदहमकार्षं यदचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २६ । यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २७ । यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २८ । यदहमकार्षं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । २९ । यदचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३० । यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३१ । यदहमकार्षं

काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १८ । जो मैंने कराया तथ अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १६ ।

जो मैंने (अतीत कालमे) किया और कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।२०। जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मनसे. वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।२१। जो मैंने कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।२२। जो मैंने किया और कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । २३ । जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। । २४ । जो मैंने कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । २५ । जो मैंने किया और कराया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । २६ । जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । २७ । जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । २८ ।

जो मैंने (अतीत काल मे) किया मन से, वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । २९ । जो मैंने कराया मन से, वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३० । जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३१ ।

मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३२ । यदहमचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३३ । यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३४ । यदहमकार्षं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३५ । यदहमचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३६ । यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३७ । यदहमकार्षं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३८ । यदहमचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३९ । यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४० । यदहमकार्षं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४१ । यदहमचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४२ । यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४३ । यदहमकार्षं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४४ । यदहमचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४५ । यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४६ । यदहमकार्षं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४७ । यदहमचीकरं कायेन च तन्मिथ्या

जो मैंने (अतीत काल में) किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३२ । जो मैंने कराया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३३ । मैंने जो अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३४ । जो मैंने किया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३५ । जो मैंने कराया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३६ । जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३७ । जो मैंने किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३८ । जो मैंने कराया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३९ । जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४० ।

जो मैंने (अतीत काल में) किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४१ । जो मैंने कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४२ । जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४३ । जो मैंने किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४४ । जो मैंने कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४५ । जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४६ । जो मैंने किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४७ । जो मैंने कराया काया से, वह मेरा दुष्कृत

मे दुष्कृतमिति । ४८ । यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ४९ ।

मिथ्या हो । ४८ । जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४९ ।

(इन ४९ भंगोंके भीतर, पहले भंग मे कृत, कारित, अनुमोदना–ये तीन लिये है और उनपर मन,वचन,काय –ये तीन लगाये हैं। इसप्रकार बने हुए इस एक भंगको '३३'*की समस्या से–संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। २ से ४ तकके भंगो मे कृत, कारित, अनुमोदना के तीनो लेकर उनपर मन, वचन, काय मे से दो दो लगाए हैं। इसप्रकार बने हुए इन तीन भंगो को '३२'[1] की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ५ से ७ तकके भंगों मे कृत, कारित, अनुमोदना के तीनो लेकर उनपर मन, वचन, काय मे से एक एक लगाया है। इन तीन भंगो को '३१' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तकके भगो मे कृत, कारित, अनुमोदनामें से दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनो लगाए हैं। इन तीन भंगो को '२३' की संज्ञा वाले भंगोंके रूप में पहिचाना जा सकता है। ११ से १९ तकके भंगो मे कृत, कारित, अनुमोदनामे से दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमे से दो दो लगाये हैं। इन नौ भंगोको '२२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तकके भंगोमे कृत, कारित, अनुमोदनामे से दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमे से एक एक लगाया है। इन नौ भगोको '२१' की संज्ञावाले भंगोंके रूपमें पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ तकके भंगोमे कृत कारित, अनुमोदनामे से एक एक लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनो लगाये हैं। इन तीन भंगोको '१३' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ३२ से ४० तकके भंगोमे कृत, कारित, अनुमोदनामें से एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमें से दो दो लगाये हैं। इन नौ भगोको '१२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकना है। ४१ से ४९ तकके भंगोमे कृत, कारित, अनुमोदना मे से एक एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमे से एक एक लगाया है। इन नौ भंगोको '११' की संज्ञासे पहिचाना जा सकना है। इसप्रकार सब मिलाकर ४९ भंग हुये।)

---

* कृत, कारित, अनुमोदना–यह तीनों लिये गये हैं सो इन्हें बतानेके लिये पहले '३' का अंक रखना चाहिये और फिर मन, वचन काय–यह तीन लिये हैं सो इन्हें बतानेके लिये उसीके पास दूसरा '३' का अंक रखना चाहिये। इसप्रकार यह '३३' की समस्या हुई।

१—कृत, कारित, अनुमोदना तीनों लिये हैं, यह बतानेके लिये पहले '३' का अंक रखना चाहिये और फिर मन, वचन, कायमें से दो लिये हैं यह बतानेके लिये '३' के पास '२' का अंक रखना चाहिये। इसप्रकार '३२' की संज्ञा हुई।

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२६ ॥ (आर्या)

* इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः *

न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति । १ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति । २ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति । ३ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा कायेन चेति । ४ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति । ५ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

अर्थः—मैंने जो मोहसे अथवा अज्ञानसे कर्म किये है, उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण करके मै निष्कर्म (समस्त कर्मोसे रहित) चैतन्य स्वरूप आत्मामे आत्मासे ही (निजसे ही) निरंतर वर्त रहा हूँ (इसप्रकार ज्ञानी अनुभव करता है) ।

भावार्थः—भूतकालमें किये गये कर्मको ४९ भंग पूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होकर निरंतर चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव करे, इसकी यह विधि है ।'मिथ्या' कहने का प्रयोजन इसप्रकार है:—जैसे,किसीने पहले धन कमाकर घरमे रख छोड़ा था; और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा; उस समय, भूतकालमे जो धन कमाया था वह नहीं कमानेके समान ही है; इसीप्रकार,जीवने पहले कर्मबन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फलमें लीन न हुआ, तब भूतकालमें जो कर्म बांधा था वह नहीं बांधने के समान मिथ्या ही है ।

इसप्रकार प्रतिक्रमण-कल्प (प्रतिक्रमणकी विधि) समाप्त हुआ । (अब टीकामे आलोचना कल्प कहते है:—)

मै (वर्तमानमे कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे वचनसे तथा कायसे । १ ।

मैं (वर्तमानमें कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा वचनसे । २ । मै न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा कायसे । ३ । मै न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ वचनसे तथा कायासे । ४ ।

मै न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे ।५।

चेति । ६ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति । ७ । न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति । ८ । न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति । ९ । न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति । १० । न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा चेति । ११ । न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति । १२ । न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति । १३ । न करोमि न कारयामि मनसा च कायेन चेति । १४ । न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति । १५ । न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति । १६ । न करोमि न कारयामि वाचा च कायेन चेति । १७ । न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति । १८ । न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति । १९ । न करोमि न कारयामि मनसा चेति । २० । न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति । २१ । न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति । २२ । न करोमि न कारयामि वाचा चेति । २३ ।

मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे । ६ । मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, कायासे । ७ ।

न मैं करता हूँ न कराता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायासे । ८ । न तो मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ मनसे वचनसे तथा कायासे । ९ । न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायासे । १० ।

न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे तथा वचनसे । ११ । न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा वचनसे । १२ । न तो मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा वचनसे । १३ । न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे तथा कायासे । १४ । न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा कायासे । १५ । न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा कायासे । १६ । न मैं करता हूँ, न कराता हूँ वचनसे तथा कायासे । १७ । न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे तथा कायासे । १८ । न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे तथा कायासे । १९ ।

न तो मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे । २० । न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे । २१ । न मैं कराता हूँ न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे । २२ । न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, वचनसे । २३ । न मैं करता हूँ, न अन्य करते

न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति । २४ । न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति । २५ । न करोमि न कारयामि कायेन चेति । २६ । न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति । २७ । न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति । २८ । न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति । २९ । न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति । ३० । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति । ३१ । न करोमि मनसा च वाचा चेति । ३२ । न कारयामि मनसा च वाचा चेति ।३३। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति । ३४ । न करोमि मनसा च कायेन चेति । ३५ । न कारयामि मनसा च कायेन चेति । ३६ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति । ३७ । न करोमि वाचा च कायेन चेति । ३८ । न कारयामि वाचा च कायेन चेति । ३९ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति । ४० । न करोमि मनसा चेति । ४१ । न कारयामि मनसा चेति । ४२ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति । ४३ । न करोमि वाचा चेति । ४४ । न कारयामि वाचा चेति । ४५ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि

हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे । २४ । न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे । २५ । न मै करता हूँ, न कराता हूँ, काया से । २६ । न मै करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, कायासे । २७ । न मै कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, कायासे । २८ ।

न मैं करता हूँ मनसे, वचनसे तथा कायासे । २९ । न मै कराता हूँ मनसे, वचनसे तथा कायासे । ३० । मै अन्य करते हुएका अनुमोदन नही करता मनसे, वचनसे तथा कायासे । ३१ ।

न तो मै करता हूँ मनसे तथा वचनसे । ३२ । न मै कराता हूँ मनसे तथा वचनसे । ३३ । न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मनसे तथा वचन से । ३४ । न मै करता हूँ मनसे तथा कायासे । ३५ । न मै कराता हूँ मनसे तथा कायासे । ३६ । न मैं अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूँ मनसे तथा कायासे । ३७ । न मै करता हूँ वचनसे तथा कायासे ।३८। न मैं कराता हूँ वचनसे तथा कायासे । ३९ । न मै अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ वचन से तथा कायासे । ४० ।

न मै करता हूँ मनसे । ४१ । न मै कराता हूँ मनसे । ४२ । न मै अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ मनसे । ४३ । न मै करता हूँ वचनसे । ४४ । न मै कराता हूँ वचनसे ।४५।

वाचा चेति । ४६ । न करोमि कायेन चेति । ४७ । न कारयामि कायेन चेति । ४८ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति । ४९ ।

मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२७ ॥ (आर्या)

※ इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः ※

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति । १ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति । २ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति । ३ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति । ४ । न करिष्यामि न कार-

---

न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ वचनसे । ४६ । न मैं करता हूँ कायासे । ४७ । न मैं कराता हूँ कायासे । ४८ । न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ कायासे । ४९ । (इसप्रकार, प्रतिक्रमणके समान आलोचनामें भी ४९ भंग कहे ।)

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं.—

अर्थ.—(निश्चयचारित्रको अंगीकार करनेवाला कहता है कि—) मोहके विलाससे फैला हुआ जो यह उदयमान (उदयमें आता हुआ) कर्म, उस सबकी आलोचना करके मैं निष्कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही निरंतर वर्त रहा हूँ ।

भावार्थ—वर्तमान कालमें कर्मका उदय आता है. उसके विषय में ज्ञानी यह विचार करता है कि पहले जो कर्म बाधा था उसका यह कार्य है, मेरा नहीं । मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हूं । उसकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है । उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्तिके द्वारा मैं इस उदयागत कर्मको देखने–जाननेवाला हूँ । मैं अपने स्वरूपमें ही प्रवर्तमान हूँ । ऐसा अनुभव करना ही निश्चय चारित्र है ।

इसप्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ ।

अब टीकामें प्रत्याख्यानकल्प (अर्थात् प्रत्याख्यानकी विधि) कहते हैं । प्रत्याख्यान करनेवाला कहता है कि—

मैं (भविष्यमें कर्म) न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा मनसे, वचनसे तथा कायसे । १ । मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, मनसे तथा वचनसे । २ । मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, मनसे तथा कायसे । ३ । मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, वचनसे तथा कायसे । ४ ।

यिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ।५। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ।६। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ।७। न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।८। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन च ।९। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्य-न्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।१०। न करिष्यामि न कार-यिष्यामि मनसा च वाचा चेति ।११। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञा-स्यामि मनसा च वाचा चेति ।१२। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञा-स्यामि मनसा च वाचा चेति ।१३। न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति ।१४। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ।१५। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ।१६। न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति ।१७। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ।१८। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ।१९। न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा चेति ।२०। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं

मै न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, मनसे ।५। मै न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, वचनसे ।६। मै न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, कायसे ।७।

मै न तो करूंगा, न कराऊंगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे ।८। मै न तो करूंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे ।९। मै न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे ।१०।

मै न तो करूंगा, न कराऊंगा, मनसे तथा वचनसे ।११। मै न तो करूंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, मनसे तथा वचनसे ।१२। मै न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा. मनसे तथा वचनसे ।१३। मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, मनसे तथा कायसे ।१४। मै न तो करूंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, मनसे तथा कायसे ।१५। मै न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, मनसे तथा कायसे ।१६। मै न तो करूंगा, न कराऊंगा, वचनसे तथा कायसे ।१७। मै न तो करूंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, वचनसे तथा कायसे ।१८। मै न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा, वचन से तथा कायसे ।१९।

मै न तो करूंगा, न कराऊंगा, मनसे । २० । मै न तो करूंगा, न अन्य करते हुयेका

समनुज्ञास्यामि मनसा चेति । २१ । न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति । २२ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा चेति । २३ । न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति । २४ । न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति । २५ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि कायेन चेति । २६ । न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति । २७ । न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति । २८ । न करिष्यामि मनसा वाचा कायेन चेति । २९ । न कारयिष्यामि मनसा वाचा कायेन चेति । ३० । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा वाचा कायेन चेति । ३१ । न करिष्यामि मनसा वाचा चेति । ३२ । न कारयिष्यामि मनसा वाचा चेति । ३३ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा वाचा चेति । ३४ । न करिष्यामि मनसा च कायेन चेति ।३५। न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति । ३६ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति । ३७ । न करिष्यामि वाचा च कायेन चेति । ३८ । न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति । ३९ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति । ४० । न करिष्यामि मनसा

अनुमोदन करूंगा, मनसे । २१ । मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मनसे । २२ । मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, वचनसे । २३ । मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, वचनसे । २४ । मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, वचनसे । २५ । मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, कायसे । २६ । मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, कायसे । २७ । मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, कायसे । २८ ।

मैं न तो करूंगा मनसे, वचनसे तथा कायसे । २९ । मैं न तो कराऊंगा मनसे, वचनसे तथा कायसे । ३० । मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा मनसे, वचनसे तथा कायसे । ३१ ।

मैं न तो करूंगा मनसे तथा वचनसे । ३२ । मैं न तो कराऊंगा मनसे तथा वचनसे । ३३ । मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा मनसे तथा वचनसे । ३४ । मैं न तो करूंगा मनसे तथा कायसे । ३५ । मैं न तो कराऊंगा मनसे तथा कायसे । ३६ । मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा मनसे तथा कायसे ।३७। मैं न तो करूंगा वचनसे तथा कायसे । ३८ । मैं न तो कराऊंगा वचनसे तथा कायसे । ३९ । मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा वचनसे तथा कायसे । ४० ।

चेति । ४१ । न कारयिष्यामि मनसा चेति ।४२। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ।४३। न करिष्यामि वाचा चेति । ४४ । न कारयिष्यामि वाचा चेति । ४५ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति । ४६ । न करिष्यामि कायेन चेति । ४७ । न कारयिष्यामि कायेन चेति ।४८। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति । ४९ !

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥ (आर्या)

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः ।

मैं न तो करूंगा मनसे । ४१ । मैं न तो कराऊंगा मनसे । ४२ । मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा मनसे । ४३ । मैं न तो करूंगा वचनसे । ४४ । मैं न तो कराऊंगा वचनसे । ४५ । मै न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा वचनसे । ४६ । मैं न तो करूंगा कायसे । ४७ । मै न तो कराऊंगा कायसे । ४८ । मै न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा कायसे । ४८ । (इसप्रकार प्रतिक्रमणके समान ही प्रत्याख्यानमें भी ४९ भंग कहे)

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि:—) भविष्यके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान (त्याग) करके, जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामे आत्मासे ही निरंतर वर्त रहा हूँ ।

भावार्थः— निश्चयचारित्रमें प्रत्याख्यानका विधान ऐसा है कि—समस्त आगामी कर्मों से रहित, चैतन्यकी प्रवृत्तिरूप (अपने) शुद्धोपयोगमें रहना सो प्रत्याख्यान है । इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूपमें रहता है ।

यहां तात्पर्य इसप्रकार जानना चाहिये:—व्यवहारचारित्रमें प्रतिज्ञामें जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है । यहाँ निश्चय चारित्रकी प्रधानतासे कथन है इसलिये शुद्धोपयोगसे विपरीत सर्वकर्म आत्माके दोषस्वरूप है । उन समस्त कर्म-चेतनास्वरूप परिणामोंका—तीनों कालके कर्मोका—प्रतिक्रम, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्वकर्मचेतनासे भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्माके ज्ञान—श्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होनेके विधान द्वारा निष्प्रमाददशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करनेके सन्मुख होता है । यह, ज्ञानीका कार्य है ।

इसप्रकार प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ ।

अब समस्त कर्मोके संन्यास (—त्याग) की भावनाको नचानेके सम्बन्धका कथन समाप्त करते हुए, कलशरूप काव्य कहते हैं:—

ममत्वमित्येवमपास्य कर्म
त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी ।
विलीनमोहो रहितं विकारै-
श्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ॥ २२९ ॥ (उपजाति)

अथ सकलकर्मफलसंन्यासभावनां नाटयति

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥ २३० ॥ (आर्या)

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । १ । नाहं श्रुतज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । २ । नाहमवधि-

---

अर्थः—(शुद्धनय का आलम्बन करनेवाला कहता है कि—) पूर्वोक्त प्रकारसे तीनों कालके समस्त कर्मोंको दूर करके शुद्धनयावलम्बी और विलीनमोह (अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है) ऐसा मैं अब सर्व विकारोंसे रहित चैतन्यमात्र आत्माका अवलम्बन करता हूँ।

अब समस्त कर्मफल सन्यास की भावनाको नचाते हैं:—

(उसमें प्रथम, उस कथनके समुच्चय अर्थका काव्य कहते हैं.—)

अर्थ —(समस्त कर्मफलकी सन्यासभावनाका करनेवाला कहता है कि—) कर्मरूपी विषवृक्षके फल मेरे द्वारा भोगे विना ही खिर जायें. मैं (अपने) चैतन्यस्वरूप आत्माका निश्चलतया सञ्चेतन—अनुभव करता हूँ।

भावार्थ.—ज्ञानी कहता है कि—जो कर्म उदयमें आता है उसके फलको मैं ज्ञाता-दृष्टारूपसे देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता, इसलिये मेरे द्वारा भोगे विना ही वे कर्म खिर जायें, मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मामें लीन होता हुआ उसका ज्ञाता—दृष्टा ही होऊं।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि—अविरत देशविरत तथा प्रमत्तसंयत दशामें ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है, और जब जीव अप्रमत्तदशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है।

ज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३ । नाहं मनःपर्यय-ज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४ । नाहं केवलज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ५ । नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ६ । नाहमचक्षुर्दर्शनावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७ । नाहमवधिदर्शनावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ८ । नाहं केवलदर्शनावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ९ । नाहं निद्रादर्शनावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१०। नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ११ । नाहं प्रचलादर्शनावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । १२ । नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । १३ । नाहं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१४। नाहं सातवेदनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १५। नाहमसातवेदनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । १६ । नाहं सम्यक्त्वमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । १७ । नाहं मिथ्यात्वमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । १८ । नाहं सम्यक्त्वमिथ्या-

---

अवधिज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं । ३ । मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं । ४ । मैं केवलज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूं । ५ ।

मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं । ६ । मैं अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य० । ७ । मैं अवधिदर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । ८ । मैं केवलदर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य० । ९ । मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य० । १० । मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मके, चैतन्य० । ११ । मैं प्रचलादर्शनावरणीय-कर्मके०, चैतन्य० । १२ । मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । १३ । मैं स्त्यान-गृद्धिदर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । १४ ।

मैं सातावेदनीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं । १५ । मैं असातावेदनीयकर्मके०, चैतन्य० । १६ ।

मैं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं । १७ । मैं मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । १८ । मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय-

त्वमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । १९ । नाहं अनंतानुबंधिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । २० । नाहं अप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । २१ । नाहं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । २२ । नाहं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । २३ । नाहमनंतानुबंधिमानकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । २४ । नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । २५ । नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । २६ । नाहं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।२७। नाहमनंतानुबंधिमायाकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।२८। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।२९। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ३० । नाहं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ३१ । नाहमनंतानुबंधिलोभकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ३२ । नाहमप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ३३ । नाहं प्रत्याख्यानावरणीय-

---

कर्मके०, चैतन्य० । १९ । मैं अनन्तानुबन्धिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २० । मैं अप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २१ । मैं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २२ । मैं संज्वलक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । २३ । मैं अनन्तानुबंधीमानकषाय वेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । २४ । मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमानकषाय वेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । २५ । मैं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषाय वेदनीयमोहनीयकर्म के० चैतन्य० । २६ । मैं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । २७ । मैं अनन्तानुबंधीमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । २८ । मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । २९ । मैं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ३० । मैं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ३१ । मैं अनन्तानुबंधीलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ३२ । मैं अप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषाय वेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ३३ । मैं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य०

लोभकपायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ३४ । नाहं संज्वलनलोभकपायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।३५। नाहं हास्यनोकपायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ३६ । नाहं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ३७ । नाहं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ३८ । नाहं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ३९ । नाहं भयनोकपायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४० । नाहं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४१ । नाहं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४२ । नाहं पुंवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४३ । नाहं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४४ । नाहं नरकायुःफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४५ । नाहं तिर्यगायुःफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४६ । नाहं मानुषायुःफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४७ । नाहं देवायुःफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४८ । नाहं नरकगतिनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ४९ । नाहं तिर्यग्गतिनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ५० । नाहं मनुष्य-

---

। ३४ । मैं संज्वलनलोभकपायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ३५ । मैं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ३६ । मैं रतिनोकपायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ३७ । मैं अरतिनोकपायवेदनीयमोहनीयकर्म के० चैतन्य० । ३८ । मैं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ३९ । मैं भयनोकपायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ४० । मैं जुगुप्सानोकपायवेदनीयमोहनीयकर्म के० चैतन्य० । ४१ । मैं स्त्रीवेदनोकपायवेदनीयमोहनीयकर्म के० चैतन्य० । ४२ । मैं पुरुपवेदनोकपायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ४३ । मैं नपुंसकवेदनोकपायवेदनीयमोहनीयकर्म के०, चैतन्य० । ४४ ।

मैं नरकायुकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ४५ । मैं तिर्यंचायुकर्म के०, चैतन्य० । ४६ । मैं मनुष्यायुकर्म के०, चैतन्य० । ४७ । मैं देवायुकर्म के० चैतन्य० । ४८ ।

मैं नरकगतिनामकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ४९ । मैं तिर्यंचगतिनामकर्म के०, चैतन्य० । ५० । मैं मनुष्यगतिनामकर्म के०, चैतन्-

गतिनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।५१। नाहं देवगतिनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ५२ । नाहमेकेंद्रियजातिनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ५३ । नाहं द्वींद्रियजातिनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सचेतये । ५४ । नाहं त्रींद्रियजातिनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सचेतये । ५५ । नाहं चतुरिंद्रियजातिनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ५६ । नाहं पंचेन्द्रियजातिनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ५७ । नाहमौदारिकशरीरनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सचेतये । ५८ । नाहं वैक्रियिकशरीरनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ५९ । नाहमाहारकशरीरनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ६० । नाहं तैजसशरीरनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ६१ । नाहं कार्मणशरीरनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।६२। नाहमौदारिकशरीरांगोपांगनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सचेतये । ६३ । नाहं वैक्रियकशरीरांगोपांगनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ६४ । नाहमाहारकशरीरांगोपांगनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सचेतये । ६५ । नाहमौदारिकशरीरबंधननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ६६ । नाहं वैक्रियिकशरीरबंधननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ६७ । नाहमाहारकशरीरबंधननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ६८ । नाहं तैजसशरीरबंधननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ६९ । नाहं कार्मणशरीर-

---

न्य० । ५१ । मैं देवगतिनामकर्म के०, चैतन्य० । ५२ । मैं एकेन्द्रियजातिनामकर्म के० चैतन्य० । ५३ । मैं द्वीन्द्रियजातिनामकर्म के०, चैतन्य० । ५४ । मैं त्रीन्द्रियजातिनामकर्म के०, चैतन्य० । ५५ । मैं चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म के०, चैतन्य० । ५६ । मैं पंचेन्द्रियजातिनामकर्म के०, चैतन्य० । ५७ । मैं औदारिकशरीरनामकर्म के० चैतन्य० । ५८ । मैं वैक्रियिकशरीरनामकर्म के०, चैतन्य० । ५९ । मैं आहारकशरीरनामकर्म के०, चैतन्य० । ६० । मैं तैजसशरीरनामकर्म के०, चैतन्य० । ६१ । मैं कार्मणशरीरनामकर्म के०, चैतन्य० । ६२ । मैं औदारिकशरीरअंगोपांगनामकर्म के०, चैतन्य० । ६३ । मैं वैक्रियिकशरीरअंगोपांगनामकर्म के०, चैतन्य० । ६४ । मैं आहारकशरीरअंगोपांगनामकर्म के०, चैतन्य० । ६५ । मैं औदारिकशरीरबंधननामकर्म के०, चैतन्य० । ६६ । मैं वैक्रियिकशरीर बंधननामकर्म के०, चैतन्य० । ६७ । मैं आहारकशरीर बंधननामकर्म के०, चैतन्य० । ६८ । मैं तैजसशरीर बंधननामकर्म के०, चैतन्य० । ६९ । मैं कार्मणशरीरबंधननामकर्म के०, चैतन्य० । ७० । मैं औदारिकसंघात नामकर्म के०, चैतन्य०

बंधननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७० । नाहमौदारिकशरीरसंघातनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७१ । नाहं वैक्रियिकशरीरसंघातनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।७२। नाहमाहारकशरीरसंघातनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७३ । नाहं तैजसशरीरसंघातनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७४ । नाहं कार्माणशरीरसंघातनामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७५ । नाहं समचतुरस्रसंस्थाननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७६ । नाहं न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७७ । नाहं सातिसंस्थाननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७८ । नाहं कुब्जसंस्थाननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ७९ । नाहंवामननामसंस्थाननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सचेतये । ८० । नाहं हुंडकसंस्थाननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ८१ । नाहं वज्रर्षभनाराचसंहनननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ८२ । नाहं वज्रनाराचसंहनननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ८३ । नाहं नाराचसंहनननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ८४। नाहमर्धनाराचसंहनननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ८५ । नाहं कीलिकासंहनननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ८६ । नाहमसंप्राप्तासृपाटिकासंहनननामफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये । ८७ । नाहं स्निग्धस्पर्शनामफलं भुंजे चैतन्या० । ८८ । नाहं रूक्षस्पर्शनामफलं भुंजे चैतन्या० । ८९ । नाहं शीतस्पर्श-

---

। ७१ । मैं वैक्रियिकशरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० । ७२ । मै आहारकशरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० । ७३ । मै तैजसशरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० । ७४ । मै कार्माणशरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० । ७५ । मै समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० । ७६ । मै न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० । ७७ । मैं सातिसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० । ७८ । मैं कुब्जकसंस्थाननामकर्म के०, चैतन्य० । ७९ । मै वामनसंस्थाननामकर्म के०, चैतन्य० । ८० । मै हुंडकसंस्थाननामकर्म के०, चैतन्य० । ८१ । मै वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्म के०, चैतन्य० । ८२ । मैं वज्रनाराचसंहनननामकर्म के०, चैतन्य० । ८३ । मै नाराचसंहनननामकर्म के०, चैतन्य० । ८४ । मैं अर्धनाराचसंहनननामकर्म के०, चैतन्य । ८५ । मै कीलिकासंहनननामकर्म के०, चैतन्य० । ८६ । मैं असंप्राप्तासृपाटिकासंहनननामकर्म के०, चैतन्य० । ८७ । मै स्निग्धस्पर्शनामकर्म के०, चैतन्य० । ८८ । मै रूक्षस्पर्श-

नामफलं भुंजे चैतन्या० । ९० । नाहमुष्णस्पर्शनामफलं भुंजे चैतन्या० । ९१ । नाहं गुरुस्पर्शनामफलं भुंजे चैतन्या० । ९२ । नाहं लघुस्पर्शनामफलं भुंजे चैतन्या० । ९३ । नाहं मृदुस्पर्शनामफलं भुंजे चैतन्या० । ९४ । नाहं कर्कशस्पर्शनामफलं भुंजे चैतन्या० । ९५ । नाहं मधुररसनामफलं भुंजे चैतन्या० । ९६ । नाहमाम्लरसनामफलं भुंजे चैतन्या० । ९७ । नाहं तिक्तरसनामफलं भुंजे चैतन्या० । ९८ । नाहं कटुकरसनामफलं भुंजे चैतन्या० । ९९ । नाहं कषायरसनामफलं भुंजे चैतन्या० । १०० । नाहं सुरभिगंधनामफलं भुंजे चैतन्या० । १०१ । नाहमसुरभिगंधनामफलं भुंजे चैतन्या० । १०२ । नाहं शुक्लवर्णनामफलं भुंजे चैतन्या० । १०३ । नाहं रक्तवर्णनामफलं भुंजे चैतन्या० । १०४ । नाहं पीतवर्णनामफलं भुंजे चैतन्या० । १०५ । नाहं हरितवर्णनामफलं भुंजे चैतन्या० । १०६ । नाहं कृष्णवर्णनामफलं भुंजे चैतन्या० ।१०७। नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामफलं भुंजे चैतन्या० ।१०८। नाहं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामफलं भुंजे चैतन्या० ।१०९। नाहं मनुष्यत्यानुपूर्वीनामफलं भुंजे चैतन्या० । ११० । नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामफलं भुंजे चैतन्या० । १११ । नाहं निर्माणनामफलं भुंजे चैतन्या० । ११२ । नाहमगुरुलघुनामफलं भुंजे चैतन्या० । ११३ । नाहमुपघातनामफलं भुंजे चैतन्या० । ११४ । नाहं परघातनामफलं भुंजे चैतन्या० ।११५। नाहमातपनामफलं भुंजे चैतन्या० ।११६।

नामकर्म के० चैतन्य । ८९ । मैं शीतस्पर्शनामकर्म के०, चैतन्य० । ९० । मैं उष्णस्पर्शनामकर्म के०, चैतन्य० । ९१ । मैं गुरुस्पर्शनामकर्म के०, चैतन्य० । ९२ । मैं लघुस्पर्शनामकर्म के०, चैतन्य० । ९३ । मैं मृदुस्पर्शनामकर्म के०, चैतन्य० । ९४ । मै कर्कशस्पर्शनामकर्म के०, चैतन्य० । ९५ । मैं मधुररसनामकर्म के०, चैतन्य० । ९६ । मैं आम्लरसनामकर्म के०, चैतन्य० । ९७ । मैं तिक्तरसनामकर्म के०, चैतन्य० । ९८ । मैं कटुकरसनामकर्म के०, चैतन्य० । ९९ । मैं कषायरसनामकर्म के०, चैतन्य० । १०० । मैं सुरभिगंधनामकर्म के०, चैतन्य०, । १०१ । मैं असुरभिगंधनामकर्म के०, चैतन्य० । १०२ । मैं शुक्लवर्णनामकर्म के०, चैतन्य० । १०३ । मैं रक्तवर्णनामकर्म के०, चैतन्य० । १०४ । मै पीतवर्णनामकर्म के०, चैतन्य० । १०५ । मैं हरितवर्णनामकर्म के०, चैतन्य० । १०६ । मैं कृष्णवर्णनामकर्म के०, चैतन्य० । १०७ । मैं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्म के०, चैतन्य० । १०८ । मै तिर्यंचगत्यानुपूर्वीनामकर्म के०, चैतन्य० । १०९ । मैं मनुष्य गत्यानुपूर्वीनामकर्म के०, चैतन्य० । ११० । मै देवगत्यानुपूर्वीनामकर्म के०, चैतन्य० । १११ । मैं निर्माण नामकर्म के०, चैतन्य । ११२ । मै अगुरुलघुनामकर्म के०, चैतन्य० । ११३ । मैं उपघातनामकर्म के०, चैतन्य० । ११४ । मै परघातनामकर्म के०, चैतन्य० । ११५ । मैं आत-

नाहमुद्योतनामफलं भुंजे चैतन्या० ।११७। नाहमुच्छ्वासनामफलं भुंजे चैतन्या० ।११८। नाहं प्रशस्तविहायोगतिनामफलं भुंजे चैतन्या० । ११९ । नाहमप्रशस्तविहायोगतिनामफलं भुंजे चैतन्या० । १२० । नाहं साधारणशरीरनामफलं भुंजे चैतन्या० । १२१ । नाहं प्रत्येकशरीरनामफलं भुंजे चैतन्या० । १२२ । नाहं स्थावरनामफलं भुंजे चैतन्या० । १२३ । नाहं त्रसनामफलं भुंजे चैतन्या० । १२४ । नाहं सुभगनामफलं भुंजे चैतन्या० । १२५ । नाहं दुर्भगनामफलं भुंजे चैतन्या० । १२६ । नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० । १२७ । नाहं दुःस्वरनामफलं भुंजे चैतन्या० । १२८ । नाहं शुभनामफलं भुंजे चैतन्या० । १२९ । नाहमशुभनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३० । नाहं सूक्ष्मशरीरनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३१ । नाहं बादरशरीरनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३२ । नाहं पर्याप्तनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३३ । नाहमपर्याप्तनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३४ । नाहं स्थिरनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३५ । नाहमस्थिरनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३६ । नाहमादेयनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३७ । नाहमनादेयनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३८ । नाहं यशःकीर्तिनामफलं भुंजे चैतन्या० । १३९ । नाहमयशःकीर्तिनामफलं भुंजे चैतन्या० । १४० । नाहं तीर्थंकरत्वनामफलं भुंजे चैतन्या० । १४१ । नाहमुच्चै-

---

पनामकर्म के०, चैतन्य० ।११६। मैं उद्योतनामकर्म के०, चैतन्य० ।११७। मै उच्छ्वासनामकर्म के०, चैतन्य० । ११८ । मैं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्म के०, चैतन्य० । ११९ । मै अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म के०, चैतन्य० । १२० । मै साधारणशरीरनामकर्म के०, चैतन्य० । १२१ । मैं प्रत्येकशरीरनामकर्म के०, चैतन्य० । १२२ । मै स्थावरनामकर्म के०, चैतन्य० । १२३ । मै त्रसनामकर्म के०, चैतन्य० । १२४ । मै सुभगनामकर्म के०, चैतन्य० । १२५ । मै दुर्भगनामकर्म के०, चैतन्य० । १२६ । मै सुस्वरनामकर्म के०, चैतन्य० । १२७ । मै दुःस्वरनामकर्म के०, चैतन्य० । १२८ । मै शुभनामकर्म के०, चैतन्य० । १२९ । मै अशुभनामकर्म के०, चैतन्य० । १३० । मैं सूक्ष्मशरीरनामकर्म के०, चैतन्य० । १३१ । मैं बादरशरीरनामकर्म के०, चैतन्य० । १३२ । मै पर्याप्तनामकर्म के०, चैतन्य० । १३३ । मै अपर्याप्तनामकर्म के०, चैतन्य० । १३४ । मैं स्थिरनामकर्म के०, चैतन्य० । १३५ । मै अस्थिरनामकर्म के०, चैतन्य० । १३६ । मैं आदेयनामकर्म के०, चैतन्य० । १३७ । मै अनादेयनामकर्म के०, चैतन्य० । १३८ । मैं यशःकीर्तिनामकर्म के०, चैतन्य० । १३९ । मै अयशःकीर्तिनामकर्म के०, चैतन्य० । १४० । मैं तीर्थंकरनामकर्म के०, चैतन्य० । १४१ ।

मैं उच्चगोत्रकर्म के फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता

गोत्रफलं भुंजे चैतन्या० । १४२ । नाहं नीचैर्गोत्रफलं भुंजे चैतन्या० । १४३ । नाहं दानांतरायफलं भुंजे चैतन्या० । १४४ । नाहं लाभांतरायफलं भुंजे चैतन्या० । १४५ । नाहं भोगांतरायफलं भुंजे चैतन्या० । १४६ । नाहमुपभोगांतरायफलं भुंजे चैतन्या० । १४७ । नाहं वीर्यांतरायफलं भुंजे चैतन्या० ॥ १४८ ॥

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं
सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता ॥ २३१ ॥ (वसंततिलका)

हूँ । १४२ । मैं नीचगोत्रनामकर्म के०, चैतन्य० । १४३ ।

मैं दानांतरायकर्म के फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १४४ । मैं लाभांतरायकर्म के०, चैतन्य० । १४५ । मैं भोगान्तरायकर्म के०, चैतन्य० । १४६ । मैं उपभोगांतरायकर्म के०, चैतन्य० । १४७ । मै वीर्यांतरायकर्म के फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ । १४८ । (इसप्रकार ज्ञानी सकल कर्मोंके फलके सन्यास की भावना करता है) ।

(यहाँ भावना का अर्थ वारम्वार चिंतवन करके उपयोग का अभ्यास करना है जब जीव सम्यक्दृष्टि–ज्ञानी होता है तब उसे ज्ञान - श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनयसे समस्त कर्म और कर्मके फलसे रहित हूँ ? परन्तु पूर्ववद्ध कर्म उदय में आने पर उनसे होने वाले भावोंका कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्वन्धी ४९–४९ भगोंके द्वारा कर्म चेतनाके त्याग की भावना करके तथा समस्त कर्मोंका फल भोगनेके त्याग की भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्माको ही भोगना शेप रह जाता है । अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्थावाले जीवके ज्ञान–श्रद्धानमें निरंतर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्त दशाको प्राप्त करके एकाग्र चित्तसे ध्यान करे केवल चैतन्यमात्र अवस्थामें उपयोग लगाये और शुद्धोपयोगरूप हो, तब निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोग भावसे श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है । उस समय इस भावनाका फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणमन है सो होता है । पश्चात् आत्मा अनन्तकाल तक ज्ञानचेतनारूप ही रहता हुआ परमानन्दमें मग्न रहता है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं.—

अर्थ—(समस्त कर्मोंके फलका त्याग करके ज्ञानचेतनाकी भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि—) पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त कर्मके फलका सन्यास करनेसे मैं चैतन्यलक्षण आत्मतत्त्वको अतिशयतया भोगता हूँ, और उसके अतिरिक्त अन्य क्रियामें विहार करने से मेरी

य: पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्त: ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं स: ॥ २३२ ॥ (वसंततिलका)

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनाया: ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदं नाटयंत: प्रशमरसमित: सर्वकालं पिबंतु ॥ २३३ ॥ (स्रग्धरा)

वृत्ति निवृत्त है (अर्थात् आत्मतत्वके उपभोगके अतिरिक्त अन्य उपयोगकी क्रिया–विभावरूप क्रियामें मेरी परिणति विहार-प्रवृत्ति नहीं करती); इसप्रकार आत्मतत्वके उपभोगमें अचल ऐसे मुझे, यह कालकी आवली जो कि प्रवाहरूपसे अनन्त है वह, आत्मतत्वके उपभोगमें ही बहती रहे; (उपयोगकी प्रवृत्ति अन्यमें कभी भी न जाये)।

भावार्थ:—ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि मानों भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो; इससे वह अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है। और यह योग्य ही है; क्योंकि इसी भावनासे केवली हुआ जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न करनेका परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहार चारित्र इसीका साधनरूप है; और इसके बिना व्यवहार चारित्र शुभकर्मको बांधता है, वह मोक्षका उपाय नहीं है।

अब पुन: काव्य कहते है —

अर्थ:—पहले अज्ञानभावसे उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षोंके फलको जो पुरुष (उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता और वास्तवमें अपने (आत्म स्वरूप) से तृप्त है, वह पुरुष, जो वर्तमानकालमें रमणीय है, और भविष्यकालमें भी जिसका फल रमणीय है ऐसी निष्कर्म-सुखमय दशांतरको प्राप्त होता है (अर्थात् जो पहले संसार-अवस्थामें कभी नहीं हुई थी ऐसी भिन्न प्रकारकी कर्म रहित स्वाधीन सुखमय दशाको प्राप्त होता है)।

भावार्थ:—ज्ञानचेतनाकी भावनाका फल यह है। उस भावनासे जीव अत्यन्त तृप्त रहता है—अन्य तृष्णा नहीं रहती, और भविष्यमें केवलज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मोंसे रहित मोक्ष-अवस्थाको प्राप्त होता है। 'पूर्वोक्त रीतिसे कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाके त्यागकी भावना करके अज्ञान चेतनाके प्रलयको प्रगटतया नचाकर, अपने स्वभावको पूर्ण करके, ज्ञान चेतनाको नचाते हुए ज्ञानीजन सदा काल आनन्दरूप रहो'—इस उपदेशका दर्शक काव्य कहते हैं:—

इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद्
विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्-
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥ २३४ ॥ (वंशस्थ)

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥ ३९० ॥

अर्थ- ज्ञानीजन, अविरतपनेसे कर्मसे और कर्मफलसे विरतिको अत्यन्त (निरंतर) भाकर, (इसप्रकार) समस्त अज्ञान चेतनाके नाशको स्पष्टतया नचाकर, निजरससे प्राप्त अपने स्वभावको पूर्ण करके, अपनी ज्ञानचेतनाको आनन्द पूर्वक नचाते हुए अबसे सदाकाल प्रशमरस (आत्मिकरस–अमृतरस) को पियो (इसप्रकार ज्ञानीजनोंको प्रेरणा की है) ।

भावार्थ – पहले तो त्रिकाल संबंधी कर्मके कर्तृत्वरूप कर्म चेतनाके त्यागकी भावना (४९ भंगपूर्वक) कराई । और फिर १४८ कर्म प्रकृतियोंके उदयरूप कर्मफलके त्यागकी भावना कराई । इसप्रकार अज्ञानचेतनाका प्रलय कराकर ज्ञानचेतनामें प्रवृत्त होनेका उपदेश दिया है । यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप अपने स्वभावकी अनुभवरूप है । ज्ञानीजन सदा उसका उपभोग करो—ऐसा श्रीगुरुओंका उपदेश है ।

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है, इसलिये ज्ञानको कर्तृत्वभोक्तृत्वसे भिन्न बताया; अब आगेकी गाथाओंमें अन्यद्रव्य और अन्यद्रव्योंके भावोंसे ज्ञानको भिन्न बतायेंगे पहले उन गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं.—

अर्थः – यहाँसे अब (इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारमें आगेकी गाथाओंमें यह कहते हैं कि–) समस्त वस्तुओंके भिन्नत्वके निश्चय द्वारा पृथक् किया गया ज्ञान, पदार्थके विस्तारके साथ गुथित होनेसे (अनेक पदार्थोंके साथ, ज्ञेयज्ञान संबंधके कारण एक जैसा दिखाई देनेसे) उत्पन्न होने वाली (अनेक प्रकारकी) क्रियासे रहित एक ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल और दैदीप्यमान होता हुआ, निश्चल रहता है ।

भावार्थः—आगामी गाथाओंमें ज्ञानको स्पष्टतया सर्व वस्तुओंसे भिन्न बतलाते हैं । ३८७–३८९ ।

अब इसी अर्थकी गाथाएँ कहते हैं —

रे ! शास्त्र है नहिं ज्ञान क्योंकी शास्त्र कुछ जाने नहीं ।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य प्रभू कहे ॥ ३९० ॥

सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥ ३९१ ॥
रूवं णाणं ण हवइ जह्मा रूवं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥ ३९२ ॥
वण्णो णाणं ण हवइ जह्मा वण्णो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥ ३९३ ॥
गंधो णाणं ण हवइ जह्मा गंधो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥ ३९४ ॥
ण रसो दु हवइ णाणं जह्मा दु रसो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥ ३९५ ॥
फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥ ३९६ ॥
कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥ ३९७ ॥

रे ! शब्द है नहिं ज्ञान क्योंकी शब्द-कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य प्रभू कहे ॥ ३९१ ॥
रे ! रूप है नहिं ज्ञान क्योंकी रूप कुछ जाने नहीं ।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य प्रभू कहे ॥ ३९२ ॥
रे ! वर्ण है नहिं ज्ञान क्योंकी वर्ण कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य प्रभू कहे ॥ ३९३ ॥
रे ! गंध है नहिं ज्ञान क्योंकी गंध कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु गंध अन्य प्रभू कहे ॥ ३९४ ॥
रे ! रस नहीं है ज्ञान क्योंकी रस जु कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु अन्य रस जिनवर कहे ॥ ३९५ ॥
रे ! स्पर्श है नहिं ज्ञान क्योंकी स्पर्श कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य प्रभू कहे ॥ ३९६ ॥
रे ! कर्म है नहिं ज्ञान क्योंकी कर्म कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य जिनवर कहे ॥ ३९७ ॥

धम्मो णाणं ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥ ३९८ ॥
णाणमधम्मो ण हवइ जह्माधम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥ ३९९ ॥
कालो णाणं ण हवइ जह्मा कालो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥ ४०० ॥
आयासं पि ण णाण जह्मायासं ण याणए किंचि ।
तह्मायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥ ४०१ ॥
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जह्मा ।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥ ४०२ ॥
जह्मा जाणइ णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥ ४०३ ॥
णाणं सम्मादिट्ठं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति वुहा ॥ ४०४ ॥

रे ! धर्म नहिं है ज्ञान क्योंकी धर्म कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य जिनवर कहे ॥ ३९८ ॥
नहिं है अधर्म जु ज्ञान क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य अधर्म अन्य जिनवर कहे ॥ ३९९ ॥
रे ! काल है नहिं ज्ञान क्योंकी काल कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु काल अन्य प्रभू कहे ॥ ४०० ॥
आकाश है नहिं ज्ञान क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य प्रभू कहे ॥ ४०१ ॥
रे ! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकी अचेतन रूप है ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है ॥ ४०२ ॥
रे ! सर्वदा जाने हि इससे जीव ज्ञायक ज्ञानि है ।
अरु ज्ञान है ज्ञायकसे अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है ॥ ४०३ ॥
सम्यक्त्व अरु संयम तथा पूर्वांगगत सब सूत्र जो ।
धर्माधरम दीक्षा सबहि, बुध पुरुष माने ज्ञानको ॥ ४०४ ॥

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना विंदंति ॥ ३९० ॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना विंदंति ॥ ३९१ ॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना विंदंति ॥ ३९२ ॥
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना विंदंति ॥ ३९३ ॥

गाथा ३९० से ४०४

अन्वयार्थः—[**शास्त्रं**] शास्त्र [**ज्ञानं न भवति**] ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**शास्त्रं किंचित् न जानाति**] शास्त्र कुछ जानता नहीं है (वह जड़ है), [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञानं अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**शास्त्रं अन्यत्**] शास्त्र अन्य है–[**जिनाः विंदंति**] ऐसा जिनदेव जानते–कहते हैं । [**शब्दः ज्ञानं न भवति**] शब्द ज्ञान नहीं हैं [**यस्मात्**] क्योंकि [**शब्दः किंचित् न जानाति**] शब्द कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञानं अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**शब्दं अन्यं**] शब्द अन्य है–[**जिनाविंदंति**] ऐसा जिनदेव जानते–कहते है । [**रूपं ज्ञानं न भवति**] रूप ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**रूपं किंचित् न जानाति**] रूप कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञानं अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**रूपं अन्यत्**] रूप अन्य है–[**जिनाः विंदंति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [**वर्ण ज्ञानं न भवति**] वर्ण ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**वर्णः किंचित् न जानाति**] वर्ण कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञानं अन्यत्**] ज्ञान अन्य है [**वर्णं अन्यं**] वर्ण अन्य है–[**जिनाः विंदंति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [**गंधः ज्ञानं न भवति**] गंध ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**गंधः किंचित् न जानाति**] गंध कुछ जानती नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञान अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**गंध अन्यं**] गंध अन्य है—[**जिनाः विंदति**] ऐसा जिनदेव कहते है । [**रसः तु**

गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गंधो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना विंदंति ॥ ३९४ ॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना विंदंति ॥ ३९५ ॥
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना विंदंति ॥ ३९६ ॥
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना विंदंति ॥ ३९७ ॥

ज्ञानं न भवति] रस ज्ञान नहीं है [यस्मात् तु] क्योंकि [रसः किंचित् न जानाति] रस कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञान अन्यत्] ज्ञान अन्य है [रसं च अन्यं] और रस अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते है। [स्पर्शः ज्ञान न भवति] स्पर्श ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [स्पर्शः किंचित् न जानाति] स्पर्श कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञान अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [स्पर्शं अन्यं] स्पर्श अन्य है–[जिनाः विंदति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [कर्म ज्ञान न भवति] कर्म ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म किंचित् न जानाति] कर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञान अन्यत्] ज्ञान अन्य है [कर्म अन्यत्] कर्म अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते है। [धर्मः ज्ञानं न भवति] धर्म (धर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है, [यस्मात्] क्योंकि [धर्मः किंचित् न जानाति] धर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [धर्मं अन्य] धर्म अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [अधर्मः ज्ञानं न भवति] अधर्म (अधर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है, [यस्मात्] क्योंकि [अधर्मः किंचित् न जानाति] अधर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [अधर्मं अन्यं] अधर्म अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [कालः ज्ञान न भवति] काल ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कालः किंचित् न जानाति] काल कुछ

धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना विंदंति ॥ ३९८ ॥
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्मादधर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना विंदंति ॥ ३९९ ॥
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं कालं जिना विंदंति ॥ ४०० ॥
आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित् ।
तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना विंदंति ॥ ४०१ ॥
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥ ४०२ ॥
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम् ॥ ४०३ ॥

जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [कालं अन्यं] काल अन्य है- [जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [आकाशं अपि ज्ञानं न] आकाश भी ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [आकाशं किंचित् न जानाति] आकाश कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [आकाशं अन्यत्] आकाश अन्य है- [जिनाः विंदनि] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [अध्यवसानं ज्ञानं न] अध्यवसान ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अध्यवसानं अचेतनं] अध्यवसान अचेतन है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत] ज्ञान अन्य है [तथा अध्यवसानं अन्यत्] तथा अध्यवसान अन्य है (-ऐसा जिनदेव कहते हैं)।

[यस्मात्] क्योंकि [नित्यं जानाति] (जीव) निरन्तर जानता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञायकः जीवः तु] ज्ञायक ऐसा जीव [ज्ञानी] ज्ञानी (ज्ञानस्वरूप) है, [ज्ञानं च] और ज्ञान [ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं] ज्ञायक से अव्यतिरिक्त (-अभिन्न) है, [ज्ञातव्यं] ऐसा जानना चाहिये।

[बुधाः] बुध पुरुष (अर्थात् ज्ञानीजन) [ज्ञानं] ज्ञानको ही [सम्यग्दृष्टिं तु] सम्यग्दृष्टि, [संयमं] (ज्ञानको ही) संयम, [अंगपूर्वगतं सूत्रं]

ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतम् ।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयांति बुधाः ॥ ४०४ ॥

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः । न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः । न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः । न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः । न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः । न रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः । न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः । न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः । न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः । नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः । न कालो

अंग पूर्वगत सूत्र, [**धर्माधर्मं च**] और धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) [**तथा प्रव्रज्यां**] तथा दीक्षा [**अभ्युपयांति**] मानते हैं ।

टीका:—श्रुत (अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत) ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और श्रुतके व्यतिरेक (–भिन्नता) है । शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्य की पर्याय है) अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और शब्दके व्यतिरेक (भेद) है । रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप (पुद्गल द्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और रूपके व्यतिरेक है । (–अर्थात् दोनों भिन्न हैं) वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और वर्ण के व्यतिरेक है (अर्थात् ज्ञान अन्य है वर्ण अन्य है) । गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और गंधके व्यतिरेक (भेद) है । रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और रसके व्यतिरेक है । स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और स्पर्शके व्यतिरेक है । कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन हैं इसलिये ज्ञानके और कर्मके व्यतिरेक है । धर्म (–धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और धर्मके व्यतिरेक है । अधर्म (–अधर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और अधर्मके व्यतिरेक है । काल (–कालद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और कालके व्यतिरेक है । आकाश (–आकाशद्रव्य) ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और आकाशके व्यतिरेक है । अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और (कर्मोदयकी प्रवृत्तिरूप) अध्यवसानके व्यतिरेक है । इस-

ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः। इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः, न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शंकनीयः। एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः,

---

प्रकार यों ज्ञानका समस्त परद्रव्योंके साथ व्यतिरेक निश्चय साधित देखना चाहिए (अर्थात् निश्चयसे सिद्ध हुआ समझना—अनुभव करना चाहिये)।

अब, जीव ही एक ज्ञान है; क्योंकि जीव चेतन है; इसलिये ज्ञानके और जीवके अव्यतिरेक (अभेद) है। और ज्ञानका जीवके साथ व्यतिरेक किंचित्मात्र भी शंका करने योग्य नहीं है, क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है। ऐसा (ज्ञान जीवसे अभिन्न) होनेसे ज्ञान ही सम्यक्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म–अधर्म (अर्थात् पुण्य–पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा, निश्चयचारित्र) है इसप्रकार ज्ञानका जीव–पर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक (अभेद) निश्चय साधित देखना—समझना चाहिये।

अब, इसप्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक (भेद) के द्वारा और सर्व दर्शनादि जीव स्वभावोंके साथ अव्यतिरेक (अभेद) के द्वारा अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे धर्म–अधर्मरूप (पुण्य–पापरूप, शुभ–अशुभरूप) परसमय को दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके (स्वयं ही निश्चय चारित्र रूप दीक्षाभावको प्राप्त करके), दर्शन–ज्ञान–चारित्रमें स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, मोक्षमार्गको अपने में ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभावको प्राप्त किया है ऐसा, त्याग–ग्रहणसे रहित, साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित (–निश्चल) देखना (अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदनसे अनुभव करना) चाहिये।

भावार्थः—यहाँ ज्ञानको समस्त परद्रव्योंसे भिन्न और अपनी पर्यायोंसे अभिन्न बताया है, इसलिये अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षण दोष दूर हो गये। आत्माका लक्षण उपयोग है, और उपयोगमें ज्ञान प्रधान है; वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है इसलिये वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है, और अपनी सर्व अवस्थाओंमें है इसलिये अव्याप्तिवाला नहीं है। इसप्रकार ज्ञानलक्षण कहनेसे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते।

यहाँ ज्ञानको ही प्रधान करके आत्माका अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षणसे ही आत्मा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मामें अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमेंसे कितने ही तो छद्मस्थके अनुभवगोचर ही नहीं हैं; उन धर्मोंके कहनेसे छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको

ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो दृष्टव्यः। अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापाद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा सम-

---

कैसे पहिचान सकता है? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर है, परन्तु उनमेंसे कितने ही तो—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो—अन्य द्रव्योंके साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं इसलिये उनके कहनेसे पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता, और कितने ही (धर्म) परद्रव्यके निमित्तसे हुये हैं उन्हें कहनेसे परमार्थभूत आत्माका शुद्धस्वरूप कैसे जाना जा सकता है? इसलिये ज्ञानके कहनेसे ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको ही पहिचान सकता है।

यहाँ ज्ञानको आत्माका लक्षण कहा है इतना ही नहीं किन्तु ज्ञानको ही आत्मा कहा है; क्योंकि अभेदविवक्षामें गुणगुणीका अभेद होनेसे, ज्ञान है सो ही आत्मा है। अभेद-विवक्षामें चाहे ज्ञान कहो या आत्मा—कोई विरोध नहीं है; इसलिये यहाँ ज्ञान कहनेसे आत्मा ही समझना चाहिये।

टीकामें अन्तमें यह कहा गया है कि—अपने अनादि अज्ञानसे होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमयकी प्रवृत्तिको दूर करके, सम्यक्दर्शन—ज्ञान—चारित्रमें प्रवृत्तिरूप स्वसमयको प्राप्त करके, उस स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्गमें अपनेको परिणमित करके जो सम्पूर्णविज्ञानघनस्वभावको प्राप्त हुआ है और जिसमें कोई त्याग ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात् समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञानको (पूर्ण आत्मद्रव्यको) देखना चाहिये। यहाँ 'देखना' तीन प्रकारसे समझना चाहिये। शुद्धनयका ज्ञान करके पूर्ण ज्ञानका श्रद्धान करना सो प्रथम प्रकारका देखना है। वह अविरत आदि अवस्थामें भी होता है। ज्ञान—श्रद्धान होनेके बाद बाह्य सर्व परिग्रहका त्याग करके उसका (पूर्ण ज्ञानका) अभ्यास करना, उपयोगको ज्ञानमें ही स्थिर करना, जैसा शुद्धनयसे अपने स्वरूपको सिद्ध समान जाना—श्रद्धान किया था वैसा ही ध्यानमें लेकर चित्तको एकाग्र—स्थिर करना, और पुनः पुनः उसीका अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकारका देखना है इसप्रकारका देखना अप्रमत्तदशामें होता है। जहां तक उस प्रकारके अभ्यासमें केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहां तक ऐसा अभ्यास निरंतर रहता है। यह, देखनेका दूसरा प्रकार हुआ। यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्धनयके आश्रयसे परोक्ष देखना है। और जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब साक्षात् देखना है सो यह तीसरे प्रकारका देखना है। उस स्थितिमें ज्ञान सर्व विभावोंसे रहित होता हुआ सबका

वात्मसंपूर्णविज्ञानघनमावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपशुद्धं ज्ञान-मेकमेव स्थितं द्रष्टव्यं ।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥ २३५ ॥ (शार्दूल०)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥ २३६ ॥ (उपजाति)

ज्ञाता-द्रष्टा है इसलिये यह तीसरे प्रकारका देखना पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते है —

अर्थः—अन्य द्रव्योसे भिन्न, अपनेमें ही नियत, पृथक् वस्तुत्वको धारण करता हुआ (-वस्तुका स्वरूप सामन्य विशेपात्मक होनेसे स्वयं भी सामान्यविशेषात्मकताको धारण करता हुआ), ग्रहण-त्यागसे रहित, यह अमल (-रागादि मलसे रहित) ज्ञान इसप्रकार अवस्थित (निश्चल) अनुभवमे आता है कि जैसे आदि-मध्य-अन्तरूप विभागोसे रहित सहज फैली हुई प्रभाके द्वारा देदीप्यमान उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य-उदित रहे (-शुद्धज्ञानकी पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे) ।

भावार्थः—ज्ञानका पूर्ण रूप सबको जानना है । वह जब प्रगट होता है तब सर्व विशेपणोंसे सहित प्रगट होता है; इसलिये उसकी महिमाको कोई बिगाड़ नहीं सकता, वह सदा उदित रहती है ।

'ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका आत्मासे धारण करना सो यही ग्रहण करनेयोग्य सब कुछ ग्रहण किया और त्यागनेयोग्य सब कुछ त्याग किया है'; इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसने सर्व शक्तियोको समेट लिया है (-अपनेमें लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्माका आत्मामे धारण करना सो ही छोड़नेयोग्य सब कुछ छोड़ा है और ग्रहण करने योग्य ग्रहण किया है ।

भावार्थ —पूर्णज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तियोका समूहरूप जो आत्मा है उसे आत्मामें धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागनेयोग्य था उन सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है । यही कृतकृत्यता है ।

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥२३७॥ (अनुष्टुप्)

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एव।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ उ ॥ ४०५ ॥
ण वि सक्कइ घित्तुं ज ण विमोत्तुं जं य ज परद्दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥ ४०६ ॥
तह्मा उ जो विसुद्धो, चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णेव विमुंचइ किंचि वि, जीवाजीवाण दव्वाण ॥ ४०७ ॥

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवम्।
आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ॥ ४०५ ॥

'ऐसे ज्ञानको देह ही नहीं है'—इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार ज्ञान परद्रव्यसे पृथक् अवस्थित है, वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्म–नोकर्मरूप आहार करनेवाला) कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देहकी शका की जा सके? (ज्ञानके देह हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके कर्म–नोकर्मरूप आहार ही नहीं है।) । ३९०–४०४ ।

अब, इस अर्थको गाथाओंमें कहते हैं:—

गाथा ४०५ से ४०७

अन्वयार्थः—[एव] इसप्रकार [यस्य आत्मा] जिसका आत्मा [अमूर्तः] अमूर्तिक है [सः खलु] वह वास्तवमें [आहारकः न भवति] आहारक नहीं है, [आहारः खलु] आहार तो [मूर्तः] मूर्तिक है [यस्मात्] क्योंकि [सः तु पुद्गलमयः] वह पुद्गलमय है।

यों आतमा जिसका अमूर्तिक वो न आहारक बने।
पुद्गलमयी आहार यों आहार तो मूर्तिक अरे ॥ ४०५ ॥
जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं नहिं त्याग उसका हो सके।
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगि अरु वैस्रसिक है ॥ ४०६ ॥
इस हेतुसे जो शुद्ध आत्मा वो नहीं कुछ भी ग्रहे।
छोड़े नहीं कुछ भी अहो! परद्रव्य जीव अजीवमें ॥ ४०७ ॥

नापि शक्यते ग्रहीतुं यत् न विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यम् ।
स कोऽपि च तस्य गुणः प्रायोगिको वैस्रसो वाऽपि ॥ ४०६ ॥

तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित् ।
नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥ ४०७ ॥

ज्ञानं हि परद्रव्यं किंचिदपि न गृह्णाति न मुंचति च प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात् वैस्रसिकगुणसामर्थ्याद्वा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं चाशक्यत्वात्। परद्रव्यं च न ज्ञानस्यामूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहारः ततो ज्ञानं नाहारकं भवत्यतो ज्ञानस्य देहो शंकनीयः ।

[**यत् परद्रव्यं**] जो परद्रव्य है [**न अपि शक्यते गृहीतुं यत्**] वह ग्रहण नहीं किया जा सकता [**न विमोक्तुं यत् च**] और छोड़ा नहीं जा सकता; [**सः कोऽपि**] ऐसा ही कोई [**तस्य**] उसका (—आत्माका) [**प्रायोगिकः वाऽपि वैस्रसः गुणः**] प्रायोगिक तथा वैस्रसिक गुण है ।

[**तस्मात् तु**] इसलिये [**यः विशुद्धः चेतयिता**] जो विशुद्ध आत्मा है, [**सः**] वह [**जीवाजीवयोः द्रव्ययोः**] जीव और अजीव द्रव्योंमें (—परद्रव्योंमें) [**किंचित् नैव गृह्णाति**] कुछ भी ग्रहण नहीं करता [**किंचित् अपि नैव विमुंचति**] तथा कुछ भी त्याग नहीं करता ।

टीकाः—ज्ञान परद्रव्यको किंचित्‌मात्र भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है, क्योंकि प्रायोगिक (अर्थात् परनिमित्तसे उत्पन्न) गुणकी सामर्थ्यसे तथा वैस्रसिक (अर्थात् स्वाभाविक) गुणकी सामर्थ्यसे ज्ञानके द्वारा परद्रव्यका ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है । और, (कर्म–नोकर्मादिरूप) परद्रव्य, ज्ञानका—अमूर्तिक आत्मद्रव्यका आहार नहीं है, क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है; (अमूर्तिकके मूर्तिक आहार नहीं होता) । इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है । इसलिये ज्ञानके देहकी शंका न करनी चाहिये ।

(यहाँ 'ज्ञान' से 'आत्मा' समझना चाहिये; क्योंकि, अभेद विवक्षासे लक्षणमें ही लक्ष्य का व्यवहार किया जाता है । इस न्यायसे टीकाकार आचार्यदेव आत्माको ज्ञान ही कहते आये हैं ।)

भावार्थः—ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म–नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है; इसलिये परमार्थतः आत्माके पुद्गलमय आहार नहीं है । और आत्माका ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्यको कदापि ग्रहण नहीं करता;—स्वभावरूप परिणमित हो या

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणम् ॥ २३८ ॥ (अनुष्टुप्)

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥ ४०८ ॥

ण दु होइ मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥ ४०९ ॥

पाषंडिलिंगानि वा गृहिलिंगानि वा बहुप्रकाराणि ।
गृहीत्वा वदंति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति ॥ ४०८ ॥

न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनिर्ममा अर्हंतः ।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवंते ॥ ४०९ ॥

विभावरूप परिणमित हो,—अपने ही परिणामका ग्रहण–त्याग होता है परद्रव्यका ग्रहण–त्याग किंचित्मात्र भी नहीं होता ।

इसप्रकार आत्माके आहार न होनेसे उसके देह नहीं है ।

जब कि आत्माके देह है ही नहीं, इसलिये पुद्गलमय देहस्वरूप लिंग (–वेष बाह्य चिह्न) मोक्षका कारण नहीं है–इस अर्थका, आगामी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—इसप्रकार शुद्धज्ञानके देह ही नहीं है, इसलिये ज्ञाताको देहमय चिह्न मोक्षका कारण नहीं है । ४०५–४०७ ।

अब इसी अर्थको गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

गाथा ४०८-४०९

अन्वयार्थः—[**बहुप्रकाराणि**] बहुत प्रकारके [**पाषंडिलिंगानि वा**] मुनिलिंगोंको [**गृहिलिंगानि वा**] अथवा गृहीलिंगोंको [**गृहीत्वा**] ग्रहण करके [**मूढाः**] मूढजन [**वदंति**] यह कहते हैं कि '[**इदं लिंगं**] यह (बाह्य) लिंग [**मोक्षमार्गः इति**] मोक्षमार्ग है ।'

मुनिलिंगको अथवा गृहस्थीलिंगको बहुभाँतिके ।
ग्रहकर कहत हैं मूढजन, 'यह लिंग मुक्तीमार्ग है' ॥ ४०८ ॥
वह लिंग मुक्तीमार्ग नहिं, अर्हंत निर्मम देहमें ।
बस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र दर्शन सेवते । ४०९ ॥

केचिद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते । तदप्यनुपपन्नं सर्वेषामेव भगवतामर्हद्देवानां शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिंगाश्रयभूतशरीरममकारत्यागात्, तदाश्रितद्रव्यलिंगत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात् ॥ ४०८ । ४०९ ॥

अथैतदेव साधयति—

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥ ४१० ॥

नाप्येष मोक्षमार्गः पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि ।
दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना विदंति ॥ ४१० ॥

[**तु**] परन्तु [**लिंगं**] लिंग [**मोक्षमार्गः न भवति**] मोक्षमार्ग नहीं है; [**यत्**] क्योंकि [**अर्हतः**] अर्हन्तदेव [**देहनिर्ममाः**] देहके प्रति निर्मम वर्तते हुये [**लिंगं मुक्त्वा**] लिंगको छोड़कर [**दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते**] दर्शन-ज्ञान-चारित्रका ही सेवन करते हैं ।

टीका— कितने ही लोग अज्ञानसे द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग मानते हुए मोहसे द्रव्यलिंगको ही ग्रहण करते हैं । यह (द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करना सो) अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है, क्योंकि सभी भगवान अर्हंतदेवोंके, शुद्धज्ञानमयता होनेसे द्रव्यलिंगके आश्रयभूत शरीरके ममत्वका त्याग होता है, इसलिये शरीराश्रित द्रव्यलिंगके त्यागसे दर्शनज्ञानचारित्रकी मोक्षमार्गरूपसे उपासना देखी जाती है (अर्थात् वे शरीराश्रित द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्रको मोक्षमार्गके रूपमें सेवन करते हुए देखे जाते हैं) ।

भावार्थ—यदि देहमय द्रव्यलिंग मोक्षका कारण होता तो अर्हन्तदेव आदि देहका ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सेवन क्यों करते ? द्रव्यलिंगसे ही मोक्ष प्राप्त कर लेते ! इससे यह निश्चय हुआ कि—देहमय लिंग मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थतः दर्शनज्ञानचारित्ररूप आत्मा ही मोक्षका मार्ग है ॥ ४०८-४०९ ॥

अब यही सिद्ध करते हैं (अर्थात् द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है—यह सिद्ध करते हैं) :—

मुनिलिंग अरु गृहिलिंग—ये नहिं लिंग मुक्तीमार्ग है ।
चारित्र-दर्शन-ज्ञानको बस मोक्षमार्ग प्रभू कहैं ॥ ४१० ॥

न खलु द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गः शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात् । दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ॥ ४१० ॥

यत एवं—

तह्मा जहित्तु लिंगे, सागारणगारएहिं वा गहिए ।
दंसणणाणचरित्ते, अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४११ ॥

तस्मात् जहित्वा लिंगानि सागारैरनगारकैर्वा गृहीतानि ।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे ॥ ४११ ॥

गाथा ४१०

अन्वयार्थः—[**पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि**] मुनियों और गृहस्थके लिंग (–चिह्न) [**एषः**] यह [**मोक्षमार्गः न अपि**] मोक्षमार्ग नहीं है, [**दर्शनज्ञानचारित्राणि**] दर्शन-ज्ञान-चारित्रको [**जिनाः**] जिनदेव [**मोक्षमार्गं विंदंति**] मोक्षमार्ग कहते है ।

टीका:—द्रव्यलिंग वास्तवमे मोक्षमार्ग नहीं है, क्योकि वह (द्रव्यलिंग) शरीराश्रित होनेसे परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योकि वे आत्माश्रित होनेसे स्वद्रव्य हैं।

भावार्थ:—जो मोक्ष है सो सर्व कर्मोंके अभावरूप आत्माके परिणाम हैं, इसलिये उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिये । दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्माके परिणाम हैं; इसलिये निश्चयसे वही मोक्षका मार्ग है ।

जो लिंग है सो देहमय है; और देह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिये आत्मा के लिये देह मोक्षमार्ग नहीं है । परमार्थसे अन्यद्रव्यको अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता, ऐसा नियम है ॥४१०॥

जब कि ऐसा है (अर्थात् यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है और दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्षमार्ग है) तो इसप्रकार (निम्नप्रकार) से करना चाहिये—यह उपदेश देते हैं:—

गाथा ४११

अन्वयार्थः—[**तस्मात्**] इसलिये [**सागारैः**] सागारों (-गृहस्थों) के द्वारा [**अनगारकैः वा**] अथवा अणगारों (मुनियों) के द्वारा [**गृहीतानि**]

यों छोड़कर सागार या अनगार धारित लिंगको ।
चारित्र-दर्शन-ज्ञानमें तू जोड़ रे ! निज आत्मको ॥ ४११ ॥

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रे चैव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ।

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ २३९ ॥ (अनुष्टुप्)

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२ ॥

ग्रहण किये गये [**लिंगानि**] लिंगोंको [**जहित्वा**] छोड़कर, [**दर्शनज्ञानचारित्रे**] दर्शनज्ञानचारित्रमें-[**मोक्षपथे**] जो कि मोक्षमार्ग है उसमें-[**आत्मानं युंक्ष्व**] आत्माको लगा ।

टीका:- क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, इसलिये समस्त द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्रमें ही, -वह मोक्षमार्ग होनेसे, उसमें ही आत्माको लगाना योग्य है— ऐसी सूत्रकी अनुमति है ।

भावार्थ:—यहाँ द्रव्यलिंग को छोड़कर आत्मा को दर्शनज्ञानचारित्र मे लगाने का वचन है वह सामान्य परमार्थ वचन है । कोई यह समझेगा कि यह मुनि-श्रावक के व्रतों के छुड़ाने का उपदेश है, परन्तु ऐसा नही है । जो मात्र द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते है, उन्हें द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाने का उपदेश दिया है कि वेशमात्र (बाह्य व्रत मात्र) से मोक्ष नहीं होता । परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्मा के परिणाम जो दर्शन-ज्ञान- चारित्र हैं वही है । व्यवहार आचार सूत्रके कथनानुसार जो मुनि-श्रावक के बाह्य व्रत हैं, वे व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं, उन व्रतों को यहाँ नहीं छुड़ाया है, किन्तु यह कहा है कि उन व्रतों का भी ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से मोक्ष होता है, केवल वेश मात्रसे व्रत मात्र से मोक्ष नहीं होता ।

अब इसी अर्थ को दृढ़ करने वाली आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते है ।—

अर्थ:—आत्मा का तत्त्व दर्शनज्ञानचारित्र त्रयात्मक है । (अर्थात् आत्मा का यथार्थ रूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र के त्रिक स्वरूप है); इसलिये मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (यह दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने करने योग्य है ।४११ ।

अब इसी उपदेश को गाथा द्वारा कहते हैं:—

तू स्थाप निजको मोक्षपथमें ध्या अनुभव तू उसे ।
उसमें हि नित्य विहार कर न विहार कर परद्रव्यमें ॥ ४१२ ॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व ।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ॥ ४१२ ॥

आसंसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवावस्थापयातिनिश्चलमात्मानं । तथा समस्तचिंतांतरनिरोधेनात्यंतमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव ध्यायस्व । तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव चेतयस्व । तथा द्रव्यस्वभाववशतः प्रतिक्षणविजृंभमाणपरिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव विहर । तथा ज्ञानरूपमेकमेवाचलितमवलंबमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहार्षीः ।

गाथा ४१२

अन्वयार्थः—(हे भव्य जीव !) [**मोक्षपथे**] मोक्षमार्ग में [**आत्मानं स्थापय**] अपने आत्मा को स्थापित कर, [**तं च एव ध्यायस्व**] उसी का ध्यान कर, [**तं चेतयस्व**] उसी को चेत–अनुभव कर [**तत्र एव नित्यं विहर**] और उसी में निरन्तर विहार कर, [**अन्य द्रव्येषु मा विहार्षीः**] अन्य द्रव्यों में विहार मत कर ।

टीका:—(हे भव्य !) स्वय अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा (-बुद्धि) के दोष से पर द्रव्य मे–रागद्वेषादि मे निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञाके गुण द्वारा ही उसमें से पीछे हटाकर उसे अति निश्चलता पूर्वक दर्शन–ज्ञान–चारित्र मे निरन्तर स्थापित कर, तथा समस्त अन्य चिन्ताके निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र हो कर दर्शन–ज्ञान–चारित्र का ही ध्यान कर, तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ही चेत—अनुभव कर, तथा द्रव्यके स्वभाव के वशसे (अपने को) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते है उनके द्वारा (अर्थात् परिणामीपने के द्वारा) तन्मय परिणाम वाला (-दर्शनज्ञानचारित्रमयपरिणामवाला) होकर दर्शन–ज्ञान–चारित्र में ही विहार कर; तथा ज्ञानरूप को एक को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रव्यो मे किंचित मात्र भी विहार मत कर ।

भावार्थ—परमार्थरूप आत्मा के परिणाम दर्शन–ज्ञान–चारित्र हैं, वही मोक्षमार्ग है । उसी मे आत्मा को स्थापित करना चाहिये, उसी का ध्यान करना चाहिये, -उसीका अनुभव

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैवस्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥२४०॥(शार्दूलविक्रीडित)
ये त्वेनं परिहृत्य संवृत्तिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यति ते ॥२४१॥(शार्दूलविक्रीडित)

करना चाहिये, और उसी में विहार (प्रवर्तन) करना चाहिये, अन्यद्रव्यों में प्रवर्तन नहीं करना चाहिये। यहाँ परमार्थसे यही उपदेश है कि—निश्चय मोक्षमार्गका सेवन करना चाहिये, मात्र व्यवहार में ही मूढ़ नही रहना चाहिये।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते है:—

अर्थः—दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, उसी में जो पुरुष स्थित रहता है, उसीका निरन्तर ध्यान करता है, उसी का अनुभव करता है, और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसी मे निरन्तर विहार करता है, वह पुरुष, जिसका उदय नित्य रहता है ऐसे समय के सार को (परमात्माके रूप को) अल्प काल में ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है।

भावार्थः—निश्चय मोक्षमार्ग के सेवन से अल्प काल मे ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह नियम है।

'जो द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमे ममत्व रखते है, उन्होंने समयसार को (—शुद्धात्मा को) नहीं जाना'—इसप्रकार गाथा द्वारा कहते है।

यहाँ प्रथम उसका सूचक काव्य कहते है:—

अर्थ—जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहारमोक्षमार्ग मे स्थापित अपने आत्मा के द्वारा द्रव्यमय लिंग मे ममता करते है (अर्थात् यह मानते है कि यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा) वे पुरुष तत्व के यथार्थ ज्ञान से रहित होते हुए अभीतक समय के सार को (—शुद्धआत्मा को) नही देखते—अनुभव नहीं करते। वह समय-सार शुद्धआत्मा कैसा है ? नित्य प्रकाशमान है (अर्थात् कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदयका नाश नहीं कर सकता) अखंड है (अर्थात जिसमें अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त खंड नहीं होते), एक है (अर्थात् पर्यायो से अनेक अवस्था रूप होने पर भी जो एक रूपत्व को नहीं छोड़ता), अतुल (—उपमारहित) प्रकाश वाला है (क्योंकि ज्ञान प्रकाश को सूर्यादि के प्रकाश की उपमा

पासंडीलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४१३॥
पाषंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु।
कुर्वंति ये ममत्वं तैर्न ज्ञातः समयसारः ॥ ४१३ ॥

ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिंगममकारेण मिथ्याहंकारं कुर्वंति तेऽनादिरूढव्यवहारविमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्य भगवंतं समयसारं न पश्यंति।

नहीं दी जा सकती), स्वभावप्रभा का पुंज है (अर्थात् चैतन्य प्रकाश का समूहरूप है), अमल है (अर्थात् रागादि-विकाररुपी मल से रहित है)।

(इस प्रकार, जो द्रव्यलिंग मे ममत्व करते है उन्हे निश्चय-कारण-समयसार का अनुभव नहीं है; तव फिर उनको कार्यसमयसार की प्राप्ति कहाँ से होगी ?) ।४१२।

अव इस अर्थ की गाथा कहते हैं:—

गाथा ४१३

अन्वयार्थः—[**ये**] जो [**बहुप्रकारेषु**] बहुत प्रकार के [**पाषंडिलिंगेषु वा**] मुनिलिंगों में [**गृहि लिंगेषु वा**] अथवा गृहस्थ लिंगों में [**ममत्वं कुर्वंति**] ममता करते हैं (अर्थात यह मानते है कि यह द्रव्यलिंग ही मोक्ष का दाता है, [**तैः समयसारः न ज्ञातः**] उन्होने समयसार को नहीं जाना।

टीकाः—जो वास्तवमे 'मै श्रमण हूँ, श्रमणोपासक (—श्रावक) हूँ' इस प्रकार द्रव्यलिंग मे ममत्वभाव के द्वारा मिथ्या अहकार करते है, वे अनादिरूढ (अनादिकाल से समागत) व्यवहार मे मूढ़ मोही होते हुये, प्रौढ़ विवेक वाले निश्चय (निश्चयनय) पर आरूढ़ न होते हुए, परमार्थसत्य (जो परमार्थ सत्यार्थ है ऐसे) भगवान समयसार को नहीं देखते—अनुभव नहीं करते।

भावार्थः—अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से होनेवाले व्यवहार ही मे जो पुरुष मूढ अर्थात् मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेष ही हमे मोक्ष प्राप्त करा देगा', परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है ऐसे निश्चय को वे नहीं जानते। ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप शुद्धज्ञानमय समयसार को नहीं देखते।

बहुभाँतिके मुनिलिंग जो अथवा गृहस्थीलिंग जो।
ममता करे उनमें नहीं जाना 'समयके सार' को ॥ ४१३ ॥

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलम् ।२४२।। (वियोगिनी)

द्रव्यलिंगममकारमीलितै-
र्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो
ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ।।२४३।। (स्वागता)

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ, मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ।।४१४।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहार में ही मोहित है, ऐसे पुरुष परमार्थ को न जानते, जैसे जगत में जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है ऐसे पुरुष तुष को ही जा हैं, तंदुल (—चावल) को नहीं जानते।

भावार्थः—जो धानके छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हींको कूटते रहते हैं, उन्हं चावलोंको जाना ही नहीं है; इसीप्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहारमें मुग्ध हो रहे हैं (अर्था जो शरीरादि की क्रिया में ममत्व करते हैं), उन्होंने शुद्धात्मानुभवनरूप परमार्थ को जाना नहीं है; अर्थात् ऐसे जीव शरीरादि परद्रव्यको ही आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्मा के स्वर को नहीं जानते।

अब आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो द्रव्य लिंग में ममकार के द्वारा अंध-विवेक रहित हैं, वे समयसार को नहीं देखते; क्योंकि इस जगत में द्रव्यलिंग तो वास्तव में अन्य द्रव्य से होता है, मात्र यह ज्ञ ही निज से (आत्मद्रव्य से) होता है।

भावार्थः—जो द्रव्यलिंग में ममत्व के द्वारा अंध हैं उन्हें शुद्धात्म द्रव्य का अनु ही नहीं है, क्योंकि वे व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं इसलिये पर द्रव्य को ही आत्मद्र मानते हैं। ४१३।

'व्यवहार नय ही मुनिलिंग को और श्रावकलिंगको—दोनों को मोक्षमार्गकहता निश्चयनय किसी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता'—यह गाथा द्वारा कहते हैं:—

व्यवहारनय, इन लिंग द्वयको मोक्षके पथमें कहे।
निश्चय नहीं माने कभी को लिंग मुक्तीपंथमें ।। ४१४ ।।

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे ।
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥ ४१४ ॥

यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकारः स केवलं व्यवहार एव न परमार्थस्तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात् । यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रांतं दृशिज्ञप्तिप्रवृत्तवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुषसंचेतनं परमार्थः, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात् । ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्धया चेतयंते ते समयसारमेव न संचेतयंते । य एव परमार्थं परमार्थबुद्धया चेतयंते ते एव समयसारं चेतयते ।

गाथा ४१४

अन्वयार्थः—[**व्यावहारिकः नयः पुनः**] व्यवहार नय [**द्वे लिंगे-अपि**] दोनों लिंगो को [**मोक्षपथे भणति**] मोक्षमार्ग में कहता है (अर्थात् व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंग को मोक्षमार्ग कहता है) [**निश्चयनयः**] निश्चयनय [**सर्वलिंगानि**] सभी (किसी भी) लिंगों को [**मोक्षपथे न इच्छति**] मोक्षमार्ग में नहीं मानता ।

टीकाः—श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग हैं—इसप्रकार का जो प्ररूपण-प्रकार केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (—प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्य की अनुभवन स्वरूप है इसलिये उसको परमार्थता का अभाव है; श्रमण और श्रमणोपासक के भेदों से अतिक्रान्त, दर्शनज्ञान मे प्रवृत्त-परिणति मात्र शुद्ध ज्ञान ही एक है—ऐसा निस्तुष (—निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है, क्योंकि वह (अनुभवन) स्वयं शुद्ध द्रव्यका अनुभवनस्वरूप होने से उसी के परमार्थत्व है । इसलिये जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से (—परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं, वे समयसार का ही अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं ।

भावार्थ—व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप अशुद्धद्रव्य है, इसलिए वह परमार्थ नहीं है; निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है इसलिये वही परमार्थ है । इसलिये, जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं वे समयसार का अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं वे ही समयसारका अनुभव करते हैं (इसलिये वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं) ।

'अधिक कथन से क्या, एक परमार्थ का ही अनुभव करो'—इस अर्थ का काव्य कहते हैं:—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥ २४४ ॥ (मालिनी)
इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत् ॥ २४५ ॥ (अनुष्टुप्)

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चओ णाउं ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥ ४१५ ॥

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा ।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यम् ॥ ४१५ ॥

अर्थः—बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पो से बस होओ, बस होओ; यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि इस एक मात्र परमार्थ का ही निरंतर अनुभव करो; क्यो कि निज रसके प्रसारसे पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार (–परमात्मा) से उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है (–समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है) ।

भावार्थः—पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिये, इसके अतिरिक्त वास्तव में दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है ।

अब अन्तिम गाथा मे यह समयसार ग्रन्थ के अभ्यास इत्यादि का फल कहकर आचार्य भगवान इस ग्रन्थ को पूर्ण करते है; उसका सूचक श्लोक पहले कहा जा रहा है:—

अर्थः—आनन्दमय विज्ञानघनको (–शुद्ध परमात्मा को समयसार को) प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक (–अद्वितीय) अक्षय जगत्- चक्षु (–समयप्राभृत) पूर्णता को प्राप्त होता है ।

भावार्थः—यह समयप्राभृत ग्रन्थ वचनरूप से तथा ज्ञानरूप से दोनो प्रकार से जगत को अक्षय, अद्वितीय नेत्र समान है, क्योकि जैसे नेत्र घट पटादि को प्रत्यक्ष दिखलाता है उसी प्रकार समयप्राभृत आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है । ४१४ ।

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रन्थ को पूर्ण करते है इसलिये उसकी महिमा के रूप मे उसके अभ्यास इत्यादि का फल इस गाथा में कहते है:—

गाथा ४१५

अन्वयार्थः—[यः चेतयिता] जो आत्मा (–भव्यजीव) [इदं समयप्रा-

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रु तत्त्वसे ।
ठहरे अरथमें जीव जो वो, सौख्य उत्तम परिणमे ॥ ४१५ ॥

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूतचित्प्रकाशरूपम त्मानं निश्चिन्वन् अर्थतस्तत्त्वतश्च परिच्छिद्य अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णविज्ञानघने परमब्रह्मणि सर्वारंभेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तत्क्षणविजृंभमाणचिदेकरसनिर्भरस्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानंदशब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति।

भृतं पठित्वा] इस समयप्राभृत को पढकर, [**अर्थतत्त्वतः ज्ञात्वा**] अर्थ और तत्त्वसे जानकर, [**अर्थे स्थास्यति**] उसके अर्थमें स्थित होगा, [**सः**] वह [**उत्तमंसौख्यं भविष्यति**] उत्तम सौख्य स्वरूप होगा।

टीका:—समयसारभूत भगवान परमात्मा का—जो कि विश्वका प्रकाशक होने से विश्व समय है उसका —प्रतिपादन करता है इसलिये जो स्वयं शब्दब्रह्म के समान है ऐसे इस शास्त्र को जो आत्मा भलीभाँति पढ़कर, विश्वको प्रकाशित करने मे समर्थ ऐसे परमार्थभूत, चैतन्य-प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ (इस शास्त्र को) अर्थ से और तत्व से जानकर, उसी के अर्थभूत भगवान एक पूर्ण विज्ञानघन परम ब्रह्म मे सर्व उद्यम से स्थित होगा, वह आत्मा, तत्क्षण प्रगट होने वाले एक चैतन्य रससे परिपूर्ण स्वभावमे सुस्थित और निराकुल होने से जो (सौख्य) 'परमानन्द' शब्द से वाच्य है, उत्तम है और अनाकुलता-लक्षणयुक्त है, ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं-ही हो जायेगा।

भावार्थ:--इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत है। समय का अर्थ है पदार्थ अथवा आत्मा उसका कहने वाला यह शास्त्र है। आत्मा समस्त पदार्थों का प्रकाशक है। ऐसे विश्व प्रकाशक आत्माको कहनेसे यह समयप्राभृत शब्दब्रह्मके समान है; क्योंकि जो समस्त पदार्थोंका कहने वाला होता है उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। द्वादशांग शास्त्र शब्दब्रह्म है और इस समयप्राभृत शास्त्र को भी शब्दब्रह्म की उपमा दी गई है। यह शब्दब्रह्म (—समयप्राभृतशास्त्र) परब्रह्म को (—शुद्ध परमात्मा को) साक्षात् दिखाता है। जो इस शास्त्र को पढ़कर, उसके यथार्थ अर्थ मे स्थित होगा, वह परब्रह्म को प्राप्त करेगा ; इसलिये, जिसे 'परमानन्द' कहा जाता है ऐसे उत्तम, स्वात्मिक, स्वाधीन, बाधारहित, अविनाशी सुखको प्राप्त करेगा। इसलिये हे भव्य जीवों! तुम अपने कल्याण के लिये इसका अभ्यास करो, इसका श्रवण करो, निरन्तर इसी का स्मरण और ध्यान करो, कि जिससे अविनाशी सुख की प्राप्ति हो। ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥ २४६ ॥ (अनुष्टुप्)

इति श्रीअमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपको नवमोऽङ्कः ॥ ९ ॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

अब इस सर्व विशुद्ध ज्ञान के अधिकार की पूर्णता का कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:— इस प्रकार यह आत्माका तत्व (परमार्थभूतस्वरूप) ज्ञानमात्र निश्चित हुआ कि–जो (आत्मा का) ज्ञानमात्र तत्व अखण्ड है (अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारों से और प्रतिपक्षी कर्मों से यद्यपि खंड खंड दिखाई देता है तथापि ज्ञानमात्र मे खंड नहीं है), एक है (अर्थात् अखंड होने से एक रूप है) अचल है (अर्थात् ज्ञान रूप से चलित नहीं होता–ज्ञेयरूप नहीं होता), स्वसंवेद्य है, और अबाधित है (अर्थात् किसी मिथ्या युक्ति से बाधा नहीं पाता) ।

भावार्थ: —यहाँ आत्माका निजस्वरूप ज्ञान ही कहा है इसका कारण यह है:– आत्मा में अनन्त धर्म हैं; किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं, इसलिये वे अतिव्याप्ति युक्त है, उन से आत्मा को पहिचाना नहीं जा सकता; और कुछ (धर्म) पर्यायाश्रित है–किसी अवस्था में होते हैं और किसी अवस्थामें नहीं होते, इसलिये वे अव्याप्ति युक्त है, उनसे भी आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। चेतनता यद्यपि आत्माका (अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है, तथापि वह शक्तिमात्र है, अदृष्ट है, उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान है। उस दर्शन और ज्ञान में भी ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभव गोचर है; इसलिये उसके द्वारा ही आत्मा पहिचाना जा सकता है। इसलिये यहाँ इस ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का तत्त्व कहा है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि 'आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्व वाला कहा है इस लिये इतना ही परमार्थ है और अन्यधर्म मिथ्या है, वे आत्मा मे नहीं है;' ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करने से तो मिथ्यादृष्टित्व आ जाता है. विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का और वेदान्तियों का मत आ जाता है; इसलिये ऐसा एकान्त बाधा सहित है। ऐसे एकान्त अभिप्राय से कोई मुनिव्रत भी पाले और आत्मा का–ज्ञानमात्र का– ध्यान भी करे, तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता; मन्द कषायोंके कारण भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जाये किन्तु मोक्षका साधन नहीं होता। इसलिये स्याद्वाद से यथार्थ समझना चाहिये। ४१५।

× × × × ×

(यहाँ तक भगवान कुंदकुन्दाचार्य की ४१५ गाथाओं का विवेचन टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने किया है. और उस विवेचन में कलशरूप तथा सूचनिका रूप से २४६

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते ॥ २४७ ॥

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतस्वभावत्वात्। अत्र त्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोपः ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतत्वात्। तत्र यदेव तत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत्

काव्य कहे हैं। अब टीकाकार आचार्यदेव विचारते हैं कि—इस ग्रन्थ मे ज्ञान को प्रधान करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहते आये है, इसलिये कोई यह तर्क करे कि–'जैनमत तो स्याद्वाद है; तब क्या आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नही हो जाता ? अर्थात् स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता ? और एक ही ज्ञान मे उपायतत्व तथा उपेयतत्व दोनो कैसे घटित होते है ? ऐसे तर्क का निराकरण करनेके लिये टीकाकार आचार्यदेव यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के अंतमे परिशिष्टरूप से कुछ कहते है। उसमे प्रथम श्लोक इसप्रकार है—

अर्थ—यहाँ स्याद्वाद की शुद्धिके लिये वस्तु तत्वकी व्यवस्था और (एक ही ज्ञानमे उपाय—उपेयत्व कैसे घटित होता है, यह बतानेके लिये) उपाय–उपेयभावका फिरसे विचार करते हैं।

भावार्थ—वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक अनेक–धर्मस्वरूप होनेसे स्याद्वाद से ही सिद्ध किया जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वादकी शुद्धता (प्रमाणिकता, सत्यता, निर्दोपता, निर्मलता, अद्वितीयता) सिद्ध करनेके लिये इस अधिकारमे वस्तुस्वरूपका विचार किया जाता है। (इसमे यह भी बताया जायेगा कि इस ग्रन्थमे आत्माको ज्ञानमात्र कहा है फिर भी स्याद्वादके साथ विरोध नही आता।) और दूसरे, एक ही ज्ञानमें साधकत्त्व तथा साध्यत्त्व कैसे बन सकता है यह समझानेके लिये ज्ञानका उपाय–उपेयभाव अर्थात् साधक–साध्यभाव भी इस अधिकारमे विचार किया जावेगा।

(अब प्रथम आचार्यदेव वस्तुस्वरूपके विचार द्वारा स्याद्वादको सिद्ध करते हैं.—)

स्याद्वाद समस्त वस्तुओंके स्वरूपको सिद्ध करनेवाला अर्हंत सर्वज्ञका एक अस्खलित (निर्दोष) शासन है। वह (–स्याद्वाद) सब अनेकान्तात्मक है, इसप्रकार उपदेश करता है क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त–स्वभाववाली है। (सर्व वस्तुएं अनेकान्त स्वरूप हैं' इसप्रकार जो स्याद्वाद कहता है सो वह असत्यार्थ कल्पनासे नही कहता परन्तु जैसा वस्तुका अनेकान्त स्वभाव है वैसा ही कहता है)।

यहाँ आत्मा नामक वस्तुको ज्ञानमात्रतासे उपदेश करने पर भी स्याद्वादका कोप नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तुके स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है। वहाँ (अनेकान्त

यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः। तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यंतश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्, बहिरुन्मिषदनंतज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्, सहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात्, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात्, परद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनाऽसत्त्वात्, अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात्तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव। ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतः प्रकाशते तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनाऽनुशास्यतेऽनेकांतः? । अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः। न खल्वनेकांतमंत-

---

का ऐसा स्वरूप है कि), जो (वस्तु) तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है,—इसप्रकार एक वस्तुमें वस्तुत्वकी उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना अनेकान्त है। इसलिये अपनी आत्मवस्तुको भी, ज्ञानमात्रता होने पर भी, तत्त्व—अतत्त्व, एकत्व—अनेकत्व, सत्त्व—असत्त्व, और नित्यत्त्व—अनित्यत्त्व प्रकाशता ही है; क्योंकि—उसके (—ज्ञानमात्र आत्मवस्तुके) अंतरंगमें चकचकित प्रकाशते ज्ञानस्वरूपके द्वारा तत्पना है, और बाहर प्रगट होते, अनन्त, ज्ञेयत्वको प्राप्त, स्वरूपसे भिन्न ऐसे पररूपके द्वारा (—ज्ञानस्वरूपसे भिन्न ऐसे परद्रव्यके रूप द्वारा) अतत्पना है (अर्थात् ज्ञान उसरूप नहीं है); सहभूत (—साथ ही) प्रवर्तमान और क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य—अंशोंके समुदायरूप अविभाग द्रव्यके द्वारा एकत्व है, और अविभाग एकद्रव्यमें व्याप्त सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त—चैतन्य अंशरूप पर्यायोंके द्वारा अनेकत्व है; अपने द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावरूपसे होनेकी शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपनेके द्वारा सत्त्व है, और परके द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावरूप न होनेकी शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपनेके द्वारा असत्त्व है; अनादि निधन अविभाग एक वृत्तिरूपसे परिणतपनेके द्वारा नित्यत्व है, और क्रमशः प्रवर्तमान, एक समयकी मर्यादावाले अनेक वृत्ति—अंशरूपसे परिणतपनेके द्वारा अनित्यत्व है। (इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तुको भी, तत्—अतत्पन इत्यादि दो—दो विरुद्ध शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित होती है इसलिये अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है)।

(प्रश्न—) यदि आत्मवस्तुको, ज्ञानमात्रता होने पर भी, स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशता है, तब फिर अर्हंत भगवान उसके साधनके रूपमें अनेकान्तका (—स्याद्वादका) उपदेश क्यों देते हैं ?

रेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिद्ध्यति। तथाहि—इह हि स्वभावत एव बहुभावनिर्भरविश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव । तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भावः शेषभावैः सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेयसंबंधतयाऽनादिज्ञेयपरिणमनात् ज्ञानत्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी भूत्वा नाशमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानी कुर्वन्ननेकांत एव तमुद्गमयति । १ । यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानतत्त्वं स्वरूपेण प्रतिपद्य विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाद्भिन्नं ज्ञानं दर्शयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति । २ । यदानेकज्ञेयाकारैः खंडितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति तदा द्रव्येणैकत्वं द्योतयन्

(उत्तर—) अज्ञानियोंके ज्ञानमात्र आत्मवस्तुकी प्रसिद्धि करनेके लिये उपदेश देते हैं—ऐसा हम कहते हैं। वास्तवमें अनेकान्तके बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। इसीको इसप्रकार समझाते हैं—

स्वभावसे ही बहुतसे भावोंसे भरे हुए इस विश्वमें सर्वभावोंका स्वभावसे अद्वैत होने पर भी, द्वैतका निषेध करना अशक्य होनेसे, समस्त वस्तुस्वरूपमें प्रवृत्ति और पररूपसे व्यावृत्तिके द्वारा दोनों भावोंसे अध्यासित है (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूपमें प्रवर्तमान होनेसे और पररूपसे भिन्न रहनेसे प्रत्येक वस्तुमें दोनों भाव रह रहे हैं)। वहाँ, जब यह ज्ञानमात्र-भाव (आत्मा), शेष भावोंके साथ निजरसके भारसे प्रवर्तित ज्ञाता—ज्ञेयके सम्बन्धके कारण और अनादिकालसे ज्ञेयोंके परिणमनके कारण ज्ञानतत्त्वको पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूपसे अंगीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाशको प्राप्त होता है, तब उस (ज्ञानमात्र भावका) स्व-रूपसे (ज्ञानरूपसे तत्पना प्रकाशित करके अर्थात् (ज्ञान ज्ञानरूपसे ही है ऐसा प्रगट करके), ज्ञातारूपसे परिणमनके कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकांत ही उसका उद्धार करता है—नाश नहीं होने देता। १।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तवमें यह सब आत्मा है' इसप्रकार अज्ञानतत्त्वको स्वरूपसे (—ज्ञानरूपसे) मानकर—अंगीकार करके विश्वके ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है (सर्व जगतको निजरूप मानकर उसका ग्रहण करके जगत्से भिन्न ऐसे अपनेको नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भावका) पररूपसे अतत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप नहीं है यह प्रगट करके) विश्वसे भिन्न ज्ञानको दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना (ज्ञानमात्र भावका) नाश नहीं करने देता। २।

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनेक ज्ञेयाकारोंके द्वारा (—ज्ञेयोंके आकारों द्वारा) अपना सकल (—अखंड, सम्पूर्ण) एक ज्ञान-आकार खण्डित हुआ मानकर नाशको प्राप्त होता है; तब

अनेकांत एव तमुज्जीवयति । ३ । यदा त्वेकज्ञानाकारोपादानायानेकज्ञेयाकारत्यागेनात्मानं नाशयति तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति । ४ । यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनाद् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वद्रव्येण सत्त्वं द्योतयन् अनेकांत एव तमुज्जीवयति । ५ । यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्यत्वेन प्रतिपाद्यात्मानं नाशयति तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति । ६ । यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वक्षेत्रेणास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति । ७ । यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्रगत ज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति तदा स्वक्षेत्र एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमन-

---

(उस ज्ञानमात्र भावका) द्रव्यसे एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है—नष्ट नहीं होने देता । ३ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव ज्ञान—आकारका ग्रहण करनेके लिये अनेक ज्ञेयाकारोंके त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञानमें जो अनेक ज्ञेयोंके आकार आते हैं उनका त्याग करके अपनेको नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भावका) पर्यायोंसे अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता । ४ ।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जाननेमें आने वाले परद्रव्योंके परिणमनके कारण ज्ञातृद्रव्यको परद्रव्यरूपसे मानकर—अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभावका) स्वद्रव्यसे सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता । ५ ।

और जब वह ज्ञानमात्रभाव 'सर्वद्रव्य मैं ही हूँ (अर्थात् सर्व द्रव्य आत्मा ही हैं)' इसप्रकार परद्रव्यको ज्ञातृद्रव्यरूपसे मानकर—अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) परद्रव्यसे असत्त्व प्रकाशित करता हुआ (आत्मा परद्रव्यरूपसे नहीं है, इसप्रकार प्रगट करता हुआ) अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता । ६ ।

जब यह ज्ञानमात्र भाव परक्षेत्रगत (—परक्षेत्रमें रहे हुए) ज्ञेय पदार्थोंके परिणमनके कारण परक्षेत्रसे ज्ञानको सत् मानकर—अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है, तब (—उस ज्ञानमात्र भावका) स्वक्षेत्रसे अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता । ७ ।

और जब वह ज्ञानमात्रभाव स्वक्षेत्रमें रहनेके लिये, परक्षेत्रगत् ज्ञेयोंके आकारोंके त्याग द्वारा (अर्थात् ज्ञानमें जो परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेयोंका आकार आता है उनका त्याग करके ज्ञानको तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है, तब स्वक्षेत्रमें रहकर ही परक्षेत्रगत्

स्वभावत्वात्परक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति । ८ । यदा पूर्वालंबितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति । ९ । तदा स्वर्थालम्बनकाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परकालेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति । १० । यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञायकभावं परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन् अनेकांत एव तमुज्जीवयति । ११ । यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपाद्यात्मानं नाशयति तदा परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति । १२ । यदाऽनित्यज्ञानविशेषैः खंडितनित्यज्ञानसामान्यो नाशमुपैति तदा ज्ञानसामान्यरूपेण नित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति । १३ । यदा तु नित्यज्ञान सामान्योपादानायानित्य-

---

ज्ञेयोंके आकाररूपसे परिणमन करनेका ज्ञानका स्वभाव होनेसे (उसे ज्ञानमात्र भावका) परक्षेत्रसे नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता । ८ ।

जब यह ज्ञानमात्र भाव पूर्वालंबित पदार्थों के विनाश कालमे (–पूर्वमे जिनका आलंबन किया था ऐसे ज्ञेय पदार्थों के विनाश के समय) ज्ञान को असत्व मानकर–अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है तब (उस ज्ञानमात्र भावका) स्वकाल से (ज्ञान के कालसे) सत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है–नष्ट नहीं होने देता । ९ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव पदार्थों के आलम्बन काल मे ही (–मात्र ज्ञेय पदार्थोंको जानते समय ही) ज्ञान का सत्व मानकर–अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) परकाल से (–ज्ञय के कालसे) असत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता । १० ।

जब यह ज्ञानमात्रभाव, जानने मे आते हुए परभावो के परिणमन के कारण ज्ञायकभाव को परभावरूप से मानकर—अंगकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) स्व-भाव से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जिलाता है– नष्ट नहीं होने देता । ११ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'मर्वभाव मैं ही हूं' इसप्रकार परभावको ज्ञायकभाव-रूप से मानकर –अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्रभावका) परभावसे असत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नहीं करने देता । १२ ।

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनित्य ज्ञान विशेषो के द्वारा अपना नित्य ज्ञान सामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान सामान्य-रूपसे नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता । १३ ।

ज्ञानविशेषत्यागेनात्मानं नाशयति तदा ज्ञानविशेषरूपेणानित्यत्वं द्योतयन्नेकांत एव तं नाशयितुं न ददाति । १४ । भवंति चात्र श्लोकाः—

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्—
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति ।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन—
र्दूरान्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥२४८॥ (शार्दूलविक्रीडित)

और जब वह ज्ञानमात्र भाव नित्य ज्ञान समान्य का ग्रहण करने के लिये अनित्य ज्ञान विशेषोंके त्याग के द्वारा अपना नाश करता है (—अर्थात् ज्ञानके विशेषोंका त्याग करके अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्रभावका) ज्ञान विशेपरूपसे अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ।१४।

(यहां तत्–अतत् के २ भंग, एक-अनेक के २ भंग, सत्-असत् के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ८ भंग और नित्य-अनित्य के २ भंग–इस प्रकार सब मिलाकर १४ भंग हुए। इन चौदह भंगों में यह बताया है कि-एकान्त से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव होता है और अनेकान्तसे आत्मा जीवित रहता है, अर्थात् एकान्त से आत्मा जिस स्वरूप है उस स्वरूप नहीं समझा जाता स्वरूपमें परिणमित नहीं होता, और अनेकान्त से वह वास्तविक स्वरूप से समझा जाता है, स्वरूप में परिणमित होता है ।)

यहां निम्न प्रकार से (चौदह भंगोंके कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे हैं—

(उनमें से पहले, प्रथम भंग का कलशरूप काव्य इस प्रकार है:–)

अर्थः—बाह्य पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया, अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देने से रिक्त (शून्य) हुआ, सम्पूर्णतया पररूपमें ही विश्रांत (–आश्रित) पशु का ज्ञान (पशुवत् एकान्तवादी का ज्ञान) नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादीका ज्ञान तो 'जो तत् है वह-स्वरूपसे तत् है (–अर्थात् प्रत्येक तत्त्वको–वस्तुको स्वरूपसे तत्पना है)' ऐसी मान्यताके कारण, अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनरूप स्वभाव के भार से, सम्पूर्ण उदित (–प्रगट) होता है।

भावार्थः—कोई सर्वथा एकान्तवादी तो यह मानता है कि—घटज्ञान घटके आधार से ही होता है, इसलिये ज्ञान सब प्रकार से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। ऐसा मानने वाले एकान्तवादी के ज्ञानको तो ज्ञेय पी गये है, ज्ञान स्वयं कुछ नहीं रहा । स्याद्वादी ऐसा मानते है कि ज्ञान अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) ही है, ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानत्त्व को नहीं छोड़ता । ऐसी यथार्थ अनेकान्त समझ के कारण स्याद्वादीको ज्ञान (ज्ञानस्वरूप आत्मा) प्रगट प्रकाशित होता है।

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छंदमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥२४९॥ (शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लस-
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन्पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित् ।२५०॥ (शार्दूलविक्रीडित)

इस प्रकार स्वरूप से तत्पने का भंग कहा है ।

(अब दूसरे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं —)

अर्थ:—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, 'विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व ज्ञेय पदार्थ आत्मा हैं)' ऐसा विचार कर सबको (–समस्त विश्व को निजतत्व की आशा से देखकर विश्वमय (–समस्त ज्ञय पदार्थमय) होकर, पशुकी भाँति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है–प्रवृत्त होता है; और स्याद्वाददर्शी तो (–स्याद्वादका देखनेवाला तो), यह मानता है कि 'जो तत् है वह पररूप से तत् नहीं है' (अर्थात् प्रत्येक तत्त्वको स्वरूप से तत्पना होने पर भी पररूपसे अतत्पना है)', इसलिये विश्व से भिन्न ऐसे तथा विश्व से रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् ज्ञेय वस्तुओंके आकाररूप होने पर भी समस्त ज्ञेय वस्तु से भिन्न ऐसा) अपने तत्वका स्पर्श–अनुभव करता है ।

भावार्थ:—एकान्तवादी यह मानता है कि–विश्व ज्ञानरूप अर्थात् निजरूप है । इसप्रकार निजको और विश्वको अभिन्न मानकर, अपनेको विश्वमय मानकर, एकान्तवादी, पशुकी भाँति हेय–उपादेयके विवेकके विना सर्वत्र स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है; और स्याद्वादी यह मानता है कि–जो वस्तु अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप है वही वस्तु परके स्वरूपसे अतत्स्वरूप है; इसलिये ज्ञान अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप है परन्तु पर ज्ञेयोंके स्वरूपसे अतत्स्वरूप है अर्थात् परज्ञेयोंके आकाररूप होने पर भी उनसे भिन्न है ।

इसप्रकार पररूपसे अतत्पनेका भंग कहा है ।

(अब तीसरे भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करनेके (ज्ञानके) स्वभावकी अतिशयताके कारण, चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होने वाले अनेक प्रकारके ज्ञेयाकारोंसे जिसकी शक्ति विशीर्ण (–छिन्न-भिन्न) हो गई है ऐसा होकर (अर्थात्

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५१॥ (शार्दूलविक्रीडित)

अनेक ज्ञेयोंके आकारों ज्ञानमें ज्ञात होने पर ज्ञानकी शक्तिको खंड खंडरूप होगई मानकर) सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ नष्ट हो जाता है; और अनेकान्तका जानकर तो, सदा उदित (-प्रकाशमान) एक द्रव्यत्वके कारण भेदके भ्रमको नष्ट करता हुआ (अर्थात् ज्ञेयोके भेदसे ज्ञानमें सर्वथा भेद पड़ जाता है ऐसे भ्रमको नाश करता हुआ), जो एक है (-सर्वथा अनेक नहीं है) और जिसका अनुभवन निर्बाध है ऐसे ज्ञानको देखता है-अनुभव करता है।

भावार्थः—ज्ञान ज्ञेयोके आकाररूप परिणमित होनेसे अनेक दिखाई देता है, इसलिये सर्वथा एकान्तवादी उस ज्ञानको सर्वथा अनेक-खण्ड-खण्डरूप-देखता हुआ ज्ञानमय ऐसा निजका नाश करता है; और स्याद्वादी तो ज्ञानको, ज्ञेयाकार होने पर भी, सदा उदयमान द्रव्यत्वके द्वारा एक देखता है।

इसप्रकार एकत्वका भंग कहा है।

(अब चौथे भंगका कलशरूप काव्य कहा जाता है:—)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, ज्ञेयाकाररूपी कलंकसे (-अनेकाकाररूप) मलिन ऐसा चेतनमें प्रक्षालनकी कल्पना करता हुआ (अर्थात् चेतनकी अनेकाकार-रूप मलिनताको धो डालनेकी कल्पना करता हुआ), एकाकार करने की इच्छासे ज्ञानको-यद्यपि वह ज्ञान अनेकाकाररूपसे प्रगट है तथापि-नहीं चाहता, (अर्थात् ज्ञानको सर्वथा एकाकार मानकर ज्ञानका अभाव करता है); और अनेकान्तका जाननेवाला तो, पर्यायोंसे ज्ञानकी अनेकताको जानता (-अनुभवता) हुआ, विचित्र होने पर भी अविचित्रताको प्राप्त (अर्थात् अनेकरूप होने पर भी एकरूप ऐसे ज्ञानको स्वत. क्षालित (-स्वयमेव धोया हुआ शुद्ध) अनुभव करता है।

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञेयाकाररूप (अनेकाकाररूप) ज्ञानको मलिन जानकर, उसे धोकर-उसमेंसे ज्ञेयाकारोंको दूर करके, ज्ञानको ज्ञेयाकारोसे रहित एक-आकाररूप करने को चाहता हुआ, ज्ञानका नाश करता है; और अनेकान्ती तो सत्यार्थ वस्तुस्वभावको जानता है, इसलिये ज्ञानका स्वरूपसे ही अनेकाकारपना मानता है।

इसप्रकार अनेकत्वका भंग कहा है।

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावंचितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥२५२॥ (शार्दूलविक्रीडित)

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३॥ (शार्दूलविक्रीडित)

(अब पाँचवे भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं —)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी प्रत्यक्ष *आलिखित ऐसे प्रगट (-स्थूल) और स्थिर (-निश्चल) परद्रव्योंके अस्तित्वसे ठगाया हुआ स्वद्रव्य-(आत्मद्रव्यके अस्तित्व) -को-नहीं देखता, इसलिये सम्पूर्णतया शून्य होता हुआ नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी -तो, आत्माको स्वद्रव्यरूपसे अस्तिपनेसे निपुणतया देखता है इसलिये तत्काल प्रगट होने वाले विशुद्धज्ञान प्रकाशके द्वारा पूर्ण होता हुआ जीता है-नाशको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—एकाती वाह्य परद्रव्यको प्रत्यक्ष देखकर उसके अस्तित्वको मानता है, परंतु अपने आत्मद्रव्यको इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं देखता इसलिये उसे शून्य मानकर आत्माका नाश करता है। और स्याद्वादी ज्ञानरूपी तेजसे अपने आत्माका स्वद्रव्यसे अस्तित्व अवलोकन करता है इसलिये जीता है—अपना नाश नहीं करता ।

इसप्रकार स्वद्रव्य—अपेक्षासे अस्तित्वका (—सत्पनेका) भंग कहा है ।

(अब छट्ठे भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं —)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, दुर्वासनासे (—कुनयकी वासनासे) वासित होता हुआ, आत्माको सर्वद्रव्यमय मानकर, (परद्रव्योंमें) स्वद्रव्यके भ्रमसे परद्रव्योंमें विश्राम करता है; और स्याद्वादी तो समस्त वस्तुओंमे परद्रव्य स्वरूपसे नास्तित्वको जानता हुआ, जिसकी शुद्धज्ञानमहिमा निर्मल है ऐसा वर्तता हुआ, स्वद्रव्यका ही आश्रय लेता है ।

भावार्थः—एकांतवादी आत्माको सर्वद्रव्यमय मानकर, आत्मामें जो परद्रव्यकी अपेक्षा से नास्तित्व है उसका लोप करता है; और स्याद्वादी समस्त पदार्थोंमें परद्रव्यकी अपेक्षासे नास्तित्व मानकर निजद्रव्यमें रमता है ।

---

* आलिखित=आलेखन किया हुआ; चित्रित, स्पर्शित, ज्ञात ।

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः ।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ।।२५४।। (शार्दूलविक्रीडित)

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ।।२५५।। (शार्दूलविक्रीडित)

इसप्रकार परद्रव्यकी अपेक्षासे नास्तित्वका (-असत्पनेका) भंग कहा है।

(अब सातवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, भिन्न क्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंमें जो ज्ञेयज्ञायक संबंधरूप निश्चित व्यापार है, उसमें प्रवर्तता हुआ, आत्माको सम्पूर्णतया बाहर (-परक्षेत्रमें) पड़ता देखकर (-स्वक्षेत्रसे आत्माका अस्तित्व न मानकर) नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी तो, स्व क्षेत्रसे अस्तित्वके कारण जिसका वेग रुका हुआ है ऐसा होता हुआ (अर्थात् स्व क्षेत्रमें वर्तता हुआ), आत्मामें ही आकाररूप हुए ज्ञेयोंमें निश्चित व्यापारकी शक्तिवाला होकर, टिकता है-जीता है (-नाशको प्राप्त नहीं होता)।

भावार्थः—एकान्तवादी भिन्न क्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंको जाननेके कार्यमें प्रवृत्त होने पर आत्माको पड़ता ही मानकर, (स्वक्षेत्रसे अस्तित्व न मानकर), अपनेको नष्ट करता है; और स्याद्वादी तो, 'परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेयोंको जानता हुआ अपने क्षेत्रमें रहा हुआ आत्मा स्वक्षेत्रसे अस्तित्व धारण करता है' ऐसा मानता हुआ टिकता है-नाशको प्राप्त नहीं होता।

इसप्रकार स्वक्षेत्रसे अस्तित्वका भंग कहा है।

(अब आठवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं --)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, स्वक्षेत्रमें रहनेके लिये भिन्न-भिन्न परक्षेत्रोंमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंको छोड़नेसे, ज्ञेयपदार्थोंके साथ चैतन्यके आकारोंका भी वमन करता हुआ (अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंके निमित्तसे चैतन्यमें जो आकार होता है उनको भी छोड़ता हुआ) तुच्छ होकर नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्रमें रहता हुआ, परक्षेत्रमें अपना नास्तित्व जानता हुआ, (-परक्षेत्रमें रहे हुए) ज्ञेय पदार्थोंको छोड़ता हुआ भी वह पर पदार्थोंमेंसे चैतन्यके आकारोंको खींचता है (-ज्ञेय पदार्थोंके निमित्तसे होने वाले चैतन्यके आकारोंको नहीं छोड़ता) इसलिये तुच्छताको प्राप्त नहीं होता।

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः ।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५६॥ (शार्दूल०)
अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजीभवन् ॥२५७॥ (शार्दूल०)

भावार्थः—'परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंके आकाररूप चैतन्यके आकार होते हैं, उन्हें यदि मैं अपना बनाऊंगा तो स्वक्षेत्रमें ही रहनेके स्थान पर परक्षेत्रमें भी व्याप्त हो जाऊंगा' ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेयपदार्थोंके साथ ही साथ चैतन्यके आकारों को भी छोड़ देता है; इसप्रकार स्वयं चैतन्यके आकारोंसे रहित तुच्छ होता है । नाश को प्राप्त होता है । और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्रमें रहता हुआ, परक्षेत्रमें अपने नास्तित्वको जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थों को छोड़कर भी चैतन्यके आकारों को नहीं छोडता; इसलिये वह तुच्छ नहीं होता, नष्ट नहीं होता ।

इसप्रकार परक्षेत्र की अपेक्षासे नास्तित्वका भंग कहा है ।

(अब नवमें भंगका कलशरूपकाव्य कहते हैं —)

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, पूर्वालंबित ज्ञेय पदार्थोंके नाशके समय ज्ञानका भी नाश जानता हुआ, और इसप्रकार ज्ञानको कुछ भी (-वस्तु) न जानता हुआ (अर्थात् ज्ञान-वस्तुका अस्तित्व ही न मानता हुआ), अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादका ज्ञाता तो आत्माका निज काल से आत्माका अस्तित्व जानता हुआ, बाह्य वस्तुएं बारम्बार होकर नाश को प्राप्त होती हैं. फिर भी स्वयं पूर्ण रहता है ।

भावार्थ—पहले जिन ज्ञेय पदार्थोंको जाने थे वे उत्तर काल में नष्ट हो गये; उन्हें देखकर एकान्तवादी अपने ज्ञानका भी नाश मान कर अज्ञानी होता हुआ आत्माका नाश करता है । और स्याद्वादी तो, ज्ञेय पदार्थों के नष्ट होने पर भी, अपना अस्तित्व अपने काल में ही मानता हुआ नष्ट नहीं होता ।

इसप्रकार स्वकाल की अपेक्षा से अस्तित्वका भंग कहा है ।

(अब दसवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं -)

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंके आलंबन कालमें ही ज्ञानका

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः ।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥२५८॥ (शार्दूल०)
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।

अस्तित्व जानता हुआ, बाह्य ज्ञेयों के आलंबन की लालसा वाले चित्त से (बाहर) भ्रमण करता हुआ नाश को प्राप्त होता है; और स्याद्‌वाद का ज्ञाता परकालसे आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ, आत्मामें दृढ़तया रहा हुआ नित्य सहज ज्ञानके एक पुंजरूप वर्तता हुआ टिकता है—नष्ट नहीं होता ।

भावार्थ—एकान्तवादी ज्ञेयोंके आलम्बन काल मे ही ज्ञानके सत्वको जानता है, इसलिये ज्ञेयों के आलम्बनमें मनको लगाकर बाहर भ्रमण करता हुआ नष्ट हो जाता है। और स्याद्वादी पर ज्ञेयों के काल से अपने नास्तित्व को जानता है, अपने ही काल से अपने अस्तित्व को जानता है; इसलिये ज्ञेयोंसे भिन्न ऐसा ज्ञानके पुंजरूप वर्तता हुआ नाशको प्राप्त नहीं होता।

इसप्रकार परकाल की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।

(अब ग्यारहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, परभावोंके भवन (–परिणमन) को ही जानता है (अर्थात् परभावोंसे ही अपना अस्तित्व मानता है), इसलिये सदा बाह्य वस्तुओंमें विश्राम करता हुआ, (अपने) स्वभावकी महिमा में अत्यन्त निश्चेतन (जड़) वर्तता हुआ, नाश को प्राप्त होता है; और स्याद्‌वादी (अपने) नियत स्वभाव के भवनस्वरूप (–परिणमन-स्वरूप) ज्ञानके कारण सब (परभावों) से भिन्न वर्तता हुआ, जिसने सहज स्वभावका प्रतीतिरूप ज्ञातृत्व स्पष्ट-प्रत्यक्ष-अनुभवरूप किया है ऐसा होता हुआ, नाशको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थः—एकान्तवादी परभावोंसे ही अपना सत्त्व मानता है, इसलिये बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ आत्माका नाश करता है; और स्याद्वादी तो, ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानभावका स्वभावसे अस्तित्व जानता हुआ, आत्माका नाश नहीं करता।

इसप्रकार स्व-भावकी (अपने भावकी) अपेक्षासे अस्तित्वका भंग कहा है।

(अब बारहवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, सर्वभावरूप भवनका आत्मामें अध्यास करके (अर्थात् आत्मा सर्व ज्ञेयपदार्थोंके भावरूप है, ऐसा मानकर) शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ, किसी परभावको शेष रखे बिना सर्व परभावोंमें स्वच्छन्दता पूर्वक निर्भयतासे

स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः ॥२५९॥ (शार्दूल०)
प्रादुर्भावविरामभुद्रितवहद्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभंगसंगपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिम ज्ञानं भवन् जीवति ॥२६०॥ (शार्दूल०)
टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वांछत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन ।

(नि:शंकतया) क्रीड़ा करता है; और स्याद्वादी अपने स्वभावमें अत्यंत आरूढ़ होता हुआ, परभावरूप भवनके अभावकी दृष्टिके कारण (अर्थात् आत्मा परद्रव्योंके भावोंरूपसे नहीं है—ऐसा जानता होनेसे) निष्कंप वर्तता हुआ, शुद्ध ही विराजित रहता है ।

भावार्थः—एकान्तवादी सर्व परभावोंको निजरूप जानकर अपने शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ सर्वत्र (सर्व परभावोंमें) स्वेच्छाचारितासे नि:शंकतया प्रवृत्ति होता है; और स्याद्वादी तो, परभावोंको जानता हुआ भी, अपने शुद्ध ज्ञानस्वभावको सर्व परभावोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ शोभित होता है ।

इसप्रकार परभावकी अपेक्षासे नास्तित्वका भंग कहा है ।

(अब तेरहवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, उत्पाद-व्ययसे लक्षित बहते (-परिणमित होते) हुए ज्ञानके अंशरूप अनेकात्मकत्वके द्वारा ही (आत्माका) निर्णय (ज्ञान) करता हुआ, क्षणभंगके संगमें पड़ा हुआ बहुलतासे नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी चैतन्यात्मकताके द्वारा चैतन्यवस्तुको नित्य-उदित अनुभव करता हुआ, टंकोत्कीर्णघनस्वभाव जिसकी महिमा है ऐसा ज्ञानरूप वर्तता हुआ, जीता है ।

भावार्थ:—एकान्तवादी ज्ञेयोंके आकारानुसार ज्ञानको उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर, अनित्य पर्यायोंके द्वारा आत्माको सर्वथा अनित्य मानता हुआ, अपनेको नष्ट करता है; और स्याद्वादी तो, यद्यपि ज्ञान ज्ञेयानुसार उत्पन्न-विनष्ट होता है फिर भी, चैतन्य भावका नित्य उदय अनुभव करता हुआ जीता है—नाशको प्राप्त नहीं होता ।

इसप्रकार नित्यत्वका भंग कहा है ।

(अब चौदहवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थ:—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञानके विस्ताररूप एक-आकार (सर्वथा नित्य) आत्मतत्त्वकी आशासे, उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणतिसे

ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६१॥ (शार्दूलविक्रीडित)
इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते ॥ २६२ ॥ (अनुष्टुप्)

भिन्न कुछ (आत्मतत्त्वको) चाहता है, (किन्तु ऐसा कोई आत्मतत्त्व है ही नहीं); और स्याद्वादी तो, चैतन्य वस्तुकी वृत्ति (–परिणति) के क्रम द्वारा उसकी अनित्यताका अनुभव करता हुआ, नित्य ऐसे ज्ञानको अनित्यतासे व्याप्त होने पर भी उज्ज्वल (–निर्मल) मानता है–अनुभव करता है ।

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञानको सर्वथा एकाकार–नित्य प्राप्त करनेकी वांछासे उत्पन्न होने वाली और नाश होने वाली चैतन्य परिणतिसे पृथक् कुछ ज्ञानको चाहता है; परन्तु परिणामके अतिरिक्त कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता । स्याद्वादी तो यह मानता है कि—यद्यपि द्रव्यापेक्षासे ज्ञान नित्य है तथापि क्रमशः उत्पन्न होने वाली और नष्ट होने वाली चैतन्य परिणतिके क्रमके कारण ज्ञान अनित्य भी है; ऐसा ही वस्तुस्वरूप है ।

इसप्रकार अनित्यत्व का भंग कहा गया ।

'पूर्वोक्त प्रकारसे अनेकांत अज्ञानसे मूढ़ हुए जीवोंको ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध कर देता है—समझा देता है' इस अर्थका काव्य कहा जाता हैः—

अर्थः—इसप्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानमूढ़ प्राणियोंको ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभवमें आता है ।

भावार्थः—ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अनेकान्तमय है । परन्तु अनादिकालसे प्राणी अपने आप अथवा एकान्तवादका उपदेश सुनकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व संबंधी अनेक प्रकारसे पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका नाश करते है । उन (अज्ञानी जीवों) को स्याद्वाद ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनेकान्त स्वरूपपना प्रगट करता है—समझाता है । यदि अपने आत्माकी ओर दृष्टिपात करके–अनुभव करके देखा जाये तो (स्याद्वादके उपदेशानुसार) ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अपनेआप अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है । इसलिये हे प्रवीण पुरुषो ! तुम ज्ञानको तत्स्वरूप, अतत्स्वरूप, एकस्वरूप, अनेकस्वरूप, अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावसे सत् स्वरूप, परके द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावसे असत् स्वरूप, नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके प्रतीतिमें लाओ । यही सम्यक्ज्ञान है । सर्वथा एकान्त मानना मिथ्याज्ञान है ।

'पूर्वोक्त प्रकारसे वस्तुका स्वरूप अनेकान्तमय होनेसे अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद सिद्ध हुआ इस अर्थका काव्य कहा जाता हैः—

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यशासनं जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥ २६३ ॥ (अनुष्टुप्)

नन्वनेकांतमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः? लक्षणप्रसिद्ध्या-लक्ष्यप्रसिद्ध्यर्थं। आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं तदसाधारणगुणत्वात्तेन ज्ञानप्रसिद्ध्या तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः। ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या लक्ष्यमेव प्रसाधनीयं? नाप्रसिद्धलक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः। ननु किं तल्लक्ष्यं

अर्थः—इसप्रकार अनेकान्त–कि जो जिनदेवका अलंघ्य (किसीसे तोड़ा न जाय ऐसा) शासन है वह–वस्तुके यथार्थस्वरूपकी व्यवस्थाके द्वारा स्वयं अपनेको स्थापित करता हुआ स्थित हुआ अर्थात् सिद्ध हुआ।

भावार्थः—अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, वस्तुस्वरूपको यथावत् स्थापित करता हुआ, स्वतः सिद्ध हो गया। वह अनेकान्त ही निरबाध जिनमत है और यथार्थ वस्तुस्थितिको कहने वाला है। कहीं किसीने असत् कल्पनासे वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है। इसलिये हे निपुण पुरुषो! भलीभाँति विचार करके प्रत्यक्ष अनुमान–प्रमाणसे अनुभव कर देखो।

(यहाँ आचार्यदेव अनेकान्तके संबंधमें विशेष चर्चा करते हैं:—)

(प्रश्नः —) आत्मा अनेकान्तमय है फिर भी उसका ज्ञानमात्रतासे क्यों व्यपदेश (–कथन) किया जाता है? (यद्यपि आत्मा अनन्त धर्मयुक्त है तथापि उसे ज्ञानमात्ररूपसे क्यों कहा जाता है? ज्ञानमात्र कहनेसे अन्यधर्मोंका निषेध समझा जाता है।)

(उत्तरः—) लक्षणकी प्रसिद्धिके द्वारा लक्ष्यकी प्रसिद्धि करनेके लिये आत्माका ज्ञानमात्ररूपसे व्यपदेश किया जाता है। आत्माका ज्ञान लक्षण है, क्योंकि ज्ञान आत्माका असाधारण गुण है (वह अन्य द्रव्योंमें नहीं होता)। इसलिये ज्ञानकी प्रसिद्धिके द्वारा उसके लक्ष्यकी–आत्माकी–प्रसिद्धि होती है।

(प्रश्नः—) इस लक्षणकी प्रसिद्धिसे क्या प्रयोजन है? मात्र लक्ष्य ही प्रसाध्य अर्थात् प्रसिद्ध करनेयोग्य है। (इसलिये लक्षणको प्रसिद्ध किये विना मात्र लक्ष्यको ही—आत्माको ही–प्रसिद्ध क्यों नहीं करते?)

(उत्तरः–) जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो उसे (–अर्थात् जो लक्षणको नहीं जानता ऐसे अज्ञानीजनको) लक्ष्यकी प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है उसीको लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है। (इसलिये अज्ञानीको पहले लक्षण बतलाते हैं, उसके बाद वह लक्ष्यको ग्रहण कर सकता है)।

यज्ज्ञानप्रसिद्धया ततो भिन्नं प्रसिद्धयति ? न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं ज्ञानात्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात्। तर्हि किं कृतो लक्ष्यलक्षणविभागः ? प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः। प्रसिद्धं हि ज्ञानं ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्, तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानस्तदविनाभूतानंतधर्मसमुदयमूर्तिरात्मा, ततो ज्ञानमात्राचलितनिखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनंतधर्मजातं यद्यावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खल्वात्मा एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः। ननु क्रताक्रमप्रवृत्तानंतधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वं ? परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण

(प्रश्नः—) ऐसा कौनसा लक्ष्य है कि जो ज्ञानकी प्रसिद्धिके द्वारा उससे (ज्ञानसे) भिन्न प्रसिद्ध होता है?

(उत्तरः—) ज्ञानसे भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्मामें द्रव्यदृष्टिपनेसे अभेद है।

(प्रश्नः—) तब फिर लक्षण और लक्ष्यका विभाग किस लिये किया गया है?

(उत्तरः—) प्रसिद्धत्व और ‡प्रसाध्यमानत्वके कारण लक्षण और लक्ष्यका विभाग किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है, क्योंकि ज्ञानमात्रको स्वसंवेदनसे सिद्धपना है (अर्थात् ज्ञान सर्व प्राणियोंको स्वसंवेदनरूप अनुभवमें आता है); वह प्रसिद्ध ऐसे ज्ञानके द्वारा प्रसाध्यमान, तद्–अविनाभूत (ज्ञानके साथ अविनाभाव संबंधवाला) अनंत धर्मोंका समुदायरूप मूर्ति आत्मा है। (ज्ञान प्रसिद्ध है; और ज्ञानके साथ जिनका अविनाभावी संबध है ऐसे अनन्त धर्मोंका समुदाय स्वरूप आत्मा उस ज्ञानके द्वारा प्रसाध्यमान है।) इसलिये ज्ञानमात्रमें अचलितपनेसे स्थापित दृष्टिके द्वारा, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान, तद्–अविनाभूत अनन्तधर्मसमूह जो कुछ जितना लक्षित होता है, वह सब वास्तवमें एक आत्मा है।

इसी कारणसे यहाँ आत्माका ज्ञानमात्रतासे व्यपदेश है।

(प्रश्नः—) जिसमें क्रम और अक्रमसे प्रवर्तमान अनन्तधर्म हैं ऐसे आत्माके ज्ञानमात्रता किसप्रकार है?

(उत्तरः—) परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मोंके समुदायरूपसे परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूपसे स्वयं ही है, इसलिये (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मोंके समुदायरूपसे परिणमित जो एक जानन क्रिया है उस जानन क्रिया मात्र भावरूपसे स्वयं ही है इसलिये) आत्माके ज्ञानमात्रता है। इसीलिये उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्तःपातिनी (–ज्ञानमात्र

---

‡ प्रसाध्यमान = जो प्रसिद्ध किया जाता हो। (ज्ञान प्रसिद्ध है और–आत्मा प्रसाध्यमान है।)

स्वयमेव भवनात् । अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावांतःपातिन्योऽनंताः शक्तयः उत्प्लवंते । आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः । अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः । अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः । साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः । अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः । स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः । अखंडितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः । सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः । विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः । विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः । नीरूपात्मप्रदेशप्रकाश-

---

एक भावके भीतर आ जानेवाली) अनन्त शक्तियाँ उछलती है । (आत्मा के जितने धर्म है उन सबको, लक्षण भेदसे भेद होनेपर भी, प्रदेशभेद नहीं है; आत्माके एक परिणाममे सभी धर्मों का परिणमन रहता है । इसलिये आत्माके एक ज्ञानमात्र भावके भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं । इसलिये ज्ञानमात्र भावमे–ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मामे – अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं ।) उनमेंसे कितनी ही शक्तियाँ निम्नप्रकार हैं:—

आत्मद्रव्य के कारणभूत चैतन्यमात्र भावका धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी जीवत्व शक्ति । (आत्मद्रव्यके कारणभूत चैतन्यमात्र भावरूपी भावप्राणका धारण करना जिसका लक्षण है ऐसी जीवत्व नामक शक्ति ज्ञानमात्र भावमे–आत्मा–मे उछलती है) । १ । अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति (अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है ऐसी चितिशक्ति) । २ । अनाकार उपयोगमयी दृशि शक्ति । (जिसमे ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है ऐसे दर्शनोपयोगमयी–सत्ता मात्र पदार्थ मे उपयुक्त होने रूप दृशिशक्ति अर्थात् दर्शन क्रियारूप शक्ति) । ३ । साकार उपयोगमयी ज्ञान शक्ति । (जो ज्ञेय पदार्थों के विशेष रूप आकारोमे उपयुक्त होती है ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञान शक्ति) । ४ । अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुख शक्ति । ५ । स्वरूपकी (–आत्मस्वरूपकी) रचनाकी सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति । ६ । जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसीसे खंडित की नहीं जा सकती ऐसे स्वातंत्र्यसे (–स्वाधीनतासे) शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसी प्रभुत्व शक्ति । ७ । सर्व भावों में व्यापक ऐसे एकभावरूप विभुत्व शक्ति । (जैसे, ज्ञानरूपी एकभाव सर्व भावोंमें व्याप्त होता है) । ८ । समस्त विश्व के सामान्यभावको देखनेरूपसे (अर्थात् सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोकको सत्तामात्र ग्रहण करनेरूपसे) परिणमित आत्मदर्शनमयी सर्व दर्शित्वशक्ति । ९ । समस्त विश्वके विशेष भावोंको जाननेरूपसे परिणमित आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति । १० । अमूर्तिक आत्मप्रदेशोंमे प्रकाशमान लोकालोकके आकारोंसे मेचक (अर्थात् अनेक–आकाररूप) उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्व शक्ति । (जैसे दर्पणकी स्वच्छ-

मानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः। स्वयंप्रकाशमानविशदस्व-संवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः। क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिकाऽसंकुचितविकाशत्वशक्तिः। अन्याक्रियमाणाऽन्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणशक्तिः। परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्राहकग्रहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः। अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः। षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका—अगुरुलघुत्वशक्तिः। क्रमाक्रमवृत्तिप्रवृत्तत्वलक्षणोत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः। द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिंगितसदृशविसदृशरूपैकाऽस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः। कर्मबंधव्यपगमव्यंजितसहज-

---

त्व शक्तिसे उसकी पर्यायमें घटपटादि प्रकाशित होते हैं, उसीप्रकार आत्माकी स्वच्छत्व शक्तिसे उसके उपयोगमें लोकालोकके आकार प्रकाशित होते हैं)। ११। स्वयं प्रकाशमान विशद (–स्पष्ट) स्वसंवेदनमयी (–स्वानुभवमयी) प्रकाशशक्ति। १२। क्षेत्र और कालसे अमर्यादित चिद्विलास (–चैतन्यके विलासरूप) स्वरूप असंकुचितविकाशत्वशक्ति। १३। जो अन्यसे नहीं किया जाता और अन्यको नहीं करता ऐसे एक द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्व शक्ति। (जो अन्यका कार्य नहीं है और अन्यका कारण नहीं है ऐसा जो एक द्रव्य उसस्वरूप अकार्यकारणत्व शक्ति) ।१४। पर और स्वयं जिसका निमित्त है ऐसे ज्ञेयाकारों और ज्ञानाकारोंको ग्रहण करने और ग्रहण करानेके स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति। (स्व–परके ज्ञाता होने का तथा स्व–परका ज्ञेय होनेका आत्माका जो स्वभाव उस स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति) ।१५। जो कम-बढ़ नहीं होता ऐसे स्वरूपमें नियतत्वरूप (–निश्चितया यथावत् रहनेरूप) त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति। १६। षट्स्थानपतितवृद्धिहानिरूपसे परिणमित, स्वरूप–प्रतिष्ठत्वका कारणरूप (–वस्तुके स्वरूपमें रहनेके कारणरूप) जो विशिष्ट गुण है उसस्वरूप अगुरुलघुत्व शक्ति। (इस षट्स्थानपतित हानि–वृद्धिका स्वरूप 'गोम्मटसार' ग्रन्थ से जानना चाहिये। अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्यारूप षट्स्थानोंमें समाविष्ट वस्तुस्वभावकी हानि–वृद्धि जिस गुणसे होती है और जो वस्तुको स्वरूपमें स्थिर होनेका कारण है, ऐसा कोई गुण आत्मामें है; उसे अगुरुलघुत्व गुण कहा जाता है। ऐसी अगुरुलघुत्व शक्ति भी आत्मामें है) । १७। क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूपवर्त्तन जिसका लक्षण है ऐसी उत्पादव्ययध्रुवत्व शक्ति। (क्रमवृत्तिरूप पर्याय उत्पादव्ययरूप है और अक्रमवृत्तिरूप गुण ध्रुवत्वरूप है) । १८। द्रव्यके स्वभावभूत ध्रौव्य व्यय–उत्पादसे आलिंगित (–स्पर्शित), सदृश और विसदृश जिसका रूप है ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति। १९। कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गये, सहज, स्पर्शादिशून्य (–स्पर्श, रस, गंध और वर्णसे रहित) आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्व शक्ति। २०।

स्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः । सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामाकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः । सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः । सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः । आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिणामावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः । सर्वशरीरैक स्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः । स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः । विलक्षणानंतस्वभावभावितैकभावलक्षणानंतधर्मत्वशक्तिः । तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः । तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः । अतद्रूपभवन-

---

समस्त, कर्मों के द्वारा किये गये, ज्ञातृत्व मात्रसे भिन्न जो परिणाम (उन परिणामोके करनेके *उपरम स्वरूप (उन परिणामोको करनेकी निवृत्ति स्वरूप) अकर्तृत्व शक्ति। (जिस शक्तिसे आत्मा ज्ञातृत्व के अतिरिक्त, कर्मों से किये गये परिणामोका कर्ता नहीं होता, ऐसी अकर्तृत्व नामक एक शक्ति आत्मामें हैं)। २१। समस्त, कर्मोंसे किये गये, ज्ञातृत्व मात्रसे भिन्न परिणामो के अनुभव की (-भोक्तृत्वकी) उपरमस्वरूप अभोक्तृत्व शक्ति। २२। समस्त कर्मोंके उपरमसे प्रवृत्त आत्मप्रदेशोकी निस्पन्दतास्वरूप (अकम्पता-स्वरूप) निष्क्रियत्व शक्ति। (जब समस्त कर्मोंका अभाव हो जाता है तब प्रदेशोंका कम्पन मिट जाता है, इसलिये निष्क्रियत्व शक्ति भी आत्मामें है)। २३। जो अनादि संसारसे लेकर संकोचविस्तारसे लक्षित है और जो चरमशरीरके परिमाणसे कुछ न्यूनपरिमाणसे अवस्थित होता है ऐसा लोकाकाशके माप जितना मापवाला आत्म-अवयवत्व जिसका लक्षण है ऐसी नियत प्रदेशत्व शक्ति। (आत्माके लोक परिमाण असंख्य प्रदेश नियत ही है। वे प्रदेश संसार अवस्थामें संकोच विस्तारको प्राप्त होते हैं और मोक्ष अवस्थामे चरमशरीरसे कुछ कम परिमाणसे स्थित रहते हैं)। २४। सर्व शरीरोंमे एकस्वरूपात्मक ऐसी स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति। (शरीरके धर्मरूप न होकर अपने धर्मों में व्यापनेरूप शक्ति सो स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति है)। २५। स्व-परके समान, असमान और समानासमान ऐसे तीन प्रकारके भावोंकी धारण-स्वरूप साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्व शक्ति। २६। विलक्षण (-परस्पर भिन्न लक्षणयुक्त) अनन्तस्वभावोंमे भावित ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी अनन्त धर्मत्व शक्ति। २७। तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्ध धर्मत्व शक्ति। २८। तद्रूप भवनरूप ऐसी तत्त्व शक्ति। (तत्स्वरूप होनेरूप अथवा तत्स्वरूप परिणमनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति आत्मामें है। इस शक्तिसे चेतन चेतनरूपसे रहता है-परिणमित होता है)।

---

* उपरम = निवृत्ति, अन्त, अभाव।

रूपा अतत्त्वशक्तिः । अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः । एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः । भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः । शून्यावस्थत्वरूपाऽभावशक्तिः । भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः । अभवत्पर्यायोदयरूपाऽभावभावशक्तिः । भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः । अभवत्पर्यायाऽभवनरूपाऽभावाभावशक्तिः । कारकानुगतक्रियानिष्क्रांतभवनमात्रमयी भावशक्तिः । कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः । प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृत्वशक्तिः । भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः । स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी संप्रदानशक्तिः । उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः । भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः । स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः ।

अतद्रूप भवनरूप ऐसी अतत्त्वशक्ति । (तत्स्वरूप नहीं होनेरूप अथवा तत्स्वरूप नहीं परिणमनेरूप अतत्त्वशक्ति आत्मामें है । इस शक्तिसे चेतन जड़रूप नहीं होता) । ३० । अनेक पर्यायोंमें व्यापक एक द्रव्यमयतारूप एकत्व शक्ति । ३१ । एक द्रव्यसे व्याप्य (—व्यापने योग्य) अनेक पर्यायमयपनारूप अनेकत्व शक्ति । ३२ । विद्यमान अवस्था युक्ततारूप भाव शक्ति । (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो उसरूप भाव शक्ति) । ३३ । शून्य (—अविद्यमान) अवस्था युक्तता रूप अभावशक्ति । (अमुक अवस्था जिसमें अविद्यमान हो उसरूप अभाव शक्ति) । ३४ । प्रवर्त्तमान पर्यायके व्ययरूप भावाभावशक्ति । ३५ । अप्रवर्तमान पर्यायके उदयरूप अभावभावशक्ति । ३६ । प्रवर्तमान पर्यायके भवनरूप भावभाव शक्ति । ३७ । अप्रवर्तमान पर्यायके अभवनरूप अभावाभाव शक्ति । ३८ । (कर्त्ता, कर्म आदि) कारकोंके अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमया (होनेमात्रमयी भाव शक्ति) । ३९ । कारकोंके अनुसार परिणमित होनेरूप भावमयी क्रिया शक्ति) । ४० । प्राप्त किया जाता जो सिद्धरूप भाव है, उसमयीकर्मशक्ति । ४१ । होनेरूप जो सिद्धरूप भाव, उसके भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति । ४२ । प्रवर्तमान भावके भवनको (—होनेकी) साधकतमपनेमयी (—उत्कृष्टसाधकत्वमयी, उग्रसाधनत्वमयी) करणशक्ति ।४३। अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय (—उसे प्राप्त करनेके योग्यपनामय, उसे लेनेके पात्रपनामय) सम्प्रदानशक्ति । ४४ । उत्पादव्ययसे आलिंगित भावका अपाय (—नाश) होनेसे हानिको प्राप्त न होनेवाली ध्रुवत्वमयी अपादान शक्ति । ४५ । भाव्यमान (अर्थात् भावनेमें आता) भावोंकी आधारत्वमयी अधिकरण शक्ति । ४६ । स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी संबंध शक्ति । (अपना भाव अपना स्व है और स्वयं उसका स्वामी है ऐसी सबंन्धमयी संबंध शक्ति) । ४७ ।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु॥ २६४ ॥(वसंततिलका)

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु–
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयंतः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
ज्ञानीभवंति जिननीतिमलंघयंतः॥ २६५ ॥ (वसंततिलका)

'इत्यादि अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा है तथापि वह ज्ञानमात्रताको नहीं छोड़ता'– इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते है:—

अर्थः—इत्यादि (पूर्वकथित ४७ शक्तियाँ इत्यादि) अनेक निज शक्तियोंसे भली भाँति परिपूर्ण होने पर भी जो भाव ज्ञानमात्रमयताको नहीं छोडता, ऐसा वह, पूर्वोक्त प्रकारसे क्रमरूप और अक्रमरूप से वर्तमान विवर्त्तसे (रूपान्तरसे, परिणमनसे) अनेक प्रकारका, द्रव्यपर्यायमय चैतन्य इसलोकमें वस्तु है।

भावार्थः—कोई यह समझ सकता है कि आत्माको ज्ञानमात्र कहा है इसलिये वह एक स्वरूप ही होगा। किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है। चैतन्य भी वस्तु है, द्रव्यपर्यायमय है। वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है और क्रमरूप तथा अक्रमरूप अनेक प्रकारके परिणामोंके विकारोंके समूहरूप अनेकाकार होता है फिर भी ज्ञानको – जो कि असाधारणभाव है उसे नहीं छोड़ता, उसकी समस्त अवस्थाएं ज्ञानमय ही हैं।

'इस अनेकस्वरूप –अनेकान्तमय वस्तुको जो जानते हैं, श्रद्धा करते हैं और अनुभव करते हैं वे ज्ञानस्वरूप होते हैं'–इस आशयका, स्याद्वादका फल बतलानेवाला काव्य कहते हैं:–

अर्थः—ऐसी (अनेकान्तात्मक) वस्तु तत्त्वकी व्यवस्थितिको अनेकान्त संगत दृष्टिके द्वारा स्वयमेव देखते हुए, स्याद्वादकी अत्यन्त शुद्धिको जानकर, जिननीतिका (जिनेश्वरदेवके मार्गका) उल्लंघन न करते हुए, सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं।

भावार्थः—जो सत्पुरुष अनेकान्तके साथ सुसंगत दृष्टिके द्वारा अनेकान्तमय वस्तु-स्थितिको देखते हैं, वे इसप्रकार स्याद्वादकी शुद्धिको प्राप्त करके–जानकरके जिनदेवके मार्गको –स्याद्वाद न्यायको उल्लंघन न करते हुए, ज्ञानस्वरूप होते हैं।

अथास्योपायोपेयभावश्चिन्त्यते। आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव। तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः। यत्सिद्धं रूपं स उपेयः। अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात्संसरतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यांतर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्षमकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति। एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यान-

---

(इसप्रकार स्याद्वादके संबंधमे कहकर, अब आचार्य देव उपाय–उपेय भावके संबंधमें कुछ कहते हैं.—)

अब इसके (-ज्ञानमात्र आत्मवस्तुके) *उपाय–उपेय भाव विचारा जाता है। (अर्थात् आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है फिर भी उसमे उपायत्व और उपेयत्व दोनो कैसे घटित होते हैं सो इसका विचार किया जाता है:—)

आत्मवस्तुको ज्ञानमात्रता होने पर भी उसे उपाय–उपेय भाव है ही; क्योंकि वह एक होने पर भी साधक रूपसे और सिद्ध रूपसे–दोनों प्रकारसे ‡ परिणमित होता है उसमें जो साधक रूप है वह उपाय है और जो सिद्ध रूप है वह उपेय है। इसलिये, अनादि कालसे मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र द्वारा स्वरूपसे च्युत होनेके कारण संसारमें भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रके पाकके प्रकर्षकी परम्परासे क्रमशः स्वरूपमें आरोहण कराये जाते आत्माको, अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यक्दर्शनज्ञानचारित्ररूप भेद है तद्रूपताके द्वारा स्वयं साधक रूपसे परिणमित होता हुआ, तथा परम प्रकर्ष की पराकाष्ठाको प्राप्त रत्नत्रयकी अतिशयतासे प्रवर्तित जो सकल कर्मके क्षय उससे प्रज्वलित (–देदीप्यमान) हुवे जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व द्वारा स्वयं सिद्ध रूपसे परिणमता ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय–उपेय भावको सिद्ध करता है।

भावार्थः—यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रके कारण संसारमे भ्रमण करता है। वह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यक्दर्शनज्ञानचारित्रकी वृद्धिकी परम्परासे क्रमशः जबसे स्वरूपानुभव करता है तबसे ज्ञान साधक रूपसे परिणमित

---

* उपेय अर्थात् प्राप्त करने योग्य, और उपाय अर्थात् प्राप्त करने योग्य जिसके द्वारा प्राप्त किया जावे। आत्मा का शुद्ध स्वरूप अथवा मोक्ष उपेय है, और मोक्षमार्ग उपाय है।

‡ आत्मा परिणामी है और साधकत्व तथा सिद्धत्व ये दोनों परिणाम हैं।

न्यतया नित्यमस्खलितैकवस्तुनो निष्कंपपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामासंसारा-ल्लब्धभूमिकानामपि भवति भूमिकालाभः। ततस्तत्र नित्यदुर्ललितास्ते स्वत एव क्रमाक्रमप्रवृत्तानेकांतमूर्तयः। साधकभावसंभवपरमप्रकर्षकोटिसिद्धिभावभाजनं भवंति। ये तु नेमामंतर्नीतानेकांतज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिमुपलभंते ते नित्यमज्ञानिनो भवंतो ज्ञानमात्रभावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यंतो जानंतोऽनुचरंतश्च मिथ्यादृष्टयो मिथ्याज्ञानिनो मिथ्याचारित्राश्च भवंतोऽत्यंतमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमंत्येव।

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकंपां
भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः।

होता है, क्योंकि ज्ञानमें निश्चयसम्यक्दर्शनज्ञानचारित्ररूप भेद अन्तर्भूत है। निश्चय सम्यक्-दर्शन ज्ञानचारित्रके प्रारम्भसे लेकर स्वरूपानुभवकी वृद्धि करते करते जबतक निश्चय सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्रकी पूर्णता न हो, तब तक ज्ञानका साधक रूपसे परिणमन है। जब निश्चयसम्यक्दर्शनज्ञानचारित्रकी पूर्णतासे समस्त कर्मोंका नाश होता है अर्थात् साक्षात् मोक्ष होता है तब ज्ञान सिद्ध रूपसे परिणमित होता है, क्योंकि उसका अस्खलित निर्मल स्व-भावभाव प्रगट देदीप्यमान हुआ है। इसप्रकार साधक रूपसे और सिद्ध रूपसे दोनों रूपसे परिणमित होता हुआ एक ही ज्ञान आत्मवस्तुकी उपाय-उपेयताको साधित करता है)।

इसप्रकार दोनोंमें (—उपाय तथा उपेयमें—) ज्ञानमात्रकी अनन्यता है; इसलिये सदा अस्खलित एक वस्तुका (—ज्ञानमात्र आत्मवस्तुका—) निष्कम्प ग्रहण करनेसे, मुमुक्षुओंको, कि जिन्हें अनादि संसारसे भूमिका की प्राप्ति न हुई हो उन्हें भी, तत्क्षण ही भूमिका की प्राप्ति होती है, फिर उसीमें नित्य मस्ति करते हुए (—लीन रहते हुए) वे मुमुक्षु—जो कि स्वतः ही, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक अंतकी (धर्मकी) मूर्तियां हैं वे—साधक भाव से उत्पन्न होनेवाली परम प्रकर्ष की पराकाष्ठारूप सिद्धिभावके भाजन होते हैं। परन्तु जिसमें अनेक अंत अर्थात् धर्म गर्भित हैं ऐसे एक ज्ञानमात्रभावरूप इस भूमि को जो प्राप्त नहीं करते, वे सदा अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भावका स्वरूपसे अभवन और पररूपसे भवन देखते (श्रद्धा करते) हुए, जानते हुए तथा आचरण करते हुए, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्या चारित्री होते हुए, उपाय-उपेय भावमें अत्यन्तभ्रष्ट होते हुए संसारमें परिभ्रमण ही करते हैं।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

अर्थः—जो पुरुष किसी भी प्रकारसे जिनका मोह दूर होगया है ऐसा होता हुआ, ज्ञानमात्र निजभावमय अकंप भूमिका का आश्रय लेते हैं वे साधकत्व को प्राप्त करके सिद्ध

ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति ॥ २६६ ॥ (वसंततिलका)
स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री–
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ २६७ ॥ (वसंततिलका)

हो जाते है; परन्तु जो मूढ़ (मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) है, वे इस भूमिका को प्राप्त न करके संसारमें परिभ्रमण करते है।

भावार्थ:—जो भव्य पुरुष, गुरुके उपदेशसे अथवा स्वयमेव काल लब्धिको प्राप्त करके मिथ्यात्व से रहित होकर, ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको प्राप्त करते हैं, उसका आश्रय लेते है, वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते है; परन्तु जो ज्ञानमात्र–निज को प्राप्त नहीं करते वे संसार में परिभ्रमण करते है।

इस भूमिका का आश्रय करने वाला जीव कैसा होता है सो अब कहते है:—

अर्थ:—जो पुरुष स्याद्वादमे प्रवीणता तथा (रागादिक अशुद्ध परिणतिके त्याग रूप) सुनिश्चल संयम–इन दोनोके द्वारा अपनेमें उपयुक्त रहता हुआ (अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें उपयोगको लगाता हुआ) प्रतिदिन अपनेको भाता है (–निरन्तर अपने आत्मा की भावना करता है), वही एक (पुरुप), ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री का पात्र रूप होता हुआ, इस (ज्ञानमात्र निजभावमय) भूमिका का आश्रय करता है।

भावार्थ:—जो ज्ञाननय को ही ग्रहण करके क्रियानय को छोड़ता है, उस प्रमादी और स्वच्छन्दी पुरुपको इस भूमिका की प्राप्ति नही हुई है। जो क्रियानयको ही ग्रहण करके ज्ञाननय को नहीं जानता, उस (व्रत–समिति–गुप्तिरूप) शुभ कर्मसे संतुष्ट पुरुष को भी इस निष्कर्म भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो पुरुप अनेकान्तमय आत्माको जानता है (–अनुभव करता है) तथा सुनिश्चल संयम में प्रवृत्त है (–रागादिक अशुद्ध परिणति का त्याग करता है), और इस प्रकार जिसने ज्ञाननय तथा क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है, वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निजभावमय भूमिका का आश्रय करने वाला है।

ज्ञाननय और क्रियानय के ग्रहण–त्याग का स्वरूप तथा फल 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ के अंत मे कहा है, वहाँ से जानना चाहिये।

इस प्रकार जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है, वही अनंत चतुष्टयमय आत्माको प्राप्त करता है–इस अर्थका काव्य कहते है.—

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ २६८ ॥ (वसततिलका)

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ २६९ ॥ (वसततिलका)

अर्थः—(पूर्वोक्त प्रकार से जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है) उसीके, चैतन्य पिंड के निरर्गल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है (अर्थात् चैतन्य पुंजका अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है), शुद्ध प्रकाशकी अतिशयताके कारण जो सुप्रभातके समान है, आनन्दमें सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है, और जिसकी ज्योति अचल है, ऐसा यह आत्मा उदयको प्राप्त होता है ।

भावार्थः—यहाँ 'चित्पिंड' इत्यादि विशेषणों से अनन्त दर्शन का प्रगट होना 'शुद्ध-प्रकाश' इत्यादि विशेषण से अनन्त ज्ञानका प्रगट होना, आनन्द सुस्थित इत्यादि विशेषणसे अनन्त सुखका प्रगट होना और 'अचलार्चि' विशेषण से अनन्त वीर्यका प्रगट होना बताया है । पूर्वोक्त भूमिका आश्रय लेनेसे ही ऐसा आत्माका उदय होता है ।

अब, यह कहते हैं कि ऐसा ही आत्मस्वभाव हमें प्रगट हो'—

अर्थः—स्याद्वादके द्वारा प्रदीप्त किया गया लहलहाट करता (—चकचकित) जिसका तेज है और जिसमें शुद्ध स्वभावरूप महिमा है ऐसा इस प्रकाश (ज्ञान-प्रकाश) मुझमें उदित होने पर बंध-मोक्षके मार्गमें पड़नेवाले अन्य भावोंसे मुझे क्या प्रयोजन है, मुझे तो यह नित्य उदित रहनेवाला केवल यह (अनन्तचतुष्टयरूप) स्वभाव ही स्फुरायमान हो ।

भावार्थः—स्याद्वादसे यथार्थ आत्मज्ञान होनेके बाद उसका फल पूर्ण आत्माका प्रगट होना है । इसलिये मोक्षका इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि—मेरा पूर्ण स्वभाव आत्मा मुझे प्रगट हो. बंधमोक्षमार्गमें पड़नेवाले अन्य भावोंसे मुझे क्या काम है ?

'यद्यपि नयों के द्वारा आत्मा साधित होता है तथापि यदि नयों पर ही दृष्टि रहे तो नयों में तो परस्पर विरोध भी है. इसलिये मैं नयों का विरोध मिटाकर आत्माका अनुभव करता हूँ'—इस अर्थ का काव्य कहते हैं ।

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेक-
मेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ २७० ॥ (वसंततिलका)

न द्रव्येण खंडयामि। न क्षेत्रेण खंडयामि। न कालेन खंडयामि। न भावेन खंडयामि। सु विशुद्ध एको ज्ञानमात्रभावोऽस्मि।

अर्थः—अनेक प्रकारकी निजशक्तियोंका समुदायमय यह आत्मा नयोंकी दृष्टिसे खंड खंडरूप किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है; इसलिये मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि—जिसमेसे खंडोंको *निराकृत नहीं किया गया है तथापि जो अखंड है, एक है, एकान्त शान्त है (अर्थात् जिसमें कर्मोदय का लेशमात्र भी नहीं है, ऐसा अत्यन्त शान्तभावमय है) और अचल है (अर्थात्—कर्मोदय से चलाया नहीं चलता) ऐसा चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ।

भावार्थः—आत्मामे अनेक शक्तियाँ है, और एक एक शक्तिका ग्राहक एक एक नय है; इसलिये यदि नयोंकी एकान्त दृष्टिसे देखा जाये तो आत्माका खंड खंड होकर उसका नाश हो जाये। ऐसा होने से स्याद्वादी, नयोंका विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तुको अनेकशक्तिसमूहरूप, सामान्यविशेषरूप सर्वशक्तिमय एकज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

अब, ज्ञानी अखंड आत्माका ऐसा अनुभव करता है इस प्रकार आचार्यदेव गद्य मे कहते है:—

(ज्ञानी शुद्ध नयका आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि—) मै अपनेको अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपको न तो द्रव्यसे खंडित करता हूँ, न क्षेत्रसे खंडित करता हूँ, न कालसे खंडित करता हूँ और न भाव से खंडित करता हूँ, सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।

भावार्थः—यदि शुद्धनयसे देखा जाये तो शुद्ध चैतन्यमात्र भावमे द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावसे कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता। इसलिये ज्ञानी अभेदज्ञानस्वरूप अनुभवमें भेद नही करता।

ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है, स्वयं ही अपना ज्ञेय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है—इस अर्थका काव्य कहते है:—

अर्थः—जो यह ज्ञानमात्र भाव मै हूँ वह ज्ञेयोंका ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिये;

---

* निराकृत = बहिष्कृत; दूर, रदबातल; नाकबूल।

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥ २७१ ॥ (शालिनी)

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥ २७२ ॥ (पृथ्वी)

(परन्तु) ज्ञेयोंके आकारसे होनेवाला ज्ञानकी कल्लोलोंके रूपमें परिमित होता हुआ वह, ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिये । (अर्थात् स्वय ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञाता-इसप्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र जानना चाहिये) ।

भावार्थः—ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होनेसे ज्ञानस्वरूप है । और वह स्वयं ही निम्नप्रकारसे ज्ञेयरूप है । बाह्य ज्ञेय ज्ञानसे भिन्न है, वे ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयोंके आकार की झलक ज्ञानमें पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगें हैं । वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं । इसप्रकार स्वयं ही स्वतः जनाने योग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है. और स्वयं ही अपना जाननेवाला होनेसे ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है । इसप्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता-इन तीनों भावोंसे युक्त सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है । 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इसप्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है ।

आत्मा मेचक, अमेचक इत्यादि अनेक प्रकारसे दिखाई देता है तथापि यथार्थ ज्ञानी निर्मल ज्ञानको नहीं भूलता-इस अर्थ का काव्य कहते हैं —

अर्थः—(ज्ञानी कहता है —) मेरे तत्त्वका ऐसा स्वभाव ही है कि कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (-अनेकाकार, अशुद्ध) दिखाई देता है. कभी मेचक-अमेचक (दोनों-रूप) दिखाई देता है, और कभी अमेचक (-एकाकार, शुद्ध) दिखाई देता है, तथापि परस्पर सुसंहत (- सुमिलित. सुग्रथित) प्रगट शक्तियों के समूहरूपसे स्फुरायमान वह आत्मतत्त्व निर्मल बुद्धिवालोंके मनको विमोहित (-भ्रमित) नहीं करता ।

भावार्थः—आत्मतत्त्व अनेक शक्तियोंवाला होनेसे किसी अवस्थामें कर्मोदयके निमित्त से अनेकाकार अनुभवमें आता है, किसी अवस्थामें शुद्ध एकाकार अनुभवमें आता है और किसी अवस्थामें शुद्धाशुद्ध अनुभव में आता है; तथापि यथार्थ ज्ञानी स्याद्वादके बलके कारण

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥ २७३ ॥ (पृथ्वी)

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।

भ्रमित नहीं होता, जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्रसे च्युत नहीं होता ।

आत्माका अनेकान्तस्वरूप (–अनेक धर्मस्वरूप) वैभव अद्भुत (–आश्चर्यकारक) है.—उस अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—अहो ! आत्माका तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि–एक ओरसे देखने पर वह अनेकता को प्राप्त है और एक ओरसे देखने पर सदा एकता को धारण करता है, एक ओरसे देखने पर क्षणभंगुर है और एक ओरसे देखने पर सदा उसका उदय होने ध्रुव है, एक ओरसे देखने पर परम विस्तृत है और एक ओरसे देखने पर अपने प्रदेशो से ही धारण कर रखा हुआ है ।

भावार्थः—पर्यायदृष्टिसे देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टिसे देखने पर एकरूप; क्रमभावीपर्यायदृष्टिसे देखने पर क्षणभंगुर दिखाई देता है और सहभावी गुणदृष्टिसे देखने पर ध्रुव; ज्ञानकी अपेक्षावाली सर्वगतदृष्टिसे देखने पर परम विस्तारको प्राप्त दिखाई देता है और प्रदेशोंकी अपेक्षावाली दृष्टिसे देखने पर अपने प्रदेशोंमे ही व्याप्त दिखाई देता है । ऐसा द्रव्यपर्यायात्मक अनन्त धर्मवाला वस्तुका स्वभाव है । वह (स्वभाव) अज्ञानियोंके ज्ञानमें आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असंभव सी वात है ! यद्यपि ज्ञानियों को वस्तुस्वभाव मे आश्चर्य नहीं होता, फिर भी उन्हें अभूतपूर्व–अद्भुत परमानन्द होता है, और इसलिये आश्चर्य भी होता है ।

पुनः इसी अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—एक ओरसे देखने पर कषायोंका क्लेश दिखाई देता है और एक ओरसे देखने पर शान्ति (–कषायोंका अभावरूप शान्त भाव) है; एक ओरसे देखने पर भवकी (–सांसारिक) पीड़ा दिखाई देती है और एक ओरसे देखने पर (संसारकी अभावरूप) मुक्ति भी स्पर्श करती है; एक ओरसे देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं (–प्रकाशित होता है, दिखाई देता है) और एक ओरसे देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है । (ऐसी) आत्माकी अद्भुतसे भी अद्भुत स्वभावमहिमा जयवन्त है अर्थात् किसीसे

जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥ २७४ ॥ (पृथ्वी)

जयति सहजतेजःपुंजमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥ २७५ ॥ (मालिनी)

बाधित नहीं होती ।

भावार्थः—यहाँ भी २७३ वे श्लोकके भावार्थानुसार ही जानना चाहिये । आत्माका अनेकान्तमय स्वभाव सुनकर अन्यवादियोको भारी आश्चर्य होता है । उन्हें इस बातमे विरोध भासित होता है । वे ऐसे अनेकान्तमयस्वभावकी बातको अपने चित्तमें न तो समाविष्ट कर सकते है और न सहन ही कर सकते है । यदि कदाचित् उन्हें श्रद्धा हो तो प्रथम अवस्थामे उन्हें भारी अद्भुतता मालूम होती है कि–'अहो ! यह जिनवचन महा उपकारी है, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको बताने वाले है; मैंने अनादिकाल ऐसे यथार्थ स्वरूपके ज्ञान विना ही व्यतीत कर दिया है ।' –वे इसप्रकार आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान करते हैं ।

अब टीकाकार आचार्यदेव इस सर्वविशुद्ध-ज्ञानअधिकारको पूर्ण करते हुये, उसके अन्तिम मगलके अर्थ इस चित् चमत्कार को ही सर्वोत्कृष्ट कहते है:—

अर्थः—सहज (–निजस्वभावरूप) तेजःपुंजमे त्रिलोकके पदार्थ मग्न हो जाते हैं, इसलिये जिसमे अनेक भेद होते हुये दिखाई देते हैं, तथापि जिसका एक ही स्वरूप है (अर्थात् केवलज्ञानमे सर्व पदार्थ झलकते है इसलिये जो अनेक ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है तथापि जो चैतन्यरूप ज्ञानाकारकी दृष्टिमे एकस्वरूप ही है), जिसमे निजरसके विस्तारसे पूर्ण अछिन्न तत्वोपलब्धि है. (अर्थात प्रतिपक्षी कर्मका अभाव हो जानेसे जिसमें स्वरूपानुभवका अभाव नहीं होता) और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है, (अर्थात् जो अनन्तवीर्यसे निष्कंप रहता है), ऐसा यह (प्रत्यक्ष–अनुभवगोचर) चैतन्यचमत्कार जयवन्त है (अर्थात् किसीसे बाधित नहीं किया जा सकता. ऐसा सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है) ।

(यहाँ 'चैतन्यचमत्कार जयवन्त है' इस कथनमें जो चैतन्यचमत्कारका सर्वोत्कृष्टतया होना बताया है, वही मंगल है ।)

अब इस श्लोक में टीकाकार आचार्यदेव अन्तिम मंगलके लिये आत्माको आशीर्वाद देते है और साथ ही अपना नाम प्रगट करते है:—

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद्ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥ २७६ ॥ (मालिनी)

अर्थः—जो अचल-चेतनास्वरूप आत्मामें आत्माको अपने आप ही निरन्तर निमग्न रखती है (अर्थात् प्राप्त किये गये स्वभावको कभी नहीं छोड़ती), जिसने मोहका (—अज्ञानांधकार का) नाश किया है, जिसका स्वभाव निःसपत्न (—प्रतिपक्ष कर्मों से रहित) है, जो निर्मल है और जो पूर्ण है; ऐसी यह उदय को प्राप्त अमृतचन्द्रज्योति (—अमृतमय चन्द्रमाके समान ज्योति, ज्ञान, आत्मा) सर्वत जाज्वल्यमान रहो ।

भावार्थः—जिसका न तो मरण (नाश) होता है और न जिससे दूसरे का नाश होता है वह अमृत है; और जो अत्यन्त स्वादिष्ट होता है उसे लोग रूढ़िसे अमृत कहते हैं । यहाँ ज्ञानको-आत्माको-अमृतचन्द्रज्योति (—अमृतमय चन्द्रमाके समान ज्योति) कहा है, जो कि लुप्तोपमालंकार है; क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' का समास करने पर 'वत्' का लोप होकर 'अमृतचन्द्रज्योतिः' होता है ।

(यदि 'वत्' शब्द न रखकर 'अमृतचन्द्ररूपज्योति' अर्थ किया जाय तो भेद रूपक अलंकार होता है । और 'अमृतचन्द्रज्योति' ही आत्माका नाम कहा जाय तो अभेदरूपक अलंकार होता है ।)

आत्मा को अमृतमय चन्द्रमाके समान कहने पर भी, यहाँ कहे गये विशेषणोंके द्वारा आत्मा का चन्द्रमाके साथ व्यतिरेक भी है; क्योंकि—'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानांधकार का दूर होना बतलाता है,—'विमलपूर्ण' विशेषण लांछनरहितता तथा पूर्णता बतलाता है, 'निःसपत्नस्वभावं' विशेषण राहुबिम्बसे तथा बादल आदिसे आच्छादित न होना बतलाता है, और 'समंतात् ज्वलतु' सर्व क्षेत्र और सर्वकाल मे प्रकाश करना बतलाता है; चन्द्रमा ऐसा नहीं है ।

इस श्लोकमे टीकाकार आचार्यदेवने अपना 'अमृतचन्द्र' नाम भी बताया है । समास बदलकर अर्थ करनेसे 'अमृतचन्द्र' के और 'अमृतचन्द्रज्योति' के अनेक अर्थ होते हैं; जो कि यथासंभव जानने चाहिये ।

(सवैया)

सरर्वविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द करता न भोगता न परद्रव्यभावको,
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभावको ।

यस्माद्द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रांतरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
भुंजाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुनाकिंचिन्न किंचित्किल ॥ २७७ ॥ (शार्दूल०)
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै-
र्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।

यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदीव ज्ञानरूप सुखतूप आन न लगावको,
कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूं दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भावको ॥

❀ नवमाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार समाप्त ❀

* * * * *

अब श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्य देव दो श्लोक कहकर इस समयसार ग्रन्थ की आत्म-ख्याति नामक टीका समाप्त करते हैं ।

'अज्ञानदशामे आत्मा स्वरूपको भूलकर रागद्वेषमे प्रवृत्त होता था, परद्रव्यकी क्रियाका कर्ता घनता था, क्रियाके फलका भोक्ता होता था,—इत्यादि भाव करता था; किंतु अब ज्ञानदशा मे वे भाव कुछ भी नहीं हैं ऐसा अनुभव किया जाता है ।'-इसी अर्थका प्रथम श्लोक कहते हैं—

अर्थः—जिससे (अर्थात् जिस परसंयोगरूप बंधपर्यायजनित अज्ञानसे) प्रथम अपना और परका द्वैत हुआ (अर्थात् स्वपरके मिश्रिपनारूप भाव हुआ), द्वैतभाव होनेसे स्वरूपमें अन्तर पड़ गया (अर्थात् बंधपर्याय ही निजरूप ज्ञात हुई), स्वरूपमे अन्तर पड़नेसे रागद्वेपका ग्रहण हुआ, रागद्वेपका ग्रहण होनेसे क्रियाके कारक उत्पन्न हुये (अर्थात् क्रिया और कर्ता-कर्मादि कारको का भेद पड़ गया), कारको उत्पन्न होनेसे अनुभूति, क्रियाके समस्त फलको भोगती हुई खिन्न होगई, वह अज्ञान अब विज्ञानघनसमूहमे मग्न हुआ, इसलिये अब वह सब वास्तवमे कुछ भी नही है ।

भावार्थः—परसंयोगसे ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था, अज्ञान कहीं पृथक् वस्तु नहीं था; इसलिये अब वह जहाँ ज्ञानरूप परिणमित हुआ कि वहाँ वह (अज्ञान) कुछ भी नहीं रहा । अज्ञानके निमित्तसे राग, द्वेष, क्रियाके कर्तृत्व, क्रियाके फलका (-सुख-दुःखका भोक्तृत्व आदि भाव हुये थे वे भी विलीन होगये हैं, एकमात्र ज्ञान ही रह गया है । इसलिये अब आत्मा स्व-परके त्रिकालवर्ती भावोंको ज्ञाता-दृष्टा होकर देखते ही रहो ।

'पूर्वोक्त प्रकारसे ज्ञानदशामें परकी क्रिया अपनी भासित न होनेसे, इस समयसारकी व्याख्या करनेकी क्रिया भी मेरी नहीं है, शब्दों की है'—इस अर्थका तथा समयसारकी व्याख्या करने की अभिमानरूप कषायके त्यागका सूचक श्लोक कहते हैं.—

स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ॥ २७८ ॥ (उपजाति)

इतिश्री अमृतचंद्राचार्यकृता समयसारव्याख्या आत्मख्यातिः समाप्ता ॥

अर्थः–जिनने अपनी शक्तिसे वस्तुतत्त्वको भली भाँति कहा है ऐसे शब्दोंने इस समयकी व्याख्या (-आत्मवस्तुका विवेचन अथवा समयप्राभृत शास्त्रकी टीका) की है; स्वरूपगुप्त (-अमूर्तिक ज्ञानमात्रस्वरूपमें मग्न) अमृतचन्द्र सूरिका (इसमें) कुछ भी कर्तव्य (कार्य) नहीं है।

भावार्थः—शब्द तो पुद्गल हैं। वे पुरुषके निमित्तसे वर्ण–परवाक्यरूपसे परिणमित होते हैं; इसलिये उनमें वस्तुस्वरूपको कहनेकी शक्ति स्वयमेव है, क्योंकि शब्दका और अर्थका वाच्य–वाचक संबंध है। इस प्रकार द्रव्यश्रुत की रचना शब्दोंने की है यही बात यथार्थ है। आत्मा तो अमूर्तिक है, ज्ञानस्वरूप है. इसलिये वह मूर्तिक पुद्गलकी रचना कैसे कर सकता है ? इसीलिये आचार्यदेवने कहा है कि 'इस समयप्राभृत की टीका शब्दोंने की है, मैं तो स्वरूपमे लीन हूँ, उसमें (-टीका करनेमें) मेरा कोई कर्तव्य (कार्य) नहीं है।' यह कथन आचार्यकी निरभिमानता को भी सूचित करता है। यदि निमित्तनैमित्तिक व्यवहारसे ऐसा ही कहा जाता है कि अमुक पुरुषने यह अमुक कार्य किया है। इस न्यायसे यह आत्मख्यातिनामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्यकृत है ही। इसलिये पढ़ने–सुननेवालो को उनका उपकार मानना भी युक्त है। क्यो कि इसके पढ़ने–सुननेसे पारमार्थिक आत्माका स्वरूप ज्ञात होता है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, मिथ्याज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण दूर होता है और परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति होती है मुमुक्षुओंको इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

इसप्रकार इस समयसार शास्त्रकी **आत्मख्यातिनामक टीका** समाप्त हुई।

❋ ❋ ❋ ❋

(पंडित जयचन्द्रजी भी भाषाटीका समाप्त करते हुये कहते हैं:—)

(सवैया)

कुन्दकुन्द मुनि कियो गाथाबंध प्राकृत है प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिखावनूं,
सुधाचन्द्रसूरि करी संस्कृत टीकावर आत्मख्याति नाम यथातथ्य भावनूं ;
देशकी वचनिकामे लिखि जयचन्द्र पढ़ै संक्षेप अर्थ अल्पबुद्धिकूं पावनूं,
पढ़ो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानंद दरसावनूं ॥१॥

* दोहा *

समयसार अविकारका, वर्णन कर्ण सुनंत;
द्रव्य–भाव–नोकर्म तजि, आतमतत्त्व लखंत ॥२॥

इसप्रकार इस समयप्राभृत नामक ग्रन्थकी आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीकाकी देशभाषामय वचनिका लिखी है। इसमे संस्कृत टीकाका अर्थ लिखा है और अति सं

भावार्थ लिखा है, विस्तार नहीं किया है। संस्कृत टीकामें न्यायसे सिद्ध हुए प्रयोग हैं। यदि उनका विस्तार किया जाय तो अनुमान-प्रमाणके पांच अंग पूर्वक—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन पूर्वक—स्पष्टतासे व्याख्या करनेपर ग्रन्थ बहुत बढ़ जाय; इसलिये आयु, बुद्धि, बल और स्थिरताकी अल्पताके कारण, जितना बन सका है उतना, संक्षेपसे प्रयोजन मात्र लिखा है। इसे पढ़कर भव्यजन पदार्थको समझना। किसी अर्थमें हीनाधिकता हो तो बुद्धिमानजन मूलग्रन्थानुसार यथार्थ समझ लेना। इस ग्रन्थके गुरुसम्प्रदायका (—गुरुपरंपरागत उपदेशका) व्युच्छेद होगया है, इसलिये जितना हो सके उतना (—यथा शक्ति) अभ्यास हो सकता है। तथापि जो स्याद्वादमय जिनमतकी आज्ञा मानते है, उन्हें विपरीत श्रद्धान नहीं होता। यदि कहीं अर्थको अन्यथा समझना भी हो जाय तो विशेष बुद्धिमानका निमित्त मिलने पर वह यथार्थ हो जाता है। जिनमतके श्रद्धालु हठग्राही नहीं होते।

अब अंतिम मंगलके लिये पंच परमेष्ठीको नमस्कार करके ग्रन्थको समाप्त करते है —

मंगल श्री अरहंत घातिया कर्म निवारे,
मंगल सिद्ध महंत कर्म आठो परजारे,
आचारज उवझाय मुनी मंगलमय सारे,
दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे;
अठवीस मूलगुण धार जे सर्वसाधु अनगार है,
मैं नमूं पंचगुरुचरणकूं मंगलहेतु करार हैं ॥१॥

जैपुर नगरमांहि तेरापंथ शैली वड़ी
वड़े वड़े गुनी जहां पढै ग्रन्थ सार है.
जयचंद्र नाम मै हूं तिनिमे अभ्यास किछू
कियो बुद्धिसारू धर्मरागते विचार हैं,
समयसार ग्रन्थ ताकी देशके वचनरूप
भाषा करी पढ़ो सुनौ करो निरधार है,
आपापर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय
गहो शुद्ध आतमकूं, यहै बात सार है ॥२॥

दोहा—संवत्सर विक्रम तणूं, अष्टादश शत और;
चौसठि कातिक वदि दशैं, पूरण ग्रन्थ सुठौर ॥३॥

❀ ❀ ❀

इसप्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयप्राभृत नामक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थकी श्रीमदमृतचंद्राचार्यविरचित आत्मख्याति नामक संस्कृत टीकाकी हिंदी भाषा टीका सम्पूर्ण हुई।

❀ सम्पूर्ण ❀

श्रीसमयसारकी वर्णानुक्रम गाथासूची

कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११४	१६	रूपत्वको	रूपित्वको
११५	६	एवमेवतत्	एवमेतत्
११६	२	त्वन्यत् ।	त्वन्यत्
११७	२३	विज्ञानघन	विज्ञानघन
११८	५	प्रसिद्धया	प्रसिद्धा
१२१	२२	अमृतत्व	अमूर्तत्व
१२८	८	आमवाण	आसवाण
१३३	२६	दशन	दर्शन
१३४	२२	आसव	आस्रव
१३९	११	उपज्जदि	उप्पज्जदि
१३६	१६	स्वत्व	सत्त्व
१४०	४	व्यापके	व्यापकेन
१४८	२	णिच्छयणयस्य	णिच्छयणयस्स
१५१	१	कम	कर्म
१५१	५	पसजदि	पसज्जदे
१५३	२	मा नैक	मा चैक
१५५	४	दुर्वारं	दुर्वारं
१६२	२६	आत्मका	आत्मको
१६६	४	विशेपरारत्या	विशेपरत्या
१९१	२७	कर्मका	कर्मको
१९२	२०	कर्मण	कार्मण
२००	५	कुतोऽमज्ञानिनो	कुतोऽयमज्ञानिनो
२०६	२	यागो	योगो
२०७	१	ज्ञानमयानां	(ज्ञानमया
२१०	३	वद्धास्पृष्टं	वद्धस्पृष्टं
२२०	२	समयसारम पारम् ॥ ६३ ॥	समयसारमपारम् ॥ ६२ ॥
		यध	बंध
		कम	कर्म
		स्यमावमत	स्वभावभूत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७१	९	ज यदि	जायदि
३७१	१७	सूवक	सूचक
३७२	२	दुःखिद	दुक्खिद
३७४	१९	[पुण्यस्स	[पुण्यस्य
३८४	३	धर्म. ज्ञायमाना धर्मा	धर्म. ज्ञायमानाधर्मा
३९८	८	कुर्यान्नातो	कुर्यान्नातो
४०६	७	मुद्दतु	मुद्दतुं
४०६	१०	उद्दशिक	उद्देशिक
४०८	५	पूर्णं	पूर्णं
४१०	२	मोक्षहेरतुहेतुत्वात्	मोक्षहेतुरहेतुत्वात
४२०	३	(हि)	हि
४२२			४२२
४२२	४	तज्ज्ञा नास्येव,	तज्ज्ञानास्येव,
४२६	६	करान्य	करोत्य
४३३	८	समझते	समझाते
४३६	४	ते	तं
४३६	१७	[कुतश्चिदं	कुतश्चिद्
४३६	१६	[किंचिदं	किंचिद्
४४०	६	भोगभुवनः।	भोगभवन.।
४४०	१३	उपने	अपने
४५१	१	तथाप्यस्यासो	तथाप्यस्यासौ
४५१	३	घिएस्सइ	विएस्सइ
४५३	१३	[गुड़डुग्य]	[गुड़डुग्वं]
४६०	१२	अचालिचन	अचलित
४६१	१८	आामाको	आत्माको
४६३	२०	परकी	परको
४६३	७	पर्याय	पर्याय
४७१	३	भेदनां	भेदनो
[illegible]	११	दु सा	य सा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४३	२५	[गंध	[गंधं
५४६	२	मेकमव	मेकमेव
५४६	१४	सामन्य	सामान्य
५५०	२	कथामाहारकं	कथमाहारकं
५५०	६	आहारका	आहारको
५५१	१५	गृहणाति]	गृह्णाति]
५५२	८	मोक्षमागं	मोक्षमार्ग
५५५	३	तत्मात्मनः।	तत्त्वमात्मनः।
५५६	४	स्थापयाति	स्थापयति
५५७	८	पश्यति	पश्यंति
५५८	१	गिहलिंगेसु	गिहिलिंगेसु
५६०	६	परमार्थं	परमार्थ
५६२	३	प्रकाशरूपमत्मानं	प्रकाशरूपपरमात्मानं
५६२	४	भूते	भूतं
५६८	३	तदा	यदा
५६८	२०	अंगकार	अंगीकार
५६९	६	दूरान्मग्न	दूरोन्मग्न
५७१	६	जानकर	जानकार
५७६	१३	प्रवृत्ति	प्रवृत्त
५८२	२	परिणामाकरणों	परिणामकरणो
५८३	१२	नहों	नहीं
५८७	९	प्रान्त	प्राप्त
५९०	६	परिमित	परिणमित
५९१	१२	होने	होनेसे
५९५	४	कहाँ	कहा
५९६	२८	समयप्राभृत	समयसार